द्विवेदी-युग
की
हिन्दी गद्य-शैलियों का अध्ययन

(सागर-विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

अनुशीलनकर्त्ता
शंकरदयाल चौऋषि
एम.ए., एल.एल.बी., बी. टी., पी-एच.डी.

१९६५

प्रकाशक
भारती-साहित्य-मन्दिर
फव्वारा, दिल्ली-६

प्रकाशक
भारती-साहित्य-मन्दिर
(एस० चाँद एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)
रामनगर नई दिल्ली
माई हीरां गेट जालन्धर
हजरत गंज लखनऊ
लेमिंगटन रोड बम्बई

मुद्रक :
भारत मुद्रणालय,
शाहदरा-दिल्ली-३२

आमुख

द्विवेदी-युगीन गद्य-शैलियों को अपने अध्ययन का विषय बनाने का मूल मन्तव्य, महान् भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी की राष्ट्रीय (जातीय) शैली के उद्गम और विकास का अनुशीलन करना है। यद्यपि १९वीं शती के उषाकाल में ही आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के गद्य-युग का प्रारम्भ हो गया था और हिन्दी का गद्य धार्मिक टीकाओं तथा कथाओं की गोद से उतरकर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलन करने को तत्पर हो रहा था; तथापि अनेक बाधाएं तथा व्याधाएं उनके मार्ग में बहुत बड़ा व्याघात उत्पन्न कर रही थीं। ५ जनवरी, १८८५ को भारतेन्दु के अस्त होने के पश्चात् जो अराजकता फैली उसने हिन्दी की जातीय शैली के विकास की बात पीछे डाल दी। उस समय हिन्दी का न तो विशाल शब्द-कोश था, न सर्व-सम्मत व्याकरण और न निश्चित शैलियां ही। द्विवेदी-युग में ही हिन्दी-भाषा का सर्वांगीण विकास हुआ और उसमें विविध शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। अतः, इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का अध्ययन आवश्यक था। आलोच्य-युग में पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक प्रभावित हुआ है। इससे गद्य को अध्ययन का लक्ष्य बनाना अधिक समीचीन समझा गया है।

इस अध्ययन की सबसे बड़ी तथा प्रथम समस्या हमारे समक्ष द्विवेदी-युग की सीमा निर्धारित करने की थी। इस पर आज तक मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है और विभिन्न मतों में बहुत अन्तर है।[1] वास्तव में इस प्रकार की सीमा का निर्धारण-कार्य सरल नहीं है। युग-निर्णय तथा नामकरण काल की सबसे अधिक प्रभावी, व्यापक तथा युग-प्रवर्त्तक प्रवृत्ति के आधार पर होता है। युग के सबसे प्रखर ज्योतिर्स्तम्भ के नाम पर भी युग का नाम रख दिया जाता है। द्विवेदी-युग इस प्रकार की किसी प्रमुख एकाकी

१. (क) आ० चतुरसेन शास्त्री : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास : द्विवेदी-युग : सं० १९६०-७५ : पृ० ५२८।
(ख) डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० २६४। (द्विवेदी-युग सं० १९६०-८२)
(ग) आ० राजवली पाण्डेय : हिन्दी-साहित्य का बृहत इतिहास : भाग-१ योजना नवम भाग हिन्दी-साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी-काल) सं० १९५०-७५ : पृ० २।
(घ) आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न—द्विवेदी-युग : १९०१-३० ई० : पृ० ३२।
(ङ) आ० डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा रायकृष्णदास : द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : भूमिका : द्विवेदी-युग : १९००-३३ ई० के लगभग : पृ० ११।
(च) श्रीनाथसिंह 'सारंग', २२ मार्च, १९४४ उद्धत—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : १८६६-१९३८ ई० : पृ० २६६।

प्रवृत्ति से प्रभावित नहीं था। अतः, द्विवेदीजी को ही युग का ज्योतिस्तंभ एवं कर्णधार माना गया है।

द्विवेदी-युग की पूर्व-सीमा १६०० ई० निश्चित करने में प्रायः विशेष विवाद उपस्थित नहीं होता। तात्कालिक परिस्थितियों में जैसे महान् व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। द्विवेदीजी के रूप में वैसे व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ था। सबसे अधिक विवादास्पद विषय द्विवेदी-युग की उत्तर-सीमा है। हमने कई कारणों से उसे १६३० तक निर्धारित करना उचित समझा है।

सन् १६३० के लगभग हिन्दी की गद्य-शैली में नवीन प्रयोग स्पष्ट हुए। इसके पूर्व तक अधिकांश गद्य-शैलियां वर्णनात्मक तथा बाह्य चित्रण-प्रधान रही हैं।

सन् १६२१ से राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ भावना तथा कल्पनाओं की उन्मुक्ति सामने आती है, जिनका विकास तथा पुष्टि अगले ८-६ वर्षों में हो जाती है। अतः, सन् १६३० के लगभग समाज तथा साहित्य देश, काल एवं परिस्थितियों-वश परम्परावादी (क्लासिकल) प्रवृत्तियों को त्याग कर स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) प्रवृत्तियों से स्पष्टतः आकर्षित हुआ। इससे साहित्य तथा भाषा-शैली में नये विषय तथा नये प्रयोग गद्य के विभिन्न रूपों में होने लगे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी परम्परावादी प्रवृत्तियों के अग्रगामी नेता थे, इन स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के पुष्ट होते ही उनका नेतृत्व समाप्त हो जाता है।

बाबू प्रेमचन्द की अन्तिम रचनाएं तथा जैनेन्द्र की प्रारम्भिक रचनाओं में अन्तःभावव्यञ्जक शैलियों के प्रयोग साहित्यिक क्षेत्र में प्रस्तुत हुए। सन् १६३० में ही जैनेन्द्र की प्रथम महत्त्वपूर्ण उपन्यास रचना 'परख' प्रकाशित हुई, जिसकी भाषा-शैली पाश्चात्य ढंग पर स्वाभाविक, सरल तथा अलंकार-विहीन थी। इसके पश्चात् तो अज्ञेय, निराला आदि अनेकों लेखकों ने इन नये प्रयोगों को परिपुष्ट किया। इस प्रकार द्विवेदी-युग की अंतिम सीमा पर ये प्रयोग बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त तक ही स्पष्टतः प्रगट हुए हैं।

उपन्यास-साहित्य के समान ही सन् १६२६ ई० में कहानियों के क्षेत्र में एक मोड़ उपस्थित हुआ। इस समय चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा आदि कथाकारों ने उपस्थित होकर द्विवेदी-युग का पटाक्षेप तथा नवयुग का प्रारम्भ किया।

२०वीं शताब्दी के तृतीय दशक के उत्तरार्द्ध में ही पंडित बद्रीनाथ भट्ट (दुर्गावती सन् १६२८), जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' (प्रताप-प्रतिज्ञा १६२८), जमनादास महरा (पंजाब-केशरी १६२८), जयशंकर प्रसाद (चन्द्रगुप्त १६२६) आदि नाटककारों की अन्तिम आदर्शवादी ऐतिहासिक रचनाएं प्रकाशित हुई। इनके पश्चात् नवीन युग का उदय होता है। इस युग के प्रवर्त्तक एवं सूत्राधार होते हैं—पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र। नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप में मिश्रजी के अवतीर्ण होते ही ('संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग' आदि) उनकी रचनाएं द्रुतगति से १६३१ में एक साथ ही साहित्यिक क्षेत्र में उपस्थित हो जाती हैं। इनमें भाषा-शैली टेक्निक एवं विचार-धारा की दृष्टि से एक नये अध्याय का उद्घाटन होता है। सन् १६३१ से मिश्रजी के

साथ बर्नार्ड शा तथा इब्सन प्रभृति नाट्यकार हिन्दी में अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। द्विवेदी-युगीन आदर्शवादी नाटकों की प्रतिक्रिया नये युग के नाटकों में स्पष्टतः प्रगट होने लगी, इसी समय साहित्यकारों ने अनुभव किया कि भूत के वैभव से वर्तमान धनी नहीं हो सकता। वर्तमान की समस्याओं को यथार्थ की दृष्टि से देखना होगा, भूत के रंगीन चश्में से नहीं। इसी धारणा के विकास से द्विवेदी-युग की परिसमाप्ति होती है और यथार्थवादी धारा का श्रीगणेश होता है। पहले का नाटककार परदे की ओट से ही असुन्दर, अशोभनीय और अश्लील बातों को समाज के सामने रखता था, अब ठीक जैसा का तैसा स्पष्ट रखने का आग्रह होने लगा। साहित्य जीवन का यथार्थ बिम्ब बनने लगा। अभी तक समाज का चित्रण चित्रकार करता था, अब नये युग में 'केमरे' का उपयोग अधिक होने लगा, जिसमें मन से जोड़ने-घटाने को स्थान नहीं रखा गया। इस प्रकार यथा-तथ्य चित्रण की प्रवृत्ति सामने आई। यह द्विवेदी-युग के पर्यवसान का प्रतीक था।

युग-चेतना, जन-विचार एवं भावों के संवाहक समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं के क्षेत्र में भी एक महत्त्वपूर्ण घटना लगभग इसी समय घटती है। रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी ने सन् १९२८ में 'युवक' मासिक पत्र का प्रकाशन कर ओजपूर्ण गद्य का सर्वाधिक विकसित स्वरूप उपस्थित किया। 'युवक' का महत्त्व उसकी भावात्मक एवं ओज-प्रधान शैली में ही है। महात्मा गांधी के आन्दोलन की प्रेरक शक्ति की प्रक्रियास्वरूप इस पत्र में पूर्ण परिपाक से ओज के दर्शन हुए।

समीक्षा के क्षेत्र में भी द्विवेदी-युग की सीमा पर विचार करना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। निःसन्देह युग-भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का वास्तविक यथा-तथ्य मूल्यांकन समीक्षा द्वारा ही होता है। इसी से युग-नाड़ी की परख की जाती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल समीक्षा के क्षेत्र में युग के सर्वोत्कृष्ट नक्षत्र थे और उनकी विभा का उत्कर्ष सन् १९३० के लगभग हुआ है। आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मत यहां दृष्टव्य है।[1]

" + + परन्तु जहां तक हिन्दी-गद्य और विशेषतः हिन्दी-समीक्षा के विकास का प्रश्न है द्विवेदी-युग की सीमा सन् १९२० ई० में समाप्त नहीं होती। वह कुछ और आगे चलती है। जो विचारधाराएं और साहित्यिक प्रवृत्तियां सन् १९०१ ई० के पूर्व पश्चात् उत्पन्न हुई थीं, वे १९२० ई० में प्रौढ़ और परिपुष्ट होने लगी थीं; परन्तु उनका चरम विकास सन् १९२५ और १९३० के आस-पास देखा गया। यही उनके उत्कर्ष की चरम अवधि व सीमा है। द्विवेदी-युग की समाप्ति की सीमा-रेखा निर्धारित करने का एक स्पष्टतर उपाय यह है कि हम यह देखें कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-कार्य को हम इस युग की परिधि में लेंगे या नहीं। शुक्लजी को हम द्विवेदी-युग का परिपक्व फल मानेंगे या उनके परवर्ती युग का नया पुष्प या मुकुल। हिन्दी समीक्षा के विकास सूत्रों को अच्छी तरह देखने व पहिचानने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शुक्लजी की समीक्षा द्विवेदी-युग का समुन्नत विकास है। द्विवेदी-युग की समीक्षा की सम्पूर्ण गतिविधि शुक्लजी के साहित्यादर्श में ही अपनी चरम परिणति प्राप्त करती है। अतएव हमें समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की सीमा सन् १९०१ से १९३० तक माननी पड़ेगी। सन् १९३० में शुक्लजी का हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रकाशित हुआ था, जिसमें उस युग की समीक्षा का सम्पूर्ण समाहार दिखाई देता है।

—नया साहित्य : नये प्रश्न : पृ० ३२।

विचारधाराओं तथा प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखकर किसी युग का काल-विभाजन किसी विभाजक रेखा से नहीं किया जा सकता है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि प्रत्येक युग में एक या कुछ प्रमुख प्रवृत्तियां जन-जीवन के ऊपरी सतह पर आकर हृदयानुशासन करती रहती हैं और अन्य कुछ भीतर ही भीतर समाज और जीवन में प्रवाहित होती रहती हैं। अनुकूल परिस्थिति पाकर, ये ही लुप्त एवं सुप्तप्राय प्रवृत्तियां ऊपर उभर कर पूर्व प्रवृत्तियों से अधिक बलवती होकर उन्हें उखाड़ फेंकती हैं। विश्व-क्रान्तियों के ज्वालामुखी फूटना अथवा नन्हीं-सी मुकुल का पुष्प रूप में मुस्करा उठना क्या किसी एक क्षण की प्रक्रिया है ? फिर साहित्यिक प्रवृत्तियों का उद्भव एवं पतन भी किसी क्षण विशेष का कार्य नहीं है, जिसकी ओर सरलता से संकेत करके 'काल' का विभाजन हम कर सकें। भावनाओं एवं प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात नेपथ्य में क्या चल रहे हैं, इसे कौन कह सकता है ? यह तो तब ही ज्ञात होता है जब उनमें से कोई एक प्रवृत्ति प्रबल होकर रंगमंच पर आ धमकती है। इस परिस्थिति में ऐसी ही कोई महत्त्वपूर्ण युगान्तरकारी घटना को मोटे रूप में पकड़कर काल-सीमा को निर्धारित कर लेते हैं। द्विवेदी-युग के निर्णय के लिए यदि हम इस प्रकार की कोई एक घटना से भौतिक प्रमाण चाहने वालों का आग्रह तुष्ट करने का प्रयत्न करें तो द्विवेदीजी के युगारम्भ की तिथि ई० १९०३ ठहरती है, जिस दिन पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रेलवे के पद से त्यागपत्र देकर 'सरस्वती'-सम्पादन कार्य को अपने हाथ में लिया। युग की दूसरी सीमा होती है सन् १९२०, जबकि उन्होंने 'सरस्वती' सम्पादन से मुक्ति ली। इस संकुचित दृष्टि से 'द्विवेदी-काल' को १७ वर्षों में सीमित करने को न तो हमारा विवेक स्वीकार करता है और न हमारी आत्मा ही। निःसन्देह हम इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि द्विवेदीजी का 'सरस्वती' सम्पादन-काल उनकी कीर्त्ति का मध्याह्न-काल था, जबकि उन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण 'सरस्वती' और 'भारती' की सेवा में अर्पित किया था। परन्तु जिस प्रकार से हम दिन की सीमा दोपहर पूर्व दस बजे से दोपहरोपरान्त चार बजे तक सीमित नहीं करते, इसी प्रकार 'द्विवेदी-युग' को उनके 'सरस्वती'-सम्पादन-काल में नहीं बांध सकते हैं। अतएव हमें इसके लिए पुनः एक अन्य सीमा-रेखा की खोज करनी पड़ेगी। 'सरस्वती' सम्पादन कार्य को हाथ में लेने के पूर्व सन् १८९६ से ही महावीर द्विवेदीजी की प्रखर प्रतिभा का आभास स्पष्ट ही प्राप्त हो चुका था, इसीलिये श्री चिन्तामणि घोष ने पांच महारथियों के सम्पादक-मण्डल का स्थानापन्न अकेले 'महावीर' को बनाकर 'सरस्वती' की सेवा कर सम्पूर्ण भार उनके बलिष्ठ स्कन्धों पर रख दिया। इसलिये द्विवेदी-युग की कम-से-कम पूर्व-सीमा 'सरस्वती' प्रकाशन १ जनवरी, १९०० मान सकते हैं और उत्तर-सीमा उनको हिन्दी का प्रथम अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का समय सन् १९३३ तक न लेकर, द्विवेदी-युग के 'परिपक्व फल' आचार्य शुक्लजी की अद्वितीय रचना 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के रूप में नवयुगागम की सूचना देनेवाली प्रतिनिधि रचना के प्रकाशन-काल सन् १९३० को मान सकते हैं। इस प्रकार से द्विवेदी-युग को १९०० से १९३० तक दो सुदृढ़ युगान्तरकारी घटनाओं से भी बांधा जा सकता है।

आचार्य डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने द्विवेदीजी के साहित्यिक राज्य की सीमा उनकी सम्पादन-कार्य से मुक्ति को न मानकर १९२५ तक स्वीकार किया है।[1] यह द्विवेदी-युग को उनके सम्पादकीय जीवन में आबद्ध करनेवालों की भ्रांतिपूर्ण धारणा का स्पष्ट खण्डन है। दूसरे शब्दों में, यदि द्विवेदीजी का साहित्यिक शासन १९२५ में समाप्त हो गया था, तो भी अनुशासन उसके कुछ वर्ष पश्चात् १९३० तक माना जा सकता है। वैसे समसामयिक साहित्यकारों पर उनके 'नाम का जादू' सन् १९३३ तक बराबर काम करता रहा है।[2] द्विवेदी-युग को सन् १९३० तक मानने के पक्ष में और भी कई तर्क एवं युक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं, परन्तु काल-निर्णय के इस विवाद की यहां अप्रासंगिकता के कारण, गद्य-शैलियों के सम्यक् अध्ययन के लिए इस प्रकार की बृहत्तर सीमाएं अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त तथा न्यायसंगत स्वीकार कर, इसको 'बृहत्तर द्विवेदी-युग' संज्ञा देकर हम इष्ट साध्य करते हैं।

गद्य-काल के तीस वर्षों की दीर्घ अवधि में हिन्दी के गद्य-लेखकों की संख्या सैकड़ों तथा ग्रन्थों और लेखों की गणना सहस्रों में है। फलतः उन्हीं गद्यकारों एवं ग्रन्थ या लेख विशेषों को हमने अपने प्रबन्ध में स्थान दिया है जो शैलीकार हैं तथा जिन रचनाओं में शैलियों की उद्भावना हुई है। इस सम्बन्ध में हमारी यह धारणा है कि प्रत्येक लेखक शैलीकार नहीं होता। इस स्थिति में कई लेखक या ग्रन्थ जिनका यहां अध्ययन नहीं किया गया है अन्य दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भले ही हों, स्वतन्त्र रूप से उनको स्थान नहीं दिया है। एक ही लेखक की शैली की दृष्टि से प्रतिनिधि रचनाओं को लेकर उनकी अन्य उन्हीं शैलियों की रचनाओं को भी छोड़ दिया है। साथ ही हमारा उद्देश्य आलोच्य-युग के गद्य-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करना भी नहीं है। अतः, इस अध्ययन में सब गद्य-लेखकों और उनके सब ग्रन्थों को समेट लेने का हमारा दावा नहीं है।

हमें गद्य-शैली के विवेचन में, प्रधानतः दो मत दिखाई देते हैं। प्रथम मत पाश्चात्य दृष्टिकोण से अतिप्रभावित है और निबन्धों को ही गद्य की कसौटी मानता है और अन्यान्य गद्य-रूपों का अध्ययन करना भी समीचीन नहीं समझता। यह वर्ग न केवल पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय लेखों की उपेक्षा करता है, वरन् कहानी, उपन्यास, नाटक तथा जीवनियों को भी गद्य-शैली के अध्ययन के लिए विशेष उपयुक्त नहीं समझता। इसके विपरीत दूसरा समीक्षक वर्ग समस्त गद्यांशों एवं गद्य-रूपों को अपनी समीक्षा का विषय बनाकर शैली का विवेचन करता है। इन दोनों वर्गों में से हमने द्वितीय वर्ग के दृष्टिकोण को गद्य-शैलियों के सांगोपांग अध्ययन के लिए उपयुक्त माना है। इस दृष्टि से निबन्धों के पश्चात् लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब सम्पादकीय लेखों में अन्य गद्य-रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। साधारण लेखक की

---

१. "यदि उनके सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन का विचार किया जाय तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि ई० सन् १९२५ तक हिन्दी में उनका राज्य था। वे निर्माता थे, नियामक थे, और साथ ही कठोर शासक भी थे। हिन्दी की गद्य निर्मिति में उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्व। विशेष है।" —हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता : पृ० ५-६।

२. श्यामसुन्दरदास व रायकृष्णदास : द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ : भूमिका (१९३३) : पृ० ११।

अपेक्षा सम्पादक का व्यक्तित्व अधिक प्रभावी, सजग तथा सप्राण होता है। सम्पादकीय-लेख, टिप्पणियां अथवा आलोचनाएं उसकी कलम का जौहर दिखाते हैं। सौभाग्य से हिन्दी के निर्माताओं, संरक्षकों तथा पोषकों में से अनेक विभूतियां पत्र-पत्रिकाओं की सम्पादक ही रही हैं। उदाहरणतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर हमारे युग-नायक आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक अनेक प्रमुख साहित्यिकों की अधिकांश सेवाओं का माध्यम उनकी पत्र-पत्रिकाएं ही थीं। इसलिए हमने तत्सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया है। अतएव इस गद्य-शैलियों के अध्ययन की परिधि में अन्य गद्यकारों के साथ सम्पादकों को विशेष महत्त्व दिया है। इतना ही नहीं, द्विवेदी-युगीन कतिपय शास्त्रीय विषयों के लेखों का भी प्रस्तुत प्रबन्ध में अध्ययन किया है।

इस अध्ययन में हमने विभिन्न गद्य-अनुवादों को विस्तृत स्थान देना अनेक कारणों से उचित नहीं समझा है, वैसे विभिन्न भाषाओं से अनूदित अनेक हिन्दी-गद्य रचनाएं हमारे साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई हैं। इनके द्वारा न केवल हिन्दी के स्थायी कोश की सम्वृद्धि ही हुई है वरन् उन्होंने हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में भी उल्लेखनीय सहयोग दिया है। शरदचन्द्र चट्टोपाध्याय, बंकिम बाबू, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि की अनूदित रचनाएं तथा संस्कृत अंग्रेजी के असंख्य ग्रन्थों के भाषानुवादों ने हिन्दी पाठकों की संख्या में बहुत वृद्धि की है। इन अनुवादों के द्वारा हिन्दी पाठकों की रुचि का परिष्कार भी हुआ है, इसे हम सादर स्वीकार करते हैं, पर इतना होते हुए भी अनुवादों में मूल लेखकों का व्यक्तित्व तथा अनुवादों का व्यक्तित्व मिलकर एक नया मिश्रण तैयार हो जाता है, जिससे शैलियों का प्रमाणित अध्ययन संभव नहीं है। अनुवादक कितनी ही सजगता से कार्य करे, वह न तो मूल लेखक की शैली के प्रति अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वाह कर पाता है और न स्वयं अपनी शैली के प्रति। मूल लेखक की शैली अनुवादक की शैली को न्यूनाधिक प्रभावित करती है। इसलिए शैलियों के अध्ययन में अनुवादों को हमने सविस्तार स्थान नहीं दिया है।

शैली के सम्बन्ध में विद्वानों की अनेक धारणाएं हैं। कुछ लोग अभिव्यक्ति के वैयक्तिक ढंग को शैली कहते हैं। इस परिभाषा के शब्दों में बंधना भी हमने उचित नहीं समझा है; क्योंकि शैली की संज्ञा किसी भी ऐसी अभिव्यक्ति को नहीं दी जा सकती जिससे कि उस ढंग विशेष का शैलीकार से तादात्म्य स्थापित नहीं हो जाता। शैली का परीक्षण करने के लिए कोई नवीन या विलक्षण विषय पर की गई प्रथम अभिव्यक्ति हमारी सहायक नहीं हो सकती। जैसे वैज्ञानिक अपनी धारणाएं सतत परीक्षाओं के पश्चात् निश्चित करता है वैसे ही शैली सम्बन्धी धारणाएं लेखक की सामान्यतः व्यवहृत शैलियों पर आधारित की गई हैं। शैली वैशिष्ट्य-ज्ञापन करने के लिए ही, एक ही विषय पर हुई अभिव्यक्तियों को विशेषतः उद्धृत कर तुलनात्मक विचार भी किया गया है।

इस अध्ययन में द्विवेदी-युग में प्रचलित गद्य के सभी प्रमुख रूपों पर विचार करने के लिए प्रबन्ध को निम्नलिखित १२ अध्यायों में विभाजित किया है :—

प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में शैली तथा गद्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन किया गया है। हिन्दी में पं० करुणापति त्रिपाठी की 'शैली' पुस्तक के अतिरिक्त शैली के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार प्रायः नहीं किया गया है। त्रिपाठीजी ने भी पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों में शैली सम्बन्धी धारणाओं का अध्ययन कर, सामान्य दृष्टि से शैलियों का पर्यवेक्षण किया है। उसमें भारतीय साहित्य-शास्त्र की रीति के साथ आधुनिक शैली की संगति पर ध्यान नहीं गया है। इसके विपरीत डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी रीति साहित्य' में भारतीय काव्य-शास्त्र पर ही प्रमुखतः अपनी दृष्टि रखी है। आचार्य डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास' मूलतः व्यावहारिक समीक्षा का ग्रन्थ है और उसके परिवर्तित संस्करण की भूमिका में उन्होंने शैली के अवयव, गुण, दोष, रचना-शैली, शैली में विषय एवं व्यक्तित्व का संकेत मात्र किया है। अतएव प्रथम अध्याय में यूरोपीय एवं भारतीय काव्य-शास्त्रों के सम्यक् अध्ययन के आधार पर शैली का समन्वित तथा संतुलित स्वरूप प्रस्तुत किया है। आचार्य कुन्तक की 'स्वभावोहि मूर्ध्निवर्तते' तथा बफन की प्रधान उक्ति Style is the man को मूलाधार बनाकर शैली का व्यक्तित्व की दृष्टि से विशेष विवेचन किया है।

प्रबन्ध में भी यथा-स्थान शैलीकार के जीवन-दर्शन एवं व्यक्तित्व की शोधपूर्ण चर्चा की गई है और शैलियों का विवेचन उसी के प्रकाश में उपस्थित किया है। 'व्यक्तित्व ही शैली है' इस तथ्य की पुष्टि भी उसमें हो गई है।

द्वितीय अध्याय में इसी प्रकार से गद्य, उसका उद्देश्य, स्वरूप, तत्त्व तथा पद्य से उसकी भिन्नता आदि का सैद्धान्तिक चिन्तन करके गद्य की विभिन्न शैलियों का उदाहरण सहित विचार किया है। हिन्दी में सैद्धान्तिक दृष्टि से गद्य की विवेचना नहीं

मिलती है; इसलिए प्रथमतः इसका विवेचन आवश्यक माना गया।

तृतीय अध्याय में द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी-गद्य की पृष्ठ-भूमि का पर्यावलोचन किया गया है। हिन्दी भाषा पर तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि आन्दोलनों या संस्थाओं का जो प्रभाव पड़ा था, उस पर विशेष लक्ष्य रखा गया है, साथ ही अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत, अरबी-फारसी, उर्दू आदि भाषाओं की हिन्दी पर प्रतिक्रिया का भी अंकन किया है। इसमें विशेषतः पत्र-पत्रिकाओं से सहायता ली है। भारतेन्दु-युग की प्रमुख गद्य-शैलियां भी प्रस्तुत करना आवश्यक समझा गया है। इन्हीं की तुलना में द्विवेदी-युग की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त हमने ५ जनवरी, १८८५ में भारतेन्दु के अस्त हो जाने के पश्चात् और युग-पुरुष द्विवेदी-जी के नेतृत्व ग्रहण करने के पूर्व, लगभग १५-१६ वर्ष के अराजकता-काल का भाषा की दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया है। हमने अराजकता-काल का विशेष अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण समझा है कि द्विवेदीजी की समस्याएं तथा भाषा की स्थिति का इससे ज्ञान हो सकता है। चतुर्थ अध्याय पूर्णतः द्विवेदीजी पर केन्द्रित है। आलोच्य-युग में गद्य की विभिन्न विधाओं का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने के पूर्व युग-पुरुष द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित होना आवश्यक भी था। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व पर बल देने का सबसे बड़ा कारण यह है कि शैलियां व्यक्तित्व सापेक्ष हैं। द्विवेदीजी की विविध शैलियां भी एक ही स्थान पर इस अध्याय में, इसीलिए प्रस्तुत कर दी गई हैं, ताकि व्यक्तित्व के प्रकाश में उन्हें वहीं देखने-परखने में सुविधा हो।

अध्याय पांच 'द्विवेदी-युग निबन्ध-साहित्य की गद्य-शैलियां' हैं, जो कि प्रस्तुत प्रबन्ध का सबसे बड़ा तथा सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। जहां तक गद्य-शैलियों का प्रश्न है, निबन्धों का स्थान अन्य गद्य-विधाओं की अपेक्षा सर्वोपरि है। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के उन्मेष, विभिन्न भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति, भाषा का परिमार्जन तथा शैलियों के प्रणयन के निबन्धों में ही सर्वाधिक अवसर मिलते हैं। व्यक्तित्व के साथ शैली का जो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षकों ने प्रतिपादित किया है, उस दृष्टि से भी निबन्ध साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। निबन्धों में विषयों के क्षेत्र की प्रशान्तता तथा आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व और शैली के निखार में सहायक होती है। इस अध्याय में १६ प्रमुख निबन्धकारों को स्थान दिया है। इनके चुनाव में उनकी शैलीगत विविधताओं तथा महत्ता को ध्यान में रखा है।

अध्याय छठवें में, निबन्धों के पश्चात् शैली की दृष्टि से समीक्षा-साहित्य को स्थान दिया है। इसका कारण यह है कि वस्तुतः समीक्षात्मक रचनाएं निबन्धों के कोटि की ही होती हैं। शैली की दृष्टि से भी उन्हें निबन्धों की समीपता आवश्यक थी।

अध्याय सात 'कथा-साहित्य में गद्य-शैलियों' का है। कथा-साहित्य में कहानियों तथा उपन्यासों को एक ही साथ रख दिया है। शैलियों की दृष्टि से ये दोनों समीप भी हैं तथा बहुत से कहानीकार तथा उपन्यासकार एक ही हैं, जिनके व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् देना भी उचित न था और न उनकी एक ही शैली को कहानी तथा उपन्यास में पुनरावृत्ति करना ठीक था। द्विवेदी-युग कथा-साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध था इसमें

१३ कथाकारों को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

अध्याय आठ में, कथा-साहित्य के समीप का लोक-साहित्य, परन्तु शैलियों की दृष्टि से भिन्न, नाट्य-साहित्य को रखा गया है। निःसन्देह, सामयिक परिस्थितियों-वश आलोच्य-युग में नाट्य-साहित्य का स्वस्थ विकास नहीं हो सका था। फिर भी ८ नाट्य-कारों का चयन हो सका है।

अध्याय नव 'गद्य-काव्य की शैलियां' है। इसे प्रधान गद्य-रूपों के अन्त में स्थान देने का कारण यह है कि शैलियों का चरम उत्कर्ष और माधुर्य गद्य-काव्य में स्फुटित हुआ है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह अन्य गद्य-रूपों के बाद की विधा है।

अध्याय दस, पत्र-पत्रिकाओं की शैलियों से सम्बन्धित है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा भाषा और शैलियों के निर्माण में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान महत्त्वपूर्ण है। द्विवेदीजी की प्रेरणा और प्रोत्साहन से बहुत से विविध उद्देश्यों को लेकर दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक आदि पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इनमें हमने सम्पादकीय लेखों को ही उद्धृत किया है; क्योंकि युग की अन्य गद्य-रचनाएं अन्यत्र स्थान पा चुकी हैं।

अध्याय ग्यारह में, 'उपयोगी गद्य-साहित्य की शैलियां' के अन्तर्गत शास्त्रीय विषय, पत्र-साहित्य तथा अनुवादों को मोटे रूप से लिया है। इसमें विविध गद्य के रूपों में शैलियों का जो स्वरूप था, उस पर सामान्य दृष्टि डाली गई है।

अध्याय बारह प्रबन्ध का 'उपसंहार' प्रस्तुत करता है। इसमें एक विहंगम दृष्टि से युग की परिस्थितियों का आकलन करके शैलियों का विकास तथा उनकी परम्पराओं का संकेत है। प्रत्येक गद्य-रूप को पृथक्-पृथक् लेकर संक्षिप्त में द्विवेदी-युग के पर्यवसान की भाषा-शैलीगत गतिविधि का निर्देश मात्र किया है। आलोच्य-युग में ही हिन्दी राष्ट्र-भाषा के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने का अधिकार प्रमाणित करने की दिशा में आगे बढ़ी। और उसकी व्यावहारिक शैलियां पुष्ट हुईं, इस तथ्य का संकेत अन्त में किया गया है।

व्यावहारिक अध्ययन के अन्तर्गत, हमने प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में उस विषय के स्वरूप, उद्देश्य आदि नियामक तत्त्वों के साथ उसकी सामान्य शैलीगत संगति का चिन्तन किया है और संक्षिप्त में हिन्दी में उन गद्य-रूपों में शैलीगत विकास को ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत किया है। यथा-सम्भव प्रमुख ग्रन्थों का रचना-काल भी दिया है, इससे प्रमाणित रूप से विकास का अनुशीलन करने में सहायता मिले। प्रमुख तिथियां ईस्वी सन् में देना ही उचित समझा गया है। कई स्थानों पर प्राप्त संवत् तिथियों को ईस्वी में परिवर्तन करने के कारण कुछ मोटे रूप से अन्तर भी आ सकता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के गुणों का श्रेय मेरे श्रद्धेय गुरुदेव एवं प्रबन्ध-निर्देशक आचार्य वाजपेयीजी को है, तथा उसके दोष मेरी ही अज्ञता के परिणाम हैं। गुरुवर के इस ऋण से तो मैं कदापि उऋण नहीं हो सकता तथा उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन

करना भी औपचारिकता मात्र है, ऋण-मुक्ति नहीं। इसी प्रकार से, प्रबन्ध की त्रुटियों तथा अभावों के लिए केवल क्षमा याचना करना भी मैं अपर्याप्त मानता हूं।

सागर-विश्वविद्यालय
स्वतन्त्रता दिवस, १९५८

—शंकरदयाल चौऋषि

विषय-सूची

अध्याय : १

शैली का सैद्धान्तिक विवेचन

शैली का जन्म

मानव मात्र की मूलभूत प्रवृत्तियों में अपनी सुनाने और दूसरे की सुनने की प्रवृत्ति मुख्य तथा आदिम है। इसके वशीभूत होकर ही मानव-पूत अपने बचपन से ही अपनी नानी, दादी, मां आदि से असंख्य बातें कहता-सुनता आया है। अभिव्यक्ति के लिए मानव ने नवीन मार्गों का सृजन किया है। अभिव्यक्ति की क्षुधा उसे अपने जन्म दिन से लगी है। इसी से उसने यह कहने-सुनने का उपक्रम रचा। सुनते-सुनाते मानव-भावना में असंख्य वर्षों बाद पुन: मोड़ आया और वह अपने-आपको, अपने विचारों को, अपने बढ़ते हुए ज्ञान को, चिरस्थायी बनाने को आकुल-व्याकुल हो उठा। उसने अनेकों संकेत निकाले और सांकेतिक भाषा के रूप में उस संचित ज्ञान को बांधने का प्रयत्न किया। विचारों और भावों के रूप में जो उपकरण—कच्ची सामग्री—उसके पास थी, भाषा ने इन मानस-प्रसूत अनुभूतियों तथा मस्तिष्क-प्रदत्त ज्ञान को भाषा के अक्षय पात्र में संकलित कर लिया। फिर भी सदियों के इस श्रम के पश्चात् न तो इन संकेतों से ही मानव को सन्तोष हुआ और न अपनी अभिव्यक्ति से ही। अब उसका प्रयत्न अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावी, चमत्कारी, हृदश-स्पर्शी तथा यथातथ्य बनाने का होने लगा। अत: जिस दिन से मानव को वस्तु की अभिव्यक्ति में विलक्षणता लाने की गति-मति जगी, उसी दिन से शैली का विवेचन तथा विचार प्रारम्भ हुआ। अभिव्यंजना को सुन्दर-तर तथा सुन्दरतम बनाने के भी मनसूबे होने लगे, इसी से कला की प्रतिष्ठा हुई। कला का कमनीय एवं मादक स्पर्श पाकर अभिव्यक्ति में प्राणों का संचार हुआ और इस कलात्मक भाव-विचार-स्थापन में ही साहित्यिकता का निवास हुआ। शैली के मूल में मानव की सौंदर्य-प्रियता की यही प्रवृत्ति कार्य कर रही है।[१]

कला-विहीन अभिव्यक्ति विज्ञान, शास्त्र, इत्यादि और कोई भी संज्ञा प्राप्त कर सकती है; परन्तु वह साहित्य-पद पर अभिषिक्त नहीं हो सकती। शैली ही साहित्य का अनिवार्य तत्त्व है। शैली ही वस्तु को निर्गुण से सगुण बनाती है तथा अव्यक्त को व्यक्त करती है। जब लेखक अपने से बाहर की वस्तुओं के अध्ययन सम्बन्धी ठेठ तथ्यों को—जैसे शरीर-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान इत्यादि को प्रकट करता है तो वह उन्हें बिना किसी विशेष चमत्कार लाने के प्रयत्न के सीधे शब्दों में रख देता है। इनमें

१. क्षेमचन्द्र 'सुमन' तथा योगेन्द्र कुमार 'मल्लिक' : साहित्य-विवेचन : पृ० ४४

वस्तु बिना अभिव्यक्ति की साज-सज्जा या विलक्षणता की प्रतीक्षा किये ही प्रस्तुत कर दी जाती है। शास्त्र तथा विज्ञान में लेखक का सामान्य उद्देश्य भाव-व्यंजना मात्र रहती है। जिस समय कोई लेखक भाव-व्यंजना मात्र के उद्देश्य से ऊंचा उठता है और शब्द-चयन अथवा वाक्य-विन्यास का भी समुचित ध्यान रखकर अपनी लेखनी चलाता है, उसी समय शैली अथवा स्टाइल का जन्म होता है। अतएव, किसी भाषा की लेखन विचार-शून्य तथा निरुद्देश्य लेखकों के हाथ से कभी परिमार्जित नहीं बनती।[१]

साहित्य में अभिव्यक्ति के मूलतः दो तत्त्व रहते हैं—

१. वस्तु, २. कला। इन तत्त्वों का साधारणतः ज्ञान 'क्या' और 'कैसे' इन दो प्रश्नों की सहायता से किया जा सकता है। शैली का सम्बन्ध काव्य के 'कैसे' अथवा वस्तु-निरूपण या स्थापन के ढंग से है, एवं साहित्य के वस्तु या भाव-पक्ष से प्रत्यक्षतः नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि वस्तु को उसकी अभिव्यक्ति के ढंग से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'क्या' और 'कैसे' दोनों ही एक राशि के हैं और दोनों का परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे को बहुत दूर तक प्रभावित करते रहते हैं; फिर भी हम प्रबन्ध की मर्यादा में बंधकर 'कैसे' तक ही अपने अनुशीलन को सीमित रखेंगे। साधारण दृष्टि से नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, दोहा, चौपाई इत्यादि भी काव्याभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियां हैं; परन्तु साहित्यिक रूढ़ार्थ में शैली का सम्बन्ध भाषा-संयोजन वैचित्र्य या रचना-तत्त्व से है। यह वस्तुतः भाषा की वैयक्तिक अभिव्यक्ति का विशेष ढंग है।

रीति शैली तथा स्टाइल की व्युत्पत्ति

प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र में आधुनिक "शैली" का पर्याय रीति शब्द उपलब्ध होता है, जो कि अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'रीति' शब्द संस्कृत की 'रीङ्' धातु में क्तिन प्रत्यय के योग से बना है। रीङ् का अर्थ गतिशील होना या चलना है।[२] रीति शब्द भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राचीन 'मार्ग' शब्द का स्थानापन्न एवं प्रौढ़ शब्द है।[३]

'रीङ्गताविति धातोः साव्युत्पत्या रीति रुच्यते'
रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करण साधनोऽयं
रीति शब्दो मार्गमर्यायः

भारतीय साहित्य शास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य वामन (९वीं शती उत्तरार्द्ध) ने 'रीति' शब्द का प्रयोग काव्य के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के लिए किया। इसके पूर्व प्रवृत्तियों तथा वृत्तियों के अन्तर्गत ही रीति का संकेत मात्र मिलता है। आचार्य भरत, राजशेखर, भोज आदि प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने प्रवृत्तियों का विवेचन देश की

१ रमाकान्त त्रिपाठी : हिन्दी-गद्य-मीमांसा : पृ० १०३।
२. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० १३७।
३. भोजदेव : सरस्वती कण्ठाभरण : २।२७।

वेश-भूषा, भाषा, आचार तथा व्यवहार के लिए किया है। इनका सम्बन्ध भौगोलिक आधार पर मनुष्यों के बाह्य व्यापारों से था। आनन्दवर्द्धन ने 'व्यवहारों हिवृत्तिरित्युच्यते' कहकर व्यवहार को 'वृत्ति' की संज्ञा दी।[1] इनसे नाट्य तथा काव्य-वृत्तियां अपने उपांगों सहित सामने आईं।

प्रारम्भ से ही 'रीति' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। रीति के पर्याय-वाची गति, मार्ग, विधि, पन्थ, भाषा-सरणि, प्रस्थान, पाक-प्रणाली, पद्धति, ढंग, इत्यादि अनेक शब्द शब्द-कोशों में मिलते हैं। रीति शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति एवं उसके पर्यायवाची शब्दों से अभिव्यक्ति की प्रणाली की ओर ही संकेत मिलता है। जिस प्रकार से प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र में 'रीति' शब्द का प्रयोग ही अपेक्षाकृत अधिक व्यापक लोकप्रिय एवं साहित्य-शास्त्र में सम्मानित हुआ है, उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'शैली' शब्द अत्यधिक प्रचलित एवं मान्य है।

'शैली' शब्द अंग्रेजी के स्टाइल (Style) शब्द के आधार पर उसके पर्याय-वाची के रूप में गढ़ा गया है। आज हिन्दी-वाङ्मय में शैली शब्द की वही स्थिति है, जो संस्कृत वाङ्मय में रीति शब्द की थी। इसलिए शैली का अध्ययन करने के लिये संस्कृत वाङ्मय की रीति का भी विशेष अध्ययन अपेक्षित है। वैसे शैली शब्द भारतीय वाङ्मय में बिलकुल नया नहीं है। शैली, शील, शालीन, शैलिनी, शैलिन—ये सब एक ही परिवार के शब्द हैं तथा संस्कृत की 'शील' धातु से इनकी व्युत्पत्ति हुई है। निःसन्देह शैली शब्द चारों वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों में भी नहीं है। बृहदारण्य उपनिषद् ४।१।२ में शैलिनी पद हैं, पर उसका अर्थ नाम विशेष है। परवर्तीकाल में शैली शब्द का जहां प्रयोग शास्त्र में हुआ है, उसका अर्थ 'किसी सूत्र की व्याख्या पद्धति से है।'[2] शैली शब्द की व्याख्या इस रूप में की जाती है—शीलमेव स्वार्थेअण्ङीप। चारित्रे, आचार्याणामियं शैली यत्सामान्येनामिधाय विशेषेण विवृणोतीति प्रांचः ॥[3] इन प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट होता है कि शैली शब्द शील धातु से निकला है। यह शील शब्द शैली के तत्त्वों के संकेत करने में अत्यधिक ही नहीं, सर्वाधिक सक्षम है। 'शैली' के आधुनिक तत्त्वों एवं प्रयोगों को देखते हुए भी 'शील' शब्द में जो संकेतात्मक व्यंजना प्राप्त होती है, वह अंग्रेजी के मूल शब्द 'स्टाइल' अथवा 'स्टीलस' में भी उपलब्ध नहीं होती।

'शील व्यक्ति के जीवन का दर्शन नहीं, काव्य है। व्यक्ति का शील आधारतः मनुष्य की हृदय व्यवस्था का वह मानचित्र है, जिसका निर्माण एक अचल प्रतिष्ठा नहीं, प्रतिक्षण चंचल गतिक्रम है।'[4] शील शब्द का अर्थ (१) सहज स्वभाव, मूल स्वभाव, उपजत गुण, प्रकृति गुण, (२) उत्तमाचार, सदाचार, यथा शास्त्रवर्तन, (३) तबियत, स्वभाव, प्रकृति, (४) सुन्दरपणा, शोभा हैं।[5] शील के उपर्युक्त चारों अर्थों से शैली में

१. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : ३।३३ ।
२. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पद टिप्पणी : पृ० १९६ ।
३. पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य : शब्द स्तोम महानिधि : पृ० ४४८ ।
४. जगदीश पाण्डेय : शील निपरूण सिद्धान्त और विनियोग : पृ० १ ।
५. माधव चन्द्रोवा : शब्द-रत्नाकर (मराठी) प्राकृत व संस्कृत शब्द-कोश : पृ० ५६४

जो अर्थ गाम्भीर्य आ गया है वह अंग्रेजी के 'स्टाइल' में कहां है? जार्ज लुइस बफन (१७०७–१७८८) की प्रसिद्ध उक्ति 'Style is the man himself' से जो भावाभिव्यंजना कठिनाई से हो पाती है वह शैली में सरलता से हो जाती है। व्यक्तित्व का मूल शील है, जो साहित्य में ही अपने को प्राप्त करता है।[१] विशेषता तो यह है कि जहां अंग्रेजी का 'स्टाइल' शब्द आज रुढ़ार्थ में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का आग्रह करता है, वहां उसी का पर्याय शैली अपने मूल स्वभाव से ही 'स्वभाव' की व्यंजना करने लगा है।

जैसा कि शैली शब्द के उद्भव तथा आधुनिक तत्त्व-विवेचन से ज्ञात होता है कि हिन्दी में शैली के तत्त्वों को अंग्रेजी ने अनुप्राणित किया है, इसलिए हमें अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द की व्युत्पत्ति पर भी विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। 'स्टाइल' शब्द लेटिन भाषा के स्टीलस (Stilus या Stylus) शब्द से बना है, जिसका अर्थ लौह लेखनी या लोहे की कलम होता है।[२] प्राचीन रोमन काल में लौह लेखनी से मोमचढ़ी पट्टियों अथवा कागज पर लिखा जाता था, वही कालान्तर में अभिव्यक्ति का प्रतीक बनकर लिखने की विशिष्ट शैली[३] या 'स्व की अभिव्यक्ति का ढंग'[४] के लिए प्रयुक्त होने लगा। लेखन शैली के लिए प्रयुक्त 'स्टाइल' काल-यापन होते-होते अर्थोत्कर्ष से इतना अधिक व्यापक एवं लोकप्रिय हुआ कि संस्कृत रीति के समान साहित्येतर अन्यान्य सत्-असत सभी क्षेत्रों में गतिशील होकर अनेक मार्ग, प्रणाली, पन्थ, पद्धति के साथ प्रचलन करने लगा। बोलने-चालने, नाचने-गाने, खेलने-कूदने, लड़ने-भिड़ने, आदि सभी की 'स्टाइलस' होने लगी।[५] 'फ्री स्टाइल' मल्लयुद्ध स्टाइल से विहीन होकर भी अपनी 'स्टाइल' रखता है। एक ओर 'स्टाइल' 'कट' के साथ में सट कर वेश-भूषा, साज-सज्जा के ढंग के लिए प्रयुक्त होती है तो दूसरी ओर 'मेनर' बनकर भारतीय 'रीति' बनने का प्रयत्न करती दृष्टिगोचर होती है। पाश्चात्य साहित्य में जो अर्थोत्कर्ष में गति 'स्टाइल' की हुई है वही गति हिन्दी में अब शैली की भी हो चली है। शनैः-शनैः कलम की कला 'शैली' जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त होती जा रही है। आजकल द्राविण शैली, खजुराहो शैली, मुगलकालीन शैली, जर्मन शैली, बाणभट्ट की शैली, प्रेमचन्दी शैली,

१. डॉ० सत्येन्द्र : समीक्षा के सिद्धान्त : पृ० ३५।

२. Shipley, J. T. : Dictionary of World Literature : p. 534.

३. "The pen, scractching on the wax or paper, has become the symbol of all that is expressive, all that is intimate, in human nature not only arms and arts, but man himself has yielded to it." —*Walter Raleigh : Style :* p. 2.

४. F. L. Luces : Style : p. 16.

५. "Style, the Latin name for an iron pen has come to designate the art that handles with ever fresh vitality and wary alacrity, the fluid element of speech. Thence the application of the word has been extended to arts other than literature to the whole range of activities of man."
—*Walter Raleigh : Style :* p. 1.

प्रगतिशील शैली, सर्वबोध शैली, विनोदात्मक शैली, प्रलाप शैली इत्यादि अनेक रूपों में शैलियों का स्मरण किया जाता है। फ्रेंच साहित्य में यही 'स्टाइल' मूलतः अर्थोपकर्ष से 'अभिव्यक्ति' के सुन्दर ढंग[1] के लिए ही प्रयुक्त हुआ।

रीति और शैली में अन्तर

रीति, शैली तथा स्टाइल की व्युत्पत्तिमूलक एवं व्यावहारिक अर्थों की विवेचना करने के पश्चात् प्राचीन रीति और आधुनिक शैली के अन्तर का अध्ययन करना आवश्यक है। भारतीय वाङ्मय में शैली शब्द का प्रथम प्रयोग एवं परिचय कुल्लूक भट्ट (सन् ११५०–१३०० के लगभग) कृत टीका मनुस्मृतिः १।४ में प्राप्त है।[2]

'प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत्सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति'

इस प्रकार से शैली शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में व्याख्यान पद्धति के लिए होता था। कालान्तर में व्याख्यान पद्धति के स्थान में भाषा अभिव्यक्ति के ढंग के लिए भी शैली शब्द प्रयुक्त होने लगा। फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में शैली की जो भी चर्चा और विवेचना विशेष रूप में हुई है, उस पर पाश्चात्य साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव है। अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है, जो अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द का पर्याय है।[3] जैसे ही हमें अंग्रेजी 'स्टाइल' के पर्याय वाचक-शब्द की आवश्यकता हुई कि हमने संस्कृत के अक्षय भाण्डार से 'शैली' के रूप में ग्रहण कर लिया। पश्चिम से प्रभाव ग्रहण करने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि समृद्ध भारतीय काव्य-शास्त्र में हमारे यहां शैलियों के क्षेत्र में विचार ही नहीं किया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र का बृहत् इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हमारे आचार्यों ने काव्य के विभिन्न सभी अंगों पर विस्तार-पूर्वक गहराई से विचार किया है। 'भारतीय आलंकारिकों का रीति-विचार उनकी उच्चकोटि की समीक्षा-शक्ति का द्योतक है। रीति का विश्लेषण तथा विभाजन इतने वैज्ञानिक ढंग से हमारे आलोचकों ने किया है कि पाश्चात्य जगत में विपुल आलोचना होने पर भी उसका मूल्य और महत्त्व आज भी उसी प्रकार अक्षुण्य है। हमारे आलोचक बहिरंग आलोचना के अनुगामी नहीं हैं, प्रत्युत विषयी प्रधान आलोचना के सन्तत उपासक हैं।'[4]

अत्यन्त प्राचीन काल में ही भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने रीति की महत्ता को स्वीकार किया है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' तथा वात्सायन के 'काम-सूत्रों' का सम्यक् अध्ययन करने पर उनमें भी प्रकारान्तर से रीति या शैली का विचार हमें मिलता है। 'नाट्य-शास्त्र' में अभिनय के लिए पात्र-भेद से भाषा-भेद का विचार है तथा 'काम-सूत्र' में चार विद्याओं की चर्चा करते हुए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दंडनीति के

१. F.L. Luces : Style : p. 16.
२. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पद-टिप्पणी : पृ० १६६।
३. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र : भूमिका : पृ० ५५।
४. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० २३६।

सम्बन्ध में शत्रु-मित्र तथा उदासीन के प्रति विभिन्न भाषा और वार्तालाप का संकेत है। यह काल भरत का सूत्र-काल है जो ईसा की प्रथम शती से ७वीं तक चलता है। "विशिष्ट लेखन-प्रकार के लिए रीति शब्द का प्रयोग साहित्य-शास्त्र में अष्टम शतक से प्राचीन नहीं है। वामन ने ही इसका सर्वप्रथम अभिधान अपने 'काव्यालंकार-सूत्र' में दिया है। उनसे प्राचीन आलंकारिक इस काव्य-तत्त्व को 'मार्ग' के नाम से पुकारते थे। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में 'मार्ग' शब्द का ही प्रयोग किया है, परन्तु लोक-प्रसिद्ध न होने के कारण उन्होंने इसका लक्षण नहीं दिया।...अतः काव्य के विशिष्ट तथ्य के रूप में 'मार्ग' 'रीति' की अपेक्षा प्राचीनतर है; परन्तु 'मार्ग' की अपेक्षा 'रीति' शब्द अधिकतर लोकप्रिय है। पिछले युग के आलंकारिक 'रीति' शब्द का ही विशेष प्रयोग करते आये हैं।"[1]

आचार्य वामन ने प्रथमतः रीति के लक्षणों का निर्माण किया। उनके पूर्व के आचार्यों ने रीति-विचार को ही अपना मूल विषय नहीं बनाया था। उन्होंने 'विशिष्टा पद रचना रीतिः'[2] कहा और ओज, प्रसाद, आदि गुणों को विशेषता उत्पन्न करने वाले तत्त्व ठहराया तथा उन्होंने इसके लिए 'विशेषो गुणात्मा' कहा।[3] व्यवहार में यह विशेष गुण जिस रचना तथा रचनाकार में जितनी अधिक मात्रा में व्याप्त रहता है, वह रचना अथवा ग्रन्थकार उतना उत्कृष्ट होता है। बड़े लेखकों में वैयक्तिक विशेषताएं अधिक होती हैं और साधारण लेखकों में अपेक्षाकृत कम रहती हैं।

आचार्य दण्डी ने भारतीय काव्य-शास्त्र में सबसे पहिले कवि के साथ रीति में परिवर्तन को स्वीकार किया है।

इति मार्ग द्वयं भिन्नं तत्स्वरूपं निरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते, वक्तुं प्रति कवि स्थिता:[4]
इक्षु क्षीर गुडादीनां माधुर्य स्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं, सरस्वत्यापि शक्यते॥

तथा **अस्त्यनेको, गिरां मार्गः सूक्ष्म भेदः परस्परम्**"[5]

दण्डी ने प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् रीति रखने का बड़ा दृढ़ आग्रह किया है। इस नियम के उल्लंघन करने वाले कवि को अंधा तक कहा है। इससे व्यक्ति-वैशिष्ट्य के कारण जो रीतियां होंगी, उनके नामकरण व सूक्ष्म विवेचन के कार्य को साक्षात् सरस्वती के लिए असम्भव माना है। शैलियों का पार्थक्य अत्यन्त सूक्ष्म तथा विषम है, इसमें सन्देह नहीं।

जहां दण्डी ने रीति में व्यक्तित्व की नवीन उद्भावना की है वहां आचार्य

१. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० १६६
२. वामन : 'काव्यालंकार-सूत्र' : १।२।७।
३. वामन : 'काव्यालंकार-सूत्र' : १।२।८।
४. दण्डी : काव्यादर्श : १।१०१-२।
५. दण्डी : काव्यादर्श : १।४०।

कुन्तक ने तो कवि-स्वभाव को ही रीति का सर्वस्व कह दिया है।

"कवि स्वभाव भेद निबन्ध नत्वेन काव्य प्रस्थान भेदः
समंजसतां गाहते। सुकुमार स्वाभावस्य कवेः
तथा विधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्।"[1]

शारदा तनय, राजशेखर तथा भरत आदि ने भी रीति में व्यक्ति-तत्त्व का समादर किया है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि तत्त्वत: भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली में मौलिक भेद है। रीति-सम्प्रदाय अपने उत्कर्ष-काल में यूरोपीय शैली के बहुत समीप तक पहुंच चुका है। शैली के समान रीति में भी व्यक्ति-तत्त्व और वस्तु-तत्त्व माने गये हैं। रीति और शैली के वस्तु-तत्त्व के अन्तर्गत सभी सूक्ष्म तत्त्व अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः इस क्षेत्र में रीति और शैली बहुतांश में एक हैं। शैली के व्यक्ति-तत्त्व में अवश्य ही मनोवैज्ञानिक आधार पर, परिमाण का अन्तर है। यूरोप की शैली में भी व्यक्ति-तत्त्व का उभार रोमाण्टिक युग (१७९८-१८३०) के पश्चात् ही आया है,[2] जबकि भारत में आचार्य दण्डी ने सप्तम शतक में कवि व्यक्तित्व से रीति भेद का संकेत किया है। इससे हमें यह भी स्पष्ट होता है कि भारतीय और यूरोपीय दोनों ही काव्य-शास्त्रों में प्रारम्भिक रीतियों या शैलियों में व्यक्ति-तत्त्व का प्रायः अभाव था। जिस प्रकार से भारत में वैदर्भी, गौंडीया, पांचाली आदि रीतियां विदर्भ, गौंड या पांचाल देश की भौगोलिक काराओं में आबद्ध रही हैं, वैसे ही यूरोप में भी एटिक, एशिएटिक, रोडियन शैलियां क्रमशः एटिक (यूनानी प्रान्त), एशिएटिक (एशिया स्थित यूनानी उपनिवेश), तथा रोडस दीप की सीमाओं में बन्द थीं। इसी प्रकार इंग्लैंड में स्काच-इंग्लिश, वेल्स-इंग्लिश आदि शैलियां प्रादेशिक आधार पर नामांकिता थीं। निष्कर्ष यही है कि रीति और शैलियों की प्रारम्भिक अवस्थाएं न्यूनाधिक रूप से प्रायः एक जैसी ही थीं। कालान्तर में जो वैचारिक क्रान्तियां होती गईं, उनके साथ नवीन तत्त्वों का समादर भी हुआ तथा अनावश्यक तत्त्वों का अनादर भी। कुन्तक (दसवीं शती के अन्त,—एकादश शतक आरम्भ), बफन (१७०७-१७८९), प्रभृति, प्राची एवं प्रतीची के आचार्यों ने रीति अथवा शैली में कवि-स्वभाव या व्यक्तित्व को मूलाधार माना है।

'स्वभावो हि मूर्ध्निवर्तते'—कुन्तक

'Style is the man'—**बफन**

फिर भी यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि पश्चिम में समीक्षकों ने व्यक्ति-तत्त्व की प्रतिष्ठा करके सापेक्षतः वस्तु-तत्त्व की उपेक्षा भी करना प्रारम्भ कर दिया है। भारत में इस प्रकार एकांगिता नहीं आने पायी है। इतना ही नहीं, कुन्तक के पूर्व और पश्चात् कभी भी पूर्णतः कवि-स्वभाव या व्यक्तित्व को ही शैली नहीं माना गया है। यहां व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकार करके भी वस्तु-तत्त्वों को कभी तिरस्कृत

१. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम् : प्रथमोन्मेष : का०।२४ : पृ० १०१
२. डॉ० नगेन्द्र ; हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र (भूमिका) : पृ० ५६।

नहीं किया गया है। भारतीय रीति-सम्प्रदाय के सबसे बड़े समर्थक तथा 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उद्घोषकर्त्ता आचार्य वामन का दृष्टिकोण भी मूलतः वस्तु पर ही आधारित रहा है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने रीति व्याख्या के अन्तर्गत रीति के क्षेत्र को बहुत व्यापक तथा गूढ़ भी बना दिया है।

भारतीय परम्परागत 'रीति' शब्द की महत्ता, व्यापकता एवं महाप्राणता की स्वीकृति के पश्चात् भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रीति के स्थान पर शैली शब्द की प्रतिष्ठा की गई है। यह फिर ऐसा क्यों किया गया ? इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हमारे विचार से इसका कारण यह हो सकता है कि मध्यकाल में 'रीति' शब्द विशेषतः अपनी व्यापकता एवं प्राण-तत्त्वों को खो चुका था। उसके पर्यायवाची शब्दों में मार्ग, वृत्ति इत्यादि भी पूर्व प्रचलित थे ही। विक्रमी १७००-१९०० के बीच में हिन्दी वाङ्मय विशेषतः रस, छन्द, अलंकार की परम्परा आदि के चक्कर में पड़कर, रीति-साहित्य से सम्बोधित किया जाने लगा। इससे परम्परागत 'रीति' शब्द अस्थि-शेष रह गया। उसमें से वामन, कुन्तक आदि द्वारा प्रतिष्ठित आत्मा निकल गई। अतः भारतीय वाङ्मय के परिचित 'शील' (व्यक्तित्व) व्यंजक शब्द 'शैली' को ग्रहण करना उचित समझा गया।

अतएव भारतीय एवं यूरोपीय काव्य-शास्त्रों में रीति या शैली के इस संक्षिप्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने लेखक या कवि के व्यक्तित्व का समादर अवश्य किया है, पर उसे 'Style is the man' कहकर 'शैली व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' मात्र है, ऐसा सिर पर नहीं चढ़ा लिया है। व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पाश्चात्यों का यह अतिवादी दृष्टिकोण, उनके मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है, एवं उसका उद्भव और विकास उनकी मौलिक वस्तु है।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने आरम्भ में, यूरोपीय साहित्य-शास्त्रियों की भांति वस्तु पर ही अधिक ध्यान दिया है। आगे चलकर भारतवर्ष में, काव्यकार के स्वभाव अथवा व्यक्तित्व को स्पष्टतः रीति का नियामक तत्त्व स्वीकार करके भी भारतीय दृष्टि प्रधानतः वस्तुपरक रही और यूरोपीय धारणायें व्यक्ति-उन्मुख हो गई। वही रीति हिन्दी में शैली होकर व्यक्तित्व की ओर झुकी, साथ ही उसने वस्तु की भी उपेक्षा नहीं की। शैली की इस संकरी वैज्ञानिक भित्ति ने ही विशेष रूप से रीति को शैली से कुछ पृथक् कर दिया है। रीति और शैली का अन्तर उनके क्षेत्र में भी प्रगट किया गया है।

पद्य और गद्य की विभिन्न अभिव्यक्तियों को आधार बनाकर भी रीति और शैली के अन्तर को व्यक्त किया गया है।

'जितने कवि हैं, उतनी रीतियां हैं, जितने लेखक हैं उतनी शैलियां हैं।'[1] सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् लूकस ने भी शैली का विशेष सम्बन्ध गद्य से माना है।[2]

पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० १३७।

'Style concern then, is simply the ellective use of language, specially in prose, whether to make statements or to rouse emotions." : Style : p. 16.

"रीति और शैली में विशिष्ट अन्तर यही है कि 'रीति' तो काव्य रचना का ढंग है' और 'शैलो' है, भाषात्मक अभिव्यक्ति की प्रणाली। शैली वास्तव में उस साधन का नाम है जो वाणी की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा समर्थ शक्ति का संचार करे।··· अतः गुणों के आधार पर की हुई विशेष-पद-रचना-रूप की इस रीति को शैली से सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिए।"[1] उपर्युक्त दोनों मत रीति और शैली के भेद को तत्वतः व्यक्त कर कवि और लेखक अथवा गुण और भाषात्मक अभिव्यक्ति का ही संकेत करते हैं। वास्तव में सत्य यह है कि दोनों का नामान्तर भेद है। दोनों के तत्त्व प्रायः एक-दूसरे को अन्तर्भूत कर जाते हैं। हां, शैली, रीति की अपेक्षा व्यक्तित्त्व पर अधिक बल देती है।[2]

रीति, स्टाइल तथा शैली की परिभाषाएं एवं व्याख्याएं

रीति—रीति और शैली के अन्तर को ठीक-ठीक ढंग से समझने के लिए, साथ ही उनके तत्त्व, नियामक आधार, महत्ता, उद्देश्य आदि का विवेचन करने के लिए सबसे अच्छा उपाय हमें यह प्रतीत होता है कि भारतीय तथा यूरोपीय विभिन्न समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत रीति, स्टाइल या शैली की परिभाषाओं और व्याख्याओं का अध्ययन किया जाय। इन परिभाषाओं तथा व्याख्याओं से ही अध्ययन के अभीष्ट क्षेत्र पर प्रकाश पड़ सकता है। व्यर्थ के विस्तार से बचने के लिए उन विशिष्ट विद्वानों के विचारों को ही यहां रखना आवश्यक है, जिन्होंने कुछ विशिष्ट तथा उल्लेखनीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य वामन ने पद-रचना के वैशिष्ट्य में ही रीति के दर्शन किये हैं। पद-रचना की विशिष्टता का सम्पादन गुणों—ओज, माधुर्य, श्लेष, कान्ति, प्रसाद, समता, सुकुमारता, समाधि, अर्थ-व्यक्ति तथा उदारता के द्वारा हुआ है, जिसमें रस, अलंकार, ध्वनि, लक्षणा, व्यंजना, शब्द-चयन आदि को भी आत्म-सात् कर लिया है।

'विशिष्टा पद रचना रीति'[3]

राजशेखर एवं शारदा तनय, इन दोनों ही आचार्यों ने 'वचन विन्यास क्रमो रीति'[4] में विन्यास-क्रम पर बल देकर रीति के मूलाधार की प्रतिष्ठा की। इस बाह्यांग के अतिरिक्त रीति के अन्तरंग-तत्त्व के रूप में कवि की वैयक्तिक भावनाओं को भी महत्त्व दिया है। उनके मत से कवि की वैयक्तिक भावनाओं से ओत-प्रोत होकर ही प्रत्येक शब्द अपना वैशिष्ट्य प्राप्त कर उपस्थित होता है। राजशेखर ने 'कविः

१. साहित्याचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा-शास्त्र : पृ० ५९८।
२. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी-काव्यालंकार-सूत्र (भूमिका) : पृ० ५६।
३. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।२।७।
४. राजशेखर : काव्य मीमांसा [उद्धृत समीक्षा दर्शन (भाग-१) रामलाल सिंह : पृ० १९४]

प्रमथात्मानं कल्पयेत्"[१] कहकर कवि के व्यक्तित्व को शीर्ष स्थान दिया है। इसी प्रकार से आचार्य शारदा तनय ने प्रत्येक व्यक्ति या लेखक के अनुसार भिन्नता मानकर उसके असंख्या छोटे-छोटे भेदों का संकेत किया है।[२]

प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तर जातितः प्रति प्रीति।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव।
त एवाक्षर विन्यासास्ता एवाक्षर एवाक्षर पंक्तयः
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती।

"निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्द-गुम्फ ही नहीं—परम्परा मान्य तीन गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद) के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अलंकार, शब्द-शक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्य-शास्त्र की शब्दावली में—वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्त्व हैं—शब्द-गुम्फ, और अन्तरंग तत्त्व हैं—गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक गुणों का आविर्भाव नहीं हुआ था) अलंकार और दोषाभाव।"[3]

आचार्य विद्याधर ने रसानुकूल शब्द और अर्थ के निबन्धन में रीति की प्राण-प्रतिष्ठा की है। अभीष्ट रस के उन्मीलन पर ध्यान रखकर, अर्थ के साथ सामंजस्य में रीति के दर्शन करके रस और रीति के अपेक्षित सम्बन्ध का समर्थन किया गया है। इसके लिए भावानुकूल पदावली एवं अर्थ-योजना आवश्यक है।[४]

शिंग भूपाल के मतानुसार 'पद विन्यास भंगी'[५] में रीति प्रतिष्ठित है। शब्द तथा अर्थ की वक्रता के द्वारा पद-विन्यास की भंगिमा का उपार्जन किया जाता है। वक्रोक्ति के द्वारा लोकोत्तीर्णता का सन्निवेश होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने रीति की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमें रीति का स्वरूप अधिक निखरा है। उन्होंने अत्यन्त संयत शब्दों में रीति का चित्रण किया है। रीति भाषा के शारीरिक संगठन के द्वारा काव्यात्मा रस आदि का संवर्धन करती है।

"पद संघटना रीतिः अंग संस्था विशेषवत् रसादीना मुपकर्त्री।[६]

भारतीय रीति-सम्प्रदाय के सिंहावलोकन का यही निष्कर्ष डॉ० रामलाल सिंह ने प्रस्तुत किया है। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत आचार्यों ने रीति के बाह्य तत्त्वों पर अधिक बल दिया है।

"उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह भी नहीं है कि रीति-सम्प्रदायवादियों के रीति विवेचन में काव्य के बाह्यांग तत्त्वों की ही विवक्षा है। उसमें अन्तरंग तत्त्वों

---

१. राजशेखर : काव्य मीमांसा [उद्धृत समीक्षादर्शन (भाग १) रामलाल सिंह : पृ० १६५]
२. शारदा तनय : भाव-प्रकाश : पृ० ११-१२।
३. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय-काव्य शास्त्र की भूमिका : पृ० ४५।
४. उद्धृत—डॉ० रामलाल सिंह : समीक्षा दर्शन (भाग १) : पृ० १६५।
५. —वही—　　—वही—　　पृ० १६६।
६. साहित्य-दर्पण : ९-३२४ ख।

का भी समावेश है किन्तु प्राधान्य है बाह्यांग तत्त्वों के निरूपण का ही। रीति कवि की वाङ्मय-मूर्ति है; उसके व्यक्तित्व की शब्दमयी प्रतिभा है; उसमें प्राण-प्रतिष्ठा का श्रेय काव्य के बाह्य तत्त्वों को नहीं, अंतरंग तत्त्वों—रसादि को ही है, किन्तु इसे रीतिवादी आचार्य पहचान नहीं सके।[१]

पाश्चात्य जगत में शैली के क्षेत्र में (Lean Loeis Leclerc Buffon 1707-88) बफन का नाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'शैली ही व्यक्ति की अभिव्यक्ति है' इस एक वाक्य ने अनेकों समीक्षकों को प्रभावित किया है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के साथ शैली हमारे विचारों को व्यवस्था एवं गति प्रदान करने में निहित है।[२] इस प्रकार से बफन के मत से शैली का नियामक मूल तत्त्व व्यक्तित्व ही है, जिससे कि विचारों को क्रम, व्यवस्था तथा शक्ति प्राप्त होती है।

वासर वर्सफोल्ड ने बफन का पूर्ण अनुकरण न करके, अंग्रेजी के विद्वान् समीक्षक विलियम वि किहेम्स (William Wy Kehams) के 'आचरण व्यक्तित्व का निर्माता है' (Manners makyth man) की ध्वनि में एक महत्त्वपूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है, साथ ही शैली के अन्य मुख्य तत्त्वों का भी निर्देश कर दिया है।

"व्यक्ति के लिए जो स्थान आचरण का है, शैली में वही लेखक का है। इसलिए 'शैली' व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, यह कहना वैसे ही पूर्व निश्चय से अर्थपूर्ण तथा ठीक है जैसे कि यह कहना कि 'आचरण मनुष्य को बनाते हैं।' शैली की निहिति न तो वाक्य-रचना के निर्दिष्ट किसी गुण में, न शब्द-चयन में और न विशिष्ट साहित्यिक रीतियों के उपयोग या उपेक्षा में रहती, वरन् वह उनसे कुछ भिन्न और पृथक् है। ये सब समय-समय पर प्रत्येक अपना प्रभाव डालते रहते हैं।[३]

मिडिलटन मरे महोदय के मत से 'शैली भाषा का वह गुण है जो लाघव से रचियता के मनोभावों या विचारों, अथवा भाव प्रणाली या विचार-प्रणाली का संवाहन करता है।[४] मिडिलटन मरे महाशय बफन के मत को ही दूसरे शब्दों में पुष्ट करते

१. समीक्षादर्शन (भाग-१) : पृ० २६० ।

२. "Style is the man' (Le Style est L'homme mam) style consists in the order and the movement which we introduce into our thought." : Discourse of Style : Buffon.

३. "What manner is to the individual, style is to the writer. It is right, therefore, to say that 'style' is the man in the same sense, and with the same reservations as we say, "manners makyth man". For style does not consist in any quality shown in the construction of sentences, or in the choice of words, or even in the use or neglect of characteristic literary methods, but it is something distinct and apart from these which at the same time effects in them each in turn."

—*W. Basil Worsfold : Judgement in Literature :* p. 92.

४. 'Style is a quality of language which communicates precisely emotions or thoughts or a system of emotions or thoughts, peculiar to the author."

—*Middleton Murry : The Problem of Style :* p. 71.

हैं, कि "शैली स्वभावतः लेखक के व्यक्ति वैशिष्ट्य के लिए प्रयुक्त होती है, क्योंकि शैली व्यक्ति की अनुभूति के ढंग की सीधी अभिव्यक्ति ही है।"[1]

प्राचीन रोमी आलोचक क्विण्टिलियन ने शब्द को शैली का मूलाधार मानते हुए शैली में तीन तत्त्वों की प्रतिष्ठा की है। वे तत्त्व हैं—१. शब्द-चयन, २. अलंकार-योजना, ३. पद-रचना।

१. **शब्द-चयन** : काव्योपयोगिता की दृष्टि से चार प्रकार के शब्दों को उपयुक्त माना गया है—(अ) श्रुति-माधुर्य पूर्ण तथा रुचिकर शब्द, (ब) महान् कवियों द्वारा प्रयुक्त गरिमा सम्पन्न विशिष्ट शब्द, (स) सामान्यतः उपयुक्त शब्द, (द) प्राचीन काव्य-रूढ़ि शब्दावली।

२. **अलंकार-योजना** : कल्पना-आश्रित अलंकारों को ही विशेष महत्त्व दिया गया है, जिनके द्वारा भावों की सजीव अभिव्यक्ति सम्भव हो। मूर्त-विधान शैली में शक्ति का संचार करता है।

३. **पद-रचना** : आचार्य वामन के समान ही इन्होंने संतुलित पद-रचना को अत्यन्त आवश्यक माना है। शब्दों का प्रयोग न अधिक हो और न कम। प्रसन्न एवं प्रसाद शैलियों के लिए तो विशेषतः इस प्रकार की पद-रचना अनिवार्य है। पद-रचना में कलात्मकता वांछनीय है। पदों की सौन्दर्य वृद्धि के लिए वाक्य-योजना, पद-योजना तथा वर्ण-योजना पर ध्यान रखना चाहिए। वे अर्थ के वैमत्य का प्रबल आग्रह करते हैं। उनका यह मत बड़ा स्पष्ट तथा प्रभावी है—

"रचना का उद्देश्य केवल यह नहीं होना चाहिए कि उससे पाठक अथवा श्रोता को समझने में सरलता हो, वरन् यह होना चाहिए कि उसके लिए न समझना असम्भव हो जाय।"[2]

"शैली यद्यपि व्यक्ति की अभिव्यक्ति है, परन्तु सामाजिक और छंदात्मक शक्तियां उस प्रभाव को संकुचित तथा सम कर देती हैं। वह भी इतना कि सहस्रों में से कठिनाई से एक अपने जन्मसिद्ध अधिकार को प्राप्त कर पूर्णाभिव्यक्ति कर सकता है।"[3]

"शैली लेखक की मूल अभिव्यक्ति है, जिसको कोई बाहरी व्यक्ति सिखा-पढ़ा नहीं सकता। शैली का शिक्षण देने का दावा करनेवाला व्यक्ति शरारती तथा

---

१. "Style naturally comes to be applied to a writer's idiosyncrasy, because style is the direct expression of an individual mode of expression."
—*Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 19.

२. डॉ० नगेन्द्र भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : पृ० ११२।

३. "Style is the man; but the social and rhetorical influances adulterate and debate it, until not one man in a thousand achieves his birth right, and claims the second self." —*Walter Raleigh : Style* : p. 87.

मानवता का विरोधी है।"[1]

वालटर रेले ने भी शैली का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शैली (Style) में शैली के दो प्रकार के तत्त्व माने हैं—(१) बाह्य, (२) आन्तरिक। बाह्य तत्त्व के रूप में शब्द ही प्रमुख तथा व्यापक तत्त्व है। बिना शब्द के न अर्थ का अस्तित्व है और न शैली का ही। उन्होंने शब्दों में निम्नलिखित तीन गुणों की प्रतिष्ठा की है—(अ) **नाद-गुण** : इसके अन्तर्गत वर्ण-संगीत आदि का विचार होता है। (ब) **चित्र-गुण**, इसमें मूर्ति-विधान की क्षमता रहती है, जिससे सजीव चित्रण सम्भव होता है। (स) **अर्थ-गुण** : शब्द का अर्थ से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने के कारण अर्थ की प्राण-प्रतिष्ठा शब्द में की गई है। अतः शैली में यथा-तथ्य अर्थ की अभिव्यक्ति होना चाहिए।

शैली की शोभा-वृद्धि के लिए रेले ने सामाजिकता की व्यापकता और अलंकरण की आभा को उपादेय माना है। अलंकार अपने-आपमें इतने महत्त्वकारी नहीं हैं, जितने कि शैली के आभरण होकर हो जाते हैं। अलंकार मानवोचित भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं अभिव्यक्ति की श्री और शक्ति में वृद्धि करते हैं।

सर आर्थर क्यूलर-कोच ने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध 'लेखक की कला' (On the Art of Writing) में विस्तारपूर्वक शैली का विवेचन किया है। उनकी शैली का आदर्श बहुत ऊंचा है। उन्होंने शैली की उत्तमता ही शैली का तत्त्व माना है। शैली का आकर्षण, सौन्दर्य अथवा पृथकता वांछित नहीं है। 'शैली अतिरिक्त आभूषण कभी और कदापि नहीं है।'[2]

लेखन में जो स्थान शैली का है, बहुत कुछ वैसा ही मानव जीवन में अन्य उत्तम आचरणों का है।[3]

शैली में उत्तमता तत्त्व के साथ अन्य तत्त्व वैयक्तिकता को महत्त्व दिया है। "साहित्य एक सजीव कला है, इसलिए उसमें वैयक्तिकता का मूल तत्त्व होना ही चाहिए। अतः भिन्नताएं आवश्यक हैं।"[4] शैली को कला के उच्च पद पर प्रतिष्ठित मानने के ही कारण उन्होंने कला की भांति उसे अभ्यास अपेक्षिता माना है।[5] उन्होंने उत्तम शैली का, प्रथम और अन्तिम रहस्य, हृदय और मस्तिष्क का संयोग पूर्ण चिन्तन

१. "If style could really be taught, it is a whether its teachers should not be regarded as mischief makers and enemies of mankind."
—*Walter Raleigh : Style* : p. 125.

२. "Style, for example, is not—can never be extraneous ornament."
—*Arthur Quilter-Coach : On the Art of Writing* : p. 203.

३. "What style in writing is much the same thing as good manners in other human intercourse." —*Arthur Quilter Coach : On the Art of Writing* : p. 212.

४. "Literature being living art must be personal and its essence is personal, so various." —(The above) p. 210.

५. "Literature is not a mere science, to be studied, but an art to be practiced. This practice relates more with style than with the ideas expressed."
—(The above) : p. 5,

में माना है।[१] क्यूलर-कोच ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात, बड़ी मार्के के साथ शैली के सम्बन्ध में कही है। शैली में सरलता, सुबोधता तथा प्रसाद गुण की आवश्यकता का प्रतिपादन तो कई समीक्षकों ने किया है, परन्तु जिस तर्क के साथ उन्होंने उसे रखा है, इससे शैली की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है। "शैलीकार का प्रधान कर्त्तव्य स्वयं की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् अपने से प्रभावित करना है। लेखक को स्वतः, अपने को प्रथमतः श्रोता अथवा पाठक के स्थान पर रखकर उसकी सुविधा तथा उसके आराम की चिन्ता करनी चाहिए।"[२] इस स्थिति का विचार किये बिना श्रोता अथवा पाठक उस रचना से आनन्द नहीं ले सकते। अतः शैली को पाठक के अनुसार संजोना आवश्यक है।

शैली की संक्षिप्त परिभाषाएं इन रूपों में भी उपलब्ध होती हैं :—

"शैली विचारों का परिधान है।"[३]

"शैली व्यक्तित्व की सूची है।"[४]

"शैली व्यक्ति का परिधान नहीं, उसका चमड़ा है।"[५]

अंग्रेज आलोचक स्काट जेम्स ने आचार्य वामन की भांति, पद या शब्द-रचना मात्र में शैली के दर्शन किए हैं। "शब्द-चयन और शब्द-योजना ही वास्तव में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा शैली का सारभूत तत्त्व है।"[६] अर्थात् "शैली साधारणतः लिखने का ढंग है, (जिसमें शब्द-चयन भी सम्मिलित है) और जो आमरूप से वस्तु या विचारों से भिन्न है।"[७]

—आर० ए० स्काटजेम्स

"हमारे आधुनिक अर्थ में शैली रचना का वह सिद्धान्त है जिसमें वाक्य-रचना की कला और उसे समष्टि रूप से प्रस्तुत करना शामिल है।"[८]

—थामस डी क्वेंसी

इस प्रकार से हम देखते हैं, कि विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने शैली की प्रकृति, उपकरण, अंग-उपांग आदि पर बल देते हुए अपनी-अपनी परिभाषाएं या व्याख्याएं दी

१. "First and last secret of a good style consists in thinking with the heart as well as with the head." —(above) p. 210.

२. Arthur Quilter-Coach : On the Art of Writing : p. 112.

३. "Style is the dress of thought."

४. "Style is the index of personality." —*Hudston*

५. "Style is not the coat of a man, but his skin." —*Carlyle*

६. "Style means the way in which we use words for the purpose of expression—expressiveness being the gist of the whole matter."
— *R. A. Scott James : The Making of Literature* : p. 303.

७. "Style is simply manner of writing (which includes choice of words) and is commonly contrasted with matter, meaning thought".
—*R. A. Scott James : The Making of Literature* : p. 302.

८. 'Style in our modern sense, as a theory of composition, as an art of Constructing sentences and wearing them into Coherent wholes."
—*Thomas De Quiency : Style and Rhetoric* : p. 218.

हैं, पर इनसे शैली का सर्व-सम्मत रूप प्रतिष्ठित नहीं हो सका। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा धारणाओं के कारण दृष्टिकोणों का अन्तर तो होना स्वाभाविक है। अतः शैली को किसी प्रसिद्ध परिभाषा के साथ बांधना सम्भव नहीं दिखता। कभी तो अनेकों विचित्र परिभाषाओं को देखकर ऐसा लगने लगता है कि जितनी ही विश्लेषणात्मक परिभाषाएं होती हैं, उतने ही हम विषय से दूर हो जाते हैं। इसीलिए कदाचित् मिडिलटन मरे महोदय ने शैली की परिभाषा को अत्यन्त कठिन माना है। उनके मत से प्रथमतः शैली इत्यादि शब्द तरल एवं अनिश्चित है। और शैलीकार की सफलता इसी पर आधारित है कि वह अपने विचारों को किस शक्ति से दूसरों पर अंकित करता है।[1] इतना ही नहीं, शैली के उपकरणों तथा नियामक तत्त्वों का भी निर्णय करना समीचीन नहीं समझा गया। कोई भी तत्त्व विशेष अपना पृथक् स्थान नहीं रखकर समष्टि रूप में प्रभाव डालता है। "शैली निर्दिष्ट विचार में उन सब परिस्थितियों के योग का संयुक्त फल है, जिसे कि उस विचार को उत्पन्न करना अभीष्ट था।"[2]

शैली : हिन्दी-साहित्य के विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों ने भी शैली के सम्बन्ध में अपनी उद्भावनाएं तथा परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं जो कि शैलियों के सम्पर्क अध्ययन में सहायक हो सकती हैं। यद्यपि शैली के शास्त्रीय पक्ष पर हिन्दी में उतना अधिक गम्भीरता एवं विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया है जितना पश्चिम में आधुनिक समीक्षकों ने किया है। शैली पर पं० कमलापति त्रिपाठी ने स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखकर 'शैली' का विशेष अध्ययन किया है, उनके अतिरिक्त डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डॉ० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० सीताराम चतुर्वेदी, बाबू गुलाबराय इत्यादि ने यत्र-तत्र शैली के सम्बन्ध में अपनी धारणाएं प्रकट की हैं। जैसे—

"जब कोई विषय आकर्षक, रमणीय और प्रभावोत्पाद रीति से अभिव्यक्त किया जाता है तब उसे हम साहित्य-जगत् में शैली कहने लगते हैं।[3] इस प्रकार से त्रिपाठी जी ने शैली में आकर्षण तथा प्रभाव पर बल दिया है और प्रभाव-हीन, सरल, साधारण अभिव्यक्तियों को शैली की कोटि में स्थान नहीं दिया है।

शैली के सैद्धान्तिक पक्ष में डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने शैली के अवयव शब्द-विन्यास, वाक्य-रचना, प्रघट्टक, मुहावरा और लोकोक्ति, अलंकार-योजना को माना है एवं शैलीगत गुणों में—प्रसाद, ओज, माधुर्य, लाक्षणिकता, प्रभावोत्पादकता,

१. "Firstly such terms as style etc. are fluid and uncertain and his success depends upon the compulsive vigour with which he impresses upon them."
—*Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 1.

२. "Style consists in adding to a given thought all the circumstances calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce."
—*Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 3.

३. पं० कमलापति त्रिपाठी : शैली : पृ० २२ |

विषयाग्रह-पालन को महत्त्व दिया है।[१]

पं० सीताराम चतुर्वेदी की शैली पर दो उल्लेखनीय परिभाषाएं उपलब्ध हुई हैं, जिनमें शैली के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है।

"शब्दों की कलात्मक योजना ही तो शैली है।[२] भाषा-संयोजन के वैचित्र्य को ही शैली कहते हैं। यों तो काव्य या साहित्य के रूप, नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता भी अभिव्यक्ति की शैलियां ही हैं। अलंकार, रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति को भी साहित्यिक शैली कहा है।[३] और जिसे हम रचना-कौशल कह आए हैं वह भी विषय प्रस्तुत करने की शैली ही है, किन्तु शैली 'डिक्सन' शब्द का अर्थ है—भाषा शैली।[४]

आचार्य डॉ० श्यामसुन्दर दास ने वाक् और शक्ति के सुन्दर सामंजस्य को शिव-पार्वती की अमर जोड़ी के रूप में देखा है, और भाव-विचारों की स्वाभाविक, किन्तु सशक्त अभिव्यक्ति का निर्देश किया है। शैलियों के आधार के रूप में उन्होंने शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति तथा वाक्य-रचना को माना है।

"वाक् और शक्ति की भाँति संयुक्त जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वन्दना इसलिए करता हूं कि जिससे वाक् और शक्ति की प्रतिपत्ति हो। यहां वाक् और अर्थ से यही प्रयोजन है जो कला-पक्ष और भाव-पक्ष अथवा भाव और शैली से है। इसलिए रचना-चमत्कार को शैली का नाम दिया जाता है।"[५] "अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हम में नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान ही रहती है और साथ ही साथ उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हम में रहती है। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।"[६]

बाबू गुलाबराय ने भारतीय तथा पश्चिमी विचारों का समन्वय करके शैली को मध्यम मार्ग से ग्रहण किया है। वे शैली को न तो ठेठ वस्तुपरक रहने देना चाहते हैं और न पूर्णतः व्यक्तिपरक ही। उन्होंने भी रीति, गुण, वृत्ति का विवेचन शैली के अन्तर्गत ही किया है। उनकी इस समन्वयवादी प्रकृति ने शैली को तीन अर्थों में स्वीकार किया है।

१. अभिव्यक्ति का वैयक्तिक रूप—इसमें बफन की 'व्यक्तित्व ही शैली है' वाक्य की प्रतिच्छाया है।
२. अभिव्यक्ति के सामान्य प्रकारों के रूप में—भारतीय समीक्षा-शास्त्र में प्रयुक्त रीतियां इनके अन्तर्भूत हो जाती हैं।

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास परिवर्धित संस्करण की भूमिका : पृ० ५।
२. पं० सीताराम चतुर्वेदी : संस्तव 'शैली' (पं० कमलापति त्रिपाठी) : पृ० ४।
३. पं० कमलापति त्रिपाठी : शैली : पृ० १९।२०।
४. पं० सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा-शास्त्र : पृ० ५४४।
५. डॉ० श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० २८७।
६. —वही— —वही— पृ० २९८।

३. वर्णन की उत्तमता के रूप में—इसमें व्यक्ति तथा वस्तु को पृथक् रखकर अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता का विचार होता है।

"शैली में न तो इतना निजीपन हो कि वह सनक की हद तक पहुंच जाय, और न इतनी सामान्यता हो कि वह नीरस और निर्जीव हो जाय। शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप में दूसरों तक पहुंचाने के लिए अपनाता है।[1] शैली तत्त्व का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। इसमें मानसिक पक्ष रहता अवश्य है, किन्तु बल इसमें कलात्मक बाह्य पक्ष पर ही है।"[2]

शैली का पक्ष

साहित्यकार समाज का अग्र-द्रष्टा होता है। जन-साधारण की अपेक्षा उसका अनुभूति-पक्ष अधिक गहन एवं मर्मभेदी होता है, तथा अभिव्यक्ति-पक्ष अधिक प्रबल और व्यंजक रहता है। कलाकार की कुशलता और अभिनेता की श्रेष्ठ अनुकरणशीलता दोनों ही उसके अंग होते हैं। इस प्रकार से साहित्यकार में अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति अथवा भाव तथा कला पक्षों की प्रधानता रहती है। प्राच्य समीक्षा के अनुसार काव्य के ये ही दो पक्ष माने गये हैं—कला-पक्ष तथा भाव-पक्ष। भाव-पक्ष का मूल मानव-मन की अनुभूतियों तथा मानस की गहनता में व्याप्त रहता है। रस स्थायी रूप से इस मूल का सिंचन करते हैं। मानस-मानस में भावों की असंख्य लघूर्मियां उद्वेलित होती रहती हैं। ये ही काव्य की शक्ति-स्रोत हैं। सूक्ष्म विद्युत् प्रवाह की भांति भाव तथा विचार शब्द-तंत्रियों पर अपनी गौरव-यात्रा करते हैं। हृदय तथा मस्तिष्क के योग से कार्य करने वाले इस महान् शक्ति-उत्पादक केन्द्र में जिस शैली का निर्माण होता है, उसी में निहित होकर ही ये अभिव्यक्तियां होती रहती हैं। अतएव शैली ही भाव-पक्ष को मूर्त रूप देती है। शैली से हमारा मन्तव्य भाव-पक्ष से न होकर विषय-निरूपण की पद्धति या वस्तु-स्थापन के ढंग से है अथवा कृति के बाह्य रूप या अभिव्यक्ति से है। यह अभिव्यक्ति-कला ही वास्तव में शैली है जो कि काव्य का दूसरा और महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

साधारणतः भाव-पक्ष को कला-पक्ष से तत्त्वतः पृथक् नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, बाह्य एवं अन्तः का विभाजन भी अपेक्षित नहीं है। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं, दोनों एक-दूसरे को बहुत दूरी तक अनुप्राणित करते हैं। इन्हीं के साथ ही शैलीकार का व्यक्तित्व भी सूक्ष्म शरीर में चलता रहता है। जिस प्रकार से किसी परिचित की बोली या आकृति सम्बन्धी विशेषता उसे सहज में पहिचानने में सहायक होती है, वैसे ही शैली, शैलीकार का निर्देशन भी अपने सूक्ष्म शरीर से कर देती है। इस प्रकार से भारतीय रीति अथवा शैली का प्रधान निवास, काव्य के कला-पक्ष में रहते हुए भी, वस्तु या भाव-पक्ष उससे अछूता नहीं बचता।

१. बाबू गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० १९० ।
२. बाबू गुलाबराय : काव्य के रूप : पृ० १ ।

पाश्चात्य दृष्टिकोण भारतीय पक्ष से भिन्न है। वहां काव्य के चार तत्त्व माने गये हैं—रागात्मक तत्त्व, कल्पना तत्त्व, बुद्धि तत्त्व तथा शैली तत्त्व। इन सब तत्त्वों में प्रथम तत्त्व रागात्मकता को प्रधानता दी गई है, जिसका सम्बन्ध कलाकार की अनुभूति से है। कल्पना तत्त्व में कलाकार बिना तूलिका एवं पटल की सहायता के अपने मानस-चित्रों को निर्मित करता जाता है। इस प्रकार कल्पना तत्त्व अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों ही पक्षों को मान देता है। तृतीय तत्त्व बुद्धि उक्त दोनों पक्षों का नियन्त्रण रखती, विश्लेषण, विवेचन तथा नव-उद्भावना करती है। वह अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के पक्षों का परस्पर संतुलन बनाये रखने के साथ स्वाभाविकता का भी निर्वाह करता है, जो कि उसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। चतुर्थ, अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व शैली है, जिसका अधिकांश झुकाव कला और कलाकार की ही ओर रहता है। हां, भाव-पक्ष पूर्णतः उपेक्षित नहीं रहता। कलाकार की अभिव्यक्ति का अपना ढंग ही कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। इसमें 'शैली ही व्यक्ति है' मत का दृढ़ समर्थन होता है। १९वीं शती के अन्त तक शैली को विचारों से न केवल स्वतन्त्र वरन् उनसे श्रेष्ठ माना जाता था। इसके पश्चात् बफन ने ही इसके विरुद्ध उद्घोष किया कि 'जहां विचार हैं, वहां शैली है'[1]— दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

इस प्रकार से भारतीय एवं यूरोपीय दोनों ही क्षेत्रों के विद्वानों के काव्य-सम्बन्धी मत भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु बारीकी से अवलोकन करने पर वे बहुत कुछ एक-दूसरे से सहमत-से प्रतीत होते हैं। सैकड़ों कोस दूर रहकर भी वे विचारों में समीप हैं, तथा उनके विचारों का अन्तर उनकी दूरी की अपेक्षा बहुत कम है। भारतीय समीक्षा के भाव तथा कला-पक्ष पश्चिमी समीक्षा के रागात्मक तत्त्व, कल्पना तत्त्व, बुद्धि तत्त्व और शैली तत्त्व पर पूर्णतः आच्छादित हो जाते हैं। इस दृष्टि से उनमें बाह्य भिन्नता होते हुए भी, आन्तरिक एकता है। जो भिन्नत्व है, उसका कारण यही है कि किसी वर्ग के द्वारा एक तत्त्व को अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है, तो किसी के द्वारा दूसरे को। यदि इसी महत्त्व अथवा प्रधानता के आधार पर हम प्राच्य एवं प्रतीच्य काव्यों में मूलभूत भिन्नता का आरोप कर बैठें तो भूल होगी। हां, भारतीय आचार्यों ने अवश्य ही प्रधानता का सेहरा बांधने के लिए काव्य की आत्मा को ढूंढ़ने के लिए भगीरथ प्रयत्न किये हैं, और यह श्रेष्ठत्व का सेहरा अलंकार, ध्वनि, रीति, रस, औचित्य आदि सभी पर बांधा जा चुका है। इन सबका विचार करना हमारा इष्ट नहीं है। हमें दोनों ही क्षेत्रों में अभिव्यक्ति की कला या शैली का गौरव न्यूनाधिक मात्रा में एक-सा ही प्रतीत होता है।

शैली और भाषा का सम्बन्ध

वास्तव में शैली भाषा और विचारों से परे की कोई वस्तु नहीं है। वह तो भाषा का संगठन है, उसका अन्तःतत्त्व है। भावों तथा विचारों का संवाहन करने के लिए

1. Encyclopaedia Britannica ; 1768 VI. 21, p. 488.

भाषा-घट की आवश्यकता होती ही है। इसी भाषा-घट में भाव या विचारों का संचयन होता है। इससे भाषा को भाव और विचारों का शरीर तथा शैली को उनकी (भाव-विचार की) आत्मा भी कहा गया है। फिर भी ये शरीर और आत्मा की भांति पृथक् नहीं हो सकते हैं। व्यवहार में भले ही आत्मा-विहीन शरीर शव होता है, अथवा शरीर-विलग आत्मा प्रेत होती है; परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में शरीर और आत्मा के समान शैली को भाषा से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे भाषा भावों और विचारों की वाहिका है वैसे ही शैली की भी वाहिका है; क्योंकि शैली भाषा के रूप में ही हमारे सम्मुख आती है; जहां भाषा नहीं वहां शैली नहीं। इस प्रकार भाषा वह सामान्य तत्त्व स्थापित होती है, जिसका सम्बन्ध भाव और विचार से भी है और शैली से भी।

पहले भाव और विचार उदित होते हैं, तब उनके अनुकूल भाषा बनती है और तब भाषा की काया में शैली की प्राण-प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार भाव और विचार, भाषा तथा शैली अन्योन्याश्रित हैं।[1] एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शैली को भाषा का गठन भी कहा जा सकता है। अतः भाषा से पृथक् शैली का अस्तित्व भी नहीं रहता। ठीक है, शरीर के गठन को शरीर से कौन पृथक् कर सकता है?

शारीरिक गठन पर विचार करते समय जैसे हम विभिन्न अंगों की बनावट, मांस-पेशियों का गठन, गुलाई, लम्बाई, आकृति आदि का विवेचन-भर कर सकते हैं, अधिक-से-अधिक हम उसके वर्ण, चिह्न, तिल आदि पर ध्यान दे सकते हैं; इसी प्रकार शैली का अध्ययन करते समय भाषा में वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, शब्द-योजना, उक्ति, मुहावरों आदि का विवेचन करते हैं और अधिक-से-अधिक उस भाषा पर शोभित शब्द-सौंदर्य, उद्धरण, विराम-चिह्न आदि पर ध्यान दे सकते हैं। वस्त्र-अलंकारों से हमारा सम्बन्ध इतना ही है कि उनका शरीर पर सामूहिक प्रभाव क्या पड़ा और किसने उसके उभार में कहां तक सहायता दी। शैली-दर्शन में अलंकारों का भी यही स्थान रहता है।

शैली और भाषा के सम्बन्ध में ऊपर यह स्वीकार किया जा चुका है कि शैली भाषा का विशिष्ट गठन है तथा भाषा विचार-भाव आदि की वाहिका है। भाव, विचार और शैली सभी भाषा के रथ पर सवार होकर उद्दिष्ट भावाभिव्यंजन करते हैं। भाषा को शैली का संवहन करते समय विशिष्ट या अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता भी नहीं होती; क्योंकि भाषा के बाह्य गठन के रूप में शैली भाषा को आलिप्त करती रहती है। शैली भाषा का अविभाज्य अंग है। इसलिए जहां भाषा है वहां शैली है। शैली को भाषा से कोई पृथक् नहीं कर सकता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि समग्रतः शैली का उत्तम और मध्यम होना भाषा के उत्तम-मध्यम होने पर आश्रित है।

वस्तुतः शैली व्यक्ति-उन्मुख शब्दों की व्यवस्था है। विभिन्न कलाकार एक-सी ही वस्तु को विभिन्न व्यवस्थाएं प्रदान कर भिन्न शैलियों का आभास देते हैं। कलाकार

१. शिवनाथ : भारतेन्दु-युगीन निबन्ध : पृ० १०१

के कलापूर्ण स्पर्श को प्राप्त कर वही वस्तु कलाकार के सामर्थ्य के अनुसार सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् की अनुभूति कराने में सफल होती है अथवा एक फूहड़ के हाथ में पड़कर भौंड़ी बनी रहती है। जैसे एक मूर्तिकार सर्वथा उपेक्षित, क्षुद्र एवं सस्ती समझी जाने वाली मिट्टी को अपनी कला के द्वारा सप्राण एवं बहुमूल्य बना देता है। वह कला की पुत्तलिका ऐसे अपूर्व स्वरूप को पाकर कलाकार की सदा-सर्वदा की कृतज्ञ हो जाती है। इसमें उस मृत्तिका का मूल्य कलाकार की कला के सामने नगण्य है। ऐसे ही शैलीकार की शैली का मूल्य भी अनेक स्थलों पर कथा-वस्तु से अधिक हो जाता है। वस्तुतः शैली में भाव और विचार तथा भाषा के तत्त्वों के अतिरिक्त है भी क्या ? भाव और विचार तो शैली की आत्मा हैं ही, ये ही तो उसके अंतरंग हैं; परन्तु उसके बाह्यांग भाषा का भी कम महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।[१]

"शैली कदापि एक पृथक् गुण नहीं है, वरन् वह मनुष्य के बौद्धिक तथा मानसिक गुणों का समन्वित योग अथवा प्रतिफल है। सूर्य के प्रकाश-वृक्ष से जो सम्बन्ध सहस्रों रश्मियों का होता है, वही इन तत्त्वों का शैली के साथ है। शैली अन्ततोगत्वा, विचारों के अतिरिक्त साहित्य में अमर वस्तु है। साहित्य में शैली का सौंदर्य वर्णनातीत है और वह अन्य तत्त्वों से वैसे ही ऊपर है जैसे सामाजिक जीवन में उत्तम आचरण होते हैं। यह सच है कि जो कुछ आप कहते हैं उसका उतना फल नहीं होता, जितना कि आप उसे कैसे कहते हैं, का होता है।[२] वस्तुतः 'कैसे' की 'क्या' से यही महत्ता है। शैली ही के द्वारा मानव दूसरों के समीप आता है। दूसरों को प्रभावित करता है। इसी कारण से शैली की समस्या को व्यक्तिगत या व्यावहारिक मनोविज्ञान की समस्या भी कहा गया है।"[३]

वस्तु की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी, शैली के गौरव को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता है। शैली का अपना स्वयं का आकर्षण है। यदि अन्य सब बातें या परिस्थितियां एक-सी या प्रायः एक-सी ही हों तो जनरुचि को आकर्षित करने का निर्णायक कारण शैली ही होगी।[४] देश-विदेश के असंख्य लेखक अपनी शैली के कारण महान् हो गये हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द, अध्यापक पूर्णसिंह, चण्डीप्रसाद हृदयेश,

१. शिवनाथ : भारतेन्दु-युगीन निबन्ध : पृ० १०४।

२. "Style is never a separate quality, but rather the amalgam and issue of all the mental and moral qualities in a man's possession and which bears the same relation to these that light bears to the mingled elements that make up the orb of the sun. And style, after all, rather than thought, is the immortal thing in the literature. In literature the charm of style is indefinable, yet all subduing just as fine manners are in social life. In reality it is not of so much consequence what you say, as how you say it."
—*Essay : Smith Berger* : p. 14.

३. F. L. Lucas : Style : p. 48.

४. "Other things being equal, or appearing to be equal, the determining principle for the public choice will be in the style".
—*Thomas De Quincey : Style And Rhetoric* : p. 198.

तथा यूरोप में वालटायर, बर्क, रूसो, स्काट, डिकिन्स इसके उदाहरण हैं।

शैली के उपकरण (अवयव)

'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार रीति या शैली के उपकरणों के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणाएं हैं। काल ने भी इस भिन्नता में योग दिया है। प्रारम्भ में आचार्य दण्डी और वामन ने भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति के मूल तत्त्व गुणों को माना है। दण्डी ने वैदर्भी, गौडी आदि मार्गों (रीतियों) का प्राणत्व गुणों में स्वीकृत किया है।[1] वामन की 'विशिष्ट पद-रचना रीति' का मूल गुण है।[2] इन गुणों में ही शब्द-सौन्दर्य तथा अर्थ-सौंदर्य की प्रतिष्ठा की गई है। वामन ने शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण ये दो भेद, गुणों के करके रीति के अन्तरंग एवं बहिरंग तत्त्वों का विवेचन किया है। शब्द-गुण पदबन्ध या शब्द-गुम्फ, वर्ण-योजना या शब्द-विन्यास के कर्त्ता हैं तथा अर्थ-गुण का संबंध माधुर्य, ओज, श्लेष, कान्ति, औदार्य आदि अर्थ-सौंदर्य, अलंकार, रस, ध्वनि दोषाभाव आदि से है।[3] वामन के गुणों के अन्तर्गत काव्य की अधिकांश विद्या व्याप्त हो गई है।

नवम शताब्दी प्रारम्भ में रुद्रट ने रीति-विभाजक मूल तत्त्व सामासिकता को बनाकर नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लघु, मध्यम तथा दीर्घ समासों के आधार पर, सामासिक पदों की संख्यानुसार लघु समासा पांचाली, (दो-तीन समस्त पद) मध्यम समासा लार्टया (पांच से सात पद), दीर्घ समासा गौड़िया को यथाशक्ति अधिक पदवाली विवेचित किया। वैदर्भी समास-रहित रहने से पृथक् रही।[4] इसके पश्चात् आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, भोजराज, विश्वनाथ आदि ने भी भिन्न शब्दों में अपने सिद्धान्तों को कुछ कम-बढ़ करके सामासिकता पर ही रीतियों को आधारित किया है।

प्राचीन पाश्चात्य आलोचकों में रोम के क्विण्टिलियन ने शब्दों को शैली का मूलाधार मानते हुए शैली में तीन तत्त्वों—शब्द-चयन, अलंकार-योजना तथा पद-रचना की प्रतिष्ठा की है।[5] वासिल वर्स फोल्ड ने शैली में व्यक्तित्व को प्रधानता देते हुए भी वाक्य-रचना, शब्द-चयन, विशेष साहित्यिक प्रयोगों के व्यवहार अथवा त्याग का उल्लेख किया है।[6] शैली पर स्वतंत्र प्रबन्ध के रचयिता वाल्टर रेले ने शब्द, विशेषण, पद, रूपकादि अन्य अलंकार, वाक्य परिच्छेद, व्यवस्था और विन्यास को शैली के मूल उपकरण माने हैं।[7] आचार्य डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने शैली के इन मूल उपकरणों को शैली के अवयव कहा है तथा शब्द-विन्यास, वाक्य रचना, प्रघट्टक, मुहावरा और

१. दण्डी : काव्यादर्श : १।४०।
२. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।२।७ तथा १।२।८।
३. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (भूमिका) : पृ० ४८-४९।
४. रुद्रट : काव्यालंकार : २।४५।
५. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : पृ० ११२।
६. W. Basil Worsfold : Judgement in Literature : p. 92.
७. Walter Raleigh : Style :

लोकोक्ति तथा अलंकार योजना को इसमें शामिल किया है।[1]

अतएव शैली के अध्ययन करने के लिए हमने भारतीय और यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित शब्द, शब्द-शक्ति, ध्वनि, समास, वाक्य, परिच्छेद, अलंकार, गुण आदि का पृथक्-पृथक् विचार किया है।

शब्द

शब्द का महत्त्व भाषा में ही नहीं है, वरन् शैली में भी है। शब्द भाषा का अवयव है। भाषा भावों की अनुगामिनी होती है, इसलिए भावों के अनुकूल ही शब्दों को स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त करने में जो प्रभाव पड़ता है वह कृत्रिम प्रयास में कहां हो सकता है। शब्दाडम्बर से भाषा का सौष्ठव तो नष्ट होता ही है साथ ही उसकी गति भंग हो जाती है और भाषा यहां-वहां से उखड़ जाती है। शब्दों की आत्मा का साक्षात्कार करके ही लेखक भाषा पर शासन कर सकता है। भाषा पर शासन करने के लिए प्रथम आवश्यकता शब्द-मर्मज्ञता ही है। भाषा के बाह्य उपकरणों के रूप में शब्दों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। रचना की इकाई के रूप में, तथा शैली के क्षेत्र में शब्दों की सत्ता ही सर्वोपरि है। निश्चित् ही भाषा शैली शब्द या पद-योजना और शब्द-चयन ही तो है। इसी से यह शैली का अंग है।[2] अथवा शब्दों की कलात्मक योजना ही शैली है।[3] "विशिष्टा पद रचना रीतिः"[4] इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय मान्य विद्वानों ने शैली का मूलाधार एवं प्रधान तत्त्व शब्द ही स्वीकार किया है। अवश्य ही शब्द की सत्ता सृष्टि की अनादि और अनन्त सत्ता है। वेद तथा ब्राह्मण आदि प्राचीन एवं मान्य ग्रन्थों ने शब्द को ब्रह्म माना है। शब्द ब्रह्म आदि और अन्त से रहित है, अक्षय है उसका ही अर्थ रूप में विवर्त होता है, जिससे इस संसार का कार्य चलता है।[5] भर्तृहरि जी के मत से यह संसार शब्द का ही परिणामस्वरूप है।[6] इस शब्द ब्रह्म का निवास वक्ता के हृदय में है।[7] इस प्रकार से शब्द का गौरव जीवन जगत तथा हृदय की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से है। मूर्तिकार का जो सम्बन्ध मिट्टी से है, लेखक का वही सम्बन्ध सामग्री के रूप में शब्दों से है।[8]

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : परिवर्द्धित संस्करण की भूमिका : पृ० ५।

२. "Diction, of course, simply means working or phrasing, and implies choice of words; and so is an element in style."
—*R. A. Scott James : The Making of Literature* : p. 302.

३. पं० सीताराम चतुर्वेदी : संस्तव 'शैली' (पं० कमलापति त्रिपाठी) : पृ० ४।

४. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।२।७।

५. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन : पृ० ६१–२।

६. —वही— —वही— पृ० ६३।

७. —वही— —वही— पृ० ७०।

८. "The writer has towards his materials words, the same relation that an artist, say a modeller, has towards his material clay."
—*Herbert Read : English Prose Style* : p. 61.

भाषा तथा शैली में वास्तव में शब्दों की महत्ता उनके उपयुक्त चुनाव में और उनकी व्यवस्था में ही निहित है। शब्दों की प्रतिष्ठा तभी होती है, जबकि उनके द्वारा अभीष्ट भाव या विचार की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति हो सके। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में तो एक शब्द के पूर्ण ज्ञान होने तथा उसके उचित प्रयोग करने से स्वर्ग आदि मनवांछित फल की प्राप्ति होती है। इस तथ्य पर बहुत जोर दिया गया है। "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुभवति"[1] अतएव यह सत्य है कि शब्दों का पूर्ण ज्ञान एवं उचित प्रयोग अत्यधिक महिमा सम्पन्न होता है। बहुधा जो सिद्ध लेखक होते हैं उन्हें भावप्रदर्शन मात्र से सन्तोष नहीं होता, वरन् वे अपनी अभिव्यक्ति में सौंदर्य एवं सौष्ठव लाने का प्रयत्न करते हैं। शब्द-चुनाव ही लेखक की प्रकृति और उसकी योग्यता का संकेतक है। शब्दों का उचित चुनाव न केवल शैली का प्रथम नियामक तत्त्व है, वरन् लेखक के कौशल को प्रगट करने वाला भी है। "तात्पर्य यह है कि रचना-चातुर्य का ही दूसरा नाम शैली है। उसमें लेखक का कौशल तीन प्रकार से प्रगट होता है—शब्द, चयन, वाक्य, विन्यास तथा वाक्य समूहों के आकार-प्रकार से।[2] यद्यपि साहित्य तथा शब्द-कोषों में एक ही भाव या विचार को प्रगट करने के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों की सूची उपलब्ध होती है, और बहुधा शब्द विशेष के मर्म को बिना समझे हुए कोई भी शब्द कहीं भी रख दिया जाता है। वस्तुतः एक शब्द या पद का दूसरा शब्द या पद पूर्णतः पर्यायवाची नहीं होता। "प्रत्येक विचार या भाव को ठीक से प्रस्तुत करने में केवल एक ही शब्द या पद सक्षम होता है और कोई भी दूसरा शब्द या पद उसका स्थानापन्न अथवा पर्यायवाची बिना उस भाव या विचार की सुन्दरता अथवा स्पष्टता को हानि पहुंचाये उपस्थित नहीं किया जा सकता।"[3] इस स्थिति में उपयुक्त शब्द का चयन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सार्थक पद-विन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है, उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण) व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो, जिसके ध्वनन मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न बनकर वहीं निवास करने लगे।[4] ऐसे सार्थक, सामयिक, शुद्ध व्याकरण सम्मत, श्रोता या पाठक के उपयुक्त शब्दों का चुनाव शैलीकार से बहुमुखी प्रतिभा एवं ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

शब्द-चयन के समय उपर्युक्त स्तर के शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। वक्ता और लेखक की वयस, चरित्र, प्रतिष्ठा और मनोभावों के अनुकूल ही शब्दों का भी प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि वृद्ध यदि बालकों की बोली बोलें, बालक युवाओं-सा

१. उद्धृत—'विश्वनाथ' : साहित्य-दर्पण : प्रथम परिच्छेद कारिका २।
२. पं० रमाकान्त त्रिपाठी : हिन्दी-गद्य-मीमांसा : पृ० १२५।
३. Encyclopaedia Britannica : 1788 Vol. 21 : p. 488.
४. श्यामसुन्दर दास तथा रायकृष्णदास : द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रस्तावना : पृ० ८

भाषण करें, युवा स्त्रियों-समान सम्वाद करें, सेवक राजाओं की शब्दावली प्रयुक्त करें, दुष्ट गीता पाठ करें और सन्त दुष्टों के भाव अपनाये तो अनर्थ ही होगा। शब्दों के माध्यम से सौंदर्यानुभूति भी होनी चाहिये और साथ-साथ उनके द्वारा सत्य का प्रमाणिक निरूपण भी।"[१] इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक की अधिकांश सफलता का श्रेय उसके उचित शब्द-चयन तथा उचित व्यवस्था को ही है। इसलिए सफल शैलीकार की दो विशेषताएं अपेक्षित हैं—विपुल शब्द भण्डार का स्वामित्व तथा उचित प्रयोग की निर्णायक मति। इन गुणों के ही द्वारा वह अभिव्यक्ति को निपुणता तथा अपेक्षित प्रभाव के साथ प्रस्तुत करता है। इनमें प्रथम की अपेक्षा द्वितीय गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है। शब्दों की परख करना बहुत कठिन कार्य है। शब्दों की शक्तियों तथा ध्वनियों का भी ज्ञान आवश्यक है। पश्चिमी काव्य-शास्त्र के अग्रचेता अरस्तु ने इसी से शब्दों के दोनों गुणों पर सदा ध्यान रखने को कहा है। शब्द सुबोध और सुन्दर हों और उनका भावार्थ न तो आवश्यकता से अधिक हो और न कम ही।[२] अतएव शैली को उद्दात्त बनाने के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जावे जो लेखक और पाठक दोनों की अनुभूति, दर्शन, विचार, चिंतन, विवेक आदि के यथा-तथ्य एवं अनुकूल हों।

शब्द-शक्ति

शब्द प्रयोक्ता की बुद्धि एवं प्राणशक्ति के वाहन पर सवार होकर अर्थ की अभिव्यक्ति को निकलता है। शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान वृत्ति के ज्ञान से होता है। इसी वृत्ति को ही शक्ति की भी संज्ञा प्राप्त है। शब्द की तीन शक्तियां मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन्हीं शक्तियों के आधार पर अभिव्यंजना भी अभिधायक, लाक्षणिक तथा व्यंग्यात्मक हुई हैं। इसी के अनुरूप आचार्य मम्मट ने शब्दों को वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक तथा उनके अर्थों को क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य कहा है।[3]

अभिधा

शब्द-ब्रह्म के गर्भ में अनेक अर्थों का वास रहता है। एक ही शब्द अनेक अर्थों का धनी रहता है। वैसे शब्द स्वभाव से ही अर्थ का बोधक होता है; परन्तु अर्थ-बोधन के लिए वह प्रयोग की अपेक्षा रखता है। यथार्थ में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उक्ति (प्रयोग) के द्वारा स्थापित होता है। प्रयोक्ता जिस अभिप्राय से शब्द विशेष का प्रयोग

१. डॉ० एस० पी० खत्री : आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त : पृ० ६६-७।

२. Aristotle : Rhetoric : p. 150.

The Virtues of a word are two; the first, that it be perspicious, the second, that it be decent, and is neither above nor below the things signified; or neither too humble nor too fine.

३. मम्मट : काव्यप्रकाश (द्वितीय उल्लास) : सूत्र ५-३।

करता है वह शब्द भी उसी अर्थ को प्रकाशित करता है। फिर भी शब्दों का साधारणत: मुख्यार्थ एक ही होता है और अन्य अर्थ गौण होते हैं जो कि विशेष प्रयोग में विशेष अर्थ के बोधक होते हैं। अभिधा-शक्ति का सम्बन्ध शब्द के उसी स्वाभाविक मुख्य अर्थ से होता है जहां पर कि कथन सीधा-सादा, बिना घुमाव-फिराव के रूढ़िगत अर्थ को प्रगट करता है। इसी अभिधायक अर्थ को वाचक अर्थ भी कहते हैं।

अभिधा-शक्ति श्रेष्ठ काव्य के उपयुक्त कदापि नहीं रहती है। इसमें शब्द और अर्थ के सामान्य प्रयोग से काव्यत्व की प्रतिष्ठा नहीं होती है। विदग्ध, विचित्र तथा लोक-व्यवहारोत्तर अभिव्यक्ति ही शास्त्रों से ऊपर उठकर काव्य में प्रवेश पा सकती है। "साहित्य में अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आंका जाता कि वे कहां तक वास्तविक संभव या अव्याहत हैं बल्कि इस दृष्टि से आंका जाता है कि वे किसी भावना को कितने तीव्र और बढ़े-चढ़े रूप में व्यञ्जित करते हैं अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरंजन करते हैं।"[१]

लक्षणा

भारतीय वाङ्मय में लक्षणा शक्ति की महिमा का व्यापक तथा गम्भीर वर्णन किया गया है। जब अन्वय आदि की सिद्धि न होने के कारण शब्दार्थ रूप में जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उससे सम्बन्ध के ज्ञान के द्वारा जो शक्ति विषयक संस्कार उद्बुद्ध होता है, उससे जो बोध होता है उसको लक्षणा कहते हैं।[२] इसके तीन कारण माने गये हैं—१. मुख्य अर्थ की बाधा होनी चाहिए, २. मुख्य अर्थ से उसका सम्बन्ध होना चाहिए, ३. रूढ़ि या कोई प्रयोजन होना चाहिए।[३] लक्षणा के द्वारा शब्द के अर्थ का विकास होता है और उसकी गरिमा-वृद्धि होती है। इसका कारण पतन्जली ने लाक्षणिक प्रयोगों के मूल में चार तथ्यों को माना है, जिनके कि आधार पर अन्य के लिए अन्य का प्रयोग किया जाता है। तत्स्थता, तद्धर्मता, तत्समीपता और तत्साहचर्य।[४] इन तथ्यों के सहारे लक्षणा के मूल रूप से दो भेद किये जा सकते हैं :—

लक्षणा { १. निगूढ़ा
२. प्रयोजनवती }

निगूढ़ा लक्षणा—मुख्य अर्थ की लोक-प्रसिद्धि के कारण, अर्थ-बोध में विलंब नहीं होता, उक्ति के द्वारा बोध लक्ष्यार्थ का ही होता है। अपने मूल अर्थ को बिना त्याग किये ही वह अन्य अर्थ का बोध करा देती है। इस प्रकार से निष्प्रयोजन ही मुख्य अर्थ का संकेत करते हुए, बिना बाधा के अन्य अर्थ का बोध हो जाता है।

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : सभापति चौबीसवां हि० सा० स० साहित्य परिषद भाषण : पृ० ५।
२. उद्धृत—डा० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन : पृ० २५५।
३. —वही— —वही— : पृ० २५५।
४. —वही— —वही— : पृ० ११७।

प्रयोजनवती— यह विशेष प्रयोजन अथवा तात्पर्य पर ही मुख्य अर्थ की बाधा होने से अन्य सम्बद्ध अर्थ को प्रगट करती है। जब प्रसंग में अभिधेयार्थ की संगति नहीं होती, तब लक्षणा के सहारे वह लक्षित होता है; परन्तु उसमें बाधक ज्ञान प्रतिबंधक होता है, साथ ही व्यंजना के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसमें मुख्य अर्थ की बाधा का ज्ञान प्रतिबंधक नहीं होता। लक्षणा को गौणी तथा सादृश्यमूलक–इन दो भेदों में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। गौणी लक्षणा में सादृश्य रूपी सम्बन्ध के कारण अन्य सम्बद्ध अर्थ का प्रकाशन होता है, इसके विपरीत शुद्धा लक्षणा में सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध की प्रतिष्ठा होती है। साहित्य में मुहावरे रूढ़ि लक्षणा के रूप में प्रयुक्त होते हैं। लक्षणा की महत्ता इसी से सिद्ध होती है कि आधुनिक समृद्ध भाषाएं लक्षणा की ओर तीव्रगति से बढ़ती जा रही हैं।

व्यञ्जना— शब्द की अभिधा तथा लक्षणा-शक्तियों की अपेक्षा व्यञ्जना शक्ति अधिक महिमावती, मार्मिक तथा श्रेष्ठ काव्य की उद्बोधक है। उत्तम काव्य के लिये यह आवश्यक है, इसी से व्यञ्जना में काव्यात्मा का वास भी रहता है। अभिधेयार्थ का बोध कराकर जहां शब्द की अभिधाशक्ति थकित हो जाती है, तथा लक्षणाशक्ति लक्ष्यार्थ को लक्षित करके कुंठित हो जाती है, व्यञ्जनाशक्ति उन सब को पीछे छोड़कर शब्द अथवा वाक्य के स्फोट को सिद्ध करती है। आचार्य नागेश ने 'मंजूषा' में व्यंजना का लक्षण निर्देश इस प्रकार किया है। "व्यञ्जना मुख्यार्थ की बाधा के ज्ञान की अपेक्षा न करके ज्ञान को उत्पन्न करती है, मुख्यार्थ से सम्बद्ध और असम्बद्ध, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इसका विषय है, मुख आदि की विलक्षणता के ज्ञान तथा प्रतिभा से उद्बुद्ध संस्कार विशेष को व्यञ्जना कहते हैं।"[१] व्यंग्य एवं विदग्धतापूर्ण उक्तियों की उपयोगिता जीवन के सभी क्षेत्रों में सम्मानित होती है। हृदय को स्पर्श करने की जो क्षमता व्यञ्जना में होती है, वह अन्य किसी शब्द-शक्ति में नहीं।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने व्यञ्जना को श्रेष्ठता की दृष्टि से दो कोटियों में विभक्त किया है—१. उत्तम ध्वनिमूलक, २. मध्यम या गुणीभूत व्यञ्जना।

प्रधानतः व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ दोनों ही में स्फुटित होती है। इसी के आधार पर व्यञ्जना के दो भेद किए जाते हैं—शाब्दी-व्यञ्जना तथा आर्थी-व्यञ्जना।

"अच्छी शैली में भाषा की लक्षणा-व्यञ्जना आदि सभी शक्तियों का उपयोग किया जाता है और कथन को प्रभावात्मक तथा पुष्टिकर बनाया जाता है।"[२]

ध्वनि

शैली के तत्त्व के रूप में ध्वनि की महत्ता को, भारतीय तथा यूरोपीय दोनों ही भू-खण्डों में स्वीकृत किया है। ध्वनि का अनन्य सम्बन्ध भाषा से है। भाषा के अवयव वाक्य तथा शब्द ध्वनि से आबद्ध हैं। शब्द से आशय व्यक्त (वर्णात्मक)

१. उद्धृत—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन : पृ० २९१।
२. डॉ० दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र : पृ० १९५।

अव्यक्त (ध्वन्यात्मक) शब्द का या दोनों का है।[1] वस्तुतः ध्वनि शब्द का गुण है, अर्थात् शब्द का व्यंजक है। ध्वनि के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है। अतएव स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यंजक है।[2] ध्वनि का प्रभाव मानव ही नहीं, प्राणि-मात्र पर होता है। नाद या ध्वनि महाभयंकर विषधर को भी मोहित कर सकती है तो सहृदयजनों का ध्वनि के प्रति आकर्षण अत्यन्त स्वाभाविक है। शैलीकार को तो अवश्य ही ध्वनि की महत्ता को शिरोधार्य कर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करना चाहिए। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रीति में ध्वनि के महत्त्व को बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है।

"रीति का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है।"[3]

प्राचीन गौड़ी, वैदर्भी, पांचाली-रीतियां मूलतः वर्ण पर ही आधारित हैं और इन वर्णों का विचार ध्वनि के प्रभाव पर हुआ है। शब्दों की मूल रूप से दो वृत्तियां होती हैं—शब्द-वृत्ति और अर्थ-वृत्ति। रीति अथवा शैली का सम्बन्ध काव्य की शब्द-वृत्तियों से ही है। ध्वनि इन शब्द-वृत्तियों की विधायिका है। संस्कृत के आचार्यों ने रीति-गुणों में माधुर्य, सुकुमारता और ओज इन तीन गुणों को प्रमुखता दी है। इन गुणों का घनिष्ट सम्बन्ध शब्द-वृत्तियों के साथ निश्चित होने से शब्दाश्रित-वृत्तियों के तीन वर्ग हो सकते हैं।

वृत्तियां

१—परुषा वृत्ति : इसका सम्बन्ध प्रमुखताः ओजगुण, वीर, वीभत्स एवं रौद्र रस तथा गौणी रीति से है।

(१) वर्ण 'क' आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का उनके अपने-अपने अन्त्य (वर्गों के प्रथम वर्णों के अन्त्य वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ, और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण घ, झ, ढ, घ, म) वर्णों के संयोग अथवा नैरन्तर्य (जैसे पुच्छ, वृन्द्ध) रेफ का नीचे, ऊपर अथवा दोनों ओर से किसी वर्ण से संयोग (जैसे वस्त्र, निर्ह्राद) समान वर्णों का परस्पर संयोग (चित्त, वित्त आदि), ट, ठ, ड, ढ वर्ण तथा शकार, षकार।

(२) दीर्घ वृत्ति अथवा दीर्घ समास।

(१००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो :।
टादि: शषौ वृत्तिदैर्ध्य गुम्फ उद्धत ओजसि।

मम्मट : काव्यप्रकाश ८।७५

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : तुलनात्मक भाषा-शास्त्र : पृ० ३३।
२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन : पृ ७२-७३।
३. आचार्य शुक्ल : अभि-भाषण सभापति साहित्य-परिषद् (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन) : पृ० ९२।

२—मधुरावृत्ति : इसका विशेषत: सम्बन्ध माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण; शृंगार, करुणा तथा शान्त रस और पांजाली रीति से है।

वर्ण—ट, ठ, ड और ढ को छोड़कर वे स्पर्श संज्ञक ('क' से 'म' तक) जो अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) से संयुक्त होकर मधुर वर्ण ध्वनि के उत्पादक हुआ करते हैं (यथा—अनंग, कुञ्ज) साथ ही लघु से व्यवहृत रेफ और णकार भी।

समास-असमासा या मध्यमसमासा।

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना यथा ॥

मम्मट : काव्यप्रकाश ८।७४

३—प्रौढ़ावृत्ति : इसमें सामान्यतः सभी गुणों एवं रसों का परिपाक मिलता है, तथा यह प्राचीन वैदर्भी रीति की विधायिका है।

वर्ण—इसमें ट वर्ग को छोड़ शेष सभी वर्गों के पञ्चम वर्णों की प्रधानता रहती है।

समास असमासा अथवा लघुसमासा।

इसमें सभी रसों का ऐसा धर्म है जिससे सामाजिक हृदय इस प्रकार भर उठता है, जिस प्रकार अग्नि के द्वारा सूखा ईंधन अथवा जल के द्वारा साफ कपड़ा।

(६४) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥७०॥
व्याप्नोत्यन्य प्रसादो ऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

मम्मट : काव्यप्रकाश ८।७०

ध्वनि के साथ ही स्वरपात और लय से भी, रीति का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। स्वरपात अथवा लहजा से भाषा में गति, शक्ति तथा लय उत्पन्न हो जाती है। संगीत की स्वर-गंगा स्वरपात के किनारे से बहती है। स्वरपात या स्वरघात का सम्बन्ध सीधे मानव-हृदय से होता है। स्वरपात में हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति रहती है। भावाभिव्यक्ति का साधन भाषा, वस्तुत: कलम की कला ही नहीं, कलम का संगीत है, जो कि स्वरपात या स्वरघात के साथ चलता है। इसी स्वरपात की संगति में कोमल और कठोर भावनाएं मुखरित होती हैं।

स्वरपात, लय या गति पर पद्य की ही बपौती नहीं है, गद्य में भी इनका महत्त्व है। गद्य तथा लेख में लय तथा गति का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है और इस नियम के लिये स्वर तथा व्यंजन पर दृष्टि लगी रहनी चाहिये।[1] पश्चिम के विद्वानों ने भी भारतीय विद्वानों के स्वर में स्वर मिलाकर गद्य-शैली में भी स्वर और लय को महत्त्व दिया है। इतना ही नहीं जार्ज सैंटसबरी ने तो 'सरलतम् वाक्यों में प्रयुक्त लयात्मक व्यवस्था की कला को शैली' कहा है।[2]

१. डॉ० एस० पी० खत्री : आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त : पृ० ६१।

२. Style is the art of rhythmical arrangement, applicable in sentences so simple as George Saintsbury :

—*Specimen of English Prose Style* : p. XXXVI.

समास

अत्यन्त प्राचीन काल से ही समासों के आधार पर शैलियों का विभाजन तथा विवेचन होता आ रहा है। रीति के प्रथम लक्षण कर्ता तथा रीति सम्प्रदाय के अधिष्ठाता आचार्य वामन ने समास के आधार पर रीति का विचार किया है। जैसे समासरहित वैदर्भी को शुद्ध तथा उत्कृष्ट माना है;[१] इतना ही नहीं, गद्य के भेदों में भी समासों को महत्त्व दिया है।[२] वामन के पश्चात् रुद्रट ने तो समास को मूल तत्त्व ही मानकर असमासा, लघु, मध्यम व दीर्घ समासों के अनुसार वैदर्भी, पांजाली, लाटीया तथा गौड़ीया रीतियों का निरूपण किया।[३] इनके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, भोज, विश्वनाथ आदि ने भी समास के साथ रीति का संबंध प्रतिपादित किया है।

समासों से रचना में गाढ़ बन्धत्व या ओज आता है। इसका अभिप्राय अवयवों अथवा अक्षरविन्यास का परस्पर संश्लिष्टत्व है।[४] इसी प्रकार से कि संयुक्त-वर्णों और रेफशिरस्क वर्गों के प्रथम-द्वितीय, अथवा प्रथम-तृतीय अथवा तृतीय-चतुर्थ वर्णों के संयोग होने पर गाढ़ बन्धता उत्पन्न होती है। इसके विपरीत असमासिकता में या पदों की पृथकता में माधुर्य गुण रहता है।[५] अतएव जहां तक एक ओर समासों की अधिकता शैली में ओज, गाढ़ बन्द्धता प्रसव करती है, वहां उनकी कमी या अभाव क्रमशः माधुर्य उत्पन्न करता है।

सामासिक शब्दों में अर्थगाम्भीर्य के साथ भावों या विचारों की सघनता रहती है। दो या अधिक शब्दों के बीच विभक्ति प्रत्यय आदि हटकर प्रगाढ़त्व लाते हैं। सामासिकता में गति और शक्ति की निहिति का समर्थन पश्चिमी विद्वानों ने भी किया है। अभिव्यक्ति की सघनता के साथ शक्ति और गति प्रदान करने में छोटे पद[६] तथा छोटे वाक्यों की शृंखलाएं भी समर्थ रहती हैं।[७] शब्दों की आवृत्ति जो कि द्वंद्व समास का रूप है, भाषा में शक्ति उपार्जन का अत्यधिक सशक्त ढंग है।[८]

१. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।२।१६।
२. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।३।२४ तथा १।३।२५।
३. रुद्रट : काव्यालंकार : २।४५।
४. वामन : काव्यालंकार सूत्र : ३।१।५।
५. वामन : काव्यालंकार सूत्र : ३।१।२१।
६. "Short members may also be used in a forceful style. A great idea comprised in a small compass is more forceful and vigorous."
—*Demetrius : On Style* : p. 201.
७. "Other things being equal, a series of short sentences will convey an impression of speed—" —*Herbert Read :English Style* : p. 35.
८. "Repetition is the strongest generator of amphasis known to language."
—*Walter Raleigh : Style* : p 52.

शैली और अलंकार

शैली और अलंकारों का सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। यह सम्बन्ध बाह्य मात्र नहीं है। 'अलंकरोतीति अलंकारः' के अनुसार अलंकार काव्य के बाह्य आभूषण न होकर रीति या शैली के अनन्य तत्त्व होते हैं। अलंकारों का सम्बन्ध मानव-हृदय से है। स्वभाव से ही मानव सौंदर्य का उपासक रहता है, इसलिए उत्तम शैली में मानव-हृदय को सम्मोहित करने वाला अलंकार-तत्त्व, सौंदर्य-वृद्धि के लिए अवश्य होना चाहिए। अतः शैली की श्रेष्ठता के साथ अलंकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शैली की महत्ता की वृद्धि अलंकारों के उचित प्रयोग पर भी आश्रित रहती है। इतना ही नहीं "यदि अलंकारों का व्यापक रूप लिया जाय और उन्हें कथन का एक विशेष ढंग मान लिया जाय तब तो रीति में अलंकार अनिवार्य रूप में रहेंगे और यदि अलंकारों का स्वरूप, उनकी सीमित संख्या के भीतर ही माना जाय तब रीति में अलंकार आवश्यक तत्त्व के रूप में स्थान प्राप्त करेंगे।"[1] अलंकार शैली को प्रभावशील तथा रोचक बनाते हैं। वैसे उदाहरणों या उद्धरणों से भी भाषा बलवती होती है, परन्तु उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार उदाहरणों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। उनके द्वारा असादृश्य वस्तुओं में भी सादृश्य भाव प्रगट होकर दृश्य विभेद अधिक मुग्धकारी होता है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने भी अति प्राचीन-काल से गद्य में विशेषतः सम्भाषण में, रूपक आदि अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित किया है। अरस्तू का नाम इसमें उल्लेखनीय है।[2] यद्यपि पद्य में अलंकारों का प्रयोग व्यापकता से मिलता है; परन्तु गद्य की स्वभावगत विशेषताओं के कारण उसमें उपमा, रूपक आदि अलंकारों की अधिक आवश्यकता है। आधुनिक अंग्रेजी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् एफ० एल० ल्यूकस ने शैली में इन अलंकारों के अभाव को वैसा ही खटकनेवाला माना है जैसा कि बिना दिनकर के दिन अथवा बिना पक्षियों के वनप्रदेश।[3] अतः अलंकारों का शैली से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उद्देश्य की दृष्टि से भी शैली का प्रायः वही लक्ष्य है, जो कि अलंकारों का है; "बल्कि अलंकार भी वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियां हैं।"[4] शैली का उद्देश्य सौन्दर्य एवं प्रभाव की सृष्टि करके, सुचारू रूप से अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करना है। अलंकार भी सौन्दर्य, चमत्कार एवं प्रभाव-वर्द्धन के साधन हैं। अतएव वे शैली के उद्देश्य में सहायक होते हैं। शैली लोकोत्तीर्णता को सम्पादित करना चाहती है।

१. डॉ० रामलालसिंह : समीक्षा-दर्शन (भाग-१) : पृ० २०१।

२. Aristotle : Rhetoric : Vol. III. : p. 2.

३. "For myself, I will own atonce that a style without metaphor and simile is to me a day without sun or a wood-land without birds."

—*Style* : p. 192.

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग-१) : कविता क्या है : पृ० २४९।

अलंकार भी इसी कार्य को लेकर आगे बढ़ते हैं। अलंकार भाषा को अलंकृत करने के साथ उसमें विदग्धता के प्राण फूंककर चैतन्य एवं चमत्कार उत्पन्न करते हैं। आवश्यकता यही है कि शैली उन्हीं अलंकारों को मान्यता देकर स्वीकार करे जो उसके अनुवर्ती बनकर, नत मस्तक हो उसकी कीर्ति-प्रसाधन पर बल देते हैं। वे स्वाभाविक रूप से आते तथा अन्तरंग रूप से प्रतिष्ठित होते हैं। इसके विपरीत जहां अलंकार अपनी महत्ता का आरोप करके कृत्रिम तथा बहिरंग ढंग से ठूंसे जाते हैं, वहां शैली की उनसे मित्रता नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, ये सहायक के स्थान पर विरोधी तत्त्व भी निःसंकोच घोषित किये जा सकते हैं। अलंकार शैली के आभूषण नहीं सह-, योगी हैं। अलंकारों और गद्य-शैली की घनिष्ठता इसी एक तथ्य से भी प्रगट होती है कि कुछ विद्वानों के मत से, "जो गद्य-शैली पर विचार करता है उसको अलंकार-शास्त्र और द्वितीय जो पथ की शैली पर विचार करता है उसे काव्य-शास्त्र कहते हैं।"[1]

गुणों के आधार पर विशिष्ट पद-रचना (वामेन) अथवा लेखक के भावों तथा विचारों का संवाहन करनेवाले भाषा के गुण (मिडिलटन मरे) को रीति या शैली कहा गया है, साथ ही अन्य मत से कथन की विशेषता को 'अलंकार' कहते हैं। यह विशेषता कभी वर्ण-विन्यास में पायी जाती है, कभी शब्द और अर्थ की क्रीड़ा में, कभी वाक्य के बांकेपन में, कभी प्रस्तुत-अस्तुत के सादृश्य सम्बन्ध में और दूर की कल्पना में। इन्हीं के विचार से अनेक अलंकार होते हैं। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में जो-जो विलक्षणता दिखाई पड़ती हैं, उन्हीं के आधार पर अलंकारों का नाम रखा गया है।[2] शैली तथा अलंकारों के उपर्युक्त विवेचन में गुण और तत्त्व की दृष्टि से दोनों में कुछ समीपता है। आचार्य भामह ने अलंकार को रीति का प्रथम तथा अनिवार्य तत्त्व कहा है। काव्य का विषयगत सौन्दर्य सामान्य अलंकार के अन्तर्गत आता है, इसके विपरीत शैलीगत सौन्दर्य विशेष अलंकार के अन्तर्गत है। इस प्रकार से गुण और रीति भी अलंकार हैं। दण्डी के अनुसार वैदर्भी और गौड़ी मार्गों का पार्थक्य श्लेष, प्रसाद आदि अलंकारों से हुआ है, तथा संधि, संध्यंग, वृत्ति, लक्षणा आदि भी अलंकार हैं। दण्डी के मत से तो काव्य को शोभा प्रदान करनेवाले सभी धर्म या उपकरण अलंकार हैं।

काव्य-शोभा करान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
तेचाथापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कात्स्न्र्येनवक्ष्यति ॥[3]

रीति के द्वारा भी भाषा की सौंदर्य की उत्पत्ति होती है और उसकी अभिव्यञ्जना-शक्ति बढ़ती है। परिचित शब्दों के साथ अप्रचलित अलंकार तथा प्रचलित अलंकार के साथ अपरिचित शब्द के संयोग से वाक्य-विन्यास में सौन्दर्य की

१. डॉ० भागीरथ मिश्र : हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास : पृ० ६ ।
२. —वही— —वही— : पृ० २६२
३. दण्डी : काव्यादर्श २।१ ।

अभिवृद्धि होती है इस प्रकार से रीति या शैली की सहायता से अलंकारों की भी महत्ता बढ़ जाती

शैली और गुण

शैली या रीति का सम्बन्ध गुणों से अनादि तथा अखण्ड है। काव्य के पवित्र मन्दिर में वे ही रचनाएं प्रवेश पा सकती हैं जो कुछ आवश्यक गुणों और अलंकारों से आभूषित हों।[१] शैली के नियामक तत्त्वर—स, वस्तु, काव्य-रूप तथा वक्ता के अनुकूल शैलियां, विभिन्न गुणों की धारणा करती हैं, जिनके द्वारा अभीष्ट परिणाम की प्राप्ति होती है। ये गुण ही काव्य के उत्कर्ष-साधक तत्त्व हैं जो प्रमुखतः रस के तथा गौणतः शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं। गुणों की महत्ता को सर्वोच्च गौरव प्रदान करते हुए, रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने एक ओर तो रीति को काव्य की आत्मा के श्रेष्ठ पद पर अभिषिक्त किया एवं दूसरी ओर—"विशिष्ट पद रचना रीतिः"[२] के साथ 'विशेषो गुणात्मा"[३] कहकर गुणों को रीति का मेरू-दण्ड बनाया। वामन ने अलंकारों को तिरस्कृत करके भी गुणों को सम्मानित किया है। उनके मत से अलंकार का अर्थ ही सौन्दर्य है और काव्य में सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण व अलंकार के आदान से होता है। गुण नित्य धर्म है।[४] सौन्दर्यमलंकार तथा "सदोष गुणालंकार हाना दानाभ्याम्"। वामन के अतिरिक्त कुन्तक प्रसृति अन्य बहुत से काव्य-सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी गुण का सम्बन्ध रीति से किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् डेमेट्रियस (३०० ईसा पूर्व) ने गुणों के सम्बन्ध से (१) प्रसन्न शैली (Plain style), (२) उदात्त शैली (Stately style), (३) मसृण शैली (Polished style), (४) ऊर्जस्वी शैली (Powerful style) तथा गुणों के ही अभाव में ही चार दूषित शैलियाँ—(१) शिथिल (Frigid), (२) कृत्रिम (Affected), (३) नीरस (Arid) तथा (४) अननुकूल (Disagreeable) प्रतिपादित कीं।[५]

समष्टितः पाश्चात्य समीक्षकों ने प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक दृष्टि से शैली के गुणों का वर्गीकरण किया है। प्रज्ञाशक्ति से शैली में सरलता, स्पष्टता, प्रभावशीलता तथा चित्रात्मकता अपेक्षित है तथा रागात्मक शक्ति से भावानुकूल शैली में अनुरूप शब्द-चयन, तथा वाक्य-योजना आवश्यक है।[६] फिर भी गद्य में पद्य की अपेक्षा

---

१. काव्यालंकार : सूत्र १।१।१।
२. काव्यालंकार : सूत्र १।२।७।
३. —वही— १।२।८।
४. —वही— १।१।२-३।
५. Demetrius : On style : p. 209-261.
६. "Clarity is essential in prose. Some adore ambiguities in poetry, in prose they can be a constant curse."

—*F. L. Lucas : Style* : p. 17.

स्पष्टता (प्रसाद गुण) पर अधिक बल दिया है, इसके पश्चात् अन्य गुणों को स्थान प्राप्त है।

दण्डी, वामन आदि ने गुणों की संख्या दस स्वीकार की है; जैसे श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य, ओज, कान्ति तथा समाधि गुण। इसमें प्रसाद, ओज, माधुर्य, कान्ति आदि प्रमुख गुण हैं। आचार्य मम्मट ने माधुर्य, ओज, प्रसाद को ही गुण माना है—

"माधुर्यौजः प्रसादाख्यात्रयस्ते न पुनर्दश"[1]

अतः गुणों की संख्या न्यूनाधिक भले ही हो गई हो, परन्तु उनका सम्मान अवश्य ही है। काव्य की शोभा को करने वाले धर्म गुण होते हैं।[2]

आनन्दवर्द्धन ने प्रबल तर्कों के द्वारा निरूपित किया है कि रीति पद-रचना है, तथा गुण उसको अनुप्राणित करने वाला तत्त्व है, जिससे रीति भिन्न है। गुण को रीति के आश्रित न मानने का कारण यह है कि उनके मत से रीति के आश्रित होने से गुण भी अनियत विषय हो जावेगा, जबकि गुण नियत और नित्य हैं और रीति अनियत और अनित्य हैं। परन्तु उनका दृष्टिकोण समास की ओर अधिक रहने से एकांगी है।

तथ्य यह है कि शैली गुणों पर आधारित है, क्योंकि शब्द-गुम्फ, वर्ण-गुम्फ, पद-योजना आदि का स्वरूप माधुर्य आदि गुण निर्धारित करते हैं। यद्यपि शैली रसाभिव्यक्ति करती है, परन्तु वह स्वयं गुणों पर आधारित है। गुण ही शैली की शोभा के अनिवार्य साधन हैं। गुण-विहीन रचना न तो काव्य की संज्ञा को प्राप्त कर सकती है और न रसोत्कर्ष हो सकता है। वामन ने गुणों को शब्दगुण तथा अर्थगुण में विभक्त करके अर्थगुणों को अपनी रीति का मूलाधार बनाया था।[3]

वास्तव में शैली के निर्धारण में इन शब्द और अर्थगुणों का अभी भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है। प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि प्रधान गुणों का सम्बन्ध शैली के बाह्य-तत्त्व वर्ण-गुम्फ, शब्द-गुम्फ, समास-रचना से है, साथ ही द्रुति, दीप्ति, व्यापकत्व आदि गुणों का सम्बन्ध शैली के अन्तरंग से है। तात्पर्य यह है कि स्थूल-रूप में गुण शैली के बाह्य-तत्त्वों का संवर्धन करते हैं तथा सूक्ष्म-रूप में शैली के आभ्यन्तर तत्त्वों का उत्कर्ष भी करते हैं। प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों की तीन काव्य-वृत्तियाँ क्रमशः प्रौढ़ा, मधुरा एवं परुषा वृत्तियाँ हैं जो कि प्राचीन रीतियों—पाञ्चाली, वैदर्भी तथा गौड़ी। इस प्रकार से शैली के बहुत से गुणों में अनिवार्य तथा प्रथम गुण प्रसाद है। भारतीय तथा पश्चिमी दोनों ही क्षेत्रों के अनेक विद्वानों ने प्रसाद गुण की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। "संघटना मात्र का सामान्य गुण 'प्रसाद' है, जो सब संघटनाओं में विद्यमान् रहता है। प्रसाद से वाच्य अर्थ की प्रतीति शीघ्र हो जाती है। भाषा का

१. आचार्य मम्मट : काव्यप्रकाश : अष्टम उल्लास, सूत्र ८९।
२. आचार्य वामन : काव्यालंकार सूत्र : ३।१।१।
३. वामन : काव्यालंकार सूत्र : तृतीय अधिकरण—प्रथम एवं द्वितीय अध्याय

उद्देश्य भावों एवं विचारों की पूर्ण तथा शीघ्र अभिव्यक्ति है। प्रसाद गुण वाच्य अर्थ की शीघ्र प्रतीति के लिए सभी शैलियों में अनिवार्य है और इसकी स्थिति सर्वत्र सब रसों में वांछनीय है।

"शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैवयः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादौऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति:[1]
सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी।
स हि सर्वरस साधारण: सर्वसंघटना साधारण श्चेत्युक्रम।
प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि संघटना करुणविप्रलम्भशृंगारौ
नव्यनक्ति। तद् परित्यागे च मध्यमसमासापि प्रकाशयति।
तस्मात् सर्वत्र प्रसादेऽनुसर्तबय:।[2]

प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जक हैं—

(१) वर्ण—वे सुकुमार अथवा विकट सभी शब्द जिनके श्रवण मात्र से अर्थ प्रतीत हो जाय;
(२) वृत्ति—वह वृत्ति अथवा समास जो श्रुति मात्र से अर्थ प्रत्यायक हो जाय; और
(३) रचना—वह रचना जो श्रवण मात्र से अर्थ-प्रतीति करा दे।

(१०१) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थ प्रत्ययो भवेत्।
साधारण: समग्राणां स प्रसादो गुणो मत:।।[3]

(मम्मट : काव्यप्रकाश : अष्टम् उल्लास, ७६)

प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रियों के सदृश्य यूरोप के आद्य काव्य-शास्त्री अरस्तू ने प्रसाद (Perspicuity) को शैली का प्रथम गुण तथा औचित्य (Propriety) को दूसरा गुण माना है। शैली का गुण यह है कि वह स्पष्ट हो (इसका प्रमाण यह है कि जब तक शैली भाव को स्पष्ट नहीं करती, तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती) और उसका स्तर न तो निम्न हो और न विषय की गरिमा से ऊंचा ही हो वरन् सर्वथा विषयोचित हो।[4] दूसरा गुण है औचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और विषय-वस्तु के अनुकूल हो।[5]

आधुनिक हिन्दी के विद्वानों के द्वारा भी प्रसाद गुण की प्राथमिकता प्रतिपादित की गई है। "यद्यपि विषय की कठिनाई से शैली में दुरूहता आ जाती है, तथापि शैली में प्रवाह के साथ प्रसाद गुण उपादेय होता है। क्रम, संगति, संगटन और अन्विति शैली

१. मम्मट : काव्यप्रकाश : अष्टम् उल्लास, सूत्र ९४।
२. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : पृ० १४०।
३. मम्मटाचार्य : काव्यप्रकाश : अष्टम् उल्लास, ७६।
४. अरस्तू—अनुवाद डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू काव्यशास्त्र : पृ० १४७-८।
५. —वही— —वही— : पृ० १४९।

के आन्तरिक गुण हैं। शैली में भी अनेकता में एकता उत्पन्न करना वांच्छनीय रहता है।"[१] आचार्य डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के मत से—प्रसाद, ओज, माधुर्य, लाक्षणिकता, प्रभावोत्पादकता तथा विषयाग्रह-पालन—शैली के गुण हैं।[२]

शैली में प्रसाद गुण की अनिवार्यता एवं प्राथमिकता जान लेने के पश्चात् प्रथम प्रश्न उठता है कि 'प्रसाद' गुण की उपलब्धि कैसे हो ? इसके उपाय क्या हैं ? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि समर्थ या उपयुक्त शब्दावली से पूर्ण शैली सर्वाधिक स्पष्ट होती है।[3] स्पष्टता से सरलता को बल मिलता है। सरल, भाषा-शैली में ही प्रसाद गुण की प्राप्ति होती है। फिर भी प्रसाद की प्राप्ति तपस्या से होती है। प्रसाद गुण के साथ सरलता की शर्त भी सरल नहीं है। वास्तव में सरल शैली में पूर्ण प्रसाद गुण सम्पन्ना आत्माभिव्यक्ति प्रभावी ढंग से करना अपेक्षाकृत बहुत कठिन है और साधना सापेक्ष है। बिरले ही कलाकार सतत साधना के बल से सरल तथा सुबोध भाषा में सत्य के दर्शन करा पाते हैं। अतएव तथ्यपूर्ण यही है कि सफल शैलीकार को अपने अन्तिम लक्ष्य सफल-अभिव्यक्ति के लिए अपने भावों और विचारों को सतत प्रयत्न, एवं कठोर साधना की अग्नि में पकाकर सरल, सर्वग्राह्य एवं सुपाच्य कर देना चाहिये। सरलता अभ्यास जन्य है जिसे प्राप्त करना सरल नहीं है।[४] वरन् बहुत विषयों में कठिनतम है।[५] क्लिष्ट कल्पना-पूर्ण, शब्दाडम्बरयुक्त एवं दुरूह भाषा-शैली में साधारण लेखक भी लिख सकते हैं; परन्तु सरल, सुबोध, प्रसाद गुण-सम्पन्ना, हृदय-स्पर्शी भाषा-शैली, तो तपस्वी आचार्य प्रसूता ही हो सकती है। आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी[६] ऐसी भाषा के कट्टर समर्थक थे तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी[७] ने भी इसी का प्रतिपादन किया है। महात्मा तुलसीदास ने भी सरलता की सराहना करके सरल शैलीकार को सज्जनों द्वारा आदरणीय माना है।

सरल कवित कीरति विमल, सोई आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराई रिपु, जो सुन करहिं बखान।[८]

शैली के दोष

शैली के सामर्थ्य, सौंदर्य एवं प्रभावशीलता के लिए जिस प्रकार से काव्य-शास्त्रों में शैली के गुणों का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार से शैली के दोषों का भी प्रत्यक्ष

१. गुलाबराय : काव्य के रूप : पृ० २३४-२३५।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास (परिवर्द्धित संस्करण भूमिका) : पृ० ५।
३. अरस्तू (अनुवादक डॉ० नगेन्द्र) : अरस्तू का काव्यशास्त्र : पृ० ५७-८।
४. F. L. Lucas : Style : p. 17.
५. "On many subjects an easy style may be one of the very hardest, things to produce." —*F. L. Lucas : Style* : p. 271.
६. रसज्ञ-रंजन : पृ० १७-१८।
७. विचार और वितर्क : पृ० १९५।
८. रामचरित मानस : बालकाण्ड : १४ (क)।

अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विचार हुआ है। बिना दोषों का पूर्णाभास हुए, उनसे काव्य तथा शैली की रक्षा करना सम्भव भी नहीं है। परिणामतः संस्कृत-शास्त्र में दण्डी, वामन प्रभृति आचार्यों ने गुणों के पूर्व दोषों का विवेचन करके उनसे मुक्त रहने का दृढ़ आग्रह किया है। दण्डी ने 'दोषा विपत्तये तत्र' कहकर दोषों को काव्य की विफलता के कारण माना है।[1]

वामन ने गुणों के समान ही दोषों का अत्यन्त सूक्ष्म, तर्क-सम्मत और विस्तृत वर्णन किया है। उनके मत से शैली के दोषों का सम्बन्ध अधिकतर वाक्य-दोषों से ही हैं। 'भिन्न वृत्तयतिभ्रष्ट विसन्धीनि वाक्यानि'[2] अर्थात् भिन्न वृत्त, यति-भ्रष्ट और विसंधि वाक्यों के दोष होते हैं। इनमें भी प्रथम दो दोष वस्तुतः छन्द-दोष हैं, जिनका अध्ययन हमारा लक्ष्य नहीं है, पदों की अनुचित संधि अवश्य ही गद्य में विचारणीय है। भावों की स्पष्टता, औचित्य तथा प्रभावोत्पादकता के लिए पदों की अनुचित संधि घातक होती है। वास्तव में वामन ने दोषों की परिभाषा न देकर गुणों के विपरीत स्वरूप को दोष माना है। 'गुण विपर्ययात्मानो दोषा:।'[3]

रीति या शैली की दृष्टि से अर्थ के आधार पर भी वामन ने जिन सात शब्दार्थ-दोषों का विवेचन किया है[4] वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

१. व्यर्थ—पूर्वापर विरोधी। जैसे—आज शायद अवश्य वर्षा होगी।

२. एकार्थ—एक ही पद की निष्प्रयोजन आवृत्ति। उदाहरण—केवल एक ही मेरा मित्र है।

३. संदिग्ध—जहां प्रयोग से संशयोत्पादन हो। जैसे—राष्ट्रपति स्वयं प्रधान-मंत्री नियुक्त करते हैं।

४. अप्रयुक्त—भ्रान्तिपूर्ण अर्थ। उदाहरण—मैं इससे हल्की खोज में हूँ।

५. अपक्रम—स्वाभाविक क्रम के विपरीत। उदाहरण—वैसे जैसे गाड़ी में आई ही सवार हो गया।

६. अलोक—लोक-व्यवहार विरुद्ध। उदाहरण—जैसे ही एकाएक दीपक उसने बढ़ा दिया कि अंधकार हो गया।

७. विद्या-विरुद्ध—शास्त्र एवं कला के सिद्धान्तों के विपरीत। जैसे—वह अग्नि से जलकर ठंडा हो गया।

उत्तर ध्वनि-काल में आचार्य मम्मट ने दोष-युक्त वाक्यों के बीस कारण प्रस्तुत किए हैं[5]—

(१) जिनके वर्ण रचना के प्रतिकूल हों। (२) जिनमें विसर्ग उपहृत या लुप्त हो। (३) जिनमें संधि विरूप (अश्लील या भद्दी) हो। (४) जिनके वृत्त हृत

१. काव्यादर्श : ३।१२५।
२. काव्यालंकार सूत्र : २।२।१।
३. काव्यालंकार सूत्र : १।१।१।
४. काव्यालंकार सूत्र : २।२।९।
५. काव्य-प्रकाश : सप्तम् उल्लास, सूत्र ७५।

हों। (५) जिनमें कुछ पद न्यून हों। (६) अधिक हों अथवा। (७) कथित हों। (८) जिनके वाक्य का उत्कर्ष क्रमशः घटता जाता है। (९) जिनमें किसी विषय को समाप्त करके फिर से उठाया गया हो। (१०) जिसमें श्लोक के प्रथमार्द्ध का वाचक-पद केवल श्लोक के द्वितीयार्द्ध में एक ही रहे। (११) जहां पर इष्ट का सम्बन्ध ही न हो। (१२) जिनमें आवश्यक विषय कहने से रह जाय। (१३) जिनमें कोई एक पद अपने स्थान पर न हो। (१४) जिनमें कोई समस्तपद अपने स्थान पर न हो। (१५) जिनमें एक वाक्यांश के शब्द अन्य वाक्यांश में सम्मिलित हों। (१६) जिनमें एक वाक्य के भीतर दूसरा वाक्य सन्निहित (घुसा) हो। (१७) जो प्रसिद्ध से भिन्न हों। (१८) जिनमें प्रसंग का क्रम टूट गया हो। (१९) जिनमें क्रम ही न रखा गया हो। (२०) जिनमें प्रकरणानुवत रस के विपरीत अन्य रस की प्रतीति होती हो।

इस प्रकार से मम्मटाचार्य ने वाक्य-दोषों के अन्तर्गत अर्थ तथा विन्यास दोनों को ही समाहित कर लिया है। उन्होंने रसौचित्य पर भी ध्यान देकर मनोवैज्ञानिक भित्ति पर नित्य और अनित्य दोषों का उत्तम विचार किया है।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों की तुलना में पश्चिमी विद्वानों ने काव्य के अन्य अंग, उपांग एवं तत्त्वों की भांति शैली के दोषों का मार्मिकता से विवेचन नहीं किया है! यद्यपि गौण रूप से अरस्तू ने कला की विफलता और अशुद्धता का विचार करके दोषों का संकेत किया है। उसमें चार मुख्य दोषों का संकेत मिल जाता है; परन्तु उनमें बारीक विश्लेषण और निर्देशन का अभाव है। अरस्तू के शैलीगत दोष निम्नलिखित हैं[1]—

(१) समासों का अधिक प्रयोग। (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

(३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग।

(४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

संक्षेप में शैली-विषयक दोष मानव-मन में निहित सौंदर्य-भावना पर आघात करते हैं इसलिए त्याज्य हैं।[2] सच तो यह है कि सौंदर्य का कोई सर्व-मान्य मान-दण्ड नहीं है, जिसकी कि सहायता से कला-कृतियों का परीक्षण हो सके। इससे शैली का दोष गिनाना उचित नहीं[3] और न वह पूर्णतः वैज्ञानिक ही हो सकता है।

हिन्दी में शैली के दोषों का सीधा विवेचन प्रायः उपलब्ध नहीं होता। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने पाश्चात्य एवं भारतीय विचारों का समन्वय करते हुए शैली-गत अवगुणों का इस प्रकार संकेत किया है—व्याकरण-च्युति, क्रमदोष, अस्पष्टता, दुरूहता, रूक्षता, अवैध प्रयोग तथा प्रादेशिकता।[4] निःसन्देह इन दोषों में ग्राम्य प्रयोग, अश्लीलत्व, च्युत-संस्कृति इत्यादि दोषों का समावेश भी हो गया है।

१ अरस्तू का काव्य-शास्त्र : (हिन्दी—डॉ० नगेन्द्र) : पृ० १४९।
२. —वही— —वही— : पृ० १५२।
३. Encyclopaedia Britannica 1768 : Vol. 21 : p. 488.
४. हिन्दी की गद्य-शैलियों का विकास : परिवर्द्धित संस्करण की भूमिका : पृ० ६।

उत्तम शैली

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने श्रेष्ठ शैली के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने उसकी उत्तमता के लिए विशिष्ट शैलियों के गुणों का समन्वय करना आवश्यक माना है। बाण भट्ट ने उत्तम शैली में सभी (चारों) रीतियों के गुणों के योग को प्रतिपादित किया है। यथा--

नवोऽर्थो जातिर ग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
निकटाक्षर बन्धश्य, कृत्स्नेमेकत्र दुर्लभम ॥

अर्थात् नवीन भाव सौंदर्य, अग्राम्या जाति स्वभाव वर्णन् (अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और निकट जिसमें पद नृत्य-सा करता है) अक्षर बंध इन सबको एकत्र मिलना दुर्लभ है, परन्तु काव्य की कसौटी भी यही है।[1]

जहां तक उत्तम शैली के उपार्जन का प्रश्न है, वह बहुत कठिन है। शैली वैयक्तिक अभिव्यक्ति है उसे कोई बाहरी व्यक्ति सिखा-पढ़ा नहीं सकता। शैली की शिक्षा देने की बात करनेवाला व्यक्ति शरारती और दम्भी है। वैयक्तिक शैली अन्य सब बातों से ऊपर उठकर वैयक्तिक ही रहती है। उसका आगे साधारणीकरण सम्भव नहीं है। 'शैली व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है' यह पद इसमें अधिक सार्थक होता है।[2] अतएव शैली के अध्ययन-अध्यापन की चर्चा करना भी विशेष लाभदायक नहीं है।

उत्तम शैली के उपार्जन के लिए अधिकतम जो कुछ किया जा सकता है वह यह है—१. श्रेष्ठ लेखकों की रचनाओं का अनुशीलन। २. उत्कृष्ट वक्ताओं का भाषण सुनना। ३. स्वयं की शैली का सतत अभ्यास के द्वारा परिमार्जन करना। ४. समाचार-पत्रों की शैलियों का अवलोकन करना।[3]

उत्तम शैली का सम्बन्ध, प्रकृति-प्रदत्तता एवं प्रयत्न-जन्यता दोनों से है। जहाँ तक शैली का वक्रता, चमत्कार, माधुर्य, औजस्विता आदि का सम्बन्ध है वे प्रकृति-प्रदत्त होने पर उत्तम कोटि के होते हैं, तथा प्रयत्न-जन्य होने पर वे निकृष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शुद्धता, संयम, बल, विविधता आदि गुण प्रयत्नों से अर्जित किये जा सकते हैं।

शैली को प्रभावशाली, उच्चस्तरीय तथा सशक्त बनाने के लिए भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार अनेक उपाय सुझाये हैं। 'शब्दों या पदों की आवृत्ति, भाषा को सशक्त बनाने का सर्वाधिक सिद्ध उपाय है।'[4]

शैली को उच्च स्तर पर रखने के कुछ सरल उपाय भी हैं, इनमें सबसे लाभप्रद

१. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : पृ० ३० ।

२. "A Personal Style being above all things personal; no further generalizations are possible. The style is the man, in the proper meaning of that phrase." —*Herbert Read : English Prose Style :* p. 162.

३. "Cultivation of Style" Style is it that you waant ? Oh, go and look into the newspapers for a style : Lord Oxford.
—*Thomas De-Quiency : Style and Rhetoric* : p. 176.

४. Walter Raleigh : Style : p. 52.

है, एक वचन के स्थान पर बहुवचन तथा अव्ययों का प्रयोग। कभी-कभी वर्णन को उन्नत तथा उच्च स्तर पर रखने के लिये नकारात्मक शब्दों अथवा पद्धांशों की शृंखला सजा दी जाती है, जिसकी कोई सीमा नहीं; परन्तु इसमें भी सतर्कता इसलिये आवश्यक है कि यदि इनमें भी बहुलता हुई तो पाठक वर्ग ऊब जायेगा और उसका ध्यान बँटने लगेगा।[1] अरस्तू ने इनके अतिरिक्त शैली को गरिमा प्रदान करनेवाले तत्त्वों में नाम के स्थान पर लक्षण या लक्षण के स्थान पर नाम, रूपक अलंकार तथा विशेषण का प्रयोग—को महत्त्व दिया है।[2]

अच्छी शैली में भाषण की लक्षणा-व्यंजना आदि सभी शक्तियों का उपयोग किया जाता है और कथन को प्रभावात्मक और पुष्टकर बनाया जाता है।[3] उत्कृष्ट शैली का आवश्यक गुण सौष्ठव एवं लाघव है जिसका सर्वाधिक ध्यान रखना लेखक का कर्त्तव्य है। इसकी तनिक भी उपेक्षा करके यदि शत-प्रतिशत संगीत की भी रक्षा करे तो भी वह उचित नहीं है।[4] किसी अंग विशेष को पुष्ट करने से शैली उत्तम नहीं हो सकती। इसके लिए शैली के विभिन्न तत्त्वों का पूर्ण सहयोग एवं समन्वय आवश्यक है। सर्वांगीण सुन्दरता के अभाव में शैली उत्कृष्ट नहीं रह सकती। अच्छी शैली को अपने परस्पर अंगों और तत्त्वों का ध्यान रखते हुए अपने शैलीकार की आत्माभिव्यक्ति भी अवश्य करना चाहिए।[5] प्राचीन यूनानी काव्य-शास्त्री लाज्जाइनस ने महान् शैली को महत्ता की प्रतिध्वनि कहा है।[6]

कलम की कला शैली भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति का वैयक्तिक ढंग मात्र है। इसका सम्बन्ध भाषा के बाह्यांग तथा अन्तरंग दोनों ही से है। इसी के साथ शैली का सम्बन्ध मानव-मस्तिष्क तथा हृदय से भी है। उत्तम शैली का प्रथम तथा अन्तिम रहस्य भी यही है कि उसमें हृदय और मस्तिष्क का योग रहता है।[7] भाषा-शैली शैलीकार के भावों तथा विचारों दोनों को ही साकार बनाती है, इसलिए यदि शैलीकार पाठकों और श्रोताओं के साथ लेखक का तादात्म्य स्थापित करके, समय-समय पर उसे सजग करता रहे तो दोनों के बीच सहृदयतावश भाषा में सरलता, सुबोधता तथा

१. डॉ० एस० पी० खत्री : आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त : पृ० ६६।
२. भाषण-शास्त्र : पुस्तक ३, अध्याय-३।
३. डॉ० दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र (भारतीय और पाश्चात्य) : पृ० १६५।
४. "The essential quality of good writing is precision; that must be kept at its maximum and the writer who sacrifices one percent of precision for a gain of one hundred percent in music is on the downward path."
—*J. Middleton Murry* : *The Problem of Style* : p. 87.
५. "Good style is the greatest of revealers it lays base the soul. The soul of the cheat shuns, nothing so much." —*Walter Raleigh* : *Style* : p. 127.
६. "The historical evolution of an art often runs from complexity to simplicity and jes person has suggested that this is true of the development of language. It would seem to be true not only of language itself but also of the arts of language." —*Herbert Read* : *English Prose Style* : p. 32.
७. Arthur Quiller-Couch : *On the Art of Writing* : p. 210.

अभिव्यक्ति की स्पष्टता हो सकती है। मस्तिष्क उसमें आवश्यक परिष्कार, प्रौढ़ता तथा प्रभावशालीनता लाने के लिए उपयुक्त शब्द-चयन, शब्द-विन्यास, वाक्य-विन्यास, वाक्य-क्रमविधान आदि का विचार कर सकेगा। यह हृदय-मस्तिष्क सहयोग शैली को गौरव प्रदान अवश्य करता है। जिस प्रकार के एक यन्त्र में उसके विभिन्न छोटे-बड़े पुर्जों का परस्पर सामंजस्य एवं सहयोग आवश्यक रहता है, इसी प्रकार के शैली में भी शैली के विभिन्न अंगों या तत्त्वों का सामंजस्य अपेक्षित है।[१] शैली की उत्तमता किसी एक गुण-विशेष पर आश्रित नहीं होती और न शैली की स्थिति या निहिति ही भाषा के किसी अंग-विशेष में रहती है। शैली सम्पूर्ण भाषा का गुण है। "शैली निर्दिष्ट विचार में व्याप्त उन सब परिस्थितियों का संयुक्त फल है जिसे कि व्यक्त करना उस विचार का अभीष्ट था।"[२] इसके अतिरिक्त शैली के उत्कर्ष की चरम सीमा भाव और भाषा की तादात्म्य प्राप्ति में भी है।[३]

कला का ऐतिहासिक विकास बहुधा दुरूहता से सरलता की ओर होता है। यही सत्य भाषा के विकास ही नहीं, भाषा की कलाओं (शैलियों) के विकास में ठीक उतरता है।[४] इस कसौटी पर कसने पर भी उत्तम अथवा विकसित शैली अधिक सरल, स्पष्ट, प्रभावपूर्ण, सुष्ठ, सुगठित, संतुलित, लयात्मक एवं सुबोध होनी चाहिये।

उत्तम शैली के साथ उत्तम वस्तु का मणि-कांचन संयोग यदि हो तो फिर कहना ही क्या है? परन्तु बहुधा होता यह है कि हल्की-फुल्की, अप्रौढ़ तथा अपरिष्कृत कथा-वस्तु उत्तम शैली के साथ बाह्य-रूप से भले ही सुन्दर दिखने लगे; परन्तु वह विद्वानों में आदरणीय नहीं हो सकती। इसी प्रकार उत्कृष्ट, परिपक्व तथा पुष्ट-विचार-भाव, किसी नव-सिखिए के हाथ पड़कर श्रीहीन और शिथिल हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि सुन्दर आकृति के साथ सद्गुण का संयोग और समावेश ही हो। फिर भी प्रभावोत्पादक मूल्यों और गुण के अंकन में ये वैसे ही सहायक होते हैं, जिस प्रकार दूध को गुणकारी बनाये रखने के लिए स्वच्छ और उज्ज्वल पात्रों की अपेक्षा रहती है।[५]

शैली की वैकल्पिकता

शैली की निष्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कतिपय समीक्षकों के मत से प्रत्येक लेखक की शैली होती है। उनके तर्क के अनुसार जैसे प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व एवं स्वतन्त्र सत्ता होती है, वैसे ही प्रत्येक साहित्यकार की शैली

---

१. "For as an instrument, so in slyle, there must be harmony in consent parts." —*Ben Jonson : On Style : The Hundred Best English Essay* : p. 23.

२. "Style consists in adding to a given thought all the circumstances calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce."
—*Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 3.

३. डॉ० श्यामसुन्दरदास : हिन्दी-साहित्य : पृ० ३३१।

४. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : पृ० ११०।

५. डॉ० दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र (भारतीय और पाश्चात्य) : पृ० १६३

होती है। जहाँ व्यक्तित्व है वहां शैली है; क्योंकि व्यक्तित्व ही तो शैली है। यह दूसरी वस्तु है कि किसी की शैली में व्यक्तित्व का रंग अधिक गहरा निखर उठता है और किसी का व्यक्तित्व हल्की ही छाप दे पाता है। किसी का अनुभूति-पक्ष प्रबल होता है, तो दूसरे का अभिव्यक्ति-पक्ष। प्राचीन पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के चिन्तक तथा विश्व-विख्यात् अरस्तू ने भी प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक साहित्यिक की शैलियां होती हैं, भले ही वे कैसी क्यों न हों। इस प्रकार से अरस्तू-मतवादियों ने 'जितने लेखक, उतनी शैलियां' मानी हैं।[1]

इस मत के विपरीत, दूसरा वर्ग शैली की महत्ता तथा आवश्यकता मानते हुए भी प्रत्येक लेखक में शैली की अनिवार्यता नहीं मानता। इनके मत से कुशल साहित्यिक ही शैलीकार होते हैं, सब लोग नहीं। अर्थात् शैली को वे विशिष्ट गुण स्वीकार करते हैं, जो प्रत्येक लेखक और प्रत्येक रचना में नहीं होता। प्लेटो तथा उनके मताव-लम्बियों का यही मत है। उनके मत से शैली बाह्य गुण है, जो कि विशिष्ट साहित्यिकों की विशिष्ट रचनाओं में ही रहता है।[2] अतएव इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि शैली वैकल्पिक है और अभिव्यक्ति का जातीय गुण न होकर व्यक्ति गुण है।

"बात सभी कहते हैं, तब क्यों एक की कलेजे में बैठती है और एक-की कानों में भी नहीं? एक की बात से गुदगुदी के घुंघरू बज उठते हैं, एक बात से आंखों का आलस्य भी नहीं उतरता। बात के कहने का ढंग है, यही शैली है।[3] इस ढंग में विशेषता एवं विलक्षणता आवश्यक है। साहित्यिक जगत में आकर्षक, रमणीय तथा प्रभावोत्पादक रीति से, जब कोई विषय की अभिव्यक्ति की जाती है, उसी को शैली कहते हैं।[4] फ्रेंच-साहित्य में तो शैली शब्द ही व्यक्तित्व की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, यह विशिष्ट रचनाओं का गुण है, समष्टि का नहीं।[5] शैलीकार होने के लिए व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य का सतत ध्यान रखना चाहिये।[6] इसलिए सब साहित्यकार शैली-कार नहीं होते। जिन कलाकारों की रचनाओं में शक्ति, प्रौढ़ता, परिमार्जन, एवं वैयक्तिकता होती है, वे ही शैलीकार होते हैं। अतः तथ्य यह है कि प्रत्येक शिष्ट साहित्यिक की एक विशिष्ट शैली होती है। वह उसी शैली में लिखता है चाहे वह थोड़ा लिखे या बहुत लिखे।[7]

हमें उपर्युक्त प्रथम पक्ष की अपेक्षा द्वितीय पक्ष अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। शैली साहित्यकार की सतत साधना का प्रतिफल होता है। इसके लिए साहित्यकार को लम्बे प्रयत्नों के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता, परिष्करण तथा स्थिरता लानी

---

१. Shipley : Dictionary of World Literature : p. 554.
२. —वही— —वही— —वही—
३. प्रो० जयनाथ नलिन : निबन्धकार (शैली समीक्षा) : पृ० २१।
४. करुणापति त्रिपाठी : शैली : पृ० २२।
५. F. L. Lucas : Style : p. 16.
६. F. L. Lucas : Style : p. 277.
७. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० १३७।

पड़ती है। जैसे रोना, गाना, बातचीत, अंग-संचालन आदि कार्य सभी लोग करते हैं, सबकी कुछ अपनी विशिष्टताएं होती ही हैं, पर सब कलाकार या अभिनेता होने का गौरव प्राप्त नहीं कर सकते; इसी प्रकार हमारा भी यही विनम्र अभिमत है कि प्रत्येक लेखक को शैलीकार नहीं कहा जा सकता है। अपनी वैयक्तिकता से सम्पन्न, स्थायित्व-पूर्ण परम्परागत लेखन-कार्य करनेवाला तपस्वी कलाकार ही शैलीकार होता है।

शैली के नियामक तत्त्व

काव्य के प्रत्येक तत्त्व के नियामक आधार होते हैं, जिनके निदर्शन के अनुसार उसकी रचना या व्यवस्था की जाती है। शैली के भी नियामक हेतु अथवा आधार होते हैं जो इस तथ्य का निरूपण करते हैं, कि अमुक परिस्थितियों में शैली का यह विशिष्ट रूप होना चाहिए। अर्थात् शैली को अपने परम लक्ष्य की पूर्ति के लिए सज्जित होने में जिन-जिन तत्त्वों पर ध्यान देना पड़ता है अथवा जो उसे प्रभावित कर विशिष्ट रूप प्रदान करने में सहायक होते हैं, वे उसके नियामक तत्त्व कहलाते हैं।

शैली के नियामक तत्त्वों का संकेत पौर्वात्य एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने यत्र-तत्र किया है, जिनका रीति, शैली या स्टाइल के तत्त्वों, उद्देश्यों, विशेषताओं आदि की चर्चा करते हुए हमने प्रारम्भ में संकेत किया है। भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन ने रीति को रसाश्रिता करके रस को रीति का प्रथम नियामक तत्त्व बनाया, इसके साथ 'तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृ वाच्ययो:'[१] अर्थात् वक्ता और वाच्य वस्तु के औचित्य का प्रतिपादन किया, बाद में काव्य-प्रभेद को भी रीति का नियामक बनाया।[२]

पाश्चात्य 'स्टाइलिस्टों' ने तो शैलीकार के व्यक्तित्व को ही शैली का मूल नियामक तत्त्व मान लिया। बफन ने 'स्टाइल इज़ दी मैन' कहकर शैली को व्यक्तित्व से तदाकार कर दिया। अन्य संतुलित विचारों के अनुसार शैली व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है; परन्तु सामाजिक एवं छन्दात्मक प्रभाव उसे सीमित या मिश्रित कर देते हैं।[३] अतः शैली, लेखक के व्यक्तित्व के, प्रतिबिंब से अधिक कुछ नहीं हो सकती, वरन् उससे कम ही रहती है। शैली तभी प्रभावी तथा अच्छी होती है जबकि लेखक की भाषा ने व्यक्तित्व के पूर्ण या अंश का ठीक ढंग से संवाहन किया हो।[४] महत्त्वपूर्ण

१. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : ३।६।

२. —वही— —वही— ३।८।

३. 'Style is the man' but the social and rhetorical influences adulterate and debate it......" :
—*Walter Raleigh : Style* : p. 87.

४. "Style cannot be more than a reflection of the author's personality, though it may be much less. It is good or expressive when the language he uses conveyes his personality with some exactness, or that part of his personality which is entirely engaged in the task he has in hand."
—*R. A. Scott-James : The Making of Literature* : p. 303-4.

तो यह है कि शैली चरित्र के श्रेष्ठ पक्ष का, श्रेष्ठ अवसर का सुपरिणाम होती है।[1]

इसके अतिरिक्त शैलीकार को कथा-वस्तु, काव्य-रूप और पाठकों की योग्यता, रुचि आदि पर भी ध्यान देना पड़ता है। अतः लेखक का व्यक्तित्व, वस्तु, काव्य-रूप, भाव (रस) और पाठक-शैली के प्रमुख नियामक हैं।

व्यक्तित्व

शैलीकार अपने व्यक्तित्व को भाषा-शैली में फूंक कर साहित्य-साधना करता है। इसीलिए लेखकों की शब्दों में प्राण फूंकने की अपनी पद्धति ही शैली है। लेखक शब्दों में तो अपने प्राण की प्रतिष्ठा करता ही है, साथ ही शैली पर अपना रंग, आवरण, अलंकरण आदि भी चढ़ाता है। जैसे कोई लेखक अर्थ-गाम्भीर्य को तो महत्त्व देता है, पर भाषा को सरल तथा सुबोध बनाकर उसके प्रभाव को हल्का रखता है; दूसरा शब्द-कौतुक पर ध्यान देते-देते अपने अर्थ तथा भाव-विचार दोनों की ही हत्या कर देता है। तीसरा भाव तथा भाषा-गाम्भीर्य के साथ भाव-गुम्फन, सौन्दर्य तथा पद-संयोजन पर ध्यान देकर कोमल कान्त पदावलियों की माला पर माला गूंथते जाता है, परन्तु भाव तथा प्रभाव की रक्षा नहीं कर पाता।

ऐसे ही वाक्य-विन्यास की दृष्टि से भी अनेक गद्य-शैलीकार कई प्रकार से अपनी योग्यता, रुचि, अभ्यास आदि से भिन्न-भिन्न शैलियों का निर्माण करते हैं। कुछ छोटे-छोटे सरल वाक्यों में ही बड़ी-बड़ी तथा गम्भीर बातें कह जाते हैं, दूसरे बड़ी-बड़ी बातें बड़े वाक्यों तथा दीर्घ शब्दों में ही रखने के पक्षपाती रहते हैं। कई तो बड़े वाक्यों में भी बहुत छोटी-सी बातें साफ नहीं कह पाते।

इसी प्रकार से कथा-वस्तु के निर्वाह के ढंग भी शैलीकारों के पृथक्-पृथक् मिलते हैं। कोई में कथानक की रोचकता है तो किसी से चरित्र-चित्रण नहीं बन पाता। कोई से वस्तु-विवेचन ठीक होता है, पर वर्णन में परास्त हो जाते हैं। कोई विद्वानों को तो मोहित कर सकते हैं, पर जन-साधारण द्वारा तिरस्कृत होते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी अनेक पुरुषार्थी मिलते हैं, जो जन-साधारण और विद्वानों सभी के हृदयहार बन जाते हैं। ऐसे लेखकों की भी कमी नहीं है जिन्हें जन-साधारण की ही वाह-वाही लूटकर सन्तोष करना पड़ता है।

इतना ही नहीं, प्रयोक्ता ही शब्दों को साध्य (अर्थ) और साधन (शब्द) मानकर इच्छानुसार तदर्थ में प्रयोग करता है। शब्दों का सर्व-विदित लक्ष्य अर्थ होता है; परन्तु भर्तृहरि व पुण्यराज के अनुसार शब्दों के अर्थ काल्पनिक हैं। शब्द-सृष्टि में व्यक्ति का महत्त्व है।[2] प्रयोक्ता उन्हें जिस प्रकार चाहे प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार से प्रत्येक शैलीकार की अपनी विशेषताएँ रहती हैं, और इससे

१. "It has to be remembered in judging writers, that they often do—and indeed should—write with the best side of their character at their best moments." —*F. L. Lucas* : *Style* : p. 61.

२. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन : पृ० ९१-९२।

विभिन्न शैलियों की उद्भावनाएं होती हैं। इन विभिन्नताओं के अध्ययन करने के लिए व्यक्तित्व का अनुशीलन आवश्यक है। पश्चिम के अनेक समीक्षकों ने शैली में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के दर्शन किए हैं, जिनका कि संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है। प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने भी कवि के शील, स्वभाव, रुचि आदि को महत्त्व देकर व्यक्तित्व को प्रतिष्ठा प्रदान की है। उन आचार्यों के अनुसार रीति काव्य के कतिपय शब्द-गुणों पर आश्रित होनेवाला काव्य-तत्त्व नहीं है, प्रत्युत वह कवि के स्वभाव तथा शील, रुचि तथा वैशिष्ट्य पर रसौचित्य के सहारे खड़ा होनेवाला सूक्ष्म तत्त्व है।[१] इसीलिए जितने कवि हैं, उतनी रीतियाँ हैं; जितने लेखक हैं; उतनी शैलियाँ हैं।[२]

व्यक्तित्व के मूल तत्त्व

१. प्रतिभा—सहजा-राग, अनुभूति, मनोभाव, उत्पादिता-विचार।

२. व्युत्पत्ति—पढ़ना, सुनना, देखना, सत्संग तथा अन्य भौगोलिक परिस्थितियां।

३. अभ्यास—महत्त्वाकांक्षा, अभ्यास, परिमार्जन, चिन्तन आदि।

शैली में शैलीकार का उपर्युक्त व्यक्तित्व निहित रहता है। शैली में शैलीकार के व्यक्तित्व का बिंब, जीवन-साधना का तेज तथा जीवन-संघर्ष के इतिहास की चर्चा मिलती है। शैली को व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किया जा सकता। वस्तुतः कवि का जीवन, जीवन नहीं है, प्रत्युत काव्य ही उसका जीवन है।[३] काव्य और कवि अभिन्न हैं, जिसका बहुत बड़ा श्रेय शैली को है। शैली के साथ व्यक्तित्व का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। व्यक्तित्व का परिचय उसकी शैली से मिलता है। क्रोधी की आकुलता-व्याकुलता अथवा सरल हृदय की सरलता की छाया शैली में अवश्य अंकित होती है। कोई कितना ही अपने को छिपाये, पर यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि विचारधारा के प्रवाह में लेखक की वृत्तियों का बिंब शैली में आ ही जाता है। इसलिए व्यक्तित्व के अध्ययन के बिना शैली का अध्ययन न तो पूर्ण ही हो सकता है और न वह वांच्छनीय ही होगा। व्यक्तित्व ही व्यक्ति की विशेषता है। व्यक्तित्व के महान् योग से वह पशु वर्ग से भिन्न जाति का सिद्ध होता है।[४] प्रायः सभी शैलीकार अपने व्यक्तित्वों के साथ बंधे रहते हैं। अपने व्यक्तित्व से पृथक् होकर अन्य किसी के आधार पर चलने की कल्पना भी हास्यास्पद एवं असम्भव है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वभाव की व्यापकता तथा प्रभावशीलता को सैकड़ों वर्षों से स्वीकार किया गया है,[५] फिर काव्य-रचना तथा अन्य भावाभिव्यक्ति में निर्विवाद रूप से स्वभाव की अभिव्यक्ति होनी ही चाहिए। उससे रीति या शैली नहीं बच सकती। अतः कवि-स्वभाव के भेद से काव्य-प्रस्थान

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० २४०।

२. —वही— —वही— : पृ० १३७।

३. जगदीश पाण्डेय : शीलनिरूपण : सिद्धान्त और विनियोग : पृ० १।

४. डॉ० सत्येन्द्र : समीक्षा के सिद्धान्त : पृ० ३४।

५. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवित : पृ० १।२६-२८।

भेद होना अनिवार्य है ।

"कवि स्वभाव भेद निबन्धत्वेन काव्य प्रस्थान भेद: समंजसतां गाहते। सुकुमार स्वभावस्थ कवेस्तथाविन्धैव सहजा शक्ति: समुद्र भवति शक्ति-शक्ति मतोर भेदात्। तथा तथाविध सौकुमार्य रमणीया व्युत्पत्तिमाबधुनाति ताम्यां च सुकुमार व र्त्मनाम्यास तत्पर: क्रियते ।।[1]

आचार्य राजशेखर ने 'कवित्व की माताएँ' संज्ञा देकर व्यक्तित्व एवं शैली की विस्तृत चर्चा की है।[2]

शैली पर शैलीकार की तात्कालिक वृत्ति, रुचि, परिस्थिति या स्वभाव का प्रभाव ही नहीं पड़ता, वरन् शैली को शैलीकार का भूत पोषित करता है, वर्तमान अनुप्राणित करता है तथा भविष्य उसकी कीर्ति का उद्बोधन करते हुए उसका स्वागत करता है। इस प्रकार से न्यूनाधिक तीनों काल की प्रतिक्रियाएं शैलीकार के व्यक्तित्व पर होती हैं।

इन बाह्य शक्तियों के अतिरिक्त, स्वयं लेखक का मानस, मस्तिष्क तथा मांस-मज्जा भी उसकी शैली को निर्मित करते हैं। लेखक के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त कर पाठक न केवल उसकी रचनाओं का ही पूर्ण आनन्द ले सकता है, वरन् उससे आत्मीयता भी स्थापित कर सकता है। जीवन में व्यक्ति को अनेक सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक, राजनीतिक आदि संगठनों का सदस्य रहना पड़ता है। उनके कारण उसका सम्पर्क कुटुम्ब, जाति, धर्म, शिक्षा, मनोरंजन इत्यादि सम्बन्धी अनेक संस्थाओं से रहता है। इन सब संगठनों तथा संस्थाओं से प्रभावित उसके कार्य, विचार, स्वभावादि होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मानव-व्यक्तित्व के निर्माणकारी असंख्य तत्त्व हैं। इन सबकी प्रतिक्रियाएं भी असंख्य एवं विषम होती हैं। कदाचित् ही इन भिन्नताओं और विषमताओं के कारण दो व्यक्तित्वों में पूर्ण साम्य मिल सके। अतएव ये वैयक्तिक अनुभूतियां और अवलोकन व्यक्ति को अपने ढंग से भाषा के प्रयोग करने को प्रेरित करते हैं। यदि हमें सच्ची 'शैली' का अर्थ 'लेखक की भावनाओं की भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति' से समझते हैं, तो निश्चय ही एक सच्ची शैली पूर्णत: विशिष्ट एवं वैयक्तिक होना चाहिए।[3] सच्ची शैली की इस पूर्ण वैयक्तिकता का निर्वाह ही उपर्युक्त असंख्य तत्त्वों की विषम प्रतिक्रियाओं के माध्यम से हो सकता है।

व्यक्तित्व में सामाजिकता

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'व्यक्तित्व' शब्द, भले ही 'व्यक्ति' से बना होने के

१. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवित : पृ० १।२४।

२. राजशेखर : काव्य-मीमांसा : पृ० २६ से ५२ तक।

३. "An individual way of feeling and seeing will compel an individual way of using language. A true style must therefore be unique, if we understand by the phrase 'A true style', a completely adequate expression in language of a writers mode of feeling."

—*Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 15.

कारण, वैयक्तिकता का व्यंजक हो, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं है और न उसका ऐसा रहना सम्भव ही है। सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि संगठन कुटुम्ब, विद्यालय, मनोरंजनात्मक समितियां इत्यादि असंख्य संस्थाएं, भूत-वर्तमान के प्रभाव तथा भविष्य के आकर्षण व्यक्ति को समष्टिवादी बना देते हैं। इस प्रकार से जब साधारण जीवन में व्यक्तित्व समष्टिवाद से अनुप्राणित होता रहता है, तब शैलीकार अथवा साहित्यकार के व्यक्तित्व को तो अनिवार्यतः सामाजिक होना ही चाहिए। व्यक्तिवादी होकर कोई भी साहित्यकार अपनी विचारधाराओं, अनुभूतियों, भावनाओं, कल्पनाओं, वस्तु-व्यंजनाओं, रूप-योजनाओं, पद-संगठनाओं इत्यादि से सहृदयजनों को कैसे आकर्षित कर सकता है? पाठक, दर्शक, श्रोता अथवा आलोचक किसी रचना का पूर्ण आनन्द-लाभ तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि उसकी स्वयं की भावनाओं, अनुभूतियों, विचारों आदि का प्रतिबिम्ब साहित्यकार की रचनाओं में भी उपलब्ध हो। कलाकार की कला की कसौटी ही, उसकी सामाजिकता और संवेदनशीलता है। कलाकार का अगाध एवं प्रशान्त हृदय उस 'रिकार्ड' के सदृश्य होता है, जिस पर समाज की सभी क्रियाएं एवं प्रतिक्रियाएं अपना चरण-चिह्न अंकित करती जाती हैं, जिसे कि वह कालान्तर में अपने व्यक्तित्व के ध्वनि-प्रेक्षक यंत्र से लोक-विदित करता है। उसी साहित्यकार का व्यक्तित्व महान् माना जाता है जो देश, काल और समाज की सीमाओं को पार करके, त्रैकालिक एवं सार्वदैशिक मानव-भावनाओं का यथातथ्य चित्रण कर सके। तात्पर्य यह है कि शैलीकार का व्यक्तित्व, व्यक्तिवादी होकर भी समष्टिवादी है, एकदेशीय होकर भी सार्वदैशिक है। वह दो आंख-कानवाला होते हुए भी लक्ष्यावधि आंखों-कानों से देखता-सुनता है, एक हृदय होकर भी सहस्रों हृदयों की धड़कनों का अनुभव करता है और स्वयं निरीह होकर भी असंख्य हृदयों पर शासन करता है। अतः व्यक्तित्व जहां युग और सामाजिक परिस्थितियों से निर्मित होता है, वहां वर्तमान और भविष्य का निर्माता भी होता है। इस रिश्ते से वह युग का पुत्र है और पिता भी हो सकता है। शर्त यह है कि जो व्यक्तित्व जितना महान् होगा, उसकी सत्ता उतनी स्पष्ट, व्यापक और स्थिर होगी।

अधिकांश शैलियों में व्यक्तित्व के पूर्ण बिंब का अभाव

वैसे व्यक्तित्व उस विशेषता अथवा उन विशेषताओं का पुंजीभूत समूह है, जिससे वह अन्यान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्तित्व का अनूठापन ही उसकी आत्मा है। जो व्यक्तित्व जितना विशाल, विदग्ध, सप्राण तथा संवेदनशील होगा उसके अनूठेपन की मात्रा भी उतनी ही अधिक रहेगी; और उसकी शैली भी उसी मात्रा में विशिष्ट गुणवती होगी। यद्यपि बहुत से लेखकों के व्यक्तित्व से उनकी शैली अधिक नहीं होती, वरन् उससे बहुत कम ही रहती है। वह शैली उत्तम या प्रभावशाली रहती है जिसमें कि वह लेखक के व्यक्तित्व को या उसके हस्तगत कार्य को ठीक-ठीक

प्रेषित करती है।[1] निःसन्देह शैली में व्यक्तित्व के प्रतिबिम्ब का पूर्णतः प्रगट होना अत्यधिक कठिन है। शैली के रूप में व्यक्तित्व का पुनर्जन्म, सहस्रों में से किसी एक का होता है। सामाजिक परिस्थितियां तथा लय आदि के प्रभाव से शैली में व्यक्तित्व मिश्रित तथा सीमित हो जाता है।[2] बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव भी सभी व्यक्तियों पर एक-सा नहीं पड़ता। इससे वैयक्तिक विशेषताएं तथा विलक्षणताएं इतनी अनन्त तथा असीम होती हैं कि उनकी गणना करना तथा उन्हें वर्गों की कारा में बद्ध करना सम्भव नहीं है। यथार्थ में देखने में तो यह आता है कि सजातीयता, सधर्मता तथा समानरूपता के आधार पर निर्मित वर्गों में भी एक-से दिखनेवाले व्यक्ति या पदार्थ भिन्न होते हैं। उनकी ये भिन्नताएं अन्तः एवं बाह्य दोनों ही प्रकार की होती हैं।

व्यक्तित्वानुसार शैली-वर्गीकरण में कठिनाई

व्यक्तित्वों की भिन्नता एवं विषमता का परिणाम यह है कि उनके आधार पर शैलियों को भी किसी स्पष्ट तथा ठेठ वर्ग में रखना सम्भव नहीं है। एक ही शैली में न्यूनाधिक मात्रा में अन्यान्य तत्त्वों की निहिति होने से शैलियों का वर्गीकरण करना अत्यधिक कठिन है। इससे एक ही आलोचक किसी शैली विशेष को एक से अधिक वर्गों में रखने को प्रोत्साहित हो सकता है, फिर भिन्न आलोचकों द्वारा एक ही शैली को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में रखना तो और भी निर्बाध हो जाता है। व्यक्तित्वों की सूक्ष्म विषमताओं से उत्पन्न शैली-वर्गीकरण की समस्या भी अति दुरूह है। यह सर्व-साधारण का विषय नहीं है। यह तो भाषा के कुशल जौहरियों के ही कुछ हाथ की बात है। जैसे कि साधारण दृष्टि में तो 'आंख, कान, मुख, नासिका सब ही के इक ठौर' ही होती है। फिर भी 'कहिबो, सुनिबो, देखबो औरन को कछु और' व्यक्तित्व में अति सूक्ष्म भेद कर देते हैं। जो मानव पूर्व-स्मृतियों, भावनाओं, कल्पनाओं, तर्कों, विचारधाराओं आदि अनेक सत्-असत् प्रवृत्तियों, वृत्तियों का पुंजीभूत समूह होता है, वही अर्जित एवं संचित ज्ञान-कोष का अध्यक्ष भी रहता है। शारीरिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक शक्तियां विभिन्न परिमाण में उस व्यक्तित्व का स्फुरण करती हैं, और अपने सूक्ष्म शरीर से शैलीकार की लेखनी पर आरूढ़ होकर उससे अनूठा शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, वाक्यांशों का गठन कराती हैं। शैली का सम्बन्ध इन शब्दों या पदों के सजाने में या प्रस्तुत करने में ही नहीं है, वरन् व्यक्तित्व के साथ आत्मसात् हो जाने में भी है। "प्रत्येक प्रतिभाशाली लेखक अपनी रचना में अपना मस्तिष्क और हृदय को खोलकर रख देता है। उसके शब्द

[1] "Style cannot be more than a reflection of the author's personality, though it may be much less. It is good or expressive, when the language he uses conveyes his personality with some exactness, or that part of his personality which is entirely engaged in the task he has in hand."
—*R. A. Scott-James : The Making of Literature* : p. 303-4.

[2] " 'Style is the man' but the social and rhetorical influences adulterate and debate it untill not one man in a thousand achieves his birth right, or claims his second self." —*Walter Raleigh* : *Style* : p. 87.

में उसकी आत्मा अदृश्य रूप से व्याप्त रहती है। अपना मन, अपना प्राण, अपना जीवन और सर्वस्व वह अपनी रचना में रख देता है। इसीलिए वह अपनी रचना के स्वरूप में अजर-अमर होकर जीवित रहता है। जब हम उसकी रचना को पढ़ने लग जाते हैं, तब हमको ऐसा भास होता है कि वह ऋषि स्वयं हमारे सामने खड़ा है।"[1] इन स्वतंत्र प्रतिभाओं तथा साहित्यिक ऋषियों को या उनकी शैलियों को वर्ग-भेद की कोठरियों में बन्द नहीं किया जा सकता।

व्यक्तित्व में परिवर्तन

कलाकार का व्यक्तित्व जड़ नहीं होता। चैतन्य व्यक्तित्व का प्रमुख तत्त्व है। वह सतत गतिशील है, तथा उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। कोई निश्चित वृत्त अथवा सीमा-रेखा उसको आबद्ध नहीं कर सकती। नवीन अध्ययन और अनुभव, निरीक्षण और शिक्षण एवं काल और परिस्थितियां, उसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन, परिष्करण तथा परिमार्जन करते चलते हैं। कालावधि भी परिवर्तन में योग देती है। एक ही शैलीकार की पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा परवर्ती रचनाएं अधिक व्यवस्थित, व्यापक, प्रौढ़ तथा गूढ़ गम्भीर होती हैं। व्यक्तित्व का यह परिवर्तन धीरे होता है। व्यक्तित्व कोई राई का दाना नहीं है जिसे कि हथेली पर जमाया जा सके या क्षण भर में उखाड़ कर फेंका जा सके, वरन् वह एक बट-वृक्ष के समान होता है जिसकी असंख्य गहरी जड़ें तथा शाखाएं होती हैं, जो सभी मिलकर उसका पोषण करती हैं।

इतना ही नहीं, अध्ययन, अनुभव, निरीक्षण, शिक्षण आदि के अभाव में भी व्यक्तित्व में परिवर्तन होता है। सम्पूर्ण वातावरण पूर्ववत् रखकर भी, व्यक्तित्व के परिवर्तन को नहीं रोका जा सकता। व्यक्तित्व प्रवाहमान होता है और वह कभी एक रूप नहीं रहता। व्यक्तित्व की आदि एवं मूल-भूत प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सबमें परिवर्तन आता है; परन्तु ये अकारण परिवर्तन सकारण परिवर्तन की अपेक्षा उपेक्षित रहते हैं। फिर भी व्यक्तित्व का मूल परिवर्तन में है। फ्रायड के मत से "आदर्श व्यक्तित्व का लक्षण यह है कि वह मनुष्य को इस परिवर्तनशील जगत की नित्य नूतन बननेवाली गतिविधि के अनुरूप चलने के लिए उसके विहारों को प्रगति देता रहे।"[2] एफ० एल० ल्यूकस भी व्यक्तित्व के सम्मिश्रण को वर्षों में नहीं, घंटों में परिवर्तनशील मानते हैं।[3]

मनोवैज्ञानिक अध्ययन की महत्ता

इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। शैली के दर्पण में व्यक्तित्व तथा युग का प्रतिबिंब लक्षित होता है। इस बिंब को देखकर ही शैली का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इस

१. पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी : हिन्दी-गद्य-निर्माण : पृ० ६-१० ।
२. डॉ० दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र (भारतीय और पाश्चात्य) : पृ० ३४
३. Style : p. 60.

कार्य में सबसे अधिक सहायक होता है। वैसे भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने कवि-स्वभाव की विशिष्टताओं के आधार पर, रीतियों की भिन्नता का स्पष्ट संकेत किया है, परन्तु पश्चिमी विद्वानों ने शैलियों को व्यक्तित्वों की अभिव्यक्तियां मानकर मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल प्रदान किया है। उनके अनुसार "सचमुच में सभी साहित्यिक रचनाएं पाठक को लेखक के चरित्र को देखने देती हैं।"[1] अतएव शैलियों का अध्ययन करते समय हमें मनोविज्ञान द्वारा व्यक्तित्व पर से निष्कर्ष निकालना होगा कि शैलीकार की किस प्रकार की अनुभूतियों, विचारों, धारणाओं, कल्पनाओं, दृष्टिकोणों, प्रवृत्तियों, भावनाओं, निरीक्षणों, अध्ययनों, अभ्यासों, संगतियों, स्मृतियों, कार्यों, चेष्टाओं आदि का प्रभाव किस सीमा तक, कहां, किस प्रकार से हुआ है, जिसकी अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है। "यों तो प्रत्येक अभिव्यक्ति में ही यह व्यक्तित्व विद्यमान रहता है, पर साहित्य में तो व्यक्तित्व की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति होती है।"[2] शैलीकार शैली में अपने प्राणों को फूंककर ही साहित्य-साधना करता है। शब्दों में प्राण-प्रतिष्ठा करने की अपनी पद्धति शैली है। वास्तव में नामकरण शैली का नहीं होता, वह होता है लेखक की वैयक्तिक विशेषताओं या गुणों का। उपर्युक्त सभी कारणों से एक ही कथा-वस्तु, घटना अथवा विषय को प्रत्येक शैलीकार अपने भिन्न व्यक्तित्व के भिन्न गुणों या विशेषताओं के रंगीन चश्मे से देखने के कारण भिन्न-भिन्न रंग प्रदान करता है। इस सत्य का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण वे ऐतिहासिक कथा-वस्तुएं, घटनाएं या व्यक्ति हैं जो कभी भी आज तक एक-से चित्रित नहीं हो सके हैं। ऐतिहासिक तथ्यों में जब इस प्रकार से परिवर्तन हो सकते हैं तो अन्यान्य प्रसंगों, घटनाओं, वस्तुओं या व्यक्तियों के चित्रण की भिन्नताओं का कहना ही क्या है। मनोविज्ञान भी इस व्यक्तित्व-सापेक्ष शैली के विश्लेषण में सहायक मात्र हो सकता है, उसमें पूर्ण सफलता की कोई गारंटी नहीं दे सकता।

विभिन्न काव्य-रूपों में व्यक्तित्व का असमान प्रभाव

प्रसंगवश यहां इतना स्पष्ट कर देना और आवश्यक है कि निबन्ध, समालोचना, आख्यायिकाएं, उपन्यास, नाटक, गद्य-काव्य इत्यादि काव्यांगों पर शैलीकार के व्यक्तित्व का प्रभाव एक-सा नहीं पड़ता है। काव्य के क्षेत्र में जहां भावों की तरलता और रागात्मक सम्मोहकता प्रमुख होती है, वहां व्यक्तित्व को ताकने-झांकने तथा रमने का अवसर अधिक मिलता है। इसके विपरीत जहां अपनी बात को यथातथ्य शीघ्र ही कह जाने का आग्रह होता है, वहां व्यक्तित्व की झलक मात्र दिख पाती है, पूर्ण परिचय नहीं मिल पाता। गद्य के क्षेत्र में निबंधों में व्यक्तित्व का समाहार जितना हो सकता है, उतना किसी अन्य गद्यांग में सम्भव नहीं है। रचना में व्यक्तित्व का आभास, प्रस्तुत विषय से परे हटकर तनिक विषयान्तर होकर निकटवर्ती या असम्बद्ध प्रसंगों के स्पर्श करने से

१. "Indeed all literary composition enables the reader to see the character of the writer." —*Demetrius : On Style :* p. 251.

२. डॉ० सत्येन्द्र : समीक्षा के सिद्धान्त : पृ० ३५।

प्रतीत होता है। अर्थात् किसी विषय का विवेचन करते समय लेखक मूल विषय से हटकर किन तत्त्वों से अपने को पोषित करता है। शैलीकार अपने व्यक्तिगत विचारों को, किस सीमा तक, कब और कैसे प्रस्तुत करता है और वह इसके लिए किस प्रकार से अवसरों की खोज करता है, इसी के आधार पर व्यक्तित्व का अधिक अध्ययन किया जाता है। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि प्रमुख निबन्धकार अपने प्रधान विषय पर दृष्टि रखते हुए विषय से दूर हटे हैं। यद्यपि उनका प्रधान विषय आंखों से ओझल नहीं हो पाया है, फिर भी उनकी यत्र-तत्र की चर्चाएं, उनके व्यक्तित्व के झोंके में वहां आ गई हैं। उदाहरणत: बालकृष्ण भट्ट 'विद्या के दो नेत्र' निबन्ध में शास्त्रों के प्रसंग पर मुहूर्त्त-शास्त्र को लेकर ब्राह्मणों की छिछली प्रवृत्तियों का परिचय देने ही बैठ गये। तथा प्रतापनारायण मिश्र के 'दांत' और 'आप' निबन्धों में तो उनका व्यक्तित्व जगह-जगह उभर आया है।

व्यक्तित्व के मूल रूप

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व, मनुष्य की सम्पूर्णता का योग है। वह मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक निर्मिति को भी उसी के साथ रखता है। व्यक्तित्व पद में चेतना-शक्ति, भावना-शक्ति, सहज प्रवृत्ति, भावावेग, इंद्रिय-ज्ञान, कल्पना-शक्ति, स्मरण-शक्ति, मेधा-शक्ति, तर्क-शक्ति, इच्छा-शक्ति तथा चरित्र सभी सम्मिलित हैं। व्यक्ति के दूसरों के साथ सम्बन्ध भी इसी के अन्तर्गत हैं। हमारे व्यक्तित्व का बहुत बड़ा अंश सामाजिक है। मानव के व्यक्तित्व में शैशवकाल से लेकर पूर्णावस्था तक के सभी अनुभव निहित रहते हैं। व्यक्तित्व का मूल इन सबके समन्वय में रहता है।[१]

जन्माणि व्यक्तित्व (प्रतिभा)

व्यक्तित्व के मूलत: दो रूप हैं—(१) जन्माणि रूप, (२) अर्जित रूप। व्यक्तित्व के प्रथम रूप से हमारा तात्पर्य मनुष्य की जन्मजात, मूल प्रकृति, प्रवृत्ति, राग, अनुभूतियां विचार आदि से है। मानव जन्म के साथ इन्हें लेकर उत्पन्न होता है। भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व का यह स्वाभाविक रूप पूर्व जन्म के संस्कारों का प्रतिफल है। व्यक्तित्व के प्रधानत: इसी रूप को प्रतिभा की संज्ञा भी दी जा सकती है। 'प्रतिभा अन्त:करण की वह उद्भाविका क्रिया है, जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना

१. "Personality is the total being of a man. It includes his physical as well as mental make up. Sensations, reflexes, instincts, emotions, perceptions, imagination, memory, intelligence, reasoning, will and character are included in the term personality. It includes besides one's relations to others. A great part of our personality is social in nature. A man's personality is made up of all the experiences that he had from childhood up to manhood. The essence of personality lies in the unity of all our experiences."

—*L. R. Shukla : Elements of Educational Psychology : (Personality)*: p. 404.

क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियां उपस्थित की जाती हैं। यह ग्रहण और धारणा शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर-उधर से प्राप्त ज्ञान (विद्वता) संचित किया जाता है।'[1] वस्तुतः साहित्य-सृजन की प्रमुख उद्भाविका शक्ति प्रतिभा ही है। बाह्य प्रयत्न (गुरु उपदेशादि) की सहायता से भले ही जड़ बुद्धि शास्त्र पढ़कर ज्ञाता हो सकता है; परन्तु प्रतिभा के अभाव में काव्यकार नहीं हो सकता।[2]

भारतीय सिद्धान्त से प्रतिभा पर पूर्व जन्म या वंश का ही प्रभाव नहीं पड़ता है वरन् वह जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का भी फल होती है।[3] हमारी संस्कृति में आत्मा की अमरता की स्पष्ट छाप है, जिससे कि प्रतिभा पर भी अनेक जन्मों का संस्कार स्वीकार किया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने प्रतिभा का एक विशिष्ट रूप कवि-प्रतिभा भी माना है, जो कि रसात्मक रूपों का सृजन या उन्मेष करती है। जिन भाग्यशालियों को ईश्वर के द्वारा यह 'कवि-प्रतिभा' प्राप्त है, वे ही सफल कवि हो सकते हैं। इसी कारण से देश में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "कवि पैदा होते हैं, बनते नहीं हैं।"

पश्चिमी विद्वान् भी प्रतिभा को प्रायः सहजा और अर्जिता के ही रूप में मानते हैं। वे भी सहजा या वंश-क्रमागत प्रतिभा को प्रमुख स्थान देते हैं। अन्तर विशेष इतना ही है कि सहजा-प्रतिभा में भारतीय विद्वान् जहाँ पूर्वजन्म के संस्कारों को महत्त्व देते हैं वहाँ उन्हीं संस्कारों के परिणामस्वरूप वंश-प्रभाव को ही सम्मान देते हैं। उनकी क्षीण दृष्टि इस जन्म के उस पार नहीं देख सकी।

भारतीय काव्य-शास्त्र की कवि-प्रतिभा को पश्चिमी आलोचक तथा मनोवैज्ञानिक कल्पना-शक्ति कहते हैं, जो कि समस्त ऐंद्रिय संवेदनों तथा प्रभावों को समन्वित कर प्रस्तुत होती है। इसके द्वारा देश, काल, परिस्थितियाँ, परम्पराओं आदि का समन्वित रूप रखा जाता है। कांट महोदय ने इसी कल्पना को सृजनशील कल्पना तथा क्रोचे ने सहजानुभूति कहा है। जिसे की भारतवर्ष में अभिनव गुप्त ने काव्य-निर्माण प्रतिभा कहकर पुकारा है।

इस अत्यधिक सशक्त एवं प्राणवान प्रतिभा का सीधा सम्बन्ध शैली से है। व्यक्तित्व का कोई भी दूसरा एकाकी-तत्त्व शैली को उतना अधिक प्रभावित नहीं करता, जितना की प्रतिभा करती है। शब्द-चयन, अर्थ-निरूपण, पद-प्रयोग तथा वाक्य-विन्यास सभी को प्रतिभा स्पर्श करती है। भर्तृहरि और पुण्यराज की व्याख्यानुसार तो, "जो कोई भी शब्द है, वह प्रतिभा का कारण है। अतः वस्तुतः प्रतिभा ही एक वाक्य का अर्थ है। शब्द-प्रतिभा को जागृत करता है, शब्द के सुनने से जिस व्यक्ति की जिस प्रकार की प्रतिभा जागृत होती है वही उसके लिए उस शब्द का अर्थ होता है। प्रत्येक की प्रतिभा समान नहीं होती है, अतः सबको एक शब्द से एक ही ज्ञान नहीं होता है। ऐसी

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (१) : श्रद्धा-भक्ति : पृ० ३० ।
२. गुरुपदेशाद ध्यतुं शास्त्रं ज धियो प्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।। १।५ काव्यालंकार भामह
३. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन : पृ० ३४७ ।

स्थिति में वस्तु का क्या स्वरूप है, यह ऐसा है, इस रूप में कोई नहीं बता सकता है। प्रत्येक पुरुष अपनी प्रतिभा के अनुसार उसको उस रूप में समझता है, जानता है और देखता है, प्रतिभा अखण्ड है।"[१]

जिस प्रतिभाशाली शैलीकार को एक ओर अपने मस्तिष्क का और दूसरी ओर हृदय का पूर्ण सहयोग प्राप्त है, वही कृतकार्य होता है। श्रेष्ठ कवि या साहित्यकार में पूर्वोक्त प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों की ही समान रूप में आवश्यकता है। इससे मणि-कांचन सम्बन्ध जुट जाता है। "जैसे लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप-सम्पत्ति के अभाव में लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता, उसी प्रकार प्रतिभा या व्यंजना दोनों में किसी एक का अभाव श्रेयष्कर नहीं कहा जा सकता।"[२]

व्युत्पत्ति तथा अभ्यास

व्यक्तित्व के मूल तत्त्व में प्रतिभा के पश्चात् व्युत्पत्ति का क्षेत्र है जो बहुत विशाल तथा विशद है। इसमें शास्त्र-लोक-व्यवहार एवं प्रकृति-परिचय सब सम्मिलित हैं। बहुज्ञता व्युत्पत्तिः इत्याचार्याः।[३] व्युत्पत्ति की परिष्कार, प्रच्छालन तथा संस्कार शक्ति प्रबल रहती है। व्युत्पत्ति के द्वारा साहित्यकार की असमर्थता छिप जाती है। 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मंगलः।

कवेः संव्रियते शक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धी चित्त चित्तानां हेया शब्दार्थ गुम्फना ॥[४]

मानव ईश्वरीय सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। यद्यपि जन्म से वह अन्य असंख्य प्राणियों की तुलना में अधिक असहाय, निरीह तथा शक्तिहीन होता है, परन्तु बुद्धि, विवेक, स्मृति, संस्कार ग्रहणशीलता आदि विशेषताओं के कारण वह अन्य सब प्राणियों से सभ्य तथा संस्कृत होकर उनके बहुत आगे बढ़ गया है। उसके व्यक्तित्व का यह अर्जित रूप अध्ययन, अभ्यास, सत्संग अन्य भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक वातावरण आदि का परिणाम होता है। उपर्युक्त सब परिस्थितियाँ व्यक्तिगत तथा समष्टिगत दोनों ही प्रकारों से व्यक्तित्व के जन्माणि रूप को प्रभावित करती हैं। फलतः जन्मगत व्यक्तित्व का परिवर्द्धन, संशोधन, विस्तार या संकोच होता है। सहजा प्रतिभा को बहुत सीमा तक प्रभावित करने का श्रेय व्यक्तित्व के इस अर्जित रूप को या अर्जित-प्रतिभा को है।

१. उद्धृत—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन : पृ० ३४५।

२. " 'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः न खलु लावण्य लाभादृते रूप सम्पुद्दते रूपसम्पदोवा लावण्यलब्धिर्महते सौंदर्याय।
—राजशेखर : काव्य-मीमांसा : पृ० ३६।

३. राजशेखर : काव्य-मीमांसा : पृ० ३७।

४. —वही— —वही— : पृ० ३८।

देश-काल-परिस्थितियां तथा परम्परा

अध्ययन, अभ्यास, सत्संग इत्यादि की महिमा तो व्यक्तित्व के निर्माण में निर्विवाद है। इनके अतिरिक्त जिन देश-काल-परिस्थितियों के थपेड़े खाकर शैलीकार का अर्जित व्यक्तित्व निर्मित होता है, उनसे भी शैलियाँ अनुप्राणित अवश्य होती हैं। इससे शैली का अध्ययन करते समय यह जान लेना भी अपेक्षित है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शैलीकार ने कौन-कौन से कड़वे, मीठे, कसैले रसों का रसास्वादन किया है। यह भी सम्भव है कि कुछ एक प्रशान्त व्यक्तित्व, शैल-शिखर के समान भले ही इन देश-काल-परिस्थितियों से विचलित न हों, परन्तु प्रायः सभी शैलीकार न्यूनाधिक मात्रा में स्वेच्छतः अथवा विवशतः काल-कोदण्ड के समक्ष नत-मस्तक होते ही हैं और उनका प्रभाव उनकी शैलियों पर पड़ता है। साहित्यकार यदि देश-काल-परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना साहित्य-निर्माण का दावा करे तो उसे साहित्यकार ही कौन कहेगा ? वह अत्यन्त सहृदय तथा उसका साहित्य अत्यन्त संवेदनशील होता है। फिर वह देश-काल-परिस्थितियों की पुकार की अनसुनी भी कैसे और क्यों कर सकता है ? समय की गति के विपरीत चलने का निश्चय करके भी महाकवि भूषण और 'लाल' ने भले ही वाणी-वनिता को विलासिनी वारांगना न बनाकर, अन्य रीतिकालीन कवियों की प्रवृत्ति के विपरीत, वीरांगना बनाकर दिखा दिया हो; परन्तु देश-काल-परिस्थितियों में पड़कर उनकी वाणी-वीरांगना भी अलंकार-सज्जिता ही रही है। भारतेन्दु-युग में भी दयानन्द सरस्वती, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के व्यक्तित्व और उनकी शैलियों में देश-काल-परिस्थितियों की प्रतिच्छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

परम्परा

शैलीकार की शैली और उसके व्यक्तित्व को अनुप्राणित करने वाली अन्य एक और भी शक्ति है, वह है परम्परा। देश-काल-परिस्थिति जहाँ वर्तमान से सम्बन्धित है, वहां परम्पराएँ भूतकाल की देश-काल-परिस्थिति के परिणाम से बंधी होती हैं। शैली की दृष्टि से परम्परागत शैलियाँ, नवीन शैलियों को प्रभावित करती हैं। प्रायः सभी शैलीकार अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों की रचनाओं के अध्ययन अथवा मनन से अपने लिए आदर्श निर्धारित करते हैं। 'आदर्श' शब्द में ही 'आदर्श' की पूर्व स्थिति का आभास रहता है। अतएव अधिकांश शैलीकार पूर्व-कालिक शैलियों के आधार पर नवीन का निर्माण और प्राचीन का परिष्कार करते हैं। द्विवेदी-युग के प्रारंभिक शैलीकारों में भारतेन्दु-युग की शैलियों का आभास स्पष्टतः मिलता है। विशेषतः अनुवाद के क्षेत्र में मूल ग्रन्थों की पूर्व-शैलियों का अधिक अनुकरण हुआ है। "निष्कर्ष यह है कि शैली के विकास में पूर्व की शैलियाँ ही प्रधान कार्य करती हैं। उन्हीं की भित्ति पर उनके विकास का निर्माण होता है। अचानक किसी ऐसी शैली का निर्माण जिसमें अपने पूर्व की शैलियों की अपेक्षा आश्चर्यजनक विशिष्टता आ जाय और पूर्व की शैलियों से उसका कोई सम्बन्ध न हो, बिरला ही देखा जाता है।"[१]

---

१. प्रो० शिवनाथ : भारतेन्दु-युगीन निबन्ध : पृ० १०७।

जीवन-व्यवसाय (पद या स्थिति)

इस अर्जित व्यक्तित्व तथा शैली-निर्माण में व्यक्ति का सामाजिक अथवा शासकीय पद या कार्य भी विशेष महत्त्व रखता है। जैसे कोई उच्च पदाधिकारी अपने दैनिक जीवन में आज्ञाएँ देने का आदी हो जाता है, तदनुसार उसका स्वभाव हो जाता है, इसके अनुसार उसका आचरण और व्यवहार होता है। इनका फल उसकी रचनाओं पर भी पड़ना स्वाभाविक है। "व्यक्ति का जो सम्बन्ध उसके व्यवहार या आचरण से रहता है, लेखक का वही सम्बन्ध उसकी शैली से रहता है। इसी से यह भी कह दिया जाता है कि "व्यवहार व्यक्ति के निर्माता हैं।"[१] अतएव अध्यापन कार्य करने वाले लेखक की शैली में उसके व्यवहार और स्वभाव के अनुकूल आदेशात्मकता, उपदेश, सम्बोधन, स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा ठेठ सीधापन जैसी विशेषताएँ लक्षित होती हैं। जैसे आचार्य डॉ० श्यामसुन्दरदास का अध्यापक उनकी शैली में सदा सजग मिलता है। इसी तरह से मूलत: आलोचक की दृष्टि में सदा आलोचना ही उद्देश्य रहने के कारण शैली में काट-छांट, विश्लेषण, व्याख्या, गम्भीर विवेचन आदि तत्त्व उसकी आलोचनेतर रचनाओं में भी मिलेंगे। उसका वह आलोचक अन्य रचनाओं में भी पहुंच जाता है। इस प्रकार से लेखक की सामाजिक स्थिति, राजकीय पद अथवा कार्य विशेष का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में शैली पर अवश्य ही पड़ता है।

जन्माणि अर्जित व्यक्तित्व एवं शैली

इस प्रकार शैलीकार की शैली पर जन्माणि और अर्जित दोनों ही व्यक्तित्वों की छाप रहती है। यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है कि व्यक्तित्व के उपर्युक्त दोनों ही रूपों में कौनसा अधिक प्रभावी तथा व्यापक रहता है। हम अपने मूल विषय से हटकर इस विषय को लेकर विवाद खड़ा करना नहीं चाहते, कि कौनसा व्यक्तित्व किस सीमा तक अधिक प्रबल है और क्यों ? किसी शैलीकार का जन्माणि रूप जब अर्जित से प्रबल होता है, तब उसके मनोभावों, वृत्तियों अनुभूतियों का रंग गहरा रहता है, जिसके समक्ष उसका अर्जित व्यक्तित्व, निष्प्रभ हो जाता है। इस स्थिति में उसका स्वाभाविक व्यक्तित्व इतना प्रभावी रहता है कि अभ्यास, अध्ययन, अनुभव आदि के द्वारा उसका अर्जित व्यक्तित्व निखर नहीं पाता। उदाहरणत: पं० प्रतापनारायण मिश्र के जन्माणि व्यक्तित्व की छाप उनकी शैली में प्रधान रूप से लक्षित होती है। इसके विपरीत अर्जित स्वरूप के प्राबल्य के कारण जन्माणि या सहज रूप बहुत कुछ धुल भी जाता है। कर्म वीर क्या नहीं कर सकता ? अध्ययन, अभ्यास, सत्संग, अनुभव आदि के द्वारा अधिकांश पिछले संस्कारों का प्रच्छालन कर नवीन सृष्टि की रचना की जा सकती है। पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० रामावतार शर्मा, आचार्य श्यामसुन्दरदास इत्यादि की शैली में उनके

१. "What manner is to the individual, style is to the writer. It is right, therefore, to say that, 'style is the man' in the same sense, and with the same reservation as we say, 'manners makyth man'."

—*W. Basil Worsford ; Judgment In Literature* : p. 92.

अर्जित व्यक्तित्व का रंग अधिक गहरा है।

जहाँ व्यक्तित्व के जन्माणि तथा अर्जित दोनों ही रूप एक-से सशक्त एवं सप्राण रहकर शैली को अनुप्राणित करते हैं, वहाँ शैली का पूर्ण परिपाक एवं सौष्ठव की उपलब्धि होती है। जैसे कि बहुमूल्य हीरा किसी कलाकार की कलम का कमाल प्राप्त करके अपूर्व श्री-सम्पन्न हो जाता है, वैसे ही यह महाभागा शैली सभी क्षेत्रों में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराती हुई लोगों के हृदय पर शासन करती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद आदि हिन्दी के श्रेष्ठ शैलीकारों की शैलियों पर सम्यक रूप से व्यक्तित्व के दोनों रूपों की छाप है।

शैली और वस्तु (विचार-भाव आदि)

शैली का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध वस्तु से है। वस्तु भी शैली का मुख्य नियामक तत्त्व है। वस्तु के अनुसार शैली में परिवर्तन होना अपेक्षित है। दोनों का ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, दोनों का सामंजस्य ही श्रेष्ठ शैली का मान-दण्ड है। इसलिए वस्तु को पृथक् करके शैली का विचार नहीं किया जा सकता। "कोई भी शैली अपने-आप में अच्छी या बुरी नहीं होती। उसका उत्तम, मध्यम या निकृष्ट होना वस्तु की कसौटी पर कसके ही परखा जा सकता है।"[१] दोनों का सम्बन्ध अटूट और पार्थक्य असम्भव है। "विचार शैली को ढालते और लय प्रदान करते प्रतीत होते हैं, तथा शैली विचारों को ढालते और लय देती हुई दिखाई देती है। यह तो सृजन की एक ही विधि, एक कला और एक उद्देश्य है।"[२] ये दोनों बहुत दूर तक एक साथ ही चलते हैं। इस सम्बन्ध को एक रोचक ढंग से व्यक्त किया गया है।

"व्यक्ति के साथ ही शैली का अपने विषय से भी 'गिरा अर्थ-जल-बीच सम' अटूट सम्बन्ध है। वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना असम्भव है जितना कि 'म्याऊं' की ध्वनि का बिल्ली से। 'म्याऊं' बिल्ली की अभिव्यक्ति है और बिल्ली को म्याऊं के नाम से पुकारना व्यक्ति, विषय और अभिव्यक्ति की एकता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।"[३] "अत: विचार और वाणी परस्पर अविभाज्य हैं। वस्तु और अभिव्यक्ति एक ही हैं। शैली भाषामय चिन्तन है।"[४]

१. "No Style is better in itself, except in relation to the subject."
—*Smith Berger : Essay* : p. 14.

२. "The thought seems to mould and accentuate the style and the style reacts to mould and accentuate the thought. It is one process of creation, one art, one aim." —*Herbert Read : English Prose Style* : p. 182.

३. गुलाब राय : सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० १८६।

४. "Thought and speach are inseparable from each other. Matter and expression are parts of one. Style is a thinking out into language."
—*Arthur Quiller-Couch : On the Art of Writing* : p. 28.

रीति और वस्तु के सम्बन्ध को भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने प्रारम्भ से ही स्वीकार किया है। शैली को विचारों के परिधान की संज्ञा भी दी जाती है। विचारों की अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से ही होती है। इससे जैसे विचार होंगे, वैसी ही उसका परिधान-शैली होनी चाहिए। क्षुद्र विचारों को अथवा साधारण वस्तु को असाधारण साज-सज्जा में अभिव्यक्त करने का परिणाम वैसा ही होगा, जैसा कि एक बेढंगे विदूषक का, विचित्र वस्त्राभूषण धारण करने पर होता है। प्रत्येक वस्तु की अपनी श्रेणी और अपनी स्थिति होती है, उसी के अनुरूप भाषा-शैली फबती है। अतः विशेष विचार, विशेष शैली की अपेक्षा रहते हैं। इतना ही नहीं, बहुधा यह भी देखा जाता है कि शैली स्वयं भी विचारों के अनुरूप ढल जाती है। "अस्त-व्यस्त तथा अस्पष्ट विचारों में भाषा भी अवश्य अस्त-व्यस्त एवं अस्पष्ट हो जायेगी, और जब तक विचार स्पष्ट न होंगे भाषा भी स्पष्ट नहीं होगी।"[१] काव्यत्व की महति उपाधि अर्जित करने के लिये अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य आवश्यक है। "शैली की पूर्णता एवं सफलता इसी में है कि वह विचार अथवा भाव को ठीक ढंग से व्यक्त कर दे। उसकी निर्विवाद महत्ता का माप-दण्ड, अभीष्ट भावों तथा विचारों की शृंखला की स्पष्ट अभिव्यक्ति में है।"[२] शैली यद्यपि काव्य का बाह्य तत्त्व है; परन्तु उसे पूरा बाह्य ही नहीं समझना चाहिये। शैली, विचारों का अवतार है तथा सभी वक्तव्यों में शब्द और अर्थ (विचार) का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के समान रहता है।[३]

शैली और वस्तु का विचार करते समय एक प्रश्न यह भी उठता है कि इन दोनों में महत्त्व किसको अधिक दिया जावे। भारतीय काव्य-शास्त्र में आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति की वस्तु से ही उत्कृष्टता प्रतिपादित नहीं की है, वरन् उसे काव्य की आत्मा के पद पर ही प्रतिष्ठित कर दिया है। फिर भी बहुमत से रीति या शैली वस्तु-आश्रित रही है। रीति को वस्तु-वाहक या वस्तु-अनुवर्तिनी कहा गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति के सापेक्षित महत्त्व पर आधारित चार सिद्धांतों का संकेत मिलता है[४]—

१. "Language must be confused if the thought behind it is confused, and it cannot be clear unless the thought is clear."
—*R. A. Scott-James : The Making of Literature* : p. 303.

२. "Style is perfect when the communication of the thought or emotion is exactly accomplished; its position in the scale of absolute greatness, however, will depend upon the comprehensiveness of the system of emotions and thoughts to which the reference is perceptible."
—*J. Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 71.

३. "Style, though always external, is not be thought of as merely external. It should be as Quiency said, an incarnative of thought, as Ben Jonson said, in all speech words and senses are as the body and soul."
—*R. A. Scott-James : The Making of Literature :* p. 304.

४. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : पृ० १८-१९।

१. वस्तु के आश्रित रीति

इसके अनुसार वस्तु ही मूल तत्त्व है, तथा रीति उसके पूर्णतः आश्रित है। वस्तु की अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण, प्रमुख स्थान रीति को प्राप्त नहीं हो सकता। जल का व्यावहारिक मूल्य भले ही उसके पात्र से कम दिखे; परन्तु अन्ततोगत्वा जल का ही प्रधान स्थान है। इस सिद्धान्त के अनुसार माध्यम को वस्तु की अपेक्षा गौण स्थान प्राप्त है, और वह वस्तु के आश्रित रहता है। निःसन्देह साहित्य में भले ही एक दीर्घकाल तक 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है; परन्तु आज 'कैसे' से 'क्या' अधिक सम्मानित है।

२. वस्तु और रीति दोनों ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तित्व इतना प्रबल तथा सप्राण माना गया है कि वस्तु तथा रीति दोनों ही उनकी आत्माभिव्यक्ति हैं। इसमें दोनों ही व्यक्ति प्रसूत होने के कारण स्वभावत. महत्त्व देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

३. रीति या अभिव्यंजना की परम सत्ता

इसके अनुसार रीति की सत्ता सर्वोपरि है। विचार या वस्तु बहुधा नवीन नहीं होते, नवीनता उनको प्रस्तुत करने की रीति में ही होती है। वस्तु की प्रथमतः कोई सत्ता नहीं। भाषा-शरीर के अभाव में वस्तु का प्रेत से अधिक महत्त्व भी नहीं है। पाश्चात्य साहित्य में भी १९वीं शती के अन्त तक शैली को वस्तु से स्वतन्त्र एवं उच्च स्थान दिया जाता रहा है।[1]

४. रीति-वस्तु समन्वय

इसमें किसी एक तत्त्व को महत्ता न देकर शब्द और अर्थ दोनों का अस्तित्व समान माना गया है और उन्हें समान गौरव प्रदान किया है। इसमें बल शब्द और अर्थ के समन्वय को है, किसी की महत्ता को नहीं। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने रीति पर रस और वक्ता के पश्चात् वाच्य के औचित्य को ही महत्त्व दिया है। इस प्रकार से वाच्य या विषय-वस्तु शैली का नियामक तत्त्व सिद्ध है।

तन्नियमे हेतु-रौचित्यं वक्तृवाच्ययोः[2]

शैली और काव्य-रूप (गद्यांश)

वस्तु के साथ ही शैली का काव्य-रूप के साथ भी सम्बन्ध रहता है। जिस प्रकार से विभिन्न शैलीकारों की, उसी विषय की रचनाओं में शैलीगत विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, इसी प्रकार विभिन्न लेखकों की शैलियों की तो बात ही क्या, एक ही लेखक

१. Encyclopaedia Britannica 1768 : Vol. 21 p. 488.

२. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : ३।६ ।

की विभिन्न काव्य-रूपों की रचनाओं की शैलियों में भी विभिन्नता लक्षित होती है। अर्थात् शैलियों में काव्य-रूपों के अनुसार भी परिवर्तन होता है। इसीलिए प्रत्येक गद्य-रूप की शैलीगत विशेषताओं की विस्तृत चर्चा उनके अध्यायों के प्रारम्भ में की गई है। पुनरावृत्ति के भय से यहाँ शैली के साथ काव्य-रूपों के सम्बन्ध का संकेत मात्र कर देना उचित है। भारतीय तथा यूरोपीय दोनों ही भू-भागों के समीक्षकों ने वस्तु-औचित्य के साथ, विषयौचित्य अथवा शैली और काव्य-रूपों की घनिष्ठता स्वीकृत की है। ये काव्य-रूप भी शैली के नियामक तत्त्वों में प्रमुख स्थान रखते हैं।

"विषया श्रय मप्यन्यदौचित्यं तांनियच्छति।
काव्य प्रभेदाश्रयत: स्थिताभेदवती हिसा।।"[1]

शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विषय शैली के बन्धन से मुक्त प्रायः रहते हैं। वहाँ अभिव्यक्ति बिना साज-सज्जा, चमत्कार, सौन्दर्य, कला तथा ढंग की अपेक्षा किए हुए, सीधे, सरल स्पष्ट शब्दों में द्रुतगति से कर दी जाती है। इसी से न इन विषयों में शैली ही रहती है, और न उन्हें काव्य-श्रेणी में स्थान प्राप्त है। विषय-प्रधान अभिव्यक्ति की अपेक्षा भाव-प्रधान अभिव्यक्तियों में शैली के उभार को बहुत अधिक स्थान रहता है।

काव्य-रूपों में भी शैली का उभार एक-सा नहीं होता है। नाटकों में पात्रों के व्यक्तित्व का जितना प्रभाव भाषा-शैली पर पड़ता है, उतना लेखक के व्यक्तित्व का नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि विशिष्ट नाट्यकार अपनी प्रतिभा के बल से नाटकों के सभी पात्रों पर व्याप्त होकर अपने व्यक्तित्व की प्रखरता और सजगता का आभास देता रहता है, फिर भी कुछ सीमा तक नाटक के पात्र और परिस्थितियाँ लेखक की मूल शैली को प्रभावित करते ही हैं। नाटकों में स्वगत कथन में अथवा किसी पात्र के लम्बे भाषण में घुसकर ही नाट्यकार का व्यक्तित्व कुछ प्रच्छन्न रूप में प्रगट हो पाता है। आधुनिक युग के नाटकों में तो नाट्यकारों के व्यक्तित्व अभिव्यक्ति के वे सब साधन भी क्षीण हो चुके हैं। सामान्य रूप से छोटे-छोटे कथनोपकथनों में ही, वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, संगति आदि का यथा-साध्य निर्वाह करना पड़ता है। नाटकों की भाषा कहानी-उपन्यासों की पिटी हुई भाषा से भिन्न, नवीनता लिये हुए रचनात्मक होती है। उनमें शब्द-चयन एवं शब्द-समष्टि का क्षेत्र अन्य गद्य-रूपों से विस्तृत रहता है। नाट्य-कला की गतिशीलता भाषा-शैलीगत उपकरणों को भी गतिशीलता तथा नवीनता प्रदान करती है और भाषा की व्यंग्यात्मक शक्ति नाटकों की भाषा की विशेषता है।

नाटकों की अपेक्षा कहानी में और कहानी की अपेक्षा उपन्यास में व्यक्तित्व तथा शैली के उभार को अधिक अवसर मिलते हैं। कथा की शृंखलाएँ अपने साथ बाह्य-वस्तु के निर्वाह को कम अवसर देती हैं। इसलिए कथाकार, कथा-वस्तु की अनेक गुत्थियों को सम्भालते हुए, यत्र-तत्र कम समय के लिए अपने को प्रगट करने का अवसर पाता है। सर्व-साधारण पाठकों की दृष्टि तो शैलीकार की छवि ही नहीं देख पाती है, उस छवि का विवेचन करना तो दूर की बात है। फिर भी कथा-साहित्य का निकट-

१. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : ३।७

सम्बन्ध साधारण पाठकों से तथा जन-जीवन का चित्रण रहने के कारण, भाषा-शैली की सरलता, सुबोधता, व्यावहारिकता तथा स्पष्टता की अपेक्षा रहती है। दुरूहता, गुरु-गम्भीरता, गूढ़ बन्धता आदि को दूर रखा जाता है। आनन्दवर्द्धन ने सौन्दर्य-वृद्धि के लिए आख्यायिका में अधिकतर मध्य समासा या दीर्घ समासा संघटना का प्रतिपादन किया है।[1] तथा मम्मट ने करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार में—आख्यायिका तक में—अत्यन्त दीर्घ समास वाली रचना उचित नहीं माना है। नाटकादि में भी असमासा संघटना ही होनी चाहिए।[2]

> **"आख्यायिकायान्तु भूम्ना मध्य समासा दीर्घ समासे एव संघटने। गद्यस्य विकट निबन्धाश्रयेण छायावन्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाण त्वात्। कथायान्तु तु विकट बन्ध प्राचुर्येणापि गद्यस्य रस बन्धोक्तमौचित्यम् अनुसर्त व्यम्।।**
>
> **आख्यायिकायां श्रृंगारेऽपि न मसृण वर्णादय: कथायां रौद्रेऽप नात्यन्त मुद्धता: नाटका दौ रौद्रेऽपि न दीर्घ समासादय:"**

निबन्ध-साहित्य में कहानी और उपन्यासों की अपेक्षा साहित्यकार के व्यक्तित्व की छाया अधिक घनीभूत रहती है। इतना ही नहीं, साहित्य के अन्य गद्यांगों की अपेक्षा निबन्ध-साहित्य में शैलीकार का प्रच्छन्न स्वरूप, प्रशान्त भाव से दृष्टिगोचर होता है। निबन्धों में गद्यकार को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। सम्पूर्ण विषय के सूत्र उसके द्वारा ही संचालित होते हैं। अतएव वह अपने व्यक्तित्व को अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का पर्याप्त अवसर पाता है। इसी से गद्यकार की कसौटी निबन्धों को ही माना गया है। शैलियों का उत्कर्ष भी निबन्धों में ही अधिक होता है।

"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है, इसीलिये गद्य-शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबन्ध ही चुना करते हैं।"[3] साधारण एवं समीक्षात्मक निबन्धों में ही मुख्यत: भाषा की वैचारिक शक्ति के स्फुरण को सर्वाधिक अवकाश मिलता है।

इसी प्रकार से यदि गद्य-काव्य को निबन्ध का भावात्मक स्वरूप माना जावे तो शैलीकार के व्यक्तित्व का प्रसरण गद्य-काव्य में निबन्ध की अपेक्षा अधिक होता है। गद्यकार भाव-विभोर होकर जब लेखनी चलाता है, उस समय उसका व्यक्तित्व अन्तर्तम् को झाँकने लगता है। जिस प्रकार से पहाड़ी नदी की तीव्र धारा अपनी स्वाभाविक गति से गतिमान होती है, और जिस ओर पहाड़ी चट्टानें उसके प्रवाह को मोड़ देती हैं, उसी ओर को वह चल पड़ती है; गद्य-काव्य की भाव-धारा भी इसी प्रकार तीव्र भावानुभूति की चट्टान के सहारे उमड़ पड़ती है, और गद्यकार उसके साथ बहने लगता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि गद्यकार उसी में आत्मभूत होकर, अपने व्यक्तित्व का

---

१. ध्वन्यालोक : ३।८ तथा ३।६।

२. काव्य-प्रकाश : पृ० ३०४।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५०५।

पूर्ण समर्पण करते हुए, भाव-धारा में बहता चला आ रहा है। इस प्रकार व्यक्तित्व भाव प्रच्छन्न हो जाता है और उसकी शैली अति तरल हो उठती है। भावों की इस अति तरलता तथा व्यक्तित्व की भाव-विभोरता के कारण गद्य-काव्य को शैली की कसौटी नहीं माना जा सका है; क्योंकि भावों के प्रबल प्रवाह में बुद्धि के पग ठहर ही नहीं पाते और न उस समय की शैली का यथा-तथ्य निरूपण ही हो सकता है। उस स्थिति को "विचार क्षेत्रों के ऊपर भावात्मक और कल्पनात्मक प्रणाली का धावा" कहा गया है।[1] निबन्धों के क्षेत्र में भाव-पक्ष तथा विचार-पक्ष का प्रायः संयत संतुलन रहता है। उनमें न तो भाव-पक्ष या कल्पना-पक्ष, विचार-पक्ष पर धावा करने को प्रस्तुत होता है और न कथोपकथन का तारतम्य या कथा-वस्तु की गुत्थियाँ ही बाधा डालती हैं। निबन्ध के प्रायः निश्चित क्षेत्र में प्रस्तुत विषय को लेकर गद्यकार अपने व्यक्तित्व का गहरा, हल्का, तेज, भड़कीला जैसा चाहे जो रंग भरने को पूर्ण स्वतन्त्र रहता है, जैसे कि कोई चित्रकार निश्चित आकार के रेखागणित-आकृति (Geometrical pattern) में अपनी इच्छानुसार चित्र बनाने और उसमें रंग भरने को स्वतन्त्र रहता है। इसी विधान के अन्तर्गत निबन्धों में शैलीकार को अपनी शैली के प्रदर्शन करने का सर्वाधिकार रहता है। भाषा की केवल काव्यात्मक अथवा रसात्मक शक्ति को प्रगट करने का श्रेष्ठ माध्यम गद्य-काव्य है।

निबन्धों के ही समान शैली को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले गद्य-रूप में सम्पादकीय लेख, आलोचनाएँ तथा टिप्पणियां हैं। कुछ सीमा तक उनमें निबन्ध के वे तत्त्व मिलते हैं, जिनमें शैलीकार का व्यक्तित्व समाहित रहता है। कई बार यह देखा जाता है कि साधारण लेखों की अपेक्षा सम्पादकीय टिप्पणियाँ तथा समाचारों की शैली अत्यधिक सप्राण, विदग्ध, मार्मिक तथा आकर्षक और सुबोध होती है। जन-साधारण में प्रचारित करने तथा लोकप्रिय बनाने के लिए ऐसी शैली अधिक सफल होती है। इसलिए लार्ड आक्सफोर्ड ने समाचारों की शैलियों का अध्ययन करने की सलाह दी है।[2]

संक्षिप्त में भाषा की भावात्मक शक्ति कथा-साहित्य में, वैचारिक शक्ति निबंध तथा समीक्षा में, व्यंग्यात्मक शक्ति नाटकों में, रसात्मक शक्ति गद्य-काव्य में तथा मनोरंजक शक्ति समाचार-पत्रों में प्रमुखतः स्फुटित होती है। अतएव शैली के नियामक तत्त्वों में काव्य-रूपों (गद्यांगों) का प्रमुख स्थान है।

शैली और रस (रसौचित्य)

शैली और रस का सम्बन्ध भी बहुत घनिष्ठ है। शैली की सहायता से रस का उन्मीलन होता है। इससे रीति को रस के नितान्त अनुरूप होना चाहिए। रस काव्य का आत्म-तत्त्व है, ऐसी स्थिति में काव्यात्मा से विद्रोह कर रीति का सम्मान कदापि नहीं हो सकता। भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति का सम्मान कदापि नहीं हो सकता।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५६१।

२. "Style is that you want ? Oh, go and look into the newspapers for a style."
—*Thomas De-Quiency : Style and Rhetoric* : p. 176.

भारतीय काव्य-शास्त्र में रीति के सबसे बड़े पोषक आचार्य वामन के रसों को गौण स्थान देने के कारण रीति से रस का सीधा सम्बन्ध नहीं माना गया है, परन्तु बाद के आचार्यों ने रसौचित्य पर अवश्य ध्यान दिया है। "रसौचित्य के अनुसार रीतियों के चुनाव की बात रुद्रट ने ही साहित्य-संसार में सर्व-प्रथम चलाई और इसी सूत्र को ग्रहण कर अवान्तरकालीन आलंकारिकों ने रस और रीति के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार कर इसका सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया।"[1] रुद्रट ने रीति को प्रादेशिक बन्धनों से मुक्त करके, रस-रीति मैत्री स्थापित की। कवि भले ही आवन्ती हो या दाक्षिणात्य, परन्तु युद्ध, संघर्ष, भयानक, कठोर, कर्कष वर्णनों के लिए गौड़ी रीति को ही अपनाने का प्रतिपादन दृढ़ता से किया गया। इसी प्रकार से सुकुमार भावनाओं, कोमल अनुभूतियों तथा संयोग-वियोग के मृदुल प्रसंगों में गौड़ी को तिरस्कृत करके वैदर्भी या पांचाली को सम्मानित किया।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने रीति और रस की अनुकूलता पर अधिक विस्तार से विचार किया है। उन्होंने रस को रीति का प्रमुख नियामक तत्त्व माना है। साथ ही पद-रचना या सामासिकता के साथ वक्ता के स्वभाव का सम्बन्ध स्वीकृत किया है। जब कवि या लेखक रसाभूत होकर प्रगट होता है तो उसकी रचना में समास की कमी या अभाव हो जाता है। दीर्घ या बहुसमासा पद-रचनाएँ रस के मार्ग में व्याघात उत्पन्न कर देती हैं। इसलिये करुण रस या विप्रलम्भ शृंगार के लिए दीर्घ-समासा अनुपयुक्त मानी गई, जबकि रौद्र और भयानक रसों के लिए वह सर्वथा उचित कही गई।

> **"रसोयदा प्राधान्योन प्रतिपाद्यस्तदात अत्प्रतीतौ व्यवधाय का विरोधि नश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घ समासा संघटना समासानाभनेक प्रकार सम्भावनया कदाचिद् रस प्रतीति व्यवदधातीतितस्यां नलि निवेशः शोभते"[2]**

अतएव यह स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य के आचार्यों ने रीति और रस के सम्बन्ध पर बहुत विचार किया है और रीति को रस के आश्रित रखने की व्यवस्था प्रदान की है। यद्यपि वामनीय-रीति 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उद्घोष के साथ काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण रस की प्रतिद्वन्द्वी भी रह चुकी है। रीति और रस दोनों ही काव्य में आत्म-पद के प्रत्याशी होने के कारण अवश्य ही विरोधी कुछ काल तक रहे हैं। रीति ने काव्य की आत्मा बनकर रस को एक-कान्ति गुण में आबद्ध कर लिया था। और वैभव तथा उत्कर्ष-काल में जो व्यवहार रीति ने रस के साथ किया था, वैसा ही रस ने काव्य आत्मा के पद पर सिंहासनारूढ़ होकर रीति के साथ किया और रीति को रस का उपकरण या अनुचर बनना पड़ा। इस प्रकार से अपने-अपने राजत्वकाल में इन दोनों ने एक-दूसरे को उपेक्षित कर गौणरूप दिया है; परन्तु उनका जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह इस संघर्ष से समाप्त नहीं हो जाता। अभी भी रीति का रस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। रीति रस के परिपाक के लिए सदा तत्पर रहती है और उसमें पूर्ण योग देती है। रस रीति का एक महत्त्वपूर्ण

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० १६५

२. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : पृ० १३९।

नियामक तत्त्व है, जिसके अनुसार रीति या शैली में परिवर्तन करना आवश्यक है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने विशुद्ध शास्त्रीय अर्थ में रस का ऐसा विवेचन तथा विचार नहीं किया है, जैसा कि भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने किया है। फिर भी काव्य का रसास्वादन एवं भाव-विभाव पक्ष का वहाँ पर्याप्त विचार हुआ है। आद्य आचार्य अरस्तू की सम्मति में रस भाव तथा विषय के साथ शैली का पूर्ण सामंजस्य कवि की कसौटी माना गया है।[१]

इस प्रकार से भारतीय तथा यूरोपीय काव्य-शास्त्रों में अत्यन्त प्राचीन काल से रस और शैली का सम्बन्ध घनिष्ठ रहा है और रस शैली का एक प्रमुख नियामक तत्त्व है।

शैली और उसके लक्ष्य

प्रायः प्रत्येक वस्तु का अपना गन्तव्य स्थल अथवा चरम लक्ष्य होता है। शैली इसका अपवाद कैसे रह सकती है ? शैलीकार विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु, विशेष शैलियों का प्रयोग करते हैं। जैसे कि जब शैलीकार का अभीष्ट पाठक के हृदय को स्पर्श कर उसे आन्दोलित करना होता है, उस समय वह तर्क-शैली या वर्णनात्मक-शैली की उपेक्षा करके, भावात्मक-शैली को अपनाता है। विद्वान् एवं सुशिक्षित वर्ग के लिए तर्क तथा प्रमाणों से पूर्ण गम्भीर गवेषणात्मक शैली उपयुक्त होती है। अतः शैलीकार को अपनी शैली-नियोजना करते समय माध्यम (भाषा) तथा गन्तव्य (जनता) का भी विचार करना चाहिए।[२] लक्ष्य की रुचि, क्षमता और योग्यता तथा उनकी आवश्यकता के ज्ञानाभाव में शैली लक्ष्य-भेद नहीं कर सकती।

इस अपने अभीष्ट की पूर्ति-हेतु शैलीकार के लिए अनवरत अभ्यास, प्रयत्न, शिक्षा-दीक्षा, प्रतिभा आदि के अतिरिक्त दूरदर्शिता भी चाहिए, जिससे कि पाठकों की सामान्य परख हो सके। जैसे प्रेमचन्द का लक्ष्य सर्व-साधारण पाठकों को प्रभावित करना था, इसलिये उन्हें उसके अनुरूप ही, अपनी भाषा-शैली की योजना करनी पड़ी; इसके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों और आलोचनाओं का लक्ष्य सुशिक्षित तथा बुद्धिजीवी वर्ग को सन्तुष्ट करना था, उसके लिए उनकी भाषा विशुद्ध, गम्भीर विवेचन तथा विश्लेषणपूर्ण रखी गई है। यही कारण है कि शुक्लजी की भाषा सर्व-साधारण को दुरूह एवं बोझिल ज्ञात होती है। समाचार-पत्रों का क्षेत्र जन-साधारण होने के कारण उनकी भाषा-शैली सरल, सुबोध, आकर्षक तथा व्यावहारिक रखी जाती है।

शैलीकार निश्चित ही महान् कलाकार होता है। वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा योजना-विधान को लेकर अपनी कला प्रस्तुत करता है। अपनी अपार अनुभूतियों

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० २२० ।

२. "Besides the artist, two things are to be considered in every art—the instrument and the audience or medium and public."

—*Walter Raleigh* : *Style* : p. 1.

के बोझ को वह अभिव्यक्ति के द्वारा हल्का करने को आतुर हो उठता है, ताकि उसका मस्तिष्क और हृदय दोनों ही सन्तुष्ट हो जावें। इस प्रकार से अभिव्यक्ति का प्राथमिक लक्ष्य स्वयं कलाकार ही होता है। यद्यपि 'स्वन्त: सुखाय' के लिए भी उसकी रचना होती है, फिर भी उसे जो उत्साह अपनी रचना को अन्यान्य जनों के समक्ष प्रस्तुत करके प्राप्त होता है वह उससे अधिक है। अन्य कलाकार की भांति शैलीकार का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज को अपनी सहृदयता से प्रभावित करना होता है। अतएव शैलीकार को अपनी सफलता के लिए सहृदयता अपेक्षित है। उसे अपने विषय को प्रस्तुत करते समय अपनी व्यक्तिगत रुचि से अधिक पाठकों की रुचि तथा सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। दूसरों पर प्रभाव डालने की तुलना में अपने विचारों की अभिव्यक्ति मात्र करना अपेक्षाकृत छोटा और अमहत्त्वपूर्ण कार्य है।[1] अतएव अपनेपन को पाठकों या दर्शकों की रुचि, सुविधा आदि पर न्यौछावर कर देने की तत्परता ही उसकी सहृदयता की द्योतक है। जिस जन-समुदाय के लिए वह लिख रहा है, उसकी संस्कृति, सभ्यता, रुचि, योग्यता की उपेक्षा कर अपने भाव या विचारों का प्रलाप वह अपने स्वर में ही करने लगे तो वह बेतुका और अरण्य-रोदन के समान निष्फल होगा।

लक्ष्य की पूर्ति के लिए सहृदयता के साथ सरलता भी शैलीकार की शैली का गुण होना चाहिए। सरलता और सहृदयता दोनों के होने पर ही शैलीकार पाठक तथा श्रोताओं के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। बिना पर्याप्त कारण एवं आवश्यकता के इसीलिए नवीन अपरिचित, अव्यावहारिक या दुरूह शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। परिचित, व्यवहृत तथा सरल शब्दों का महत्त्व शैलीकार की लोकप्रियता में भी सहायक होता है और उसकी लक्ष्य पूर्ति में भी। पाश्चात्य समीक्षक जौबर्ट के शब्दों में "परिचित शब्दों के द्वारा शैली पाठक के अन्तस को बेधती है। उन्हीं के द्वारा बड़े-बड़े विचार लोक-प्रचलित होते हैं और उसी प्रकार टकसाली बनकर सत्य-निष्ठा के साथ सबके द्वारा स्वीकृत होते हैं, जैसे किसी परिचित छाप के चाँदी और सोने के सिक्के।"[2] इसके लिए विशाल शब्द-कोश की आवश्यकता होती है। बृहत् शब्द भाण्डार के अभाव में भावाभिव्यक्ति में बाधा पड़ती है।

विशिष्ट अभिव्यंजना के लिए निश्चित शब्दों का प्रयोग करना ही उचित होता है। वास्तव में लेखक का शब्द-चयन वह मापक-यंत्र है, जिससे कि लेखक की प्रस्तुत विषय की अनुभूति की गहराई मापी जा सकती है। विश्व की प्राय: सभी समृद्ध भाषाओं में मोटे रूप से एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द रहते हैं; परन्तु

[1] "We have an obligation to put ourselves into hearer's or reader's place. It is his comfort his convenience we have to consult. To express ourselves is a very small part of business almost unimportant as compared with impressing ourselves."

—*Arthur Quiller-Couch* : *On the Art of Writing* : p. 212.

[2] उद्धृत—पं० सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा-शास्त्र : पृ० ५५४।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर किसी भाषा से पूर्णतः पर्यायवाची दो शब्दों को चुनना अत्यन्त कठिन है। प्रत्येक शब्द की रचना और व्युत्पत्ति अपने इष्ट अर्थ की पूर्ति के लिए ही होती है। विशेष भाव या विचार की अभिव्यक्ति एक ही शब्द या पद से सम्भव है। प्रत्येक शब्द का पर्याय वही शब्द होता है अन्य कोई शब्द नहीं। उदाहरण के लिए जल के पर्याय पानी, तोय, सलिल, उदक, वारि, अम्बु, बन इत्यादि शब्द ऊपरी अर्थ में एक हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अत्यन्त गूढ़ भेद प्रत्येक में है। अतः शब्दों का मर्म समझकर जो शैलीकार भावाभिव्यक्ति करता है, वह अपने लक्ष्य-भेद में सफल रहता है।

इस प्रकार से विशिष्ट भावों के अनुरूप शब्दों को प्रयुक्त करना शैलीकार का कर्त्तव्य होता है। "ज्यों ही हम अनुभव करना आरम्भ करते हैं त्यों ही उसकी अभिव्यक्ति भी करना चाहते हैं परन्तु हमारी अभिव्यक्ति की लालसा लालसा ही रह जाती है, क्योंकि हम ठीक शब्द सोच नहीं पाते। जैसे-तैसे हम अभिव्यक्ति तो कर लेते हैं, परन्तु हम सन्तुष्ट नहीं होते और यही सोचते हैं कि यही बात और भी अच्छे तथा प्रभावपूर्ण ढंग से कही जा सकती थी। इसी खोज में व्यस्त रहना और भाव-विशेष के लिये शब्द-विशेष को ढूंढ़ निकालना ही शैली का प्रधान लक्ष्य है। जिस प्रकार रत्न-जटित हार में ज्यों ही बीचों-बीच हीरे की कणिका जड़ दी जाती है, उसका आकर्षण पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार शब्द-विशेष की खोज के पश्चात् शैली का सौन्दर्य हृदयग्राही हो जाता है।"[1] शैली की सफलता के लिए शुद्ध, सार्थक और व्यावहारिक शब्दों का सुन्दर चयन विशेष महत्त्व रखता है।

इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि शैली को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए तथा उसके द्वारा अभीष्ट हेतु की पूर्ति के लिए शैलीकार अपने बृहत् शब्द-कोश से शब्द-विशेष की खोज करे। शैली की परख ही उसके शब्द-विधान से होती है। शैलीकार के अन्तस के दर्शन कराने में भी शब्द-चयन ही सक्षम है। विशाल शब्द-कोश का स्वामी होकर भी कोई लेखक अपने अभीष्ट फल का अधिकारी नहीं हो जाता। अपने लक्ष्य-भेद के लिए उसे शब्दों की शक्तियों का पूर्ण परिचय होना चाहिए। किस शब्द की किस शक्ति से बिना अपव्यय या अल्पव्यय के गन्तव्य की प्राप्ति हो सकती है, इसका मर्म उसे समझना चाहिए। इस परिज्ञान के पश्चात् यदि शब्द-शक्ति-संधान किया गया तो लक्ष्य-भेद में सन्देह नहीं। वैसे शब्दों के अर्थ वक्ताभिप्रायवाची तथा श्रोताग्रहणानुसारी भी होते हैं, परन्तु कुशल कलाकार ऐसे भ्रामक शब्दों से बचकर अपनी व्यंजना-शक्ति को संपुष्ट करते हैं। पूरे वाक्य का एक ही व्यंजक अर्थ, लक्षित पाठकों के लिए निकलने पर लक्ष्यसिद्धि तथा लोक-प्रियता प्राप्त हो सकती है।

१. डॉ० एस० पी० खत्री : आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त : पृ० ३११।

अध्याय : २

गद्य तथा शैलियाँ

शैलियों के सम्यक् अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम गद्य और पद्य के पार्थक्य, उद्देश्य, स्वरूप, गद्य तथा शैलियों का सम्बन्ध आदि का ठीक रीति से विचार कर लें; क्योंकि शैलियों पर इनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

वाङ्मय-सरिता की धारायें मूलतः दो अवस्थाओं में प्रवहमान हुई हैं। प्रथम पद्य, जो कि काव्य-प्रवाह की पहाड़ी अवस्था है; जिसमें गति, प्रखरता, ध्वनि, भाव-रंजकता, माधुर्य आदि विशेषतायें रहती हैं। दूसरी अवस्था में काव्य का प्रशान्त मैदानी क्षेत्र गद्य आता है, जिसमें न तो वह गति है, न वह प्रखरता है और न कलकल निनादी मति है; न वैसी मनोन्मादनी शक्ति है और न वह आत्मविभोरकारक युक्ति ही है। जीवन के व्यावहारिक पक्ष में भी काव्य-सरिता की मैदानी अवस्था में गद्य ही अधिक लोकोपयोगी, सरल, सुगम तथा व्यापक होता है। इसी प्रकार साहित्य-सरिता की पद्य-गद्य अवस्थाओं की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। गद्य में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता है, तो पद्य में भाव-तत्त्व की प्रमुखता है। फिर भी तात्त्विक दृष्टि से दोनों के बीच कोई ठेठ विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। "काव्यं गद्यं पद्यंच"[1]—काव्य के दोनों ही मूलभूत रूप हैं, जो अपनी विशिष्ट उद्भावनाओं के कारण पृथक् हो गये हैं।

गद्य की अनादि सत्ता

विश्व के प्राचीन सभी साहित्यों में वाङ्मय का पद्य-रूप ही प्राप्त हुआ है और इसी आधार पर भाषा का प्रारम्भिक रूप पद्यबद्ध कहा गया है। मानवीय अनुभूतियों एवं गहन भावनाओं के घनीभूत होने पर प्रथम अभिव्यक्ति पद्यमय ही हुई है, यह तर्क भी अपना महत्त्व रखता है। 'विद्याकंठ और द्रव्यगंठ' की प्राचीन उक्ति के अनुसार ज्ञानराशि का संचित कोश—साहित्य—पद्य की भाव-रंजकता, माधुर्य, संगीतात्मकता, स्मृतिसुलभता, ध्वन्यात्मकता, रसात्मकता आदि गुणों के कारण पद्यमय हुआ होगा। इतिहास के उपलब्ध तथ्य भी इसी से पद्य की प्राथमिकता का समर्थन करते हैं। फिर भी हमें इसका प्रमाण कहीं प्राप्त नहीं होता कि भाषा के आदिकाल में जनभाषा का स्वरूप भी पद्यमय था। निश्चय ही आदि-मानव अपने व्यवहार में हृदय की बातें भी पद्य में नहीं करते होंगे। दैनिक व्यवहार की भाषा का माध्यम उस समय अवश्य ही गद्य होगा तथा अपने उपलब्ध ज्ञान को संचित करने के लिए पद्य

१. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १, ३, २१।

का आश्रय लेना उचित समझा गया होगा। इसी से प्राचीन साहित्यों का प्रारम्भिक रूप हमें पद्यमय मिलता है; परन्तु हम इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि गद्य का जन्म पद्य के आविर्भाव के बहुत बाद में हुआ है और आदिकाल में जीवन के सभी क्षेत्रों में पद्य का ही बोलबाला था। संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० बलदेव उपाध्याय का मत इस स्थल पर विचारणीय है। गद्य अपनी व्यावहारिकता तथा व्यापकता के कारण पद्य की अपेक्षा प्राचीन है; इसमें अधिक बल तथा शक्ति प्रतीत होती है, साथ ही साहित्य में पद्य रूप पूर्वकालिक है, इसका खण्डन भी नहीं होता। "गद्य का आविर्भाव मानव-भाषा के साथ ही हुआ है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य ने जब अपने हृदय की बातों को प्रगट करने के लिए भाषा का माध्यम पकड़ा तब वह गद्य के रूप में ही प्रगट हुआ। इस प्रकार भाषा के द्वारा भावाभिव्यक्ति का माध्यम गद्य ही है। पद्य तो गद्य का एक नियमित तथा निश्चित प्रकार है। छन्दोबद्धता ही पद्य की मुख्य पहचान है। छन्दों के नियमों द्वारा निबद्ध गद्य ही पद्य रहता है। गद्य के स्वतन्त्र रूप को जब लघु-गुरु के द्वारा व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है और उसमें संगीत की माधुरी तथा भावणीयता का पुट दिया जाता है, तब पद्य का जन्म होता है। इस प्रकार उत्पत्ति तथा व्यापकता की दृष्टि से गद्य पद्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा व्यापक है।"[१]

आदि-कालीन गद्य की व्यावहारिकता के अतिरिक्त उसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा के भी पर्याप्त प्रमाण विश्व के प्राचीनतम साहित्य—वैदिक साहित्य—में उपलब्ध होते हैं। साहित्य में गद्य का आविर्भाव हमें सर्वप्रथम वेदों में दिखाई देता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही तो यजुर्वेद को कृष्ण नाम से पुकारा जाता है। इसकी समग्र संहिताओं में (तैत्तिरीय, कालक, मैत्रायणी आदि में) गद्य की विपुल सत्ता उपलब्ध होती है।······अथर्व का छठा भाग गद्यात्मक ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो गद्य का साम्राज्य ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य वर्ण्य विषय है—यज्ञ-भागों का विस्तृत विवरण और इस विवरणात्मक व्यापार के निमित्त गद्य उपयोगी माध्यम है। उपनिषदों में भी गद्य की सत्ता प्राचीनता की द्योतक है।[२]

डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार भी गद्य की प्राचीनता प्रमाणित होती है। "किसी भी देश में बालक जीवन के प्रारम्भ से ही पद्य में नहीं बोलते, फिर पद्य में लिखते भी नहीं। वाणी का स्वाभाविक रूप गद्य है और उसी में वाणी का अभ्युदय तथा विकास हुआ।"[३]

इन तर्कों तथा प्रमाणों से गद्य की अनादि सत्ता एवं महत्ता की प्रतिष्ठा होती है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने गद्य और पद्य के रूप में कोई विशेष सीमा-रेखायें नहीं खींची हैं; क्योंकि काव्य चाहे छन्दबद्ध पद्य में हो या छन्द-वर्जित गद्य में, रसात्मकतापूर्ण होना चाहिए। काव्य शब्द गद्य तथा पद्य दोनों को ही समाहित करता है। काव्य-प्रणेता का कार्य-क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों ही

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-गद्य की रूपरेखा : कल्पना, १ मार्च १९५२ : पृ० १९२।
२. पं० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-गद्य की रूप-रेखा : कल्पना, मार्च १९५२ : पृ० १९२।
३. डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री, हीरक जयन्ती-ग्रन्थ : काशी, ना० प्र० सभा : पृ० १२७।

होने के कारण कवि-प्रतिभा की कसौटी गद्य को कहा और "गद्यं कविनां निकषं वदन्ति"[१] की उक्ति प्रचलित हुई। इसके विपरीत पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार गद्य और पद्य के क्षेत्र पृथक् हैं, वहाँ आदर्श कवि को श्रेष्ठ गद्यकार होने की शर्त नहीं लगाई गई है। फिर भी गद्य और पद्य की विशेषताओं के विवेचन में बहुतांश में साम्य है।

गद्य की व्युत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य तथा पद्य से भिन्नता

गद्य 'गद्' धातु के गदति रूप से बना है जिसके अर्थ स्पष्ट बोलना, गड़गड़ करना, गर्जना इत्यादि हैं।[२] गद्य के उपर्युक्त व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से दो तत्त्वों का संकेत प्राप्त होता है कि गद्य लौकिक जीवन में बोलचाल तथा व्यवहार का माध्यम है तथा लय, संगीत आदि पद्य की कोमलता से रहित है। गड़गड़ तथा गर्जना की ध्वनि गद्य को सापेक्षत: शुष्क एवं कठोर बना देती है इसी से गद्य को "लय और छन्दों के बंधन से मुक्त सीधी शैली में लिखी जाने वाली बोलचाल की भाषा भी कहा गया है।"[३] अथवा गद्य छन्दबद्ध रचना से भिन्न मार्ग का है।[४] गद्य ठीक विचार की भाषा है और वह इसी उद्देश्य हेतु बनाया गया है।[५] गद्य का जन्म भाषण से हुआ है।[६] सरल व्यवहार की वस्तु होने के कारण गद्य भी सरल होने को बाद्ध है। यही सरलता तथा प्रसाद गुण गद्य की अपनी विशेषतायें हैं। इतना ही नहीं शैलीगत तत्त्वों की दृष्टि से गद्य में वाक्य, परिच्छेद, विराम-चिह्न आदि की स्पष्ट महत्ता तथा प्रतिष्ठा है जो पद्य में अनुपस्थित है।

गद्य में कवि की प्रतिभा के विकीर्ण होने का समुचित अवसर उपलब्ध होता है, छन्द नियम गद्य में बाधक नहीं होते। इसी अभाव की पूर्ति के लिए गद्य में सर्वांगीण सुन्दरता अपेक्षित है। "कविता में तो एक अंश के सुन्दर होने से भी कवित्त अच्छा लगने लगता है। गद्य सर्वांग सुन्दर हो तभी सुन्दर लगता है। गद्य में यथोचित शब्द का प्रयोग न किया जाय तो यह कहने की जगह नहीं कि क्या करें, छन्द के परवश हैं।"[७]

पश्चिमी समीक्षकों ने भी न्यूनाधिक अन्तर से इन्हीं विचारों की पुष्टि की है। "गद्य की दुर्बल नौका में प्रथम संतरण करने वाला मानव सिंह-हृदय होगा।"[८] "बिना

१. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १, ३, २१।
२. माधवचन्द्रोवा : शब्द-रत्नाकर किंवा प्राकृत व संस्कृत-शब्द-कोश : पृ० १६०।
३. राजेन्द्र द्विवेदी : साहित्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द-कोश, पृ० ८२।
४. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक : ३।७।
५. "Prose is the language of exact thinking; it was made for the purpose."
—*J. Middleton Murry : The Problem of Style* : p. 58.
६. 'Prose has its origin in speech."
—*Arthur Quiller-Couch : On the Art of Writing* : p. 40.
७. पं० अम्बिकादत्त व्यास : गद्य-काव्य मीमांसा : पृ० ४।
(नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग —१, १८९७)।
८. "Who was the first lion hearted man that ventured to make sail in his frail boat of prose." —*Thomas De-Quiency : Style and Rhetoric* : p. 206.

छन्द की सहायता से प्रथमतः गद्य के गहन समुद्र को तैर जाना निश्चित ही बड़े साहस का कार्य है। गद्य की अवतारणा यदि एक आविष्कार नहीं तो एक महान् खोज अवश्य है।"[१] पद्य की सरसता, संगीतात्मकता, ध्वन्यात्मकता, लय, कल्पना आदि हृदयग्राही विशेषताओं के समक्ष गद्य का प्रचार-प्रसार कार्य निश्चित ही बहुत कठिन और साहसी कदम है। गद्य में स्वाभाविक शुष्कता तथा रसहीनता रहती है। "गद्य मनुष्य के व्यावहारिक भाव-विनिमय का साधन होने के कारण अधिक स्पष्ट और नीरस होने को बाध्य है। उसकी नित्यप्रति की उपयोगिता उसकी सुकुमार कला का अपहरण करके बदले में उसे एक दृढ़ता और पुष्ट शक्ति प्रदान करती है जिसका अलग महत्त्व है।"[२] गद्य की इस शुष्कता तथा सौम्यता के कारण उसकी जन्मजात कठिनाई उच्च मनोभावों को संवारने तथा सजाने में होती है; उनमें भी विशेषतः वे मनोभाव जो कि आवेग के कारण आ पड़ते हैं।

पद्य की व्युत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य तथा गद्य से भिन्नता

पद्य शब्द की व्युत्पत्ति 'पद्' से हुई है, जिसका अर्थ चरण पाद, पाऊल, जिस शब्द में विभक्ति लगती है वह शब्द, विभक्त्यंत शब्द, अव्यय, क्रियापद इत्यादि जो वाक्य के अव्यय हैं कविता के चरण इत्यादि।[३] पद्य की इस व्युत्पत्ति से एक बहुत बड़े सत्य का निर्देश मिलता है कि पद्य में गति की प्रधानता होती है। चरण और पाद गति के प्रतीक हैं। इसके साथ ही उनमें लय तथा संगीतात्मकता की निहिति रहती है। पद्य एक सृजनात्मक अभिव्यक्ति होती है, जब अनुभूतियाँ घनीभूत होकर तथा भावनायें प्रबल होकर शब्दों में साकार होने लगती हैं तब कविता का जन्म होता है। इसके परिणामस्वरूप मानस में कल्पना की उत्ताल तरंगें भी उठने लगती हैं। वस्तुतः कविता प्रत्यक्षतः सीधे मानस को स्पर्श करती है।

"पद्य छन्दबद्ध होता है तथा उसमें लय की अनिवार्यता है। गद्य छन्दविहीन तथा यथासम्भव लय से मुक्त रहता है।"[४] फिर भी गद्य और पद्य छन्द के द्वारा विभाज्य नहीं है।

पद्य और कविता इन शब्दों के द्वारा भी भ्रमवश भूलें हुआ करती हैं। बहुधा ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय-रूप में प्रयुक्त होते रहते हैं और कई विद्वानों ने भी दोनों के अन्तर पर ध्यान नहीं दिया है। वस्तुतः पद्य और कविता एक नहीं है और

१. "Prose, therefore, strange as it may seen to say so, was something of a discovery. If not great invention, at least great courage would be required for the man who first swam without the bladders of metre."

—*Thomas De-Quiency : Style and Rhetoric :* p. 205 6.

२. डॉ० श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० ६० ।

३. माधव चन्द्रोवा : शब्द-रत्नाकर : पृ० २८५ ।

४. "Verse is written in metre and strict rhythms; prose without metre and freest possible rhythms."

—*Arthur Quiller-Couch : On the Art of Writing :* p. 49.

दोनों में बहुत बड़ा भेद है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेजी की पोयट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं।[१] इस प्रकार से प्रत्येक पद्य अवश्य ही कविता नहीं है, छन्द उसका बाह्य रूप है, जिसमें काव्य तत्त्व हो भी सकता है और नहीं भी।

कभी-कभी पद्य को कविता के पर्याय के रूप में ग्रहण करके गद्य को न केवल पद्य का वरन् कविता का विपर्यय मान लिया जाता है। जैसे, आनन्ददायक भाव के साथ संयुक्त संगीत ही कविता है और बिना संगीत का विचार ही गद्य है—एडगर एलनपो।[२] यह विचार ठीक नहीं है। गद्य कविता के विपरीत नहीं है। यथार्थ में गद्य और पद्य दोनों ही काव्य-शरीर के विभाग हैं जिनका तीसरा मिश्रित रूप चंपू होता है।[३] गद्य और पद्य दोनों में ही कविता हो सकती है।[४] इस दृष्टि से निश्चित ही गद्य और पद्य दो विरोधी रूप नहीं हैं, हाँ भिन्न रूप अवश्य हैं।

जिस क्षण से मानव ने संगीत की अवतारणा की उसी क्षण से उसने पद्य को गद्य से पृथक् कर दिया।[५] पद्य के अनिवार्य तत्त्वों के रूप में छन्दबद्धता एवं तुकान्तता को विशेष मान्यता दी गई। तथापि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो अलंकार तथा कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद्य से कम नहीं हैं जैसे संस्कृत में बाणभट्ट की कादम्बरी। पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल, निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत भासित होती है। पद्य में संगीत कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी दिख पड़ती है। कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप दिख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है।[६] बिना छन्द और लय के भी श्रेष्ठ पद सम्भव हैं तथा छन्द और लय से आबद्ध रचना भी पद्य की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकती।

अतः इससे ज्ञात होता है कि गद्य और पद्य दोनों की अपनी-अपनी प्रकृति और अन्तःचेतना है, दोनों एक ही काव्य-पुरुष की यमक सन्तानें हैं और उनके बीच कोई भी औपचारिक विभाजन नहीं किया जा सकता।[७] ई० पौण्ड के शब्दों में लेखन कला

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ-रंजन : पृ० ५० ।
२. उद्धृत—समीक्षा-शास्त्र : सीताराम चतुर्वेदी : पृ० ७१४ ।
३. दण्डी : काव्यादर्श : १।११ ।
४. महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ-रंजन : (कवि-कर्त्तव्य—१) : पृ० १३ ।
५. "From the moment men introduced music they made verse a thing essentially separate from prose, from its natural key of emotions to its natural ordering of words".
—*Arthur Quiller-Couch : On the Art of Writing* : p. 53.
६. आचार्य श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन : पृ० ८७ ।
७. "Verse is memorable speech set down in metre with strict rhythms; prose is memorable speech set down without constraint of metre and in

पर विस्तृत प्रबन्ध के बिना वैज्ञानिक लाघव के साथ गद्य और पद्य के भेद को प्रस्तुत कर सकना प्राय: असम्भव है।[१] दोनों में भेद गुणात्मक है जिसे परिमाणत: नहीं आंका जा सकता वरन् अन्त:अनुभूति से समझा जा सकता है।[२]

इसी प्रकार से जो गद्य को कविता का विपर्यय मानते हैं वह भी अनुचित है। उत्कृष्ट गद्य अवश्य ही कविता है और वह भी मानस का सीधा स्पर्श कर सकता है। इतना ही नहीं, वह आगे बढ़कर अपनी अन्य विशेषताओं के कारण न्यायाधिकरण कार्य में कविता से अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।[३] वास्तव में कविता का विपर्यय विज्ञान है;[४] क्योंकि कविता का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्ति से रहता है और विज्ञान का प्रज्ञा-शक्ति से। अतएव गद्य को कविता के विरुद्ध नहीं माना जा सकता।

गद्योन्नति के कारण

ऐतिहासिकों के मत से आदि-कालीन मनुष्यों में चिन्तन-शक्ति न्यून थी, इससे कम शब्दों में अधिक भाव ग्रहण करने तथा सहज कंठस्थ करने के उद्देश्य से पद्य की प्रधानता रही है। छन्द की संगीतात्मकता ने भी मानव की प्रबल रागात्मक वृत्ति को विशेष आकर्षित किया। साथ ही धार्मिक भावनाओं की प्रबलता ने देव-स्तुति आदि के लिए पद्य को ही अंगीकृत किया। इससे सर्वत्र पद्य छा गया। पर मस्तिष्क के विकास से भौतिकता और यन्त्रवाद की ओर बढ़ने पर गद्य को प्रधानता मिली।[५] गद्य विचारात्मक अभिव्यक्ति का सुगम तथा प्रमुख माध्यम है। भौतिक उन्नति गद्योन्नति की सहयोगिनी ही नहीं, सहगामिनी भी है। यह सत्य है कि मानव तथा समाज दोनों प्रथमत: भावुक होते हैं; बाद में भावुकता से निकलकर बौद्धिकता में प्रवेश करते हैं—कविता से आगे चलकर गद्य में आते हैं।[६] इस कथन से भी यही संकेत मिलता है कि समाज के बौद्धिक विकास के साथ कदम मिलाकर गद्य का विकास हुआ है।

अत्यन्त उर्वरक, चेतना-पुंज, बहुशक्ति-सम्पन्न तथा सतत क्रियाशील मस्तिष्क

---

rhythms both lax and various so lax, so various, that until quite recently no real attempt has been made to reduce them to rule. I doubt for my part if they can ever be reduced to rule."

—*Sir Arthur Quiller-Couch : On the Art of Writing* : p. 48.

१. "It is nearly impossible to write with scientific preciseness about prose and verse, unless one writes a complete treatise on the art of writing" E. Pound.

—*Shipley, J. T. : Dictionary of World Literature* : p. 441.

२. Herbert Read : English Prose Style : Introduction : p. XII.

३. "Fine prose is necessarily poetry and it makes its appeal directly to the emotions. Judicial prose—because it has the virtues and achieves the effects that prose alone can possess or achieve."

—*J. M. Murry : The Problem of Style* : p. 68.

४. Shipley J. T. : Dictionary of World Literature : p. 444.

५. चन्द्रकान्त बाली शास्त्री : हिन्दी-गद्य विकास और विमर्श : पृ० ११।

६. —वही— —वही— पृ० १२।

का धनी मानव कभी वर्तमान से सन्तुष्ट नहीं रह सका है। अपने प्राप्त साधनों तथा आस-पास की परिस्थितियों का निरीक्षण-परीक्षण करके उन्हें अपने लाभ में निरत करने का ध्यान ही मानव का सदा से रहा है। इस प्रकार पुरुषार्थ का पुंजीभूत मानव असंख्य कठिनाइयों को दलित करता हुआ भविष्य को अधिक स्वर्णिम बनाने में प्रयत्नशील रहा है। उसके इस प्रयास में भाषा का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वैसे विचार-विनिमय के साधन—बोली—का स्वामित्व तो सृष्टि के प्रायः सभी प्राणियों को प्राप्त है, पर मानव ने अपने बोली के इस साधन को अपनी योग्यता से भाषा का रूप प्रदान किया। विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार अन्य सभी प्राणी अपने भावों और विचारों का न्यूनाधिक मात्रा में आदान-प्रदान मानव के जन्म से सहस्रों शताब्दियों पूर्व से करते चले आ रहे हैं; पर वे इन लाखों वर्षों की कालावधि में जहां के तहां हैं। मानव ने सबसे बाद अपनी विकास-यात्रा प्रारम्भ की और सबको पीछे छोड़ दिया। मानव की इस आश्चर्यजनक प्रगति का अधिकांश श्रेय उसकी भाषा को ही है। भाषा के ही माध्यम से मानव ने असंख्य वर्षों के जीवन के भावों, विचारों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों, स्मृतियों इत्यादि को संचित किया है। आवश्यकताओं ने पद्य और गद्य के रूप में भाषा को विभिन्न स्वरूप प्रदान किये।

पद्य में संगीतात्मकता, गतिशीलता, मनमोहकता एवं भावाभिव्यंजकता के कारण साहित्यिकता का स्फुटन हुआ। कंठस्थ करने की सुविधा तथा लय-गति की मोहकता ने पूर्वजों के विचारों, भावों तथा अनुभव की अमूल्य धरोहर पद्य को सौंपी तथा जीवन के नानाविध विचार-विनिमय के लिए गद्य का सहारा लिया। पद्य-रूप में सरलता तथा स्वाभाविकता से विचार प्रगट नहीं किया जा सकता। पद्य में पिंगल-शास्त्र की कठोर नियम-बद्धता और उसकी संकुचित सीमायें विचार के प्रवाह में बाधक होती हैं। शब्दों की तोड़-मरोड़, मात्राओं की घटा-बढ़ी, लय-यति आदि की समस्याओं के कारण पद्य मानव-ज्ञान के विकास की गति-विधियों को यथातथ्य अंकित करने में अपने को सदा असमर्थ पाता रहा है। वास्तव में पद्य की सीमाओं ने ही जीवन और जगत के विकास के साथ गद्य को गतिशील बनाया। यह स्वाभाविक ही नहीं सचमुच आवश्यक भी था कि जब गद्य की साहित्य-निर्माणकारी क्षमता एवं महत्ता की एक बार अनुभूति तथा प्रतिष्ठा हो गई तब उसने क्रमिक एवं त्वरित गति के साथ अधिक श्रम-साध्य तथा कम उपयुक्त पद्य-रूप को पराभूत कर दिया।[१]

गद्य ठीक विचार की भाषा है और वह इसी उद्देश्य के लिए बनाया गया है।[२] गद्य का विशेष गुण यही है कि वह वैधानिकता पूर्ण है, और यह वह गुण है जो कविता

१. "It was natural, and indeed necessary, that, when the use of prose as an allowable vehicle for literary composition was once understood and established, it should gradually but rapidly supersede the more troublesome and for less appropriate form of verse."
—*George Saintsbury : A Short History of French Literature* : p. 113.

२. J. Middleton Murry : The Problem of Style : p. 58.
(Quotation No. 4, page 4 of this Chapter.)

में हो नहीं सकता, यदि वह गुण उसमें हो तो वह कविता नहीं वरन् छन्दविहीन गद्य ही है।[१] गद्य के सम्यक् विकास से तर्क-वितर्क, वैज्ञानिक, दार्शनिक, शास्त्रीय आदि विषयों को गति तथा शक्ति मिलती है। भाषा का गद्य-रूप इन विषयों का उचित वाहक है। अतः गद्य का द्रुतगति से तर्क-विज्ञान, दर्शन, तथा विधि के वाहक के रूप में विकास हुआ एवं शताब्दियों पूर्व ही उसने पर्याप्त सुन्दर स्वरूप ग्रहण कर लिया है।[२]

उत्तम गद्य अपनी मौलिक विशेषताओं को तो आत्मसात् किये ही रहता है, साथ ही वह पद्यगत गुणों का भी समावेश कर लेता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि गद्य में अपने को उत्तमता लाने के लिए लय, तुक आदि बाह्य उपकरणों का आश्रय लेना पड़ता है। प्रौढ़ कलाकार चाहे तो गद्य-रचना को ही मर्मस्पर्शी तथा प्रभावी बना कर उत्तम गद्य का प्रणयन कर सकता है। गद्य की शक्ति तथा क्षेत्र बहुत विस्तृत है। "संभवतः गद्य वह सब कुछ नहीं कर सकता जो कविता कर सकती है; परन्तु वह अधिकांश कर सकता है जो कविता कर सकती है।"[३] इतना ही नहीं पद्य के गुणों को आत्मभूत कर सकने के पश्चात् तो गद्य का सीमा-क्षेत्र और विशाल तथा शक्ति अपरिमित हो जाती है। गद्य एक ऐसा शस्त्र है जिसकी गति असीम है तथा उसकी शक्तियों का अन्वेषण तथा उन्नयन अभी तक उतना नहीं हो सका है जितना पद्य (कविता) का हुआ है।[४]

गद्य-काव्य के प्रति बढ़ती हुई जनरुचि और लोकप्रियता, इस तथ्य को सिद्ध करने में समर्थ है कि गद्य की अन्तःशक्ति का उद्घाटन शनैः-शनैः होता जा रहा है। सुप्रसिद्ध महाकवि मिल्टन पद्य के क्षेत्र से लौटकर गद्य में इसीलिए आये कि वह उन्हें आत्मीय तथा सत्यवाहक लगा। इस तथ्य को उसने 'The Reason of Church Govt.' में स्पष्ट किया है।[५]

गद्य की श्रेष्ठता की प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय उसकी व्यवहारोपयोगिता को ही नहीं है; वरन् गद्य की उन्नति तथा लोकप्रियता का कारण जीवन और जगत की गूढ़ और व्यापक व्यस्तताओं एवं नाना व्यापार-वृद्धि को भी है। मानव का सामाजिक जीवन जितना जटिल तथा उसका क्षेत्र जितना व्यापक होता जा रहा है, उतनी ही गद्य

१. 'The specific virtue of prose is that it is judicial; and that is a virtue that poetry cannot have; if it has, it is not poetry but prose in metre.'
—*J.M. Murry* : *The Problem of Style* : p. 67.

२. "Development of prose as the vehicle for argument—scientific, philosophical and legal was comparatively rapid, it was long centuries before it was adopted to a content primarily aesthetic."
—*J.M. Murry* : *The Problem of Style* : p. 55.

३. "Possibly prose can't do all, poetry can do, but it can do most of things that poetry can do." —*J.M. Murry* : *The problem of Style* : p. 69.

४. 'Prose is an instrument whose range is infinite, and probably its possibilities have been less explored than those of poetry."
—*J. M. Murry* : *The problem of Style* : p. 68.

५. Fred Emi Ekfelt : Philological Quarterly Vol. XXV ; January, 1946 : p. 46.

की महत्ता बढ़ती जा रही है। शिक्षा के सामान्य स्तर में वृद्धि तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ प्रतिदिन के मान्यता-प्राप्त नवीन विषयों का चिन्तन, विवेचन और प्रतिष्ठापन सब गद्य में ही होता है। इस प्रकार से आधुनिक साहित्य एवं वाङ्मय के अधिकाँश पर गद्य का एकाधिकार हो गया है। यही कारण है कि विश्व के सभी साहित्यों में इस युग को 'गद्य-काल' कहा जाता है। साहित्य को समाज के प्रतिबिम्ब की संज्ञा प्रदान की गई है। यथार्थ में इसका श्रेय पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक है। गद्य जन और जीवन के अधिक समीप रहता है और उसमें समाज के बिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति स्वभावतः अधिक रहती है।

लार्ड मेकाले, डॉ० श्यामसुन्दरदास प्रभृति कई विद्वानों के मतानुसार "सभ्यता के विकास के साथ कविता का ह्रास होता है।" अर्थात् जैसे-जैसे सभ्यता तथा भौतिकता का उन्नयन होता है वैसे-वैसे पद्य का पराभव होता जाता है और गद्य का उत्कर्ष होता है। कविता असाधारण परिस्थिति की उपज है और गद्य हमारी दैनिक सामाजिक परिस्थितियों के साथ चलता है। अतः कविता स्वभाव से ही यथार्थ से कुछ दूर आदर्श पर है।[1] आचार्य द्विवेदी ने भी सभ्यता और कविता के परस्पर विरोध को स्वीकृत किया है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।[2]

साधारणतः मानव की वर्ग सीमायें गद्य-पद्य को अपने तक सीमित रखने में समर्थ नहीं हैं। अत्यन्त पुरातन काल से काव्य और कला को सम्पत्ति और शक्ति की अनुचरी होते हुए देखा गया है। इतिहास ने शताब्दियों से कविता-कामिनी को राजों-महाराजों, जमींदारों-जागीरदारों और श्रीमान-सामन्तों के दरबारों में उसके आश्रय-दाताओं के इंगितों पर नर्तन करते पाया है। कविता या पद्य की यह प्रवृत्ति भारत के दीर्घकालीन इतिहास से ही पुष्ट नहीं होती, वरन् यूरोप के अनेक देशों के लिपिबद्ध प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। अतएव प्राचीनकाल में कविता-कामिनी ने अपने भाव-विलास को प्रमुखतः सामन्तवादी प्रवृत्तियों के चित्रण में ही सीमित रखकर साधारण जन-जीवन को अपने से दूर ही रखा था। आधुनिक युग में सामन्तवाद का पुराना महल धराशायी हो गया है और काव्य एवं कला सामाजिक बिम्ब ग्रहण करने में प्रवृत्त हो गये हैं। कविता में सामान्य जीवन का चित्रण भी होने लगा है। इसी प्रकार जो गद्य प्राचीन काल में केवल व्याख्या तथा विवेचन तक ही सीमित था वह आज कविता के अधिकांश क्षेत्र पर आधिपत्य कर चुका है। सामन्तवाद के पराभव ने गद्य को विकसित होने का अधिक अवसर प्रदान किया है अतः वर्तमान युग में गद्य के विकास को प्रोत्साहित करने का दायित्व बहुत अंश में प्रच्छन्न, सामाजिक तथा आर्थिक चेतनाओं की विकास-नलिकाओं को है।[3] अर्थ अब वर्ग-विशेष का दास नहीं रहा है। समाजवादी भावनाओं के

१. श्यामसुन्दरदास—उद्धृतः हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : भगीरथ मिश्र : पृ० ३०६।
२. रसज्ञ-रंजन : पृ० ४५।
३. "The growth of prose is not due to its imagined superiority, as medium, but also changed social conditions. Rise in general level of education, breaking of semi-feudal aristocracy, open economic channel for all. Prose fiction is

प्रबल होने के साथ अर्थवाद की भीमकाय तिजोरियाँ टूट रही हैं और इससे सर्व-साधारण जीवन समृद्ध और सामर्थ्ययुक्त होकर उत्साहपूर्वक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आगे आ रहा है। इस साधारण जीवन का निर्वाह गद्य के माध्यम से ही होता है। इस नव-निर्माणकारी सामाजिक साम्राज्य में गद्य का सिक्का ही सर्वत्र अबाध गति से प्रचलित

गद्य-क्षेत्र की विशेषतायें

अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से गद्य और पद्य के क्षेत्रों पर विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि जिस स्थान पर विचारों की प्रबलता होती है, वहाँ अभिव्यक्ति प्रायः गद्य में होती है और जहाँ भाव प्राथमिक स्थान ग्रहण करते हैं, वहाँ रचना का माध्यम बहुधा पद्य होता है अथवा गद्य; परन्तु घनीभूत एवं त्वरित वैयक्तिक भावों के प्रवाह तो पद्य में ही स्फुटित होते हैं।[१] इससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि गद्य और पद्य मूलत दो भिन्न प्रकार की मानसिक प्रक्रियायें हैं जिनकी अभिव्यक्ति भिन्न होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि हृदय-प्रदेश का चित्रण जितनी कलात्मकता से कवि की तूलिका कर सकती है उतनी मार्मिकता से गद्यकार की लेखनी बहुधा नहीं कर सकती। जैसे एक वस्तु के अभाव में दूसरी से काम चलाया जाता है, वैसे ही भावों को गद्य में तथा विचारों को पद्य में भी व्यक्त किया जा सकता है; अन्यथा तूलिका और कलम के अपने-अपने क्षेत्र हैं। इसीलिए भावनाओं के प्रबल ज्वार को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने की क्षमता असंदिग्ध रूप से पद्य में है और गम्भीर विचारात्मक तर्क-वितर्क, विवेचन, विश्लेषण का ठीक ठीक और बारीक विचारों का स्वाभाविक क्षेत्र गद्य है। यह बात दूसरी है कि कलाकार की असाधारण प्रतिभा विचार-सरणि को पद्य में तथा भाव-प्रवाह को गद्य में बहुत प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने में सफल हो सके। ऐसे अपवादों को पृथक् रखकर गद्य और पद्य क्रमशः विचार और भाव की अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त माध्यम प्रतीत होते हैं।

माध्यम की सार्थकता एवं उपयोगिता इसी में है कि वे अपने कार्य को ठीक ढंग से सम्पादित करके अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि कर दें। तनिक भी प्रभाव की न्यूनाधिकता वाणी के सामर्थ्य के लिए कलंक है; इसलिए अभिव्यक्ति गद्य अथवा पद्य किसी में भी क्यों न हो अपने निर्दिष्ट विचारों तथा भावों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने वाली होना बहुत आवश्यक है। अस्तु वही शैली अथवा माध्यम सक्षम है जो अपने अभीष्ट को पूर्णतः प्राप्त कर सके। इस अभीष्ट की पूर्ति में गद्य-पद्य के क्षेत्रों का मर्म जिन साधारण

an instrument adequate to needs of great creative genius."

—*J. M. Murry : The Problem of Style* : p. 69.

१. "Where thought predominates, there the expression will be in prose; where emotion predominates, the expression will be indifferently in prose or poetry, except that in the case of overwhelming immediate personal emotion the tendency is to find expression in poetry."

—*J.M. Murry : The Problem of Style* : p. 71.

कोटि के कलाकारों ने भी जान लिया है और उसका सम्मान किया है वे सहजतः ही महान् हो गये हैं। ललित कला के साहित्य में, पद्य की जो विशेषतायें और सौन्दर्य है, वह गद्य में भी रहता है और यह समीक्षा का दायित्व है कि उनका आकलन करे[1] तथा कौनसा भाव या विचार गद्य या पद्य किस माध्यम से प्रस्तुत किया जाय, यह परख सहृदय की कला का रहस्य है।[2]

मनोवैज्ञानिक उपर्युक्त निष्कर्ष पर आक्षेप कर सकते हैं कि विचारों का अस्तित्व भावनाओं पर रहता है तथा भावनाओं का सृजन चिन्तन, अध्ययन आदि बाह्य परिस्थितियों से होता है, इससे विचारों तथा भावों को पूर्णतः पृथक् दो स्वतंत्र खण्डों में नहीं रख सकते। साधारणतः साहित्य के व्यापक साम्राज्य में विचार भावों के अनुचर होते हैं और भाव ही जब व्यवस्थित रूप धारण कर लेते हैं तो विचार हो जाते हैं। इससे दोनों के बीच में सीमा-रेखा कठिन ही नहीं, असंगत भी है; फिर भी मोटे रूप से भावों तथा विचारों की पृथकता को समझा जा सकता है और उसके अनुसार उनके उपयुक्त माध्यम पद्य या गद्य को ग्रहण किया जा सकता है।

गद्य और पद्य के उद्देश्य, कार्य-क्षेत्र आदि का विचार कर लेने के पश्चात् स्वभावतः सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न शैलियों के अध्ययनकर्त्ता के समक्ष दोनों की भाषाओं का आता है। अन्तःवृत्ति, बाह्य प्रकृति, उद्देश्य तथा कार्य-क्षेत्र सभी में गद्य और पद्य में अन्तर है। अतः शब्दावलियों तथा भाषा-शैलियों में भी भेद अपेक्षित है। इस तथ्य पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई मानता है कि समृद्ध तथा पूर्ण भाषा वही है जो स्वतः गद्य तथा पद्य की भाषा-शैली में उल्लेखनीय अंतर व्यक्त करे।[3] इतना ही नहीं, गद्य और पद्य के पृथक् शब्दकोश भी कुछ साहित्यों में उपलब्ध हैं।[4] पश्चिमी काव्य-शास्त्र के जनक अरस्तू भी गद्य और पद्य की भाषा में स्पष्ट भेद करते हैं। उनका मत है कि कविता तथा गद्य साहित्य की भाषा-शैलियाँ भिन्न हैं।[5]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता (पद्य) की भाषा के लिए पृथक् व्यवस्था प्रदान की है।[6] वे कविता में कही हुई बात को भिन्न रूप में रखना चाहते हैं।[7] इसके

१. "In all literature as a fine art, as there are beauties of poetry, so the beauties of prose, are many, and it is the business of criticism to estimate them as such."
—Walter Peter : Extract from Shipley's Dictionary of World Literature : p. 557.

२. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य-शास्त्र : पृ० ८० ।

३. "A perfect language he opined should show a note worthy difference between its style in prose and its style in verse." A Great French Writer.
—Extract from George Saintsbury : Speciman : English Prose Style : p. XVI

४. —Do— —Do—

५. अरस्तु भाषण शास्त्र पुस्तक ३, अध्याय १, पृ० १४३५-३६ ।
उद्धृत—अरस्तु या काव्यशास्त्र (हिन्दी) : डा० नगेन्द्र : पृ० १४७ ।

६. चिन्तामणि पहला भाग—कविता क्या है : पृ० २३८ से २४३ ।

७. —वही— : पृ० २३८ ।

लिए कवि अगोचर या अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए लक्षणा-शक्ति से विशेष सहायता लेता है। सब देशों के कवि-कर्म में यह पाया जाता है।[१]

दूसरे कविता की भाषा में जाति-संकेत वाले शब्दों के स्थान पर विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। तत्त्व-निरूपण, वैज्ञानिक या शास्त्रीय विषयों में तथ्य-प्रेषण मात्र करना पड़ता है और उनमें प्रभाव उत्पन्न करके मूर्त-विधान खड़ा करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए वहाँ सामान्य अर्थ-व्यंजक शब्द पर्याप्त होते हैं। यही कारण है कि शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द कविता में अनुपयुक्त रहते हैं।

तीसरे कविता में नाद-सौष्ठव या संगीत को स्थान प्राप्त है। इससे श्रुतिकटु वर्णों का त्याग, छन्द-योजना, तुकान्तता तथा लय को महत्त्व दिया जाता है। हाँ, सामान्य गद्य या शास्त्रीय विषयों में इन गुणों की पूर्णतः उपेक्षा की जाती है। यद्यपि अतुकान्त कविता या रबड़छन्द में तुक और छन्द की उपेक्षा की जाती है, फिर भी उनमें लय या नाद-सौष्ठव रहता है। गद्य में वह प्रायः नहीं रहता।

चौथे कविता में गुण या कार्य-बोधक शब्दों का विशेष प्रयोग किया जाता है। वस्तुओं या व्यक्तियों का सीधा संकेत गद्य में प्रमुखतः शास्त्रीय विषयों में होता है।

गद्य और पद्य की भाषा में अंतर के कारण

गद्य और पद्य की भाषाओं में जो थोड़ा-बहुत अंतर रहता है उसके कारण भी हैं। पद्य पिंगल-शास्त्र की असंख्य काराओं से आबद्ध रहने के कारण निर्वाह में गद्य की अपेक्षा कठिन है। कवि को अत्यंत सूक्ष्म, कोमल एवं विषम मार्ग से अपना रास्ता तय करना पड़ता है। प्राचीन संस्कृत के काव्य-शास्त्रों को ध्यान में रखकर तो कवि-कर्म इतना दुरूह है कि विश्व में सम्भवतः कोई भी महाभाग्य कवि न होगा जिसकी कोई भी रचना पूर्णरूपेण काव्य-दोषों से रहित हो। कालिदास, भवभूति, वाल्मीकि, तुलसी आदि सर्वमान्य किसी भी महाकवि की कोई रचना ऐसी न होगी जिसमें कोई छोटा-बड़ा दोष समीक्षकों ने नहीं गिनाया होगा। अतः कवि-कर्म अत्यन्त दुरूह है। इस परम दुरूहता-वारिधि-संतरण हेतु काव्य-शास्त्रियों ने कवियों को कुछ आश्रय-स्थल प्रदान किये हैं। कविगण उन सुविधाओं का लाभ उठाते हुए इस दुर्गम पथ पर कदम रखते हैं। इसके विपरीत गद्यकार का कार्य पद्यकार की अपेक्षा अधिक प्रशस्त तथा प्रशान्त होता है। वह अपने राज्य मार्ग पर दौड़ सकता है। पतन का भय उसे कम होता है; इसलिए पद्यकार के साथ मार्ग तय करने में उसे अधिक सुविधा होती है। विश्व के काव्य-शास्त्रियों ने पद्यकारों के प्रति अन्याय न होने देने के लिए गद्यकारों को पद्यकारों के उन आश्रय-स्थलों से वंचित कर दिया है। इस प्रकार से पद्यकारों को संकीर्ण मार्ग पर चलने की व्यवस्था देकर उन्हें कुछ सुविधायें दी हैं जिनसे गद्यकार वंचित हैं।

अब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि पद्यकार के वे आश्रय-स्थल तथा सुविधायें कौन हैं जो गद्यकार को अप्राप्य हैं। यह सुविदित ही है कि व्याकरण भाषा का नियामक तंत्र होता है, उसके द्वारा भाषा में एकरूपता, स्थिरता तथा परिष्कार होता है।

---

१. चिन्तामणि पहला भाग—कविता क्या है : पृ० २३६।

गद्यकार को व्याकरण के इन नियमों को कठोरता से मानना अनिवार्य रहता है। प्रत्येक शब्द चुन-चुनकर व्याकरण-सम्मत वाक्य-विन्यास के अन्तर्गत रखना पड़ता है। शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने या उन्हें विकलांग करने की अनुमति उसे नहीं होती। साथ ही उसे अव्यवहृत, ग्रामीण या देशज शब्दों का भी अपनी रचना में त्याग करना पड़ता है। पद्यकार के लिए यथासम्भव न्यूनाधिक मात्रा में व्याकरण के नियम बाध्य नहीं करते। क्योंकि उसके सिर पर लघु-गुरु की मर्यादा, वर्णों का विचार, रस-व्यंजना, ध्वनि-औचित्य आदि का भारी बोझ रहता है; इसलिए व्याकरण की कठोरता से उसे कुछ सीमा तक मुक्ति दी गई है। ये ही उसके विश्राम-स्थल हैं जिनसे वह अपने दुर्गम मार्ग में संबल प्राप्त करता है। इसमें भी संदेह नहीं कि ये पद्य-मार्ग के विश्राम-स्थल मात्र हैं जिनसे कवि अपने को घोर पतन से बचाता है; परन्तु उसका इन स्थलों का आश्रय लेना भी उसकी श्रेष्टता के लिए श्रेयष्कर नहीं माना गया है। गद्यकार के लिए ये त्रुटियाँ अक्षम्य हैं। व्याकरण गद्य-पद्य के लिए पृथक् भाषाओं की रचना नहीं करता। वह तो परिस्थिति-विशेष में आँख बचाकर प्रयोग करने भर का अवसर देता है। जैसे आधुनिक हिन्दी-गद्य में जोहना, विलोकना, लसना, दरसना, इत्यादि अनेकों ब्रज-भाषा की क्रियायें प्रयुक्त नहीं होतीं, पर कविगण आवश्यकतानुसार इनसे भी अपना काम निकाल सकते हैं। इतना ही नहीं, क्रिया तथा कर्त्ता-विहीन प्रयोगों के भी ये जन्म-सिद्ध अधिकारी रहते हैं। शब्द-विन्यास तथा क्रम में उलटफेर करने की भी उन्हें छुट्टी रहती है। इसी प्रकार व्याकरणच्युत शब्द— इस्मे, जिस्मे, इस्के, कवी, धरम, परभात, मरम, दरलभ, संकर आदि गद्यकारों को वर्जित हैं, पर पद्यकार आवश्यकतावश उनके प्रयोग में स्वतन्त्र हैं। अंग्रेजी पद्य में भी प्राचीन लेटिन तथा ग्रीक भाषाओं के अप्रचलित शब्द यदाकदा स्थान पाते रहते हैं; परन्तु अंग्रेजी गद्य से उनका सम्बन्ध उठ गया है।

अतः गद्य में इस प्रकार की 'मान्य अशुद्धियों' को कोई स्थान नहीं है। आचार्य द्विवेदीजी का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान्य होता है, अशुद्ध का उतना नहीं। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है।[1] भाषा के स्वाभाविक एवं व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन करने के कारण द्विवेदीजी ने गद्य और पद्य की भाषा की पृथकता का विरोध किया है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।[2] विलियम वर्ड्सवर्थ ने भी सरलता तथा स्वाभाविकता पर बल दिया है और गद्य-पद्य की भाषा-शैली के ऐक्य का समर्थन किया है।[3]

गद्य के बाह्य तत्त्व

गद्य और पद्य के विश्लेषणात्मक तत्त्वों में वाक्य, परिच्छेद, विराम-चिह्न

१. रसज्ञ-रंजन : पृ० १८।
२. रसज्ञ-रंजन : पृ० १९।
'Preface to the 2nd edition of the Lyrican Ballads'.
३. Selections from W. Wordsworth.

आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे सामान्यतः वाक्य, विराम-चिह्न आदि पद्य में भी रहते हैं परन्तु वहाँ उनको वह महत्ता प्राप्त नहीं है जोकि गद्य में उन्हें प्राप्त है। गद्य में इन तत्त्वों पर दृढ़ता से विचार किया जाता है।

वाक्य

वाक्य गद्य शैली का एक मुख्य तत्त्व है। मानव-चिन्तन का आरम्भ वाक्य में ही हुआ है और उसकी चरम अभिव्यक्ति भी वाक्य में होती है। वाक्य अभिव्यक्ति की इकाई है। अनेक भारतीय विद्वानों ने वाक्य को एक अखण्ड तत्त्व माना है। उनका तर्क है कि वाक्य स्फोटात्मक ध्वनि है, उसका कोई विभाग नहीं है। वह अखण्ड है, उसका वाच्य अर्थ प्रतिभा है जिसका विभाजन नहीं हो सकता। लोक-व्यवहार के लिए ही केवल पदों या शब्दों का काल्पनिक विभाजन किया जाता है।[1] वाक्य एक अखण्ड शब्द है।[2] वास्तव में भाषा का आरम्भ वाक्य से ही हुआ है, इससे पृथक्-पृथक् शब्दों का भाषा-शैली की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। वाक्य से असम्बद्ध अकेले शब्दों की स्थिति शब्द-कोश में पायी जाती है। परन्तु कोशकार को भी शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए वाक्य का स्वरूप देना पड़ता है। पृथक्-पृथक् शब्द अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखते हैं। हमारे ऐसे सोचने का एक कारण यह है कि हम लेख में वाक्य के शब्दों को पृथक्-पृथक् स्थान छोड़कर लिखते हैं।[3] इन तर्कों के आधार पर यह मान्य है कि वाक्य ही चिन्तन एवं अभिव्यक्ति का चरम तत्त्व है।[4] यद्यपि शैली में शब्दों का और उनके प्रयोग का महत्त्व होता है; शैली शब्दों की ही कलात्मक योजना है अथवा विशिष्ट पद-रचना है फिर भी समस्त श्रेय का सेहरा शब्दों के सिर नहीं बांधा जा सकता। शब्द की शक्तियां—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तथा गुण - प्रसाद, ओज, माधुर्य एवं वृत्तियां—उपनागरिका, परुषा और कोमला यथार्थ में शब्द को अपने-आप नहीं मिल जाती वरन् वाक्यों के सम्बन्ध से मिलती हैं। अतः शब्दों का वाक्य-रचना में महत्त्व होते हुए भी शैली में वाक्य का ही महत्त्व है। वाक्य का भाव या विचार से भी सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति के ढंग से भी। वाक्य में शब्दों का वह संगठन आवश्यक है जो हमारे मंतव्य को ठीक प्रकार से पूरा करे, जो वस्तु जिस रूप में हमारी कल्पना या अनुभूति या बुद्धि के भीतर आई है उसको उसी प्रकार व्यक्त करे। इसमें वाक्य जिस तत्त्व से सम्बन्ध रखता है उसी प्रकार शैली के भेद भी प्रज्ञात्मक, कल्पनात्मक या भावात्मक हो जाते हैं। वाक्य अभिधा, लक्षणा या व्यंजना प्रधान हो सकता है। काव्य के लिए व्यंजना का ही महत्त्व अधिक है, इस प्रकार व्यंजनात्मक वाक्य उत्कृष्ट शैली के लक्षण हैं।[5]

---

१. पुण्यराज उद्धृत : डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन : पृ० ३१४
२. —वही— —वही— : पृ० ३१५।
३. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : तुलनात्मक भाषा शास्त्र : पृ० ४३।
४. आचार्य वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।३।६।
५. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास : पृ० ३१७-८

आचार्य विश्वनाथ ने रस की काव्य की आत्मा के सर्वोच्च पद पर जो प्रतिष्ठा की है उसका मेरुदण्ड भी वाक्य ही माना गया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' उनकी विख्याप्त उक्ति है।[1]

वाक्य के द्वारा अभीष्ट अर्थ की पूर्ति के लिए वाक्य के सभी पद या अवयव परस्पर समन्वित एवं संगठित होने चाहिएं। वाक्यांशों का वाक्यों में सामंजस्य ही श्रेष्ठ शैली का निर्माण करता है। शैली में वाक्यों की महत्ता इसी से प्रगट हो जाती है कि प्रत्येक वाक्य एक स्वतन्त्र इकाई तथा एक विचार का वाहक होता है। अतः वह अपने-आपमें पूर्ण तथा स्वस्थ होना अपेक्षित है। उसके द्वारा सरलता, सुबोधता तथा सशक्तता से भाव अथवा विचारों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। "वाक्य-योजना के लिए दो बातों को स्मरण करना चाहिए। प्रथम तो यह कि शब्दों, मुहावरों एवं वाक्य, खण्डों का संस्थापन सान्निध्य नियम के साथ होना चाहिए। अर्थात् जो विशेषण, जो कहावतें, जो अलंकार और जो सहायक वाक्य मुख्य वाक्य के जिस अंश की विशेषता का द्योतन करते हैं उसी अंश की संनिधि में उसकी योजना करनी चाहिए।"[2]

वाक्यांशों तथा वाक्यों का विस्तार विचार-विस्तार पर निर्भर रहता है। छोटे वाक्य तथा वाक्यों के प्रयोग से ओज तथा गति आती है। इसी से कुशल लेखकों द्वारा वाक्यों में संक्षिप्तता पाने के लिए तथा वाक्य को गौरवशाली बनाने के लिए उसमें से अनावश्यक शब्दों और वर्णों को हटा दिया जाता है। जैसे, विभक्ति, प्रत्यय आदि अलग करके सामासिक तथा संयुक्त शब्दों को बनाकर वाक्यों में लाघव तथा ओज गुण स्थापित किया जाता है।[3] समीकृत वाक्यों का प्रयोग लेखक के रचना-कौशल का प्रतीक है, इसी से वाक्य में आदि से अन्त तक गठन, संगति, तथा आगे बढ़ने की प्रेरणा रहना आवश्यक है। शैली के मर्म को आत्मसात् कर लेने वाला लेखक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वाक्यांश को प्रारम्भ में प्रस्तुत करके वाक्य के शेष अंश में उसी की पुष्टि कर उस अंश का प्रतिपादन करता है, अथवा प्रारम्भ के अंश में अत्यन्त सुघड़ता से प्रस्तावना रखकर पाठक की अर्थ-उत्सुकता को बनाये रखकर वाक्य के मुख्य अंश को अन्त में उपस्थित करके वाक्य-रचना को सशक्त करता है। वाक्य-विन्यास में नवीनता भी वाक्य को सबल बनाकर शैली को प्रौढ़ता प्रदान करती है। इसके विपरीत एक ही प्रकार के वाक्यों से शैली में शिथिलता एवं गतिहीनता आ जाती है। लम्बे वाक्यों में तारतम्य स्थापित करके वाक्य-विन्यास को सुगठित करना बहुधा सभी शैलीकारों को निर्वाह की वस्तु नहीं हो पाती है। इतने लम्बे वाक्यों में संगठना के अभाव के कारण अस्पष्टता, शिथिलता, असंगति, जटिलता आदि आ जाने से अरुचि होने का भय रहता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि सभी लम्बे वाक्यों में ये अभाव रहते हैं। हां, तुलनात्मक दृष्टि से यदि अन्य बातें समान हों तो छोटे वाक्यों की शृंखला गतिशीलता

१. साहित्यदर्पण—१।२ : पृ० १६।

२. कमलापति त्रिपाठी : शैली : पृ० ७६।

३. "ओजः समास भूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।" दण्डी : काव्यादर्श, १।४०

प्रदान करती है, तथा लम्बे वाक्य रचना में शुष्कता एवं गतिक्षीणता लाते हैं।[१] उसका कारण यही है कि दीर्घ वाक्यावलियों की गहन वीथियों में प्रसाद गुण तिरोहित हो जाता है जो कि शैली का अनिवार्य गुण है। जहाँ विषय को सरल पाकर लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया जाता है वहां लम्बे वाक्यों का ही औचित्य है, पर जटिल और दुर्बोध विषयों के लिए छोटे वाक्य ही उचित हैं। 'एक भाव या विचार एक वाक्य' यही सिद्धान्त श्रेष्ठ शैलीकारों का बहुधा रहा है।

प्रायः देखा जाता है कि भाषा के आदिकाल में लम्बे-लम्बे शिथिल वाक्य बिना विराम-चिह्नों की अपेक्षा किये कई पृष्ठों तक फैले रहते थे। इससे उनमें प्रौढ़ता एवं विन्यास का अभाव रहता था। वे शब्द भी बहुत लम्बे, कठिन और घोषपूर्ण रहते थे। नये लेखकों में शब्दाडम्बर तथा प्रौढ़ावस्था में क्रमशः उसका अभाव मिलता है, साथ ही शब्द और वाक्य छोटे और सरल होते जाते हैं।[२] भाषा की प्रौढ़ता और विचारों की विषमता के साथ वाक्य-विन्यास में भी विविधता एवं गहनता आ गई है। वाक्य सरल से कठिन, सम से विषम तथा अल्पपदी से मिश्रित और संयुक्त होते जा रहे हैं। वाक्य-विन्यास के नवीन रूपों ने विराम-चिह्नों की आवश्यकता तथा महत्ता को बढ़ा दिया है।

शब्दों की भांति वाक्यों का एक विशेष गुण ध्वनि भी होता है। वैसे वाक्य स्वयं ही एक ध्वनि है। विराम-चिह्नों के प्रयोग के द्वारा वाक्य, ध्वनि और लय का संकेत मिलता है।

अंग्रेजी गद्य में वाक्य के अन्तर्गत शब्दों के क्रम को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है। वहाँ वाक्यांश या वाक्य के सबसे प्रभावी स्थल पर मार्के का शब्द रखा जाता है।[३] एक ही वाक्य कई ढंग से शब्दों का स्थान परिवर्तन कर प्रस्तुत किये जाते हैं और जिस स्थान पर बल देना होता है उसको अन्त में या आरम्भ में रखा जाता है। गद्य-शैली पर इस प्रकार की शब्द-योजना का विशेष प्रभाव पड़ता है।

अतः वाक्यों की रचना गद्य-शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह एक यांत्रिक कार्य है। उसके विभिन्न व्यावहारिक अवयवों तथा गुणों का उचित सामंजस्य होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वाक्यों की सौष्ठव-वृद्धि में लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग भी वांछनीय होता है।[४]

१. "Other things being equal a series of short sentences will convey an impression of speed, and therefore are suited to the narration of action or historical events; while longer sentences give an air of solemnity and deliberation to writing." —*Herbert Read : English Prose Style* : p. 37.

२. पं० राजनाथ शर्मा : साहित्यिक निबन्ध : पृ० ४३७ ।

३. F. L. Lucas : Style : p. 39.

४. "...मुहावरे ही भाषा का प्राण हैं; उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना।"
—रसज्ञ-रंजन : महावीरप्रसाद द्विवेदी : पृ० १८ ।

परिच्छेद

परिच्छेद गद्य-रचना में एक पूर्ण और स्वतन्त्र गद्य-खण्ड होता है, जिसकी अपनी लयात्मक इकाई रहती है। जिस प्रकार से वाक्य एक पूर्ण विचार की अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार से परिच्छेद भी एक ही भाव या विचार के विवेचन को अपने में समाहित रखता है। मानव-मस्तिष्क या हृदय की किसी विषय या वस्तु-विशेष पर जो प्रतिक्रिया होती है उसका नियमन और व्यवस्था इकाइयों में की जाती है। परिच्छेदों की सहायता से उन विचार-खण्डों को हृदय-स्पर्शी तथा प्रभावशील बनाने के लिए एक ही विचार, विचारांशों या तर्कों को अनेक वाक्यों की क्रमबद्ध शृंखला में संजोया जाता है। अर्थात् प्रत्येक परिच्छेद में एक ही विचार का पूर्ण विकास, विवेचन तथा व्यवस्थित निर्वाह रहता है।[१] यह विराम-चिह्नों की व्यवस्था है।[२] विराम चिह्नों तथा विराम-व्यवस्था के अनुसार, एक विचार के पूर्ण होते ही एक ऐसा पूर्ण विराम लग जाता है कि लेखक को अपना लेखन कार्य वहीं स्थगित करके दूसरी नवीन पंक्ति में कुछ स्थान छोड़कर ही अन्य विचार को प्रस्तुत करना पड़ता है। अस्तु, विराम-चिह्न का विशेष प्रयोग ही परिच्छेद का नियामक होता है। प्रत्येक परिच्छेद का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इसके अन्त में पाठक विश्रान्ति की श्वास लेता है। यह गद्य में सौंदर्य की अपेक्षा सुविधा की इकाई है।[३]

यद्यपि परिच्छेदों के सम्बन्ध में कोई दृढ़ और ठेठ नियम नहीं है, फिर भी एक परिच्छेद प्रायः एक हो शैली में, एक-से विन्यास वाले वाक्यों, एक ही विचार या तर्क को लेकर गठित किया जाता है। प्रौढ़ लेखकों के सुष्ठ एवं वैज्ञानिक लेखन में बहुधा परिच्छेद दीर्घ तथा सुगठित रहते हैं तथा निम्न श्रेणी के लेखकों की दुर्बल विचार-शक्ति तथा भावों के दुर्भिक्ष के कारण परिच्छेद छोटे-छोटे तथा अव्यवस्थित रहते हैं। अनेक बार तो नवसिखिये लेखकों के ये गद्य-खण्ड भी पर्याप्त दीर्घकाय होते हैं; परन्तु उनमें विचारों और भावों की विचित्र खिचड़ी विचित्र ढंग से फूहड़ के पाक-गृह में पकती-सी दिखती है। वाक्यों के ऐसे संग्रह को वस्तुतः वैज्ञानिक-भाषा में परिच्छेद की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। वाक्य समूहों की दीर्घकायता भी इस कार्य में लाभदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार से त्रुटिपूर्ण, शिथिल अथवा मृत परिच्छेद बिना तारतम्य अथवा विचार के तब तक चलते रहते हैं जब तक कि लेखक के सब विचार एकाएक रुक न जायें अथवा उसका मन विश्राम करने के लिए उसे प्रेरित न करे। ऐसे तथाकथित परिच्छेद श्रेष्ठ गद्य के नियामक कदापि नहीं हो सकते। "यथार्थ में परिच्छेद एक प्लास्टिक के चौखटे के समान होता है जो कि अपने उद्दिष्ट विचार के अनुसार छोटा-बड़ा आकार

१. "The basic unit of a composition conveying a single distinct point in the progression of the work."—*Shipley's Dictionary of World Literature*: p. 422.

२. "The paragraph is a device of punctuation."

—*Herbert Read : English Prose Style :* p. 55.

३. F. L. Lucas : Style : p. 72.

ग्रहण कर लेता है। उसका विचार ही उसका आकार है।"[१]

"श्रेष्ठ साहित्य में ध्वनि की महत्ता सिद्ध है। शब्द और वाक्य दोनों ही ध्वनि की अपेक्षा रखकर अपने गौरव की वृद्धि करना चाहते हैं। इतना ही नहीं, रीति का विधान ही शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है।"[२] इस स्थिति में परिच्छेदों को नाद, लय अथवा ध्वनि से विमुख रखना कदापि श्रेयष्कर नहीं हो सकता। उत्कृष्ट गद्य के आविर्भाव के लिए शैलीकार को अपने विचारों तथा भावों के साथ ही ध्वनि पर भी ध्यान रखना चाहिए। इस ध्वनि का निर्वाह प्रत्येक गद्य-खण्ड अथवा परिच्छेद में होते रहने से भाषा में सौष्ठव एवं प्रभाव की वृद्धि होती है। विशेषकर वर्णनात्मक गद्य में आत्मकथा, जीवनी, यात्राओं के लेखकों को इस प्रकार के सांगोपांग निर्वाह की अधिक आवश्यकता रहती है।

गद्य में पद्य का छन्द-विधान तथा मात्रा या वर्णों की संख्या आदि का नियम नहीं होने के कारण भी परिच्छेदों की स्वस्थ व्यवस्था आवश्यक है। पद्य की छन्दात्मक लय व ध्वनि का जो गद्य में अभाव रहता है उसकी यथा-सम्भव पूर्ति परिच्छेदों से हो जाती है। प्रत्येक परिच्छेद, गद्य में स्वतंत्र और पूर्ण लयात्मक इकाई होता है। वाक्यों की लय, ध्वनि व गति भी परिच्छेद में समाविष्ट हो जाती है। लय परिच्छेद के प्रथम वर्ण से ही प्रारम्भ हो जाती है और वह तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक कि विश्रान्ति के साथ परिच्छेद समाप्त न हो जावे। "परिच्छेद की लयात्मक एकता ही लेखन की यथार्थ एकता हो सकती है।"[३]

विराम-चिह्न

भाषा के विकास के साथ भाषा-शैलियों में भी विषमता और विविधता की वृद्धि हो गई है। विशेषतः गद्य के क्षेत्र में तो वाक्य-विन्यास की बहु-रूपता ने भावाभिव्यक्ति को अपेक्षाकृत गम्भीर तथा दुरूह बना दिया है। आज अधिकांश प्रौढ़ तथा सम्पन्न भाषाओं के गद्य में लम्बे-लम्बे संयुक्त संश्लिष्ट एवं मिश्रित वाक्यों की शृंखलाएँ बढ़ती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में विराम-चिह्नों की महत्ता की भी वृद्धि हो रही है। विराम-चिह्न गद्य-शैली में इसीलिए विशेषतः विचारणीय है। पद्य में विराम-चिह्नों को इतना महत्त्व नहीं है, इसके दो मुख्य कारण हैं।

प्रथम तो यह है कि पद्य की स्वाभाविक लय एवं संगीतात्मकता ने पद्य को कर्णेन्द्रिय का विषय बना दिया है, जिसमें उच्चारण के आधार पर केवल विराम या यति

१. "The paragraph is a plastic mass and it takes its shape from the thought it has to express : its shape is the thought."
—*Herbert Read* : *English Prose Style* : p. 61.

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : अभिभाषण : सभापति साहित्य परिषद् हि० सा० सम्मेलन : २४वां : पृ० १२।

३. "The rhythmical unity of the paragraph may be a unity of actual composition." —*Herbert Read : English Prose Style* : p. 59.

का संकेत करके स्वरपात का ध्यान रखना पड़ता है, इसके विपरीत गद्य-दृगेन्द्रिय-सम्बद्ध अधिक होने से उसमें लय, निपात तथा विश्राम का संकेत करने के लिए अनेकों प्रकार के विराम-चिह्नों का उपयोग किया जाता है। इन चिह्नों का मूल उद्देश्य यही है कि जो कुछ बोला जाय वही पढ़ा जाय और जो पढ़ा जाय वही बोला जाय।

द्वितीयत: गद्य में वाक्यों की लम्बाई की असीमता ने भी, भावाभिव्यक्ति की सरलता तथा स्पष्टता के उद्देश्य से विराम-चिह्नों की योजना को गद्य में अत्यधिक आवश्यक बना दिया है। जब प्रौढ़ लेखक विचारों के प्रवाह में एक ही वाक्य में अधिक सामग्री भरने को आकुल-व्याकुल होकर, गूंथता जाता हो, तब विशेषत: पाठकों की सुविधा के लिए ये विराम-चिह्न बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार से विराम-चिह्न वाक्य-विन्यास के गठन, वाक्यों की बनावट, स्पष्टता, अभिव्यक्ति की सुबोधता, तथा लय की निर्मिति करते हैं। विराम-चिह्नों की भांति गद्य-शैलियों में भावों तथा लय के परिवहन में समुच्चयबोधकों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। उचित समुच्चयबोधकों के प्रयोग के द्वारा भाषा में उत्तम शैली का प्रादुर्भाव होता है। यही कारण है कि विश्व की सभी भाषाओं में विराम-चिह्नों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

गद्य-शैलियों का वर्गीकरण

व्यक्तित्व-प्रसूत शैलियों का वर्गीकरण ठेठ विभाजक रेखाओं के आधार पर करना सम्भव नहीं है। अति प्राचीनकाल में ही भारतीय काव्य-शास्त्री आचार्य दण्डी ने 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्म भेदः परस्परम्''[1] का उद्घोष कर शैली की अति सूक्ष्म भिन्नताओं का प्रतिपादन किया था। व्यक्ति-वैशिष्ट्य के कारण जो रीतियाँ (शैलियाँ) होती हैं उनका नामकरण तथा सूक्ष्म विवेचन स्वयं सरस्वती के लिए भी अति कठिन है।[2] अतएव शैलियों का वर्गीकरण अत्यन्त सूक्ष्म एवं गूढ़ विषय है। जब मानव-व्यक्तित्व सरल और सीधा नहीं होता तो उससे अनुप्राणित शैलियों का विषम होना स्वाभाविक है। एक शैली में दूसरी अन्य शैलियों के तत्त्व इस प्रकार मिले रहते हैं कि कठिनाई से विशुद्ध शैलियाँ उपलब्ध होती हैं। विभिन्न समीक्षक शैली-वर्गीकरण भिन्न आधारों पर करते हैं। यथा—

विषय तथा व्यक्ति की प्रधानता के आधार पर विषय-प्रधान शैली तथा व्यक्ति-प्रधान शैली हो सकती हैं। विषय-प्रधान शैली वर्ण्य विषय या वस्तु को प्रधान स्थान देती है और शैलीकार की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ उसमें तिरोहित हो जाती हैं। इसके ठीक विपरीत व्यक्ति-प्रधान शैली में लेखक की भावना, अनुभूति, कल्पना आदि वैयक्तिकताएँ अधिक प्रच्छन्न होकर प्रगट होती हैं। शास्त्रीय विषय वस्तु-प्रधान शैली की अपेक्षा रखते हैं और विभिन्न काव्यरूपों में न्यूनाधिक मात्रा में

१. काव्यादर्श : १।४० ।
२. काव्यादर्श : १।१०२ ।

व्यक्ति-प्रधान शैली मुखरित होती है।

वाक्य-रचना की दृष्टि से भी शैलियों के प्रकार हो सकते हैं। जैसे सरल सौम्य शैली—जिसमें छोटे-छोटे वाक्य, सरल विन्यास में प्रस्तुत रहते हैं। दूसरी गुम्फित शैली में बड़े संयुक्त और मिश्रित वाक्य अनेक उप-वाक्यों के साथ गुम्फित रहते हैं। सुदर्शन, रायकृष्णदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी इत्यादि की शैली बहुलांश में सरल है और गोविंद-नारायण मिश्र, पाण्डेय रामावतार शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल की शैलियाँ न्यूनाधिक मात्रा में गुम्फित हैं।

वस्तु-नियोजन की विशिष्ट पद्धति के आधार पर भी शैलियों का भिन्न नाम-करण हो सकता है। कहीं विभिन्न प्रघट्टकों के प्रारम्भ में ही सूत्र रूप से एक तथ्य प्रस्तुत कर दिया जाता है और उसके नीचे अनेक वाक्यों में उसका स्पष्टीकरण किया जाता है। इस शैली को आगमनात्मक शैली अथवा सूत्र-शैली भी कह सकते हैं। आचार्य शुक्ल के विशेषतः मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में इस शैली का बहुत सफल निर्वाह हुआ है। इसी के विपरीत निगमनात्मक शैली या व्यास शैली में सामासिकता एवं गाढ़ बन्धत्त्व बहुत कम रहता है। शैलीकार विस्तार के सहित विषय-प्रतिपादन करता है और अन्त में अपने विवेचन का सारांश भी 'तात्पर्य यह है कि 'अतः', 'अतएव', 'संक्षिप्त में' इत्यादि पदों की सहायता से दे देता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास की लेखनी इस कला में बहुत सिद्ध थी।

शब्द-चयन को ध्यान में रखकर भी शैलियों के प्रकार—संस्कृत तत्सम-प्रधान, उर्दू दां शैली, या मिश्रित (हिन्दुस्तानी) अथवा ठेठ भाषा-शैली हो सकते हैं।

इसी प्रकार से मुहावरे, उक्तियों आदि की प्रधानता के आधार पर मुहावरे-प्रधान शैली; व्यावहारिक पचमेल शब्दों के प्रयोग से व्यावहारिक शैली; साज-सज्जा के अनुसार लाक्षणिक, प्रतीकात्मक अथवा आलंकारिक शैली; पाठकों की दृष्टि से सर्व-बोध, दुरूह, क्लिष्ट आदि शैलियाँ; सामान्य प्रभाव के आधार पर सबल, शिथिल, लचर या प्रवहमान शैलियाँ हो सकती हैं। इसी प्रकार से अन्यान्य कई दृष्टिकोणों से शैलियों का वर्गीकरण तथा नामकरण किया जा सकता है। निःसन्देह उपर्युक्त कोई भी एकाकी आधार शैलियों के विभाजन की ठोस भूमिका प्रस्तुत नहीं करता। अतः एक से अधिक आधारों को मिलाकर हम मोटे रूप से शैलियों के निम्नलिखित ६ वर्ग करना अधिक न्याय-संगत समझते हैं—द्विवेदी-युग में ये सभी शैलियाँ हमें उपलब्ध होती हैं :

१. वर्णनात्मक शैली
२. चित्रात्मक शैली
३. विवेचनात्मक शैली
४. व्याख्यात्मक शैली
५. भाषण-शैली
६. सम्भाषण-शैली
७. व्यंग्यात्मक शैली
८. भावात्मक शैली

९. काव्यात्मक शैली ।

१. **वर्णनात्मक शैली**—इसमें किसी स्थान, वस्तु अथवा व्यक्ति का यथातथ्य वर्णन किया जाता है और बहुधा ज्ञानेन्द्रियों की सहायता ली जाती है। अतएव प्रज्ञा-शक्ति-प्रसूत विवेचन तथा व्याख्या इसमें नहीं की जाती। इस शैली से इसीलिए लेखक के व्यक्तित्व का स्फुरण नहीं हो पाता। यथातथ्य वर्णन के आग्रह के कारण व्यक्तिगत रुचि, अरुचि, धारणाएं और अनुभूतियों को प्रगट होने का अवसर कम मिलता है। इसमें बहुधा व्यास शैली और प्रसाद गुण की सत्ता रहती है, साथ ही बहुलांश में शब्दों की अभिधा-शक्ति मुखरित होती है। गद्य रूपों में वर्णनात्मक निबंध, कहानियों तथा उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली का अधिक प्रयोग रहता है। भाषा का इसमें सर्वाधिक सौम्य रूप रहता है। कथा-साहित्य में यह शैली अधिक स्थान पाती है।

२. **चित्रात्मक शैली**—इसमें शैलीकार की वर्णनात्मक शक्ति इतनी समर्थ रहती है कि वह पाठकों के समक्ष साम्य तथा सादृश्यमूलक उपमा, रूपकादि के द्वारा एक शब्द-चित्र उपस्थित कर देती है। इससे वर्णन में सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता आ जाती है। प्रेमचन्द्र, चण्डीप्रसाद हृदयेश, सुदर्शन प्रभृति श्रेष्ठ कलाकारों की रचनाओं में ऐसी शब्द-चित्रों की शैली विपुल मात्रा में मिलती है।

३. **विवेचनात्मक शैली**—ज्ञानेन्द्रियों की ऊपरी विवरण, वर्णन या चित्रण की शक्ति के ऊपर उठकर जब मस्तिष्क की शक्ति से किसी तथ्य का तर्क-वितर्क, विवेचन-विश्लेषण आदि के द्वारा प्रतिपादन या स्पष्टीकरण किया जाता है, तब विवेचनात्मक शैली ही अधिक उपयुक्त रहती है। विषयानुसार इसमें गम्भीरता, प्रौढ़ता और शुष्कता रहती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सामासिक गाढ़ बन्धता के साथ तथा डॉ० श्याम-सुन्दरदास ने व्यास शैली या असामासिक शब्दों में विवेचनात्मक शैली का सफल निर्वाह किया है। बहुधा इसमें मिश्रित और हल्की भाषा उपयुक्त नहीं रहती है।

४. **व्याख्यात्मक शैली**—गूढ़-गम्भीर विषय के सम्पूर्ण स्वरूप को लेकर, अधिक प्रौढ़ तथा प्रबल व्याख्यात्मक शैली में विश्लेषण, विवेचन, मीमांसा, निरीक्षण-परीक्षण, तर्क तथा प्रमाण समुपस्थित किये जाते हैं। इसमें पारिभाषिक शब्दों से भी सहायता ली जाती है। दर्शन, वेदान्त अथवा साहित्यिक सिद्धान्तों की व्याख्या इसी शैली में बहुधा की जाती है। इसमें लेखक का उद्देश्य गूढ़ तथा दुरूह विषय को सरल और बोध-गम्य बनाना रहता है। इससे इस शैली में प्रायः सामासिकता की उपेक्षा करके व्यास शैली अपनायी जाती है। व्याख्याता अपनी सहृदयता एवं प्रशान्त अगाध प्रज्ञा-शक्ति के द्वारा पाठक के हृदय और मस्तिष्क दोनों पर ही प्रभुत्व स्थापित करने में सफल होता है। अन्य शैलीकारों की अपेक्षा व्याख्याता शैलीकार की विजय ही वस्तुतः पूर्ण होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० श्यामसुन्दरदास के विवेचनात्मक शैली के बीच-बीच में व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं।

५. **भाषण-शैली**—इसमें विभिन्न विषयों को शैलीकार इस रूप में प्रस्तुत करता है कि मानो वह अपने समक्ष बैठे हुए सामान्य कोटि के असंख्य श्रोताओं को सम्बोधित करता है, उपदेश देता है, प्रश्न करता है, विरोधी मतों का खण्डन तथा

स्वपक्ष का मण्डन करने को तर्क-वितर्क करता है। इस शैली में प्रवाह के साथ प्रभाव, प्रसाद के साथ ओज गुण तथा भावात्मकता के साथ पुनरावृत्तियाँ रहती हैं। शब्द-प्रयोग भी बोलचाल की व्यावहारिक भाषा का रहता है। अध्यापक पूर्णसिंह, आचार्य पद्मसिंह शर्मा तथा उग्रजी की भाषा में हमें भाषण या वक्तृतात्मक शैली अधिक मिलती है।

६. **सम्भाषण-शैली**—भाषण-शैली के समीप ही नाट्य-साहित्य की संलापात्मक शैली में पात्रों की बातचीत अथवा लेखक-पाठक की आत्मीयतापूर्ण निश्छल, अनौपचारिक, व्यावहारिक भाषा-शैली की योजना की जाती है। इसमें वाक्य-विन्यास का व्यतिरेक भी रहता है और बोलचाल की भाषा के अपूर्ण वाक्य भी मिलते हैं। हिन्दी में कथा-साहित्य में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक तथा प्रेमचन्द की रचनाओं में इस शैली का सुन्दर स्वरूप उपस्थित हुआ है; उग्रजी की पत्र-शैली में भी सम्भाषण-शैली का-सा आभास रहता है।

७. **व्यंग्यात्मक शैली**—व्यंग्य, विनोद और कटाक्ष से ओतप्रोत शैली का अपना गन्तव्य एवं मन्तव्य होता है। जो प्रभाव सरल और सीधी शब्दावली का नहीं होता वह व्यंग्य, कटाक्ष और अन्योक्ति का होता है। विशेषतः कानून, शिष्टता तथा औपचारिकता का ध्यान रखकर शब्दों की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का आश्रय लेकर, अन्योक्ति, व्याज स्तुति-निन्दा, श्लेष आदि अलंकारों से सज्जित कर बौद्धिक कौशल के साथ व्यंग्य की वाणावलियों का संधान किया जाता है। समाज के दम्भ, आडम्बर तथा जड़ता के उन्मूलन के लिए अथवा विरोधियों की खिल्ली उड़ाने के लिए व्यंग्य शैली से अधिक प्रभावशाली दूसरी अन्य कोई शैली नहीं रहती। बालमुकुन्द गुप्त की भाषा में व्यंग्यात्मक शैली का आद्योपान्त अत्यन्त सकल एवं व्यंजक रूप मिलता है।

८. **भावात्मक शैली**—भावों के प्रवाह में शैलीकार की भाषा भावों से तदाकार हो जाती है। भाव या रस शैली का श्रेष्ठ नियामक तत्त्व है। इस स्थिति में रसौचित्य के अनुसार, शैली में वेग तथा प्रवाह रहता है। भावातिरेक के कारण भावात्मक शैली के ही अन्तर्गत प्रलाप शैली हो जाती है। मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ जाने से शैलीकार भाव-विभोर होकर अस्त-व्यस्त वाक्य-विन्यास में अनगढ़ प्रयोग करता है। कहीं उसकी भाषा सशक्त हो जाती है और कहीं शिथिल। शब्दों और पदों की आवृत्ति भी बहुधा भावात्मक शैली में लक्षित होती है। अध्यापक पूर्णसिंह, वियोगीहरि और रायकृष्ण दास के द्वारा भावात्मक शैली का सुन्दर समाहार हुआ है।

९. **काव्यात्मक शैली**—मूलतः कवि-गद्यकारों की स्वाभाविक भाषा में कोमलकान्त पदावलियाँ, आलंकारिकता, कल्पना की उड़ान और दार्शनिक सूझ-बूझ अधिक रहती है। कलात्मक साज-सज्जा की रुचि रहने के कारण इसमें शैलीकार शब्दाडम्बर, दीर्घ सामासिक पदावलियाँ, अनुप्रास, यमक, श्लेष विशेषतः तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि की सामान्यतः अधिक प्रतिष्ठा करता है। सीधी और सरल बात को भी घुमाव-फिराव के द्वारा कलात्मक सौन्दर्य प्रदान किया जाता है। पाठक को समष्टितः इसमें गद्य-काव्य का-सा आनन्द मिलता है। चण्डीप्रसाद हृदयेश, जयशंकर प्रसाद प्रभृति शैलीकारों ने इस शैली का विशेषतः प्रयोग किया है।

अध्याय : ३

द्विवेदी-पूर्व हिन्दी-गद्य की पृष्ठ-भूमिका तथा शैलियाँ

आधुनिक गद्य-प्रवर्त्तन

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी आधुनिक हिन्दी-गद्य के विकास की प्रथम सोपान है। हिन्दी गद्य की अखण्ड धारा का सूत्रपात इस शती के प्रारम्भ में ही हुआ है। सन् १८०३ के आस-पास हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' (१७४६-१८२४), सैयद इंशाअल्ला खां (१७६४-१८१८), लल्लूलाल (१७६३-१८२५), सदल मिश्र (१७७४-१८४६), पं० मथुरानाथ शुक्ल इत्यादि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया तथा इनके द्वारा आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी का शिलान्यास हुआ। इसके पूर्व सैकड़ों वर्षों से हिन्दी-गद्य-गंगा धार्मिक टीकाओं, सरकारी-आज्ञापत्रों, राजसी-घोषणाओं आदि की शिव-जटाओं में ही अटकती-उलझती चली आ रही थी। मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खां इत्यादि उपर्युक्त महानुभावों के भगीरथ प्रयत्नों से वह अब धराधाम पर उतर कर सतत प्रवाहित हुई। वस्तुतः उसके द्वारा जन-जीवन के कल्याण का कार्य भी यहीं से प्रारम्भ होता है। हिन्दी-गद्य का यह नवीनोमेष भारतीय जन-जागृति का सन्देशवाहक भी सिद्ध हुआ है। उस समय सम्पूर्ण भारत में जो सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक चेतना विकीर्ण हुई उसका प्रधान माध्यम हिन्दी-गद्य ही रहा है।

फोर्ट विलियम कालेज

तात्कालिक भारत के सार्वक्षेत्रीय जीवन पर, पश्चिमी संस्कृति और पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव सर्वाधिक पड़ रहा था। अंग्रेज अपने बौद्धिक-बल, व्यापारिक-निपुणता, सामुद्रिक-शक्ति में श्रेष्ठता आदि गुणों के कारण भारत पर अपना अधिकार जमा चुके थे। फिर भी १८०० ई० के पूर्व अंग्रेजी सभ्यता, शिक्षा आदि का कोई विशेष प्रभाव भारत पर नहीं पड़ सका था, क्योंकि इसके पूर्व वे स्वयं संघर्ष, संगठन तथा व्यवस्था आदि में व्यस्त थे। सन् १८०० के लगभग इनसे मुक्ति पाकर लार्ड वेलेजली के शासन में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य 'कम्पनी' के कर्मचारियों को शिक्षित करना तथा देश की जन-भाषा से अवगत कराना था। जान गिल क्राइस्ट इसमें हिन्दुस्तानी-विभाग के अध्यक्ष बनाये गये। इस महाशय ने हिन्दी शब्द को अपने विचारानुसार 'हिन्दुस्थानी' के अर्थ में प्रयोग किया।

उन्होंने हिन्दुस्थानी भाषा का यह सूत्र दिया— हिंदवी + अरबी + फारसी = हिन्दुस्थानी[1] और उर्दू की पीठ ठोकी तथा जन-प्रचलित खड़ी बोली हिन्दी को हिन्दवी या गंवारू (दी वल्गर हिन्दवी) कहा।[2] फिर भी इनके संरक्षण में हिन्दी-गद्य की पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य हुआ। भले ही वे हिन्दवी को केवल हिन्दुओं की भाषा मानते रहे।[3] कालेज के आश्रय में १८०३ ई० में लल्लूलालजी गुजराती ने 'प्रेम-सागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखे। कालेज से प्रकाशित हिन्दी अनुवादों में कहानियों की प्रधानता है जिनमें वर्णनात्मक कथावाचकी शैली का व्यवहार किया गया है।

प्रारम्भिक गद्य-लेखक एवं उनकी शैलियाँ

तात्कालिक गद्य-लेखकों में मुँशी सदासुखलाल अपना विशेष स्थान रखते हैं। इसके हमें तीन कारण मिलते हैं। प्रथमतः इन्होंने ही लेखनी उठाई और इस शती में हिन्दी-गद्य का प्रवर्त्तन किया। दूसरे इनकी ही भाषा में आधुनिक हिन्दी-गद्य का स्वरूप सर्वाधिक निखरा है। खड़ी बोली हिन्दी के उद्गम-स्थल दिल्ली के रहने वाले होने के कारण इनकी भाषा-शैली अधिक शिष्ट, व्यवहारोपयोगी तथा सरल है। यद्यपि उसमें विराम-चिह्नों का पूर्णतः अभाव है, तथापि उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके हिन्दी-गद्य-शैली का स्वस्थ संकेत किया है। तीसरे इन्होंने अपनी रचनाएँ स्वान्तः सुखाय[4] स्वाभाविक शैली में प्रस्तुत कीं। लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की तरह न तो बाह्य प्रोत्साहन—फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों के आदेश पर—और न इंशा की भांति नया प्रयोग करने के घोषित उद्देश्य से इन्होंने अपनी रचना की है। इसी से आधुनिक हिन्दी-गद्य के ये लेखक माने गये हैं। यथा—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और छिपाइए व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य एक ठौर कीजिए और मन जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है निर्मल न कीजिए तोता है सो नारयण का नाम लेता है परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।"[5]

सैयद इंशाअल्ला खां की एक मात्र उपलब्ध हिन्दी-गद्य पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' में संस्कृत, ब्रज, अवधी तथा अरबी-फारसी के शब्दों से मुक्त, ठेठ हिन्दी का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रयत्न में इंशा अपनी भाषा को 'भाखापन' (संस्कृत-ब्रज-अवधी) से तो बचा सके, परन्तु 'मुअल्लापन' ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। न केवल शब्दों में प्रत्युत वाक्य-विन्यास में भी वह चुपके से उनकी भाषा में आ ही गया। जैसे—

"दस-पन्द्रह दिन पीछे एक दिन रानी केतकी बिन कहे मदन बान के वह भभूत

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : फोर्ट विलियम कालेज : पृ० १६६।
२. —वही— —वही— : पृ० १६८-६।
३. —वही— —वही— : पृ० १६८।
४. शिवदानसिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : पृ० १५।
५. उद्धृत—हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास : हरिऔध : पृ० २०२।

आंखों में लगाके घर से बाहर निकल गई। कुछ कहने में आता नहीं, जो मां-बाप पर हुई। सबने यह बात ठहराई, गुरुजी ने कुछ समझकर रानी केतकी को अपने पास बुला लिया होगा। महाराज जगत परकास और महारानी कामलता राजपाट उस वियोग में छोड़छाड़ के एक पहाड़ की चोटी पर जा बैठे और किसी को अपने लोगों में से राज थामने को छोड़ गए।"[१]

पण्डित लल्लूलाल की भाषा का अपना महत्त्व है। उन्होंने उर्दू, ब्रज तथा खड़ी बोली हिन्दी की पुस्तकें लिखी हैं। उनकी भाषा में कथा-वाचक पण्डितों की प्राचीन गद्य-शैली का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ब्रज-भाषा के शब्दों के साथ तुकबन्दी तथा आलंकारिकता को भी उन्होंने स्थान दिया है। उनके वाक्य बड़े हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में लल्लूलालजी की भाषा ने ईसाइयों की भाषा को प्रभावित किया है। लोक व्यवहार के अनुपयुक्त होने के कारण इस भाषा का अनुकरण आगे अन्य किसी लेखक ने नहीं किया।[२] और उसका पूर्व-प्रभाव भी क्षीण हो गया। यथा—

"महाराज! जिस काल बाला बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छवि-छीन हुआ, बालों की श्यामलता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी लगने लगी उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बकाई निरख धनुष धकधकाने लगा, आंखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृगमीन खंजन खिसाय रहे। नाक की निकाई निहार तिल फूल मुरझाय गया। ऊपर के अधर की लाली लख बिम्बाफल बिलबिलाने लगा, दांत की पांति निरख दाड़िम का हिया दड़क गया। कपोलों की कोमलता देख गुलाब फूलने से रह गया। गले की गोलाई देख कपोत कलमलाने लगे। कुचों की कोर निरखि कमल कली सरोबर में जाय गिरी। उसके कटि की कृशता देखि केशरी ने बनवास लिया। जांघों की चिकनाई देख केले ने कपूर खाया, देह की गुराई निरख सोने को सकुच भई और चम्पा मुँह चोर हुई। कर पद के आगे पद्म की पदवी कुछ न रही। ऐसी वह गजगामनी, पिकनयनी, नव बाला यौवन की सरसाई से शोभायमान भई, जिसने इन सबकी शोभा छीन ली।"

—ऊषा-वर्णन

सदल मिश्र ने लल्लूलालजी के साथ ही फोर्ट विलियम कालेज में 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की और उसमें उन्होंने भाषा को व्यावहारिक खड़ी बोली के रूप को रखा, परन्तु उनकी भाषा में पूरबी हिन्दी के शब्दों की भरमार हो गई तथा उनकी शैली निखर नहीं सकी। स्थान-स्थान पर उनकी भाषा में ब्रज-भाषा के शब्द भी आ गये हैं। यथा—

"देखते ही उद्दालक ऋषि उठ खड़े भए। सिर नवा, प्रणाम वो जैसा कुछ चाहिए वैसा आदर भाव कर, आसन दे बैठाया। प्रीति से हाथ-पांव धोला, कुशल क्षेम वो उनके वहाँ आवने का कारण पूछा।"[३]

---

१. रानी केतकी की कहानी : पृ० २२।

२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक-हिन्दी-साहित्य : पृ० ११।

३. 'नासिकेतोपाख्यान' : पृ० ३।

यहीं हमें इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी अवश्य स्मरण कर लेना चाहिए कि हिन्दी की प्रौढ़ एवं प्राचीन शाखा ब्रज-भाषा, उस समय प्रधानतः काव्य-क्षेत्र में ही आबद्ध थी। उसकी टीकाओं का गद्य 'अनगढ़' तथा 'लद्धड़' था। जन-भाषा के रूप में बढ़ते हुए उत्तरदायित्व को ब्रज-भाषा वहन नहीं कर सकती थी। इसलिए यह सुविस्तृत कार्य-क्षेत्र खड़ी बोली के ही हाथ लगा। यही खड़ी बोली वस्तुतः हिन्दी के गद्य-साहित्य की मलाधार बनी।

युग-निमात्री परिस्थितियां

इस स्थिति में खड़ी बोली हिन्दी का गद्य, १९वीं शती के प्रारम्भ में ही अपने अनन्त पथ की ओर अग्रसर हुआ तथा हिन्दी-गद्य की इस धारा पर तात्कालिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने विशेष प्रभाव डाला। यह प्रभाव इतना गहरा तथा स्थायी सिद्ध हुआ कि कालान्तर में स्वतन्त्र-भारत की राष्ट्र-भाषा के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी, वह भली-भाँति लक्षित होता है। अतएव इन परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही द्विवेदी-युग अथवा उनके परवर्तीकाल की हिन्दी-गद्य-शैलियों का अध्ययन सम्भव हो सकता है।

अठारहवीं शती के अन्त तक प्रायः सम्पूर्ण भारत, अंग्रेजों के अधिकार में आ चुका था और वे अपने कुटिल जाल को फैलाकर अपने पंजे मजबूती से जमाने में संलग्न हो गये थे। मूल रूप में व्यापारी अंग्रेजों ने, भारत को प्रथमत आर्थिक दृष्टि से पंगु बनाने का निश्चय किया। अतः भारत से विपुल मात्रा में धन विदेशी पूँजी-पतियों द्वारा विदेशों को ढोया गया। साथ ही उन्हीं की कृपा-कटाक्ष पर फलते-फूलते, देशी पूँजी-पतियों द्वारा भी भारतीय जनता को चूसा गया। उस समय जमींदार-जागीरदार, सेठ-साहूकार तथा राजे-महाराजे सभी गरीब किसान, मजदूर और सामान्य जनता का शोषण कर रहे थे। इससे जनता का जीवन-स्तर गिरता गया। फलतः देश के उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों पर भी विदेशी प्रभुत्व में वृद्धि हुई। देश में गरीबी बढ़ी तथा आर्थिक ढाँचे के बिगड़ने से मध्यमवर्ग तथा गरीब जनता अधिक त्रस्त हुई। भूखा कौन-सा पाप नहीं कर सकता ? क्षुधा-ग्रसित, सन्तप्त भारत का नैतिक स्तर भी इसके कारण गिर गया।

ईसाई-साहित्य एवं पश्चिमी शिक्षा-प्रसार

अंग्रेजों के हाथ में अर्थ तथा शासन दोनों की ही कुंजी थी। देश की इस असहायावस्था का लाभ उठाकर उन्होंने अपनी वेश-भूषा, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और धर्म आदि सब कुछ अपने मनमाने ढंग से भारतीयों पर थोपना चाहा। शिक्षा, चिकित्सा तथा संरक्षण प्रदान करने के बहाने ईसाई-मिशनरियों को बड़ी-बड़ी आर्थिक सहायता और धर्म-प्रचार की सुविधाएं प्रदान की गईं। ईसाई पादरियों ने परिस्थिति का पूरा लाभ उठाने के लिए भारत के अनेकों प्रमुख स्थानों पर अपने केन्द्र स्थापित किये। अपने धर्म-प्रचार के लिए तथा अपनी ओर आकर्षित करने के लिए इन्होंने

भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म तथा साहित्य सभी को अप्रतिष्ठित करके अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित की। इस उद्देश्य की पूर्ति की चेष्टा भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय जन-भाषा हिन्दी के माध्यम से की गई। भाषा-चुनाव की दृष्टि से ईसाई-मिशनरियों का कार्य अवश्य ही श्लाघनीय है। उन्होंने भारत में आते ही भारत की परिस्थितियों का जो अध्ययन किया और उसके अनुसार दूर दृष्टि से जो निश्चय किया वह बहुत महत्त्व-पूर्ण है। वे देश की नाड़ी को ठीक से परख सके, इसी से उन्होंने शब्द-योजना तथा वाक्य-विन्यास इन दोनों ही क्षेत्रों मे उर्दू-फारसीपन का पूर्णतः बहिष्कार किया। हिन्दी के प्रचार, प्रसार तथा विकास में निश्चित ही ईसाई-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योग है। सन् १८०३ के लगभग जो हिन्दी-गद्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, उसका यथार्थ लाभ ईसाइयों ने ही सर्वप्रथम उठाया।[1]

कलकत्ता के समीप श्रीरामपुर नामक स्थान, ईसाई गतिविधियों का सबसे अधिक चेतना-पुंज केन्द्र था। यहीं हिन्दी के प्रथम मुद्रणालय की स्थापना सन् १८०६ में हुई और प्रारम्भ में बाइबिल के अनेकों हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुए। सन् १८१३ ई० में 'चार्टर एक्ट' के द्वारा ब्रिटिश-सरकार की ओर से भारत में ईसाई धर्म प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने से, इस कार्य में अधिक गति और शक्ति आ गई। इसी 'चार्टर' के अनुसार भारत में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली प्रारम्भ हुई, जिसका उद्देश्य भारत में साहित्यिक पुनरुत्थान तथा भारतीयों का विविध विज्ञानों से परिचय कराना था। इसके पश्चात् लार्ड मैकाले गवर्नर जनरल के कानूनी सलाहकार के रूप में भारत आये। उनके निर्देशन से १८२३ में 'पब्लिक-इंस्ट्रक्शन कमेटी' स्थापित की गई, और उसने निर्णय किया कि भारत में पौर्वात्य की अपेक्षा पाश्चात्य शिक्षा देना अधिक उप-युक्त होगा। ७ मार्च, १८३५ ई० को लार्ड विलियम बेंटिंग की आज्ञा से अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा-प्रचार करने की घोषणा की गई। अतएव सन् १८५४ में 'कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स' के अध्यक्ष वुड महोदय का 'वुड शिक्षा पत्र' के अनुसार शिक्षा की विभिन्न योजनाएं प्रस्तुत की गईं और भारत के प्रत्येक प्रान्त में 'सार्वजनिक शिक्षा-विभाग' स्थापित हुए। इस प्रकार से सम्पूर्ण भारत में शनैः-शनैः पाश्चात्य शिक्षा, निश्चित उद्देश्य और योजनाएं लेकर फैलने लगी। इस नवीन शिक्षा के साथ भारत में जन-जागृति का सन्देश भी फैल गया। सन् १८५७ में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में आक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज के ढंग के विश्वविद्यालय स्थापित किये गये, तथा नगर-नगर में धर्म-निरपेक्ष शिक्षा प्रदान करने वाले मिडिल तथा हाई स्कूलों को सर-कारी सहायता से प्रारम्भ किया गया। देश में इस शिक्षा-प्रसार का अनुकूल परिणाम भारतीय भाषाओं के विकास की दिशा में हुआ। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती गई। फिर "आवश्यकता है आवि-ष्कार की जननि।" हिन्दी के विशाल क्षेत्र में, अनेक विषयों की पुस्तकें हिन्दी में प्रका-शित होने लगीं।

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४२३

इस प्रकार से १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सामान्यतः हिन्दी तथा विशेषतः हिन्दी-गद्य के विकास का कार्य ईसाई-धर्म प्रचार तथा अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रसार के साथ आगे बढ़ा। इसलिए अनेकों पाठ्य-पुस्तकें, धर्म-प्रचारार्थ प्रकीर्णक (ट्रैक्टस), धार्मिक अनूदित रचनाएं, पत्र-पत्रिकाएं आदि हिन्दी में प्रकाशित की गईं।

ईसाई-साहित्य मूलतः प्रचारात्मक था और उसका उद्देश्य विशेषतः भारतीय अशिक्षित ग्रामीण जनता में ईसाई-धर्म का प्रचार करना था। इसलिए इस साहित्य की भाषा सीधी-सादी और सुबोध रखी गई। इसमें उपमाएँ, मुहावरे तथा कहावतें अधिकतर ग्रामीण क्षेत्र से ली जाती थीं—जैसे तक, वक्त, मुफ्त, कमरबन्द, तरह के स्थान पर क्रमशः लौं या लग, जून, सेंत, पटुका, रीति, आदि। लोकप्रियता तथा रोचकता अर्जित करने के लिए लल्लूलाल की कथावाचकी शैली का भी प्रारम्भ में कुछ अनुकरण किया गया था। इस प्रकार से ईसाई-साहित्य की भाषा में शुद्ध साहित्यिकता की कमी रहती थी। विषय के धर्म तथा दर्शन से सम्बन्धित होने पर भी गम्भीर, परिष्कृत संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रायः अभाव रहता और उर्दू-फारसी के शब्द-प्रयोगों तथा वाक्य-विन्यास से भाषा को सप्रयत्न दूर रखा जाता था। हिन्दी-गद्य की इस शैली का भले ही साहित्यिक मूल्य अधिक न हो, परन्तु गद्य-शैली के विकास की दृष्टि से इनका ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। ईसाई-साहित्य में भाषा के रूप को देखकर आशा होती थी कि भविष्य सुन्दर है।[1] उत्तर भारत में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का उल्लेखनीय कार्य अधिकांश में दो केन्द्रों से हुआ है।

पहिला, वही ईसाई-मिशनरी केन्द्र श्रीरामपुर है, जिसकी चर्चा अभी की जा चुकी है। यह केन्द्र सन् १७९९ में ही स्थापित हो चुका था तथा समीप के फोर्ट विलियम कालेज से अधिक क्रियाशील और उपयोगी था। 'कालेज' में जहाँ हिन्दी के गद्य की कतिपय पुस्तकों का प्रकाशन तथा हिन्दी-टाइप-सुधार कार्य हुआ, वहाँ श्रीरामपुर से कई गुनी पाठ्य-पुस्तकें और धर्म-प्रचारात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ।

दूसरा केन्द्र 'आगरा कालेज' (सन् १८२३) तथा उसके अन्तर्गत 'आगरा स्कूल बुक सोसाइटी' के नाम से १८३३ में स्थापित हुआ। इन दोनों संस्थाओं ने, विशेषतः हिन्दी-गद्य की अनेक विषयों पर नई पुस्तकें लिखाईं तथा पुरानी का संशोधन किया। इस केन्द्र की उल्लेखनीय प्रकाशित पुस्तकें—रेखागणित, पदार्थ-विद्यासागर, गृह मंडल का संक्षिप्त वर्णन, 'शिक्षा-संग्रह', 'मार्शमैन साहब का हिन्दुस्थान का इतिहास', 'सभा-विलास', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'बैताल-पच्चीसी', 'कहानियों की पोथी', 'आदम का व्याकरण', 'सतसई', 'सुदामा-चरित्र गीतावली', 'सतसई-सटीक', 'रतनेश्वर का लाहौर से बम्बई तक जाने का वर्णन', 'स्त्री-शिक्षा', 'इंजील', 'सुलेमान गीत', 'मेंगनेटन साहब का धर्म-शास्त्र' इत्यादि हैं।

इन ग्रन्थों के शीर्षकों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी का विचार-क्षितिज, १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही विस्तारोन्मुख हो रहा था। विभिन्न विषयों की

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० २९

ओर ताकने-झाँकने की उसकी प्रवृत्ति हो चली थी। इतना होने पर भी हिन्दी-गद्य का स्वरूप अत्यन्त शिथिल, दुर्बल तथा अपरिमार्जित था। न उसमें गति थी और न शक्ति, न उसमें मुहावरे थे और न व्यंजना ही। अतः उस समय के गद्य में साहित्यिकता और शैली के विकास को ढूंढ़ना ही व्यर्थ है। विशेषतः दूसरे केन्द्र की पुस्तकें, शिक्षण-संस्था सम्बन्धी थीं। उन्हें भी प्रचार के लिए सस्ती, सरल और जीवनोपयोगी बनाया गया। हिन्दी-गद्य के इस व्यापक प्रचार-प्रसार का अधिकांश श्रेय मुद्रण-यन्त्र तथा पत्र-पत्रिकाओं को प्राप्त है। अब खड़ी बोली हिन्दी का गद्य प्रेस की शक्ति प्राप्त कर तथा पत्र-पत्रिकाओं के पहियों पर चढ़कर जन-साधारण के पास तक पहुँचने लगा।

अंग्रेजी-शासन तथा भारत गौरव-जागरण

भारतीय जीवन एवं हिन्दी-जगत पर ईसाई-साहित्य के विकास का विवेचन करने के पश्चात् पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का व्यापक तथा दूरगामी प्रभाव भी देखना अनिवार्य है। अंग्रेजी-शासन की प्रक्रिया भारतीय-जीवन के अनेक मार्गों से प्रविष्ट हुई है, जिसका सम्यक् रूप से अंकन करना असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है।

यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि भारत में सभी अंग्रेज एक-सी वृत्ति एवं उद्देश्य को लेकर नहीं आये थे। यद्यपि अधिकांश अंग्रेजों की दृष्टि में अत्यन्त प्राचीन, जरा-जीर्ण भारत 'सोने की चिड़िया' तथा अपने व्यापार की विशाल मण्डी थी, परन्तु कुछ विवेकवान, विद्यावसायी विद्वानों के लिए वही आदि-गुरु-भारत ज्ञान-ज्योति का अनन्त स्रोत था। इस द्वितीय वर्ग की चेतन प्रतिमाओं ने अपनी स्थिति तथा ज्ञान-पिपासा से प्रेरित होकर प्राचीन भारतीय-साहित्य व संस्कृति का भी अध्ययन किया।

१९वीं शती के प्रथम चरण सन् १८०८ में जर्मन कवि फैडरक श्लैगल (Friedrich Schlegel) ने 'आन् दी लैंग्वेज एण्ड विजडम ऑफ् इण्डियन्स', 'भारतीयों की भाषा और विद्वत्ता' ग्रन्थ के द्वारा यूरोप में संस्कृत के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। इसके पश्चात् १९३८ में एफ० रोज़न (F. Rosen) द्वारा सम्पादित 'ऋग्वेद का प्रथम अष्टक', १८४६ में आर० राथ (R. Roth) का 'वैदिक साहित्य और इतिहास', प्रो० बूह्लर (Bulher) तथा प्रो० कीलहार्न (Kielhorn) ने 'वैदिक तथा संस्कृत साहित्य विश्व-कोष' तथा ए० कुहन (A. Kuhn) और मेक्स मूलर (Max Muller) ने वैदिक-साहित्य का अनुसंधानात्मक अध्ययन करके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

कर्नल कनिंघम के सत् प्रयत्नों से सन् १८५७ में भारतीय पुरातत्व-विभाग की स्थापना की गई। इस विभाग के अन्तर्गत जो उत्खनन कार्य किया गया, उसने भारतीय गौरव-गाथा कहना स्वयं प्रारम्भ कर दिया। भारतीयों को अपने मनमियां-मिट्ठू बनने की अपेक्षा विदेशी, विजातीय ही नहीं, विरोधी विद्वानों के द्वारा अपना मूल्यांकन कराने में अधिक लाभ भी हुआ। हरप्पा, मोहनजोदड़ो, साँची, सारनाथ, भरहुत, राजगृह, तक्षशिला इत्यादि स्थानों से असंख्य मुद्राएं, ताम्र-पत्र, शिला-लेख, स्तूप, मूर्तियाँ, भवन-

अवशेष, हस्त-लिखित ग्रन्थ इत्यादि विभिन्न वस्तुएं प्राप्त हुईं, जिसके आधार पर भारतीय संस्कृति को, विश्व की प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम संस्कृतियों में स्वीकार किया गया। इन्हीं विदेशी विद्वानों ने वेदों की आयु को सहस्रों वर्षों की आँका और ऋग्वेद को विश्व का आदि ग्रन्थ कहा। इसी समय 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' के अन्तर्गत प्राचीन संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन, अध्ययन तथा अनुवाद कार्य किया गया। सर मोनियर विलियमस् ने 'कालिदास की शकुन्तला' का जो अनुवाद किया, उसने भारतीय साहित्य की प्राचीनता के साथ सर्वोत्कृष्टता का भी ढिंढोरा सम्पूर्ण यूरोप में पीट दिया। 'मेघदूत', 'पंचतंत्र', 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इत्यादि के भी अनुवाद किये गये। इन ग्रन्थों की समीक्षा करके यूरोप में, ज्ञान की महती-जिज्ञासा की सप्राण मूर्तियाँ भी चकित रह गईं।

इस प्रकार से कला, दर्शन, साहित्य, पुरातत्व आदि सभी क्षेत्रों में पूर्व, पश्चिम से शताब्दियों आगे लगा। वे इस महाभाण्डार के दर्शन कर अवाक् और आश्चर्यचकित होकर रह गये। उन्होंने अपने अध्ययन का निष्कर्ष अपने देश की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया। इस पर पश्चिम में भी भारत की प्राचीन गरिमा की चर्चा पहुँच गई। इस समय तक देश में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से तथा विदेश-यात्राओं के प्रोत्साहन से बहुत से भारतीय, अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान् हो गये थे। अपने कथित परम-श्रेष्ठ शासकों की कलम के इन उद्गारों को सुनकर, उनका सुप्त अतीत-गौरव जाग उठा। देश में पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार से तथा अनुवाद-कला की कृपा से, वह ध्वनि भारत के जन-जन में व्याप्त होने लगी। इस प्रकार भारत में उत्साह बढ़ा और उसका सोया स्वाभिमान उद्दीप्त हुआ। ज्यों ज्यों पश्चिम की पत्र-पत्रिकाओं में भारतीय काव्य-कला, पुरातत्व एवं दर्शन की महत्ता की चर्चा प्रबल होती गई त्यों-त्यों पूर्व की निराशा और निरुत्साह दुर्बल होते गये। यद्यपि अंग्रेज इससे अपने कुटिल प्रयत्नों से परांगमुख नहीं हुए, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका नैतिक साहस टूट गया। भारत को जंगली, मूर्ख, दरिद्री, अन्ध-विश्वासी, परस्पर-विग्रही, मत-मतान्तरवादी आदि कहकर, भारत की कल्याण कामना अंग्रेज और जन-सेवा का जो दम्भ उनके द्वारा किया जाता था, उसका भंडा फूट गया।

अब शासक भी भारत के अतीत वैभव से परिचित होकर उसकी महत्ता को स्वीकार करने लगे, परन्तु स्वार्थ एवं लज्जावश वे उसे प्रगट नहीं करना चाहते थे। वे प्रत्यक्ष रूप में, तब भी भारत के गौरव को न तो स्वीकार करते थे और न उस पर प्रकाश डालना चाहते थे। कदाचित् वे सोचते थे कि सत्य-सूर्य को प्रपंच-पट से, वे सदा-सर्वदा को ढंक सकेंगे; पर उनका प्रयास असफल होना ही अवश्यम्भावी था। कुछ समय तक अवश्य ही वे अपनी कुटिल चालों में कृत-कार्य हुए। उन्होंने आर्यों को आक्रमणकारी तथा मध्य एशिया के निवासी सिद्ध करके, भारत के सम्पूर्ण इतिहास को धो डालने का षड्यन्त्र भी रचा। भारतीयों की अन्तःचेतना को पंगु बनाकर ही वे अपने अभीष्ट की सिद्धि करना चाहते थे। उनकी नीयत भारत को सदा-सर्वदा के लिये अपने पंजों के नीचे दबाये रखने की थी। अतः उन्होंने शासन, शिक्षा तथा

मिशनरी-प्रचार के द्वारा भारत के धर्म, संस्कृति तथा प्राचीन गौरव को अप्रतिष्ठित करने के अनेकों अत्यन्त कूटनीतिक उपायों का अवलम्बन किया। सदियों से राजनीतिक दृष्टि से पराधीन एवं पराक्रमहीन जर्जरित भारत में, विजातीय तत्त्वों से संघर्ष करने की शक्ति का अभाव हो गया था। अतः तपेदिक के कीटाणुओं की तरह विदेशी तत्त्वों का घातक प्रभाव तात्कालिक भारतीय जीवन पर स्पष्टतः प्रगट होने लगा।

धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन

इन विजातीय तथा विदेशी प्रभावों के घातक परिणामों से भारत को सावधान करने के लिए अनेकों महाप्राण चैतन्य-पुंज मनीषियों का प्रादुर्भाव भारतीय रंगमंच पर हुआ। इन लोगों ने संघ-बद्ध होकर अपने-अपने सिद्धान्तों तथा अनुभवों से उपचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक रंगमंच पर निम्नलिखित संस्थाओं का जन्म हुआ। जिन्होंने भारत की सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना को अनुप्राणित किया। सबका एक ही लक्ष्य था, भारत के प्राचीन गौरव की पुनर्स्थापना तथा देशोन्नति। इन सबकी वाणी का वाहक होकर जन-वाणी हिन्दी, जन-जागृति को निकल पड़ी।

राजा राममोहन राय (ब्राह्म-समाज १८२८), दादा भाई नौरोजी (पारसी धर्म-सुधार-सभा १८५१), केशवचन्द्र सेन (प्रार्थना-समाज, १८६७), स्वामी दयानन्द सरस्वती (आर्य-समाज १८७५), मेडेम ब्लेवेटस्की (थियोसोफिकल सोसायटी १८७५), शिवनारायण अग्निहोत्री (देव-समाज १८८७), इत्यादि धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुधारवादी संस्थाओं ने, भारतवर्ष के विश्रृंखलित तथा अवनत जीवन को सुसंगठित करके उन्नत करने का निश्चय किया।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से भी कार्य करनेवाली महान-विभाएं विकीर्ण हुईं जिन्होंने देश-विदेश में भारतीयों के सुप्त गौरव को जागृत कर, भारत को आलोकित कर दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३४-८६), स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२), स्वामी रामतीर्थ (१८७३-१९०६), बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०), रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१-१९४१), महामना मदनमोहन मालवीय (१८६१-१९४६), महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) इत्यादि विभूतियां इस क्षेत्र में सदा स्मरणीय रहेंगी।

ब्राह्म-समाज

१९वीं सदी के सुप्रभात में बंगाल में नवजीवन फैलाने का श्रेय ब्राह्म-समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) को है। सर्वप्रथम राष्ट्रीय हित-कामना की चिन्ता इन्हीं को हुई। इन्होंने संगीत तथा उपदेश के द्वारा एकनिष्ठ उपासना के साथ ही विराट् विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार करना तथा ईसाइयों के प्रभाव को रोकना इस संस्था का उद्देश्य बनाया। इसका अधिकांश कार्य शिक्षित, उच्च-मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग में ही हुआ। स्वयं राजा राममोहन राय ईस्ट

इण्डिया कम्पनी की सेवा में रहे थे। वे अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति के अतिरिक्त इस्लाम से भी प्रभावित थे। अतः उन्होंने वेदान्त का ईसाई-संस्कृति के उपयोगितावाद के साथ सुन्दर समन्वित रूप रखा। समाज के दूषणों का दलन करने के लिए योजना तैयार की। उन्होंने मूर्ति-पूजा, सती-प्रथा, देव-दासी-प्रथा, बहु-विवाह, ऊंच-नीच, जाति-पांति इत्यादि के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किए। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता के गुणों को भी शीघ्र ही ग्रहण कर लेने को कहा। समुद्र-यात्रा के प्रति, समाज के विरोधी दृष्टिकोण को बदलने का सफल प्रयत्न कर, अनेकों नवयुवकों को विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए उत्साहित किया। उन्होंने अत्यन्त तर्क-पूर्ण ढंग से वेद तथा उपनिषदों के आधार पर सिद्ध किया कि हिन्दू एकेश्वरवाद, ईसाई एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक तर्क सम्मत, प्राचीन तथा स्वीकार्य है। पश्चिमी सभ्यता को एकदम गले लगाने वालों को उन्होंने चेतावनी दी कि वह मूल रूप में अग्राह्य है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, तथा केशवचन्द्र सेन ने ब्राह्म-समाज में नये तत्त्वों का सन्निवेश किया। 'तत्त्व बोधनी सभा' (१८३९) तथा ब्राह्म-विद्यालय स्थापित किये, साथ ही 'भारत-दर्पण' (इंडियन मिरर) पत्रिका से प्रचार-कार्य करके, प्रधानतः ईसाई-धर्म-प्रचार-प्रवाह के विरुद्ध रक्षात्मक बांध तैयार किया। मद्रास (१८६४) तथा बम्बई (१८६७) में ब्राह्म-समाजों की स्थापना से अपने कार्य-क्षेत्र की वृद्धि की। इससे स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह, समानता की भावना तथा सामान्य शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि आन्तरिक विग्रह ने 'ब्राह्म-समाज' की शक्ति क्षीण कर दी, तथापि भारतीय समाज को महाप्राण बनाने में इसका योगदान चिर-स्मरणीय रहेगा।

इसी ब्राह्म-समाज के उत्साही सदस्य बाबू नवीनचन्द्र राय ने सन् १८६३-१८८० तक पंजाब में, भिन्न-भिन्न विषयों की बहुत-सी हिन्दी-पुस्तकें स्वयं लिखीं, तथा दूसरों से लिखवाकर शिक्षा-प्रचार के साथ समाज-सुधार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' (१८६७ मार्च) के द्वारा अहिन्दी भाषी पंजाब प्रान्त में शुद्ध हिन्दी-गद्य का प्रचार तथा उर्दू के विरुद्ध संघर्ष किया।[१]

आर्य-समाज

इसी ब्राह्म-समाज से प्रभावित तथा प्रेरणा प्राप्त कर, उससे भी अधिक यशस्वी, क्रियाशील तथा सप्राण संस्था आर्य-समाज का जन्म १८७५ ई० में हुआ। इसकी प्रचार-शक्ति तथा कार्य-क्षेत्र दोनों ही बहुत विस्तृत हैं। आर्य-समाज ने अपना ज्ञान, प्रेरणा तथा शक्ति-स्रोत् वेदों को बनाया। वेदों को ईश्वरीय वाणी एवं आदि-ज्ञान-पुंज तथा आर्य-संस्कृति को विश्व की प्राचीनतम संस्कृति घोषित किया। 'आर्य का अर्थ ही श्रेष्ठ होता है', यह बताया। अतः आर्यों को अज्ञान, अंध-विश्वास तथा अशिक्षा का त्याग कर, आर्यावर्त को विश्व-गुरु के गौरवपूर्ण पद को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४४३।

एक ओर बाल-विवाह, बहु-विवाह, अस्पृश्यता, पर्दा, मद्य-पान, ऊंच-नीच की भावनाओं का विरोध किया और दूसरी ओर मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड तथा पौराणिक आडम्बर का खण्डन किया। आर्य-समाज ने धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूलभूत सिद्धान्तों को चुन-चुनकर के सभी क्षेत्रों को आलोकित करने का व्रत लिया। ऊंच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित ऐसे किसी भी वर्ग-विशेष को लक्ष्य न कर सम्पूर्ण हिन्दू-समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। महर्षि दयानन्द सरस्वती की अतुलनीय प्रतिभा, प्रचण्ड-पाण्डित्य तथा निर्भीक महाप्राण अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण प्रायः सम्पूर्ण उत्तर-भारत में वैदिक-धर्म के गौरव गीत गाये जाने लगे। जगत् गुरु शंकराचार्य के पश्चात् भारत ने ऐसे प्रखर तेजपुंज को प्राप्त कर वैदिक-धर्म तथा आर्य-संस्कृति की रक्षा की। आर्य-समाज की स्थापना के साथ ही आर्य-भाषा (हिन्दी) का पढ़ना आवश्यक ठहराया।[1]

वास्तव में ऋषि दयानन्द ने भारत की वर्तमान जागृति तथा उन्नति का सूत्र-पात किया था। अस्तु, इन्हीं को सबसे प्रथम उसका समस्त श्रेय दिया जाना चाहिये।[2]

निश्चित् ही दयानन्द को पाकर भारत एवं भारती धन्य हो गए। देश, काल तथा परिस्थितियों में ऐसी ही जाज्वल्यमान शक्ति की आवश्यकता थी। इसने देश में जागरण का जो शंख-नाद किया, उससे हिन्दू-समाज ने सदियों की जड़ता छोड़कर अंगड़ाई ली। समाज में नव-चेतना जगी। इस समय तक जो भारतीय अंग्रेजों की सभ्यता और संस्कृति के समक्ष अपनी हीनता मान बैठे थे, वे भी अब आत्म-गौरव का अनुभव करने लगे। ऐतिहासिक मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) के 'बाइबिल की ओर लौटो' के नारे की भांति ऋषि दयानन्द का उद्घोष था 'वेदों की ओर लौटो'। इस सिद्धान्त-वाक्य ने ही भारत की काया पलट दी। पैगम्बरी एकेश्वरवाद की ओर आकर्षित नव-शिक्षितों को वैदिक एकेश्वरवाद की ओर मोड़ दिया।[3]

स्वामीजी द्वारा दी हुई नवीन चेतना इस बात के लिये पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करती है कि राजनीतिक परतन्त्रता की बेड़ी में आबद्ध हिन्दुओं ने अपनी मानसिक स्वतन्त्रता पूर्णरूपेण कभी नहीं खोई। परिस्थितिवश परतन्त्र होते हुए भी उन्होंने अपना आत्मतन्त्र कभी हाथ से जाने नहीं दिया।[4]

अन्य धार्मिक व सांस्कृतिक आन्दोलन

इस प्रकार आर्य-समाज के अत्यन्त प्रचण्ड आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय जीवन में एक अभूतपूर्व हलचल मच गई। इससे सम्पूर्ण हिन्दू-समाज जागा, अंध-विश्वासी, पोंगा-पंथी तथा बाह्य-आडम्बरियों के कान खड़े हो गए। धर्विर्मी ईसाई और मुसलमान जो कि विशाल हिन्दू-समाज को मृत प्रायः समझकर उसे अपना भक्ष्य बनाने के नाना षडयंत्रों में व्यस्त थे, वे सावधान हो गए। आर्य-समाजियों की प्रतिद्वंद्वता

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४४५।
२. डॉ० रामशंकर शुक्ल रसाल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५९१।
३. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४४५।
४. आ० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा रामलाल सिंह : 'निबन्ध-निचय' की भूमिका : पृ० २।

तथा कई क्षेत्रों में प्रतियोगिता को लेकर नये संगठन किये गए और पुरानों को सुदृढ़ किया गया। वर्षों से निष्क्रिय पड़ी हुई सुप्त नाड़ियों में नव-चेतना संचालित हुई।

सनातन धर्म के अग्रगणी व्यक्तियों ने भी अपनी स्थिति की रक्षा तथा सिद्धान्तों की दृढ़ता को प्रमाणित करने के लिए प्रचार करना आरम्भ किया। इसलिए 'सनातन धर्म-सभा' तथा 'भारत-धर्म महामण्डल' स्थापित हुए। आर्य-समाज के गुरुकुलों के अनुकरण पर ऋषिकुल खोले गए। इन्होंने भी अपनी पत्र-पत्रिकाएं निकाल कर प्रतिष्ठा की रक्षा करने का उपाय सोचा।

भारत की इन विभिन्न समाजों ने अपने-अपने शिक्षा, संगठन तथा प्रचार-केन्द्र स्थापित किए। आर्य-समाज के गुरुकुल, सनातन धर्म-सभा के ऋषिकुल, ईसाइयों के मिशन स्कूल, मुस्लिम सुधार समितियों के उर्दू-फारसी के मक़तब, पारसियों की धार्मिक सुधार-सभाओं की ओर से विद्यालय तथा महाविद्यालय प्रारम्भ किये गए। अपने विचारों के प्रचार तथा सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने के लिए पत्र-पत्रिकाएं, धर्म-ग्रन्थ तथा शिक्षालयों की पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की गईं। मुद्रण यन्त्रों के जन्म हो जाने से इस कार्य में बहुत सहायता मिली।

थियोसोफिकल सोसायटी

देश में इसी समय संघर्ष से दूर रहकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाली दो प्रमुख संस्थाएं और थीं—थियोसोफिकल सोसायटी तथा रामकृष्ण मिशन। भारत की जागृति एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान में इन दोनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। थियोसोफिकल सोसायटी की विशेषता इसी में है कि अमेरिका में जन्म लेकर भी इसने भारत के मध्यम वर्ग में धार्मिक तथा राष्ट्रीय चेतना जागृत की। अत्यन्त कार्य-निष्ठ, उत्साही, सेवा-रत विदेशी महिला श्रीमती एनीबीसेण्ट के महान् व्यक्तित्व का देश पर विशेष प्रभाव पड़ा। पश्चिमी शिक्षा व सभ्यता ने जिन असंख्य हिन्दुओं की धार्मिक आस्था को आघात पहुंचाया था, उसे थियोसोफिकल सोसायटी ने पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। ईसाई-मिशनरियों की हिन्दुत्व एवं बौद्ध-धर्म सम्बन्धी कटु आलोचनाओं का तर्कपूर्ण उत्तर, इसने वहीं सीधा दे दिया। इससे हिन्दु का पक्ष प्रबल हुआ तथा उनका अभिमान जगा।

रामकृष्ण मिशन

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द के 'रामकृष्ण मिशन' ने हिन्दु-समाज को अनन्त शक्ति प्रदान की। विश्व-धर्म सम्मेलन (शिकागो, १८९३) में स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म और वेदान्त की जो महत्ता प्रतिष्ठित की, उसका प्रबल प्रभाव विश्व पर हुआ। अमेरिका एवं यूरोप की यात्राओं में उन्होंने वेदान्त की पताका फहराकर जो विजय की, उससे भारत को नव-शक्ति एवं उत्साह प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा कि हिन्दू-धर्म का प्रत्येक तत्त्व अनादि काल से आज तक स्वस्थ और सुन्दर है। अपने धर्म को पश्चिमी संस्कारों से बचाना चाहिए। पश्चिमी सभ्यता स्थूल, भौतिक, स्वार्थ-परायण और

इन्द्रिय लोलुप है, तथा भारतीय सभ्यता आत्मिक, आध्यात्मिक, परोपकारी और नैतिकवादी है। 'पश्चिम के अनुकरण से हमारा पतन होगा', इस उद्घोष ने भारतीयों की धराशायी होने को तत्पर भावनाओं को सुदृढ़ सहारा दिया। स्वामी विवेकानन्द तथा बहिन नवोदिता ने भारत के राष्ट्रीय जागरण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आन्दोलनों का हिन्दी पर प्रभाव

देश के विशाल प्रांगण में जहाँ विभिन्न धर्म, संस्कृतियों तथा सभ्यताओं के परस्पर घात-प्रतिघात, संघर्ष एवं विरोध चल रहे थे वहाँ कितने आश्चर्य की बात है कि तात्कालिक हीन-दीन अवस्था में भी, सभी ने हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषोचित् एवं जनोपयोगी ठहराकर अपने सम्पूर्ण कार्य-कलापों का माध्यम बनाया। भिन्नता में एकता की आशा ज्योति खड़ी बोली हिन्दी थी।

इसी पाश्चात्य प्रभाव से हिन्दी में आर्य-समाज के माध्यम से तर्कपूर्ण, विश्लेषणात्मक प्रौढ़ भाषा-शैली का सूत्रपात हुआ। हिन्दी के गद्य को अभूतपूर्व शक्ति एवं सौष्ठव की उपलब्धि हुई। हमें इसी समय यह भी विचारणीय है कि ईसाई-साहित्य के द्वारा हिन्दी-भाषा पर अंग्रेज़ी प्रभाव विशेष रूप से नहीं पड़ा। इतना ही नहीं, आर्य-समाजी साहित्य इसकी तुलना में अधिक प्रौढ़, सशक्त तथा तर्कशील था। आर्य-समाज ने निश्चित ही, पाश्चात्य बुद्धिवादी प्रभाव को ग्रहण कर[1] हिन्दी को शक्ति प्रदान की।

भारतीय जीवन के उपर्युक्त नवोत्थान एवं नवस्फूर्ति का प्रतिबिंब देश के साहित्य ने ग्रहण किया। हिन्दी का देश के विशाल हृदय-प्रदेश पर सर्वाधिक अधिकार था। देशी तथा विदेशी सभी विद्वानों ने उसके अधिकार को स्वीकृत कर, अपने व्यवहार की मुहर लगाई थी। अतः खड़ी बोली हिन्दी के गद्य पर विशेष रूप से नवजागरण प्रतिबिम्बित हुआ। विभिन्न संस्थाओं, सम्प्रदायों और मतों के भिन्न-भिन्न विचारों की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी में विशाल शब्द-भाण्डार की आवश्यकता हुई। इसकी आंशिक पूर्ति देश तथा विदेश की भाषाओं के तत्सम, अर्द्ध तत्सम एवं तद्भव शब्दों से की गई, शेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत के अमर-कोष का द्वार ज्येष्ठ पुत्री हिन्दी के लिए खुला ही था। इस प्रकार वह एक बड़े शब्द-भाण्डार की स्वामिनी बन चली और उसमें विभिन्न विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता आने लगी। इसके साथ ही हिन्दी में अनेक गद्य-शैलियों का उद्भव हुआ। विभिन्न वर्गों में अपने पक्ष का मण्डन तथा समर्थन करने के लिए और विपक्षी के मत का खण्डन करने के लिए विवेचना, व्याख्या, उक्तियां, तर्क, अनुकूल उदाहरण आदि का आश्रय लेकर ये शैलियां हिन्दी-गद्य को पुष्ट करने को तत्पर हुईं।

यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि देश के इन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक वाद-विवादों एवं आन्दोलनों का जो सुफल गद्य को प्राप्त

१. डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा : हिन्दी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव : पृ० ३६

हुआ वह पद्य को नहीं। ऐसे अवसरों पर पद्य का प्रयोग वस्तुतः व्यावहारिक भी नहीं होता। परोक्षरूप से भले ही पद्य में इनकी अनुकूल प्रतिक्रियाएं हुई हों, परन्तु मूलतः गद्य का ही अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। गद्य-उत्कर्ष एवं उन्नति ही अनेक अवस्थाओं में देशोन्नति और जन-चेतना की सहचरी होती है।

हिन्दी भाषा पर विभिन्न भाषाओं का प्रभाव

भारत के भव्य भाल की बिन्दी हिन्दी के जिस शब्द-भाण्डार की वृद्धि का संकेत हमने ऊपर किया है, उसका गम्भीरता से अध्ययन करना आवश्यक है। जिन देशी तथा विदेशी भाषाओं का प्रभाव हिन्दी पर स्पष्टतः अंकित है उनमें प्रमुख हैं अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत तथा उर्दू-फारसी।

अंग्रेजी भाषा का प्रभाव

आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के गद्य-साहित्य का उद्‌भव एवं विकास अंग्रेजी राज्य की छत्र-छाया में होने के कारण हिन्दी पर अंग्रेजी का प्रभाव अनेक मार्गों से आया है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी अंग्रेजी-साहित्य से प्रथम प्रभावित नहीं हुई। बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएं १९वीं सदी के मध्य में अंग्रेजी से प्रभावित हो चुकी थीं और वे हिन्दी के आगे निकल गई थीं। हिन्दी-भाषा अंग्रेजी के निकट सम्पर्क में लगभग १८७० ई० में आई जबकि 'भारतेंदु' अपने मध्याह्न बिन्दु से हिन्दी-जगत को आलोकित कर रहे थे। उस समय 'भारतेंदु-मण्डल' के भीतर तथा बाहर अंग्रेजी-साहित्य का सीधा अध्ययन और अनुशीलन किया गया और अंग्रेजी साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद करके उन्हें हिन्दी में लाया गया। इस प्रकार अंग्रेजी-साहित्य की प्रत्यक्ष प्रक्रिया हिन्दी-साहित्य पर १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में ही हुई। इस विलम्बपूर्ण सम्पर्क के कारण हिन्दी अपनी अन्य प्रान्तीय भाषा-भगनियों से पीछे रह गई, परन्तु इस बीच में उसे दूसरी भाषाओं के प्रभाव के प्रकाश में अनुकूल तत्त्व चुनने का अवसर मिल गया।

हिन्दी-गद्य-साहित्य को अंग्रेजी-साहित्य ने तीन मार्गों से प्रभावित किया है। प्रथमतः सीधे अंग्रेजी ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादों द्वारा, द्वितीयतः बंग भाषा के माध्यम से तथा तृतीयतः अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार एवं अंग्रेजी के सम्पर्क द्वारा।

अनुन्नत भाषाएं अपने शैशव काल में बहुधा, समुन्नत भाषाओं के अनुवादों से लाभ उठाती हैं। हिन्दी को भी प्रारम्भ में अंग्रेजी का आश्रय लेना पड़ा और उसके उत्तम ग्रन्थों के अनुवादों के द्वारा नवीन अभिव्यंजना एवं अभिव्यक्ति का अनुकरण करना पड़ा। अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य में जीवन की मार्मिक व्यंजना, भाषा की लाक्षणिकता तथा प्रकृति-चित्रण की विशेषता ने हिन्दी के कलाकारों को अधिक आकर्षित किया। यद्यपि संस्कृत-साहित्य तथा हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं में भी प्रकृति का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। तथापि उनमें मानव-अनुभूतियों का यथावत् वर्णन तथा चित्रोपमता की वह सज्जा नहीं है, जो अंग्रेजी साहित्य में उपलब्ध है। प्रथम

अंग्रेजी से हिन्दी-अनुवाद सन् १८७९ में बाबू तोताराम वर्मा द्वारा एडीसन के 'केटो' (Cato) का 'केटो वृतान्त' के नाम से हुआ।

इसके पश्चात् तो मिल, बेनथम, केण्ट, रूसो, बर्क, स्पेंसर जैसे स्वतंत्रता पोषकों का प्रभाव उनकी विशिष्ट शैलियों को लेकर हिन्दी में आ चला। अंग्रेजी-साहित्य की रोमाण्टिक धारा ने हिन्दी की गद्य-शैली को सर्वाधिक प्रभावित किया।

बहुत-से हिन्दी-लेखक मूलतः अंग्रेजी के विद्वान् तथा लेखक थे, जो कि राष्ट्रीय आन्दोलनों की लहर के प्रवाह में बहकर हिन्दी में आये थे। अपने दीर्घ अभ्यास के कारण वे अंग्रेजी में ही सोचते फिर हिन्दी में लिखते थे। अतः उनकी रचनाओं में अंग्रेजी शब्द तथा पदावली का उतर आना स्वाभाविक है। अंग्रेजी के असंख्य शब्द तो अपने मूलवेश में ही हिन्दी-जगत में बेरोकटोक स्वच्छन्दता से विचरण करने लगे; जैसे—कोट, पेण्ट, टोप, टाई, कार्ड, पोस्ट आफिस, रेल, एंजिन, कमेटी, कोर्ट, अपील, असेम्बली, स्टेचर, केमरा, एक्स-रे, एक्टर, अकाउन्टेण्ट आदि।

अंग्रेजी के कई एक समझदार शब्दों ने अपना राष्ट्रीयकरण करा लिया और वे हिन्दी की ही सम्पत्ति हो गये; जैसे—अस्पताल (हास्पिटल), सिंगल (सिगनल), रपट (रिपोर्ट), कलेण्डर (केलेण्डर), गोदाम (गोडाऊन), कप्तान (केप्टिन), अफसर (आफीसर), कण्टोनमेण्ट (केण्टानमेण्ट), पलटन (प्लेटून), अर्दली (आर्डरली)

अंग्रेजी के प्रभाव से अनेक शब्द हिन्दी में गठे गये हैं, जिनमें कि आश्चर्यजनक सामंजस्य भिड़ाया गया और हिन्दी के साथ अंग्रेजी का विचित्र गठबन्धन हुआ। ऐंग्लो-इंडियन मनुष्यों की तरह आंग्ल-हिन्दी वर्णशंकर शब्दों की भी रचना की गई है—कोट पेंट धारी, सबूट, स्कूल-भवन, गैस-प्रकाश, कोचवान, केमरावाला।

देश में राजनीतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप अंग्रेजी शब्दों के पर्यायरूप नवीन शब्द गढ़े गये—जनतन्त्र, प्रजातन्त्र, पूँजीवाद, समाजवाद, नौकरशाही इत्यादि।

दूरदर्शितावश, अंग्रेजी के बहुत से पदों को हिन्दी में अनुवाद करके ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।

जैसे—भाग लेना (टू टेक पार्ट), प्रकाश फैंकना (टू थ्रो लाइट), स्वर्ण-युग (गोल्डन एज), न केवल बल्कि···यह भी (नाट ओनली बट आलसो) इत्यादि।

हिन्दी ने अंग्रेजी से शब्द ही ग्रहण नहीं किये वरन् मुहावरे तथा उक्तियों तक का अनुवाद करके अंगीकृत कर लिया। जैसे—
एक पत्थर से दो चिड़िया मारना (टू किल टू बर्डस विद वन स्टोन), रंगे हाथों पकड़ना (टू केच रेड हेंडेड), एक नया अध्याय खोलना (टू ओपिन ए न्यू चेप्टर), हवाई किले बनाना (टू बिल्ड केसल इन दी एयर), स्वास्थ्य संचित करना (टू रिकवर हेल्थ), नक्र अश्रु बहाना (टू शेड क्रोकोडायल टियरस), दुर्घटना में पकड़ाना (काट इन एक्सीडेण्ट), हृदय में एक ललित कोना होना (टू हेव ए साफ्ट कार्नर इन दी हार्ट) आदि।

अंग्रेजी वाक्य-रचना का प्रभाव भी हिन्दी की गद्य शैली पर पर्याप्त पड़ा है। निर्देशक शब्दों का प्रयोग कर, वाक्य के बीच में ही स्पष्टीकरण करना, लम्बे-लम्बे

वाक्यों को विराम-चिह्नों की सहायता से अर्थ पर आघात न पड़ते हुए जोड़ते जाना, अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में आया है।

इसके पूर्व हिन्दी में केवल खड़ी पाई (।) लगाई जाती थी, तथा वाक्य-रचना भी बहुधा सरल होती थी। दीर्घ संयुक्त तथा मिश्रित वाक्य अनेकों उपवाक्यों सहित नहीं गुथे जाते थे, इससे विभिन्न चिह्नों की आवश्यकता नहीं थी। गद्य की उन्नति से विराम-चिह्नों की संख्या बढ़ी तथा अंग्रेजी के गद्य ने अपना आदर्श प्रस्तुत किया।

प्राचीन हिन्दी में गद्यांशों को अनुच्छेदों तथा परिच्छेदों में विभाजित करने की प्रणाली नहीं थी। लगातार एक ही खंड में अनेक भाव-विचार बदली हुई शैली में स्थान पा जाते थे। अंग्रेजी के प्रभाव से अनुच्छेदों तथा परिच्छेदों का विभाजन भी हिन्दी-गद्य में होने लगा।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में शैलियों के क्षेत्र में अंग्रेजी-साहित्य का प्रभाव लाक्षणिक प्रयोगों और अभिव्यंजना की बहुलता के रूप में लक्षित होता है। यद्यपि प्राचीन संस्कृत-साहित्य शास्त्र में, भारत में कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद के सम्बन्ध में 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ में पर्याप्त प्रकाश डाला है, परन्तु अभिव्यंजना की इस शैली का जो प्रभाव अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से पड़ा है, वह कुन्तक की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अंग्रेजी के प्रभाव से नाटक-उपन्यास दोनों में काव्यत्व का अवयव निकालने की प्रवृति हुई और दृश्य-वर्णन, भाव-व्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि हटाए जाने लगे। नया ढांचा प्रेमचन्द जी के समय से आने लगा।[1]

कालान्तर में अंग्रेजी से हिन्दी के हितों को भारी आघात भी पहुँचा है। हिन्दी का स्वच्छन्द विकास न होने में अंग्रेजी की नकल ने भारी बाधा पहुंचाई।……समाचार-पत्रों ने तो अंग्रेजी से शब्दानुवाद कर-करके हिन्दी की ऐसी रीढ़ मारी है कि उसके खड़े होने में समय लगेगा। खड़ी बोली बैठ गई है, अंग्रेजी की मार से उसके भार से।[2]

बंगला-भाषा का प्रभाव

देशी भाषाओं में अंग्रेजी से सर्वाधिक एवं सर्वप्रथम प्रभावित भाषा, तथा हिन्दी को अंग्रेजी से प्रभावित करने का माध्यम बंगला के आधुनिक साहित्य का विकास भी १८००वीं ई० के लगभग फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के पश्चात् हुआ। पश्चिमी साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों को बंगला ने बड़े वेग तथा उदारता से ग्रहण किया। वह इस क्षेत्र में अग्रगण्य है। देशी भाषाओं में हिन्दी ने सबसे अधिक सहायता बंगला से ही ली है। वह हिन्दी का बड़ा सौभाग्य रहा कि प्रायः सदा ही उसका पोषण देश की राजधानियों के क्षेत्रों में हुआ है। सैकड़ों वर्षों तक दिल्ली-आगरा के आस-पास की

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : भाषण : सभापति साहित्य-परिषद्, हि० सा० स० चौबीसवां : पृ० १०६।

२. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : भारतीय साहित्य-शास्त्र : प्रकाशकीय वक्तव्य : पृ० २।

प्रधान-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् हिन्दी को अंग्रेजों के बंगाल पर अधिकार करने तथा कलकत्ता को राजधानी बनाने पर, संरक्षण और सहानुभूति प्राप्त हुई। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि हिन्दी का प्रथम पत्र, 'उदंत-मार्तण्ड' (साप्ताहिक), सन् १८२६ में पं० जुगलकिशोर शुक्ल के द्वारा, कलकत्ता से ही प्रकाशित हुआ।[1] इसके पश्चात् भी हिन्दी के अन्य प्रारम्भिक पत्र कलकत्ता से ही निकले। हिन्दी की इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अनेकों बंगला-भाषा के शब्द, हिन्दी भाषा में आ गये।

संयुक्त प्रान्त के बाहिर बंगाल हिन्दी का सबसे बड़ा गढ़ रहा है। इस शती के अन्त पर हिन्दी की प्रकाशित पुस्तकों की जो प्रमाणित संख्या उपलब्ध हुई है, वह इस तथ्य पर पूर्ण प्रकाश डालने में समर्थ है। सन् १९०२-३ में जबकि बम्बई में ४०, पंजाब में ६६ और मध्य-प्रदेश में केवल २१ हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, अकेले बंगाल में १३६ हिन्दी पुस्तकें निकलीं।[2]

मूल हिन्दी की पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अनुवादों के माध्यम से भी बंगला शब्द, पद तथा वाक्य-विन्यास हिन्दी में आया। बंगला के समृद्ध साहित्य ने हिन्दी के लिए अनुवाद के क्षेत्र में विशेषतः प्रोत्साहित किया। इन अनुवादों में उपन्यासों की संख्या ही सर्वाधिक थी। उपन्यासों में पाठकों को सम्बोधित करके उसने आत्मीयता स्थापित करने का ढंग भी बंगला से हिन्दी ने लिया।

अंग्रेजी की तरह संस्कृत का प्रभाव भी कुछ अंश में हिन्दी में बंगला के द्वारा आया है; जैसे—उच्छ्वासित, प्रकोष्ठ, जलोच्छ्वास, उत्ताल, अवसन्न, जिज्ञासा की, किंकर्त्तव्यविमूढ़, सुविधा, बढ़ाबढ़ी, भद्र अवज्ञा आन्दोलन, प्राणपण से चेष्टा करना, शेष करना (समाप्त करना), सर्वनास, सम्भ्रान्त आदि।

हिन्दी के अपने शब्द होने पर भी बंगला के प्रभाव से माधुर्य के लिए अनेकों प्रत्ययों का प्रयोग कर नये शब्द गढ़े गये—माधुर्य, प्राखर्य, विनिन्दित, अभिनव, समुत्फुल्ल इत्यादि।

बंगला की रूप-माधुरी के साथ कोमलकान्त पदावली ने हिन्दी को कम आकर्षित नहीं किया। बड़े-बड़े कोमल पदों की हिन्दी में भी अवतारणा हुई। वीचि-विभंग-मयी गंगा, वर्षा-वारि-राशि प्रभथिता, वर्षा-जल-निषिक्त-पद्म।

हिन्दी साहित्य में 'उपन्यास' का नाम भी बंगला से आया।[3] बंगला के जातीय गुणों का हिन्दी-शैली में लय, संगीत, भावुकता, व्यंजनापूर्ण विशेषण तथा कोमलकान्त पदावलियों का विशेष सन्निवेश हुआ। जिसका प्रसाद, वियोगी हरि, रामकृष्ण दास इत्यादि ने पूर्ण उपयोग किया। निःसन्देह बंगला के साहचर्य से हिन्दी-गद्य की भाषा में शिष्टता और कोमलता आ गई और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई।[4]

---

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० ७।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४२७।
३ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : भाषण : सभापति साहित्य-परिषद्, हि० सा० स० चौबीसवां : पृ० १०५।
४. प्रेमनारायण टंडन : द्विवेदी-मीमांसा : पृ० ३।

बंगला तथा उड़िया भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों को छोड़कर लिंग किसी का नहीं होता। इसका भी प्रभाव हिन्दी के लिंग-निर्णय पर पड़ा।

अंग्रेजी-शैली का प्रतीकवाद, हिन्दी में बंगला के माध्यम से आया। इसके कारण हिन्दी में प्रतीकात्मक सौंदर्य बढ़ा। कवीन्द्र रवीन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय आदि ने अंग्रेजी प्रतीकात्मकता, व्यंग्यात्मक वक्रता एवं लाक्षणिक मूर्तिमत्ता को ग्रहण करके जिस काव्य-शैली को अपनाया वह बंगाल में ही लोकप्रिय नहीं हुई वरन् 'गीतांजली' के रूप में विश्व में सम्मानित हुई। इससे हिन्दी-साहित्य अधिक प्रभावित हुआ।

संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

संस्कृत के हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव की चर्चा करना, मां की बेटी पर अनुहार की बात कहना है। हिन्दी को उसने जन्म ही नहीं दिया, प्रत्युत उसका पालन-पोषण भी किया है। सामर्थवान होने पर भी वही उसे अलंकृता भी करती है एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करती है। असंख्य शब्द-राशि के साथ ही साथ व्याकरण के बहुत से सिद्धान्त भी हिन्दी ने संस्कृत से ग्रहण किये हैं। जैसे संधि तथा समास जो कि आधुनिक हिन्दी के मुख्य आधार हैं, मूलतः संस्कृतप्रदत्त हैं। पुत्री को मां का सब दान ग्राह्य है। वह देने में अघाती नहीं, यह लेने में संकोच करती नहीं। आज सर्व-सम्पन्ना पुत्री हिन्दी को विपुल भेंट देकर भी मां संस्कृत अपने को अकिंचिना ही समझती है और हिन्दी भी साधिकार अपनी जननी के द्वार खटखटाकर आवश्यकता की पूर्ति करने में पीछे हटती नहीं। संस्कृत-हिन्दी का यह पुनीत सम्बन्ध भारतीय संस्कृति का सुन्दर प्रतीक है। आधुनिक हिन्दी में अधिकांश शब्द संस्कृत धातु से बने हैं।[१,२] एवं अ, आ, अनु इत्यादि उपसर्गों के योग से उसमें श्रुति-मधुरता तथा लावण्य भी आ गया है। "कहीं हमें हिन्दी पर संस्कृत का आकृति-मूलक और कहीं सिद्धान्त-मूलक प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। हिन्दी-साहित्य के रूप और शाखाओं पर संस्कृत का आकृति-मूलक प्रभाव है, कथाओं और घटनाओं पर विस्तार-मूलक प्रभाव की मुद्रा दीख पड़ती है और धर्म-दर्शन एवं काव्य-विज्ञान की पद्धति पर सिद्धान्त-मूलक प्रभाव का साक्षात्कार होता है।"[३]

'भारतेन्दु' तथा 'द्विवेदी-युग' के अनेकों हिन्दी-साहित्यकार संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। जिनमें पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, गजाधर सिंह, पण्डित सुधाकर द्विवेदी, गोविंदनारायण मिश्र साहित्याचार्य, माधव मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पण्डित रामावतार पाण्डेय इत्यादि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उक्त दोनों युग-प्रवर्त्तक भी संस्कृत के ज्ञाता थे। इनके माध्यम से तथा सीधे प्रयत्नों द्वारा हिन्दी को विपुल दान प्राप्त हुआ। हिन्दी में संस्कृत शब्दों की सूची देना भी, इस विपुलता के कारण न सम्भव है और न आवश्यक ही।

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-साहित्य : एक अध्ययन : पृ० २८४।

२. डॉ० भोलानाथ : हिन्दी-साहित्य : पृ० ६०।

३. डॉ० सरनामसिंह : हिन्दी-साहित्य का संस्कृत-साहित्य पर प्रभाव : भूमिका : पृ० 'क'।

उर्दू के द्वारा हिन्दी के विरोध तथा अरबी-फारसी के शब्दों से अपना भाण्डार भरने की तीव्र प्रतिक्रिया हिन्दी पर होने के साथ ही संस्कृत का सीधा प्रभाव अधिक पड़ा। उर्दू-फारसी के शब्दों का बहिष्कार किया गया। आगे राष्ट्रीय आन्दोलनों में नवीन शब्दों की अत्यधिक आवश्यकता बढ़ जाने से संस्कृत के सामने हाथ पसारा गया। यहां से उसने उर्दू-फारसी का द्वार बन्द कर लिया।

समास संस्कृत का जीवन है। इससे गद्य में भाव-ग्राहिता, गाढ़बद्धता तथा ओज का प्रादुर्भाव होता है। संस्कृत के प्रभाव से हिन्दी में समास-प्रधान शैली का प्रचलन हुआ। प्रौढ़ एवं गम्भीर गद्य के लिए यह शैली आवश्यक भी है। गोविन्दनारायण मिश्र, सुधाकर द्विवेदी, चण्डीप्रसाद हृदयेश इत्यादि ने इस सामासिक शैली का सफल प्रयोग किया।

संस्कृत की स्वाभाविक ध्वनि, आलंकारिकता, शब्दाडम्बर, वर्णन-नैपुण्य तथा काव्यमयता ने भी हिन्दी को आकर्षित अवश्य किया है। इससे न केवल पद्य के क्षेत्र में वरन् हिन्दी के गद्य में भी संस्कृत की मोर पंखी-मनोहर-आलंकारिकता, सुष्ठ-शब्द-योजना एवं दीर्घ पदावली का पदार्पण हुआ। हिन्दी में भी गद्य-काव्य की प्राचीन शैली, जिसमें अनेकों वाक्य-खण्डों की लड़ियाँ गुथी रहती हैं, प्रचलित हो गईं।

इन सबके अतिरिक्त संस्कृत के अति लाड़ का हिन्दी पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ा है। विशेषतः लिंग-भेद की गड़बड़ी इसी के कारण हुई है। संस्कृत विद्वान् हिन्दी-लेखक स्वभावतः लिंग-निर्णय संस्कृत के आधार पर करते थे और अन्यत्र लोग हिन्दी की प्रकृति तथा प्रयोग के आधार पर। इससे संस्कृत के देवता, तारा, व्यक्ति इत्यादि अनेक स्त्रीलिंग शब्द पगड़ी बांधकर कहीं हिन्दी में पुरुषवर्ग में जा बैठते और कहीं मूलरूप में स्त्रीलिंग बने रहते। इसके विपरीत अग्नि-आत्मा, देह, पवन, शपथ आदि संस्कृत के पुँल्लिग शब्दों को कहीं हिन्दी में ओढ़नी उढ़ाकर स्त्रीवर्ग में शामिल कर दिया और कहीं वैसे ही रहने दिया। संस्कृत में आकारांत शब्द स्त्रीलिंग ही होते हैं, जैसे रामा, माला, दया, लज्जा, बाला, मधुरा इत्यादि; परन्तु हिन्दी में आकारान्त शब्दों को स्त्रीलिंग के होने का बन्धन नहीं है। इससे आकारान्त पिता, देवता, विधाता, काला, पीला सब पुँल्लिग हैं और प्रार्थना, दया, क्षमा, रचना, वीरता, धीरता आदि स्त्रीलिंग भी हैं। संस्कृत में अकारान्त तत्सम विशेषणों को आकारान्त करने पर ही स्त्रीलिंग बनाया जाता है, पर हिन्दी में उन्हें आकारान्त करने की आवश्यकता नहीं होती। यहां एक ही रूप दोनों लिंगों में काम में आ जाता है। जैसे संस्कृत में इनके लिए दो रूप हैं—मधुर-मधुरा, नवीन-नवीना, ललाम-ललामा; परन्तु हिन्दी में मधुर, नवीन तथा ललाम ही चलते हैं।

हिन्दी की अपरिपक्वावस्था में संस्कृत के प्रभाव से विभक्तियों के क्षेत्र में विकार भी उत्पन्न हो गया है। जैसे संस्कृत की समास-प्रधानता ने उसे स्वभावतः उपसर्ग एवं प्रत्ययों को प्रगाढ़ आलिंगन करने को प्रोत्साहित किया है, पर हिन्दी में विभक्तियां प्रारम्भ से विभक्त लिखी जाती रही हैं। संस्कृत के प्रभाव से कोई उन्हें सटाकर लगाता और कोई हटाकर। इस कारण द्विवेदी युग में सटाऊवादी तथा हटाऊवादी सम्प्रदायों

की विप-बेल फैली और हिन्दी के राष्ट्र-भाषा पद पर अभिषिक्त होने पर भी वह प्रभाव अभी शेष है ।

फारसी-अरबी-उर्दू का प्रभाव

उर्दू के माध्यम से फारसी तथा अरबी की विदेशी, किन्तु प्राचीन आर्य-भाषा परिवार की भाषाओं का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ा है। प्राचीन हिन्दी का उद्भव तथा विकास मुसलमान शासकों के संरक्षण तथा छत्रछाया में हुआ है । हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक लेखकों में बहुत से मुसलमान थे, जिनकी शैली मूलतः हिन्दी की अपेक्षा अरबी-फारसी के अधिक समीप थी। हिन्दी के मुसलमानेतर लेखकों ने भी उस फारसी शैली का अनुकरण किया। अमीर खुसरो ने सबसे पहिले फारसी के छन्दों का हिन्दी में प्रयोग किया ।

हिन्दुस्थान के मुस्लिम शासकों की कृपा से सैकड़ों वर्षों तक कचहरी तथा न्यायालयों की भाषा फारसी रही है। इसके परिणामस्वरूप आधुनिक-हिन्दी में न्यायालय, विधि तथा कचहरी सम्बन्धी असंख्य शब्द अरबी-फारसी के ही हैं, और ये जनता के जीवन में इतने अधिक घुल-मिल गये हैं कि आज का शुद्ध 'विधि' शब्द ९० प्रतिशत हिन्दी भाषी जनता को भी अटपटा-सा लगता है। इससे हिन्दी के साथ अरबी-फारसी की निकटता का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार से मूलत: उर्दू का साहित्यिक क्षेत्र भी हिन्दी के लिए पराया नहीं है, वह आज राजनीतिक गुरुडम तथा साम्प्रदायिकता की आंधी से गंदा अवश्य हो गया है फिर भी हिन्दी—विशेषतः खड़ी बोली हिन्दी—उसके प्रति, उर्दू के ऋण को अस्वीकार करके कृतघ्न नहीं होगी। उर्दू के प्रभाव से खड़ी बोली हिन्दी का गद्य विकसित एवं परिष्कृत हुआ और उसमें गतिशीलता एवं लोकप्रियता की वृद्धि हुई। इसी उर्दू की कृपा से अरबी-फारसी के असंख्य शब्द हिन्दी में आये और उन्होंने हिन्दी के शब्द-कोश को पुष्ट किया। उर्दू-फारसी के वाक्य-विन्यास तथा पद-योजना का भी प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। खड़ी बोली गद्य का सम्बन्ध उर्दू से रहने के कारण पद्य की अपेक्षा हिन्दी गद्य के क्षेत्र में उसका प्रभाव अधिक पड़ा। यहां स्मरणीय है कि भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदासजी ने भी उर्दू-फारसी के कई शब्द, अपनी लोकप्रिय रचना रामचरित मानस में ग्रहण किये हैं, जिनका उल्लेख यहां आवश्यक नहीं है।

हिन्दी-साहित्य में अरबी-फारसी के जो असंख्य शब्द आ गये हैं, उनका संकेत करना अथवा चयन करना भी बहुत कठिन है । ये मात्रा में इतने अधिक तथा जन-प्रचिलित हैं कि उनको यहां गिनाना सम्भव नहीं है। यहां फारसी-उर्दू के प्रभाव से हिन्दी में जो प्रतिक्रियाएं हुई हैं, उन्हीं की चर्चा समीचीन होगी। अन्यथा बहुत से अरबी-फारसी के शब्दों को तो पहिचानना ही कठिन है जैसे साबुन, शीशी, शीसा, हुक्का, अचार-मुरब्बा, चिलम, बंदूक, कलम-दावात, स्याही, ग़लत, सही, तबियत, जलेबी, कलाकंद, हलवा, किसमिस, बदाम, पिस्ता, हमेल, पायजेब, पायजामा, तकिया, रूमाल इत्यादि शब्द घर-घर में बेरोकटोक कैसे चलते ?

इन संज्ञा शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्द-भेदों के बहुत से शब्दों को भी हिन्दी में स्वीकार किया गया। यद्यपि हिन्दी में इनके पृथक् शब्द प्रचलित थे, फिर भी कुछ तनिक अर्थ-भिन्नता के कारण इन्हें भी स्थान मिल गया—

क्रियाएं—मानना, मुकरना, सोचना इत्यादि को हिन्दी जानती थी; अब कबूल करना, इन्कार करना, फिक्र करना भी सीख गई।

क्रिया विशेषण—जल्द, बिल्कुल, बेशक, जरूर, अलबत्ता, हर्गिज़, करीब-करीब, फ़ौरन, बग़ैर, शायद, खैर, राज़ी-खुशी।

सम्बन्ध-सूचक—बाबत, बाद, करीब, तरफ, बदले, इत्यादि।

समुच्चय-बोधक अव्यय—सिवाय, मगर, लेकिन, अगर, ताकि, बल्कि इत्यादि।

विस्मयादि-बोधक—फारसी के शादबाश से हिन्दी में शाबाश बनकर चला।

हिन्दी में फारसी के शब्दों के अनुकरण पर अनेक शब्दों का निर्माण किया गया है; जैसे कुतुबखाना, मयखाना, बागवान, कलमदान, शतरंज, बाज के आधार पर डाकखाना, दवाखाना, हाथीवान, पानदान, चायदानी, चौपड़बाज़, पटेबाज, चपरास इत्यादि।

इसी प्रकार से फारसी-अरबी के शब्दों का राष्ट्रीयकरण करके भी बहुत से शब्दों को ग्रहण किया गया। दलाल (दल्लाल), सराफ (सर्राफ), मौसम (मउसम), बजाज (बज्जाज), मैदान (मइदान), वकील (वक्कील), मालूम (माअलूम), कार्यवाही (कार्रवाई) इत्यादि।

यौगिक शब्द

अरबी-फारसी के शब्दों के साथ संस्कृत के शब्दों का विचित्र संयोग भी यहां ध्यान देने योग्य है—जैसे जिलाधीश, जांचकर्त्ता आदि।

फारसी-संस्कृत के संयोग के समान फारसी-अंग्रेजी के मेल से भी हिन्दी शब्द बने हैं—जैसे अंग्रेजी के 'जेल' में फारसी 'खाना' मिलाकर 'जेलखाना' बना लिया। अथवा फारसी की 'जेब' में हिन्दी की 'घड़ी' डालकर 'जेबघड़ी' तैयार हुई, तथा हिन्दी के 'राज' में अरबी 'महल' को आश्रय देकर 'राजमहल' खड़ा हो गया या हिन्दी के 'पते' में अरबी का 'ला' उपसर्ग लगाकर 'लापता' कर दिया गया और किसी को पता भी न दिया। फारसी 'गरम' में हिन्दी का 'आहट' लगाकर भाषा में 'गरमाहट' ला दी पर आहट (आवाज) तक नहीं किया और व्याकरण के नियमों को ठंडा कर दिया। फारसी 'ज़बानी' (मुंह की सूचना) में और 'मुंह' लगाकर हिन्दी में 'मुंहजबानी' कहना शुरू कर दिया और तुलसीदासजी ने उसे 'मुखागर' बांच दिया। कहां तक कहा जाय फारसी की 'जक जक बक बक' हिन्दी में अब 'बक-बक-झक-झक' करने लगी है; और फारसी का 'मासतह' हिन्दी का 'मसाला' बन गया है। फारसी के प्रभाव में 'बहुक्म', 'दरअसल' भी क्रमशः 'हुकुम से', 'असल में' बन गये।

वैसे तो विश्व की सभी भाषाएं दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करती ही हैं, पर हिन्दी-उर्दू की पुरानी दोस्ती में मुहावरों और उक्तियों का भी अनुवाद की क्रिया से,

हिन्दीकरण कर दिया है ; जैसे—'पानी-पानी होना' (फारसी के—आबशुदन) आपे या जामे से बाहर होना (अज़जामा विरूं शुदन), बाज आना (बाज़ आना) इत्यादि ।

फारसी के प्रभाव से हिन्दी में शब्दों के लिंग-भेद के समझने में गड़बड़ी होने लगी । हिन्दी के चर्चा, गोशाला, पाठशाला, माला, छाया जैसे स्त्रीलिंग शब्दों को पहिले फारसी वालों ने पुँल्लिग में प्रयुक्त किया और उन्हीं के प्रभाव से वे हिन्दी में भी पुँल्लिग बन गये । पं० मदनमोहन मालवीय ने भी 'चर्चा' को पुँल्लिग बना दिया है ।[1]

मूल फारसी के उभय लिंगी विशेषणों को हिंदी में आकर स्पष्ट रूप रखना पड़ा । जैसे ताजा, जुदा, सादा पुँल्लिग तथा ताजी, सादी तथा जुदी स्त्रीलिंग बन गये, और कई फारसी की प्रकृति के हिन्दी ज्ञाताओं द्वारा उभय लिंगों में, एक ही रूप चलने दिया गया ।

फारसी में जब स्त्रियां परस्पर अपने सम्बन्ध में बात करती हैं तो पुँल्लिग बहु-वचन क्रिया का प्रयोग करती हैं, यह प्रयोग लखनऊ क्षेत्र की हिंदी में कहीं-कहीं मिलने लगा है—जब हम जाने ही वाले थे कि वर्षा शुरू हो गई ।

उर्दू फारसी के वाक्य-विन्यास का प्रभाव भी हिन्दी में अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । जैसे—

उर्दू में— १. बजाय इसके कि बुढ़ापे में वह मेरी मदद करे, मुझे ही उसकी परवरिश करनी पड़ती है ।

२. बेहतर होगा कि आप उसे समझा दें, वरना उसे बाद में रोना पड़ेगा ।

हिन्दी में उपरोक्त वाक्य-विन्यास के अनुकरण पर—१. इसके स्थान पर कि हम अपनी उन्ननि करें, हमारा पतन होता जा रहा है ।

२. अच्छा होगा कि अब आप मेरे साथ चल दें, अन्यथा आपके प्राणों को संकट हो सकता है ।

उर्दू-फारसी में मुहावरों का प्रयोग अधिक होता है । इससे उर्दू के शायरों ने हिन्दी-मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग कर अपनी भाषा की गतिशीलता एवं तरलता में वृद्धि की । इससे प्रभावित होकर साहित्यिक-हिन्दी ने भी अपनी निधि के महत्त्व को पहिचान कर मुहावरों के प्रयोग की वृद्धि की । इसके पूर्व हिन्दी के सहस्रों मुहावरे साधारण बोल-चाल एवं ग्राम्य क्षेत्रों में ही आबद्ध थे । अब वे साहित्य के परिष्कृत एवं परिमार्जित भवन में भी पदार्पण कर सके । इससे हिन्दी की प्रतिभा चमकी, उसमें प्रांजलता एवं प्रवाह आए । हिन्दी ने उर्दू-फारसी तथा अंग्रेजी के भी बहुत से मुहावरे अंगीकृत कर लिए । मुहावरे भाषा की अमूल्य निधि हैं, इसकी साक्षी हिन्दी को उर्दू ने दी । सच तो यह है कि उर्दू-फारसी का जातीय गुण ही मुहावरे, उक्तियां, शाब्दिक उछल-कूद, नाज-नखरे और चपलता है, जिसका प्रभाव परोक्षत: तथा प्रत्यक्षत: हिन्दी भाषा पर भी हुआ ।

१. Persian Influence on Hindi : p. 88.

आगे चलकर द्विवेदी-युग में हिन्दी-उर्दू के विवाद के फलस्वरूप जो प्रतिक्रियाएं हुईं, उनसे अरबी, फारसी, उर्दू के शब्द, वाक्य-विन्यास तथा मुहावरों का बहिष्कार किया गया। कुछ अंश में यह भाषा-विवाद साम्प्रदायिकता की भँवर में फँसकर चोटी-दाढ़ी से भी बंध गया। फलस्वरूप उर्दू-फारसी के लिए हिन्दी के द्वार बन्द हो गये और जो इतना प्रभाव-प्रवाह हिन्दी में इन भाषाओं का सैकड़ों वर्षों में आ गया था, वह रुक गया। अनेकों फारसी-अरबी के शब्द जिन्होंने हिन्दी की राष्ट्रीयता स्वीकार नहीं की उन्हें बलपूर्वक, हिन्दी के क्षेत्र से निकाल दिया अथवा उनकी उपेक्षा की गई। उर्दू-फारसी के प्रसिद्ध लेखक जो कि वहां अपनी लम्बी यात्रा तय कर चुके थे, इस राष्ट्रीय पुकार पर हिन्दी में आ गये, उन्हें कलम का कमाल हासिल होने से, उर्दू-शैलियों का हिंदी में सफल प्रवर्त्तन किया। पं० ज्वालादत्त शर्मा, दीनदयाल शर्मा, मुंशी प्रेमचन्द, सुदर्शन तथा विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' मुख्य हैं जो द्विवेदी-युगीन गद्य-शैलीकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

अन्य प्रभाव एवं हिन्दी की शब्द-गरिमा

उपर्युक्त हिन्दी-गद्य की पृष्ठ-भूमिका प्रस्तुत करने में अन्य भाषाओं के योगदान का जो संकेत किया गया है, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हिन्दी की अपनी कोई निधि नहीं थी और उसने सब कुछ उन्नीसवीं सदी तथा उसके पश्चात् ही यत्र-तत्र से संचित किया है। मध्य-काल में हिन्दी अपने 'स्वर्ण युग' को देख ही चुकी थी। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, जायसी, केशव, बिहारी इत्यादि अनेकों जनप्रिय कवि हिन्दी में हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी-काव्य को अपनी अमूल्य अमर कृतियां प्रदान की हैं तथा भारतीय जीवन को आन्दोलित किया है। इस प्राचीन हिन्दी-काव्य की अनन्त शब्द-राशि ने ही सैंकड़ों वर्षों तक हिन्दी-गद्य को जीवित रखा। तुलसी-सूर इत्यादि की असंख्य शब्द-राशि हिन्दी की पूरी अपनी सम्पत्ति है जिस पर कि भारतेंदु-युग तथा द्विवेदी-युग के गद्य का विशाल भवन खड़ा किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की जठराग्नि भी अत्यन्त प्रबल है, जिसमें पड़कर विदेशी एवं विजातीय भाषाओं के अनेकों विषम तत्त्व भी क्षय हो गए। हिन्दी ने उन्हें पचा लिया और उन्होंने हिन्दी की शक्ति को बढ़ाया। वर्षों से हिन्दी के प्रवाह-चक्र में पड़कर उनकी विजातीयता भी घिस-पिटकर दूर हो गई। व्यावहारिक हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता प्राप्त कराकर, उसमें अनेकों गद्य-शैलियों का प्रजनन करने की क्षमता उत्पन्न करने का यह महाप्रयास वस्तुतः पूर्ण सफल हुआ है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-भाषा के स्वयं सामर्थ्यवान् हो जाने पर आवश्यकतानुसार स्वस्फूर्ति से उसने अनेकों शब्दों का निर्माण भी कर लिया है। इन शब्दों की संख्या भी इतनी बड़ी है तथा स्थिति इतनी अनिश्चित है कि कोई नहीं कह सकता कि उन शब्दों के निर्माण में दूसरी भाषा की अनुकृति, प्रभाव या प्रेरणा नहीं है। समृद्ध भाषाएं अपने ही बल पर असंख्य शब्द बना लेती हैं। अनेक उपसर्ग-प्रत्यय आदि शक्ति के स्रोत हैं, जिनसे बहुत से नवीन शब्द बन गये हैं।

पारिभाषिक शब्द

देश में पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के प्रचार-प्रसार के साथ ही नवीन ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव भी हुआ। परिणामस्वरूप अनेकों विषयों को पढ़ाने-लिखाने के क्षेत्र में भी असंख्य ऐसे विचार, भाव या परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, जिनकी अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी में शब्दों का प्राय: अभाव था। फिर हिन्दी के लिंग, वचन, कारक-रचना के अनुसार उनका रूप संजोया गया। आगरा, स्कूल-बुक सोसाइटी ने भारतेन्दु-युग के पूर्व ही शैक्षणिक पुस्तकों के निर्माणकर्त्ताओं के सामने इस समस्या का संकेत किया और उसने जैसे-तैसे काम धकाने का प्रयास मात्र किया। जैसे-जैसे देश में शिक्षा, विशेशत: उच्च शिक्षा का प्रसार हुआ तथा हिन्दी-माध्यम से नवीन ज्ञान को प्रस्तुत करने की आवश्यकता हुई, वैसे-वैसे यह पारिभाषिक शब्दों की समस्या गम्भीर होती गई। अंग्रेजी के शब्दों को देव-नागरी लिपि में रखकर मूल शब्दों को कोष्टक में रख देने से न तो हिन्दी का सम्मान था और न हिन्दी-भाषियों को सुविधा ही थी।

द्विवेदी-युग तक में अंग्रेजी के फिलासफी, रिमार्क, नेचरल, रीजन, ओशन करेण्टस, कारबन डाई आक्साइड, आक्सीजन, नाइट्रोजन इत्यादि अनेकों शब्द हिन्दी के अच्छे-अच्छे लेखक जिनमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास भी सम्मिलित हैं—प्रयोग करते थे। स्वयं आचार्य शुक्ल[1] तथा श्यामसुन्दरदासजी ने अनेकों अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्दों को गढ़कर कोष्टक में अंग्रेजी के शब्दों का सहारा देकर हिन्दी के क्षेत्र में प्रचलित किया। कुछ स्थलों पर हिन्दी के ही दो या अधिक शब्दों को कोष्टक के भीतर-बाहर रखकर अपनी अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है। जब यह दशा शब्द-भाण्डार के महाधनी-आचार्यों की थी, तो साधारण गद्य-कारों की दशा तो और भी विचित्र होना स्वाभाविक है।

उन्नीसवीं सदी उत्तरार्द्ध में स्वस्थ साहित्य-निर्माण-कार्य तथा हिंदी-उर्दू की समस्याएं

स्वस्थ साहित्य-निर्माण की दृष्टि से, १९वीं सदी के लगभग प्रथम ६० वर्ष का समय, महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस कालावधि में ईसाई धर्म-प्रचार सम्बन्धी तथा पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। यह काल हिन्दी-गद्य की सुप्तावस्था का है।[2] राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सदृश महानुभावों ने अपने-अपने ढंग से इसमें चैतन्य लाने का प्रयास किया।

इस युग में हिन्दी-गद्य की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। यद्यपि १८५४ ई० में चार्ल्स वुड के 'घोषणापत्र' के अनुसार, नवीन शिक्षा-प्रणाली के साथ हिन्दी-प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम 'हिन्दुस्थानी' हो गई थी, जो सिद्धान्तत: हिन्दी ही थी; परन्तु व्यवहार

१. विश्व-प्रपंच : (भाग-१)।
२. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी के निर्माता (भाग-१) : पृ० २८-२९

में उर्दू थी। कचहरी की भाषा भी वही थी, इससे सरकारी संरक्षण पाकर उर्दू-फारसी को लोग सभ्य लोगों की ही भाषा कहते थे। लोगों को जीविका देने में भी वह समर्थ थी। उर्दू भी फारसी की सम्बन्धिनी होने के कारण तथा राज-वैभव से निकट भूत में सम्बद्ध रहने से, अपनी दीर्घ महत्त्वाकांक्षा-वश पूर्व-सम्मान की प्राप्ति के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रही थी। यह स्थिति हिन्दी के स्वस्थ विकास के लिए उपयुक्त न थी, फिर भी हिन्दी का प्रवाह कहीं प्रत्यक्ष और कहीं भूमिगत होकर सतत आगे बढ़ ही रहा था। उर्दू की तड़क-भड़क और रोआब-आदाब के सामने बेचारी हिन्दी अकिंचन, सरला एवं निरीह थी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के शब्दों में हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।[१] प्रमाण के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ब्रिटिश शासन की ओर से उर्दू-फारसी का दुलार किया जाता रहा, तथा हिन्दी का तिरस्कार जबकि सन् १८३७ से ही सब प्रान्तीय भाषाएं न्यायालयों में प्रवेश की स्वतन्त्रता का उपभोग कर रही थीं, हिन्दी की उर्वरा भूमि उत्तर-प्रदेश में हिन्दी को वह स्थान प्राप्त नहीं था जो उर्दू-फारसी को था।[२] हिन्दी की यह हीनावस्था, भारतेन्दु-युग के आरम्भ में क्या होगी इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जबकि युग के अन्त में १८९३-४ में वहां हिन्दी की ३०६ तथा १८९४-५ में ३५४ पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वहां केवल १८९४-५ में ही ६२३ उर्दू-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। मुसलमानों ने हिन्दी का घोर विरोध किया। यहां तक कि कठिन प्रयत्न से न्यायालय में मिले स्थान को भी छीन लिया और सन् १८४८ में शिक्षा के माध्यम के लिए भी हिन्दी को रखने का सरकारी विचार मुसलसानों के गहरे विरोध से बदल दिया गया।[३] सर सैयद अहमद खां, हिन्दी-विरोध में सबसे आगे थे तथा अंग्रेजी में उनका विशेष सम्मान था। इस वर्ग की दृष्टि में हिन्दी हिन्दुओं की मजहबी, मुश्किल तथा गंवारी बोली मात्र रह गई थी।

देश के दुर्भाग्य से जन-भाषा हिन्दी के विकास के मार्ग में घृणित षड्यंत्र, उर्दू के पक्षपात के कारण, मुसलमानों द्वारा रचे गये। भाषा का प्रश्न धर्म का प्रश्न बन गया था और हिन्दी-उर्दू की समस्या चोटी-दाढ़ी के सम्मान की वस्तु हो गई थी। सन् १८५७ की जन-क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजी कूटनीतिज्ञता ने हिन्दु-मुसलमानों के बीच की खाई को अधिक चौड़ा करने के लिए हिन्दी-उर्दू की समस्या को और भी प्रोत्साहित किया।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (१८२३-१८९५)

शिवप्रसाद सितारे हिन्द शिक्षा-विभाग में निरीक्षक नियुक्त हुए। वे अंग्रेजों के विशेष कृपापात्र थे। यद्यपि 'सितारे हिन्द' के हृदय में हिन्दी के प्रति प्रेम था; परन्तु पूर्व-संस्कार, सरकारी उच्च पद एवं तात्कालिक परिस्थितियों में उन्होंने, उर्दू-फारसी दी या हिन्दी की ही सिफारिश की। सन् १८७६ ई० में उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी-

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४३० ।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४३० ।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४३३ ।

उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों की भाषा को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया। हिन्दी-भाषा को उर्दू के समीप लाने के प्रयत्न में उन्हें इस 'आग फहम', 'इल्मी ज़रूरत' तथा 'खास पसंद' उर्दू-फारसी के शब्दों की हिमाकत करनी पड़ी।

राजा शिवप्रसाद की भाषा-शैली के सुन्दर उदाहरण 'इतिहास-तिमिर-नाशक', 'भूगोल-हस्तामलक', 'वामा-मनोरंजन', 'राजा भोज का सपना' इत्यादि हैं, जो कि उनकी प्राचीन रचना 'गुटका' (सन् १८६७) से सर्वथा भिन्न है और जिसकी भाषा संस्कृतोन्मुखी है। शिक्षा-विभाग में प्रविष्ट होते ही उत्तरदायित्ववश, इन्होंने अपनी भाषा के पुल से हिन्दी-उर्दू की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। उनकी गद्य-शैली के क्षेत्र में मुंशी देवीप्रसाद, बाबू देवकीनन्दन खत्री, प्रभृति लेखक प्रमुख हैं, जिन्होंने राजा साहब के भाषा-शैली के आदर्श को ग्रहण किया और अपनी भाषा को अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों, उर्दू-फारसी के वाक्य-विन्यास तथा बोलचाल के शब्दों से सज्जित किया। राजा शिवप्रसाद इस हिन्दी-गद्य रूप को न तो लोकप्रियता और न स्थायित्व ही प्रदान कर सके। जैसे—

"यहां जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं की मदद से बनता है। उसका हाल कई दफा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बन्ने का निशान तैयार पहिले मुंदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही और मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।"[१]

राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-९६)

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की उर्दू-फारसी दाँ भाषा शब्दों के ठीक विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत तत्समतोन्मुखी तथा ब्रज-भाषा प्रभावित, पवित्र स्नाता ठेठ हिन्दी प्रतिष्ठित की गई। राजा शिवप्रसाद तथा अन्य उर्दू-फारसी दाँ भाषा के समर्थकों की भीषण प्रतिक्रिया इन विशुद्ध हिन्दी के प्रेमियों की भाषा में हुई। लक्ष्मण-सिंह की प्रेरणा तथा विशुद्ध राष्ट्रीयतावादी शक्तियों के प्रभाव से हिन्दी का विशुद्धीकरण किया गया। जहां उर्दू को हिन्दी से दूर करने के लिए ढूंढ़-ढूंढ़कर फारसी के दुरूह शब्दों को ठूंसा जाता था वहां अब हिन्दी से भी उर्दू-अरबी और फारसी के व्यावहारिक शब्दों को निष्कासित किया गया एवं इनके प्रभाव से हिन्दी को मुक्त रखने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार से काल तथा परिस्थितियां 'सितारे हिन्द' के सिद्धान्तों के विपरीत, किन्तु लक्ष्मणसिंह के विचारों के अनुकूल थीं। देश में चल रहे असंख्य सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों के कारण सामयिक जागृत जनता ने भी शिवप्रसाद की अपेक्षा लक्ष्मणसिंह की हिन्दी गद्य-शैली को अधिक उपयुक्त माना। दो बुराइयों में से एक छोटी बुराई को स्वीकार करना ही पड़ा। प्रतिक्रियावश साहित्यिक क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु दैनिक व्यवहार से भी उर्दू-फारसी को दूर रखने का प्रयत्न किया।

---

१. उद्धृत—डॉ० शितकंठ मिश्र : 'बनारस' पत्र (१८४५) राजा शिवप्रसाद।

देश की सर्वाधिक प्रबल एवं सप्राण संस्था आर्य-समाज के आन्दोलन ने अपने विशाल कार्य में संस्कृतोन्मुखी हिन्दी को ही अपनाया।

राजा लक्ष्मणसिंह के विशुद्धता के प्रति अतिदृढ़ आग्रह ने, भाषा की स्वाभाविकता का अतिक्रमण कर दिया। उनकी भाषा का वह आदर्श न तो विकासोन्मुख विशाल देश की भाषा की आवश्यकता की पूर्ति ही कर सकता था और न अर्थ-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, राजनीति आदि अनेकों ज्ञान-विज्ञान के उपयुक्त ही था। इतना ही नहीं, वह भाषा-विज्ञान के सम्मत भी न था। भाषा जनता की सम्पत्ति है और जनता के बीच में ही उसका जन्म एवं पोषण होता है। वर्षों के प्रयोग के कारण उर्दू-फारसी के अनेक विदेशी शब्द सर्वसाधारण जनता के हृदय-हार बनकर हिन्दी के अंग हो गये थे और उसे पुष्ट करते थे। उन्हें ढूंढ़-ढूंढ़कर दूर करना जन-वाणी की महत्ता को कम करना था। लक्ष्मणसिंह की भाषा-शैली में हिन्दी के स्वस्थ-विकास का अवरोध हो गया। वास्तव में राजा शिवप्रसाद के गलत मार्ग की प्रतिक्रिया के रूप में लक्ष्मणसिंह ने अरबी-फारसी तथा अन्य किसी विदेशी भाषा के सर्व-साधारण में प्रचलित शब्दों का बहिष्कार करने की ठान ली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[1] एक बुराई की प्रतिक्रिया दूसरी बुराई के रूप में हुई। उनका मत था "हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।"[2] राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिन्दी-गद्य की भाषा ने अपने भावी रूप का आभास दे दिया।[3] जैसे—

"उस दिन एक मृग छौना, जिसको मैंने पुत्र की भांति पाला था, आ गया। आपने बड़े प्यार से कहा कि—आ बच्चे, पहले तू ही पानी पी ले। जब तुम्हें विदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुमने हंसकर कहा कि सब कोई अपने ही संघाती को पत्याता है, तुम दोनों एक ही वन के वासी हो और एक से मनोहर हो।"

—'शंकुतला नाटक'

स्वामी दयानन्द (१८४२-१८८३ ई०)

यद्यपि राजा लक्ष्मणसिंह तथा आर्य-समाज के अधिष्ठाता स्वामी दयानन्द, दोनों ही महानुभाव संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक थे, तथापि दोनों की भाषा-शैली भिन्न थी। राजा साहब की भाषा जहां ठेठ, सरल तथा प्रसाद-गुण सम्पन्ना है, वहां स्वामीजी की भाषा में व्यंग्य और सुष्कता है। स्वामीजी को अपनी प्रखर, तर्कपूर्ण तथा संयतवाणी के द्वारा मुल्ला-मौलवियों, पादरियों तथा पण्डितों के साथ धार्मिक शास्त्रार्थ करके, उन्हें हतप्रभ करना पड़ता था। उनका विवेच्य-विषय अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर तथा शास्त्रीय होता था। इन दोनों कारणों से उनकी भाषा-शैली राजा लक्ष्मणसिंह

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी-साहित्य : पृ० ५३।
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४४०।
३. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४४८।

से अधिक कठोर, तीखी, मर्मस्पर्शी तथा संयत होती थी। उन्हें एक-एक शब्द नाप-तौलकर प्रयोग करना पड़ता था। इसलिए दयानंदी हिन्दी-गद्य-शैली, संस्कृतनिष्ठ होकर भी स्पष्ट ही राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतगर्भित गद्य-शैली से भिन्न तथा प्रबल है। स्वामीजी ने अनेक विषयों पर वाद-विवाद करने तथा अपने दृष्टिकोण का जन-जीवन में प्रचार करने के लिए, व्याख्यानों का विपुल मात्रा में आश्रय लिया था। वे एक अत्यन्त सफल व्याख्याता थे। इससे उनकी गद्य-भाषा में व्याख्यानात्मक शैली की स्पष्ट छाप है। इन सबके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रद्धाराम फुल्लेरी, पं० भीमसेन शर्मा, पं० दयाराम शर्मा इत्यादि जो आर्य-समाजी हिन्दी-गद्यकार हुए हैं, इन सबका दृष्टिकोण साहित्यिक न था। हिन्दी-गद्य उनके विचारों के प्रचार-प्रसार का साधन मात्र था। इससे वे भाषा को साहित्यिक दृष्टि से सजाते और संवारते नहीं थे। इस बाह्य साज-सज्जा के उपेक्षित रखने पर भी, आर्य-समाज के विशाल साहित्य में हिन्दी-गद्य की एक नवीन शैली का प्रवर्तन किया है। इसमें तर्कपूर्ण, व्याख्यानात्मक प्रश्नोत्तर-शैली का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है—

"जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना अन्यत्र करना यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्ती राजा को सब राज की सत्ता से छुड़ा के एक छोटी-सी झोंपड़ी का स्वामी मानना (देखो ! यह) कितना बड़ा अपमान है। वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो, जब व्यापक मानते हो वाटिका में से पुष्प पत्र तोड़ के क्यों चढ़ाते ? चन्दन घिस के क्यों लगाते ? धूप को जला के क्यों देते ? घंटा, घरियाल, झांज, पखावजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ? तुम्हारे हाथों में है, क्यों जोड़ते हो ? शिर में है, क्यों शिर नमाते ? अन्न, जलादि में है, क्यों नैवेद्य धरते ? जल में है, स्नान क्यों कराते ? क्योंकि उन सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक की पूजा करते हो व व्याप्त की ? जो व्यापक की करते हो तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चन्दन, पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो ? और जो व्याप्य की करते हो तो हम परमेश्वर की पूजा करते हैं, ऐसा झूठ क्यों बोलते हो ? हम पाषाणादि के पुजारी हैं, ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते ?

अब कहिये 'भाव' सच्चा है या झूठा ? जो कहो सच्चा है तो तुम्हारे भाव के अधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जायेगा और तुम मृत्तिका में स्वर्ण, रजतादि, पाषाण में हीरा-पन्ना आदि, समुद्र फेन में मोती, जल में घृत, दुग्ध, दही आदि और धूल में मैदा-शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसा क्यों नहीं बनाते हो ?"—दयानन्द सरस्वती

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५ ई०)

भारतेन्दु के हिन्दी-गद्य-साहित्य में पदार्पण के पूर्व राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' एवं राजा लक्ष्मणसिंह, गद्य-शैलियों के दो भिन्न प्रस्ताव प्रस्तुत कर चुके थे। प्रथम प्रस्ताव हिन्दी की गद्य-सरिता को, उर्दू-फारसी के किनारे से लगकर प्रवाहित करने के लिए था, जिसका आदर्श शिवप्रसादी शैली में उपलब्ध था। द्वितीय प्रस्ताव में उसे संस्कृत के पुनीत दुकूल का स्पर्श करते हुए प्रवहमान करने का आग्रह था। लक्ष्मणसिंह

और उनके साथियों ने इसका समर्थन एवं अनुमोदन किया। निश्चित ही ये उपर्युक्त दोनों स्थितियां हिन्दी के स्वस्थ विकास तथा उसकी लोकप्रियता के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली थीं। हिन्दी-गद्य के भावी महान् उत्तरदायित्व को वहन करने की क्षमता भी उक्त दोनों भाषा-शैलियों में नहीं थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने, हिन्दी की नव-चेतना के अग्रदूत के रूप में अवतरित होकर हिन्दी-गद्य की स्थिति को परखा। उन्हें हिन्दी के प्रवाह को उर्दू के तट से बहाने का कृत्रिम प्रयास वैसा ही अनुपयुक्त लगा, जैसा कि उसका संस्कृत दुकूलों का आलिंगन करते हुए चलने का, हास्यास्पद प्रयत्न। उन्हें प्रारम्भ से ही, उक्त दोनों हिन्दी-गद्य के मल्लाहों के संकीर्ण मार्ग से चलने के प्रस्तावों के कार्यान्वित करने में, भावी दुर्घटना की आशंका हुई और उन्होंने राजा द्वय के एकांगी मार्गों का समन्वय कर प्रशस्त मध्यमवर्ग को ग्रहण किया।

भारतेन्दु न तो हिन्दू-मुस्लिम एकता के कट्टर उपासक ही थे और न स्वसंस्कृति के घाती। हिन्दी के शब्दों के साथ, विदेशी तथा विजातीय शब्द उन्हें ग्राह्य अवश्य थे, परन्तु आटे में नमक की तरह। वे सदा अपनी परम-प्रिय मातृ-भाषा के अस्तित्व की रक्षा के लिए जिये और मरे। उन्हें तथाकथित शिवप्रसादी हिन्दी को देखकर आन्तरिक दु:ख होता था। वे विशुद्ध भारतीयता के कट्टर अनुयायी एवं परम वैष्णव थे। अन्य क्षेत्रों की कौन कहे, ताश जैसे खेल में भी वे हुकुम, चिड़िया, ईंट तथा लाल पान के स्थान पर शंख, चक्र, गदा एवं पद्म नामों को प्रचारित करते थे। उन्होंने मेम-बादशाह की भी शुद्धि करके उन्हें देवी-देवता बना दिया था। हिन्दुत्व की इस सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना के परिचय के पश्चात्, जब हम उनकी भाषा में उपर्युक्त दोनों राजाओं की भाषा के समन्वय का प्रयत्न पाते हैं, तब उनके हृदय के उस विशाल कक्ष का स्वत: उद्घाटन हो जाता है, जिसमें उन्होंने अपनी परम आराध्या, मातृ-भाषा हिन्दी की भव्य प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। वे हिन्दी को अत्यन्त सम्पन्न, परिमार्जित तथा समृद्ध भाषा के रूप में देखना चाहते थे। इसलिये उन्होंने हिन्दी के साथ राष्ट्रीय हित को जुड़ा देखकर, अपनी विशुद्धता का बाना भी एक तरफ रखकर, उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों को अंगीकृत किया और पूज्य देववाणी संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी दूर रखा। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा के स्वरूप की स्पष्ट कल्पना थी और उसी के लिए उन्होंने अपनी भाषा की बागडोर, संस्कृत की ओर मोड़ दी थी। यह स्वाभाविक भी था कि उनका झुकाव देववाणी की ओर अपेक्षाकृत अधिक हो। फिर भी उन्होंने भाषा के क्षेत्र में अत्यन्त सहिष्णुता का परिचय देकर, मध्यम मार्ग को ग्रहण किया। इसके साथ ही, लोकोक्ति, मुहावरे, संस्कृत तथा प्राचीन साहित्यों के उद्धरणों को ससम्मान स्थान देकर, भाषा का व्यावहारिक, शिष्ट तथा प्रौढ़ रूप प्रस्तुत किया। अरबी-फारसी के शब्दों के नीचे 'नुक्ता' न लगाकर, उन विदेशी शब्दों का राष्ट्रीयकरण भी उन्होंने कर दिया। इन उर्दू-फारसी के भावव्यंजक एवं प्रचलित शब्दों की उपेक्षा न करके, उन्होंने प्रथमत: भाषा-द्वैष की प्रवृत्ति को तिरस्कृत किया, साथ ही प्रचलित शब्दों में जन-जीवन के ममत्व का ससादर भी। उनके सरल-हृदय में उर्दू-द्वेष न था, पर हिन्दी-प्रेम अवश्य था।

भारतेन्दु-मण्डल तथा भारतेन्दु की गद्य-शैलियाँ

हिन्दी-गद्य के प्रथम युग-निर्माता भारतेन्दु की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति ने, अनेक सप्राण तेज-पुञ्ज नक्षत्रों को हिन्दी-गद्याकाश में, उनके चहुं दिश परिचालित किया। यह हिन्दी-गद्य का नक्षत्र-मण्डल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही विभा ग्रहण करता एवं उन्हीं को आदर्श मान कर हिन्दी के सेवापथ को आलोकित करता था। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह, बाबू-लाल शर्मा, लाला श्रीनिवासदास, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, राधा-कृष्ण दास इत्यादि भारतेन्दु-मण्डल के तेजस्वी रत्न थे,[1] तथा भारतेन्दु जी थे उस मणि-माला के सुमेर। गद्य के प्रांगण में प्रवेश करते ही,अत्यन्त अल्पकाल में उन्होंने हिन्दी-गद्य के स्वरूप को स्थिर करने का प्रयत्न किया। विषय-वस्तु के अनुकूल भाषा-शैली का प्रवर्तन करके वस्तुत: इन्होंने हिन्दी-गद्य-शैलियों का निर्माण भी किया। अनुभूति के साथ अभि-व्यक्ति का तादात्म्य स्थापित करने में पूर्णत: सफल भी हुए। वैसे भारतेन्दुजी ने स्वयं अपनी भाषा में गद्य-शैलियों के अनेक स्वरूप प्रस्तुत किये हैं एवं 'वर्षा-वर्णन' और 'कलकत्ता की शोभा' के सम्बन्ध में कई प्रकार के पद-विन्यास से युक्त बारह शैलियों के उदाहरण दिए हैं।[2] शैलियों के ये प्रकार मूलत: शब्द-चयन एवं पद-विन्यास के आधार पर हैं— जैसे संस्कृत प्रधान, फारसी-प्रधान, संस्कृत तथा अंग्रेजी मिश्रित, शुद्ध हिन्दी, अंग्रेजों की हिन्दी, बंगालियों की हिन्दी, पुबियों की हिन्दी, दक्षिण की हिन्दी इत्यादि। इस प्रकार की तथा-कथित हिन्दी-गद्य-शैलियाँ तात्कालिक अप्रौढ़ावस्था एवं साधारण लिखने-पढ़ने एवं व्यवहार की भिन्नता की प्रतीक हैं। स्वस्थ साहित्य में विशुद्ध-शैलियों के तत्त्वों का विकास उनमें परिलक्षित नहीं होता। भारतेन्दु-मण्डल मनोरञ्जक साहित्य-निर्माण द्वारा, हिन्दी गद्य-साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता का भाव ही प्रतिष्ठित करने में अधिकतर लगा रहा।[3] शैलियों की विविधता, विशुद्धता तथा परिष्कार का वह समय ही न था।

जैसा कि पूर्व-निर्देश किया गया है कि भारतेन्दुजी ने विषय के अनुकूल अनेक शैलियों का स्फुरण किया है। विषयानुवर्तिनी भाषा-शैली का प्रधान उद्देश्य, कलाकार के विचारों एवं भावों को पाठकों तक यथा-तथ्य पहुंचाना मात्र रहता है, पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा उसमें नहीं रहती। शैलीकार के रूप में भारतेन्दु की गद्य-शैली की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने आद्योपान्त एक ही लेख में प्राय: किसी निश्चित शैली का निर्वाह नहीं किया है। जैसा कि साधारणत: देखा जाता है विषयानुसार बहुधा एक ही लेख में एक ही शैली का निर्वाह आद्योपान्त होता है; परन्तु भारतेन्दु-जी असाधारण विष्णुप्रभता के कारण इस साधारण नियम में नहीं बंधे रह सके। उनके एक ही लेख में विभिन्न प्रकार के पद-विन्यास और शैलियां मिलती हैं। इन सबका कारण स्पष्टत: उनका बहुभाषा ज्ञान एवं भावुक कवि-हृदय है। फिर भी

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृष्ठ ४६२।
२. डॉ केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध : पृ० ३१।
३. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४८८।

समष्टि रूप से देखने पर हमें उनकी प्रधानतः दो शैलियां मिलती हैं। एक विशेष संस्कृत-गर्भित है, तथा दूसरी सरल शुद्ध चलती हिन्दी है। एक में प्रांजलता अधिक है तो दूसरे में प्रवाह।[1] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की दूसरी।[2]

प्रांजल संस्कृत-गर्भित-तथ्य-निरूपण शैली

साहित्यिक, ऐतिहासिक, समीक्षात्मक इत्यादि गम्भीर कोटि के निबन्धों में, जिनका कि सम्बन्ध अपेक्षाकृत शिक्षित एवं प्रौढ़ वर्ग से अधिक है—भाषा को प्रांजल, साधु, गम्भीर तथा शुद्ध रखा है। भावव्यंजना के साथ चिन्तन का अवकाश प्राप्त होने पर वाक्य संयुक्त और मिश्रित हो गये हैं और उनकी लम्बाई बढ़ गई है। विषय-निरूपण के उत्तरदायित्व ने उर्दू-फारसी के हल्के, प्रचलित तथा सरल शब्दों एवं मुहावरों को दूर करके संस्कृत के तत्सम अर्थ गम्भीर शब्दों को आमन्त्रित किया है। इसी से तथ्य-निरूपण या सिद्धान्त-कथन के भीतर संस्कृत-शब्दों का अधिक मेल दिखाई पड़ता है।[3] यहां यह स्मरण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि भाषा के संस्कृतोन्मुखी होने पर भी उन्होंने क्लिष्ट हिन्दी, जटिल हिन्दी, अस्पष्ट हिन्दी, निर्जीव हिन्दी और भाराक्रान्त हिन्दी का समर्थन नहीं किया।[4]

युग-पुरुष की इस प्रांजल एवं संस्कृतनिष्ठ प्रौढ़ गद्य-शैली का पालन उनका युगवर्ती कोई भी गद्यकार नहीं कर सका। इस शैली में उनकी वैयक्तिक विशेषताएं थीं जो उनकी ही रहीं। यही संस्कृत समन्वित व्यवहारोपयोगी भाषा आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी द्वारा परिष्कृत हुई और राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन है।[5] जैसे—पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रज-भाषा है यह निर्णीत हो चुकी है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आये हैं परन्तु यह कह सकते हैं कि यह नियम अकबर के समय के पूर्व नहीं था क्योंकि मुहम्मद मलिक जाइसी और चन्द की कविता विलक्षण ही है और वैसे ही तुलसीदासजी ने भी ब्रज-भाषा का नियम भंग कर दिया। "जो हो मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊं पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चित होता है कि ब्रज-भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रज-भाषा में ही उत्तम होता है।"

—हिन्दी-भाषा[6]

सरल, मिश्रित शब्द-विन्यास की व्यावहारिक भावात्मक शैली

तथ्य-निरूपण की गम्भीर-संस्कृत-गर्भित-शैली की भांति ही, भारतेन्दु की

१. डॉ केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध : पृ० १० ।
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४५०-४५१
३. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४५१ ।
४. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध : पृ० २७ ।
५. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध : पृ० २८ ।
६. —वही— —वही— : पृ० ६१ ।

भावात्मक, सरल, व्यावहारिक, मिश्रित शब्द-प्रधान भाषा का भी विपुल प्रयोग मिलता है। गद्य के कलाकार के रूप में वे शब्दों की आत्मा को जानते थे, साथ ही कहावतें, मुहावरे, व्यंग्योक्तियां आदि की शक्तियों से भी परिचित थे। देश में चल रहे अनेक आन्दोलनों से भी वे अपरिचित नहीं थे। जन-भाषा हिन्दी को उसका उपयुक्त स्थान दिलाने वालों में वे अग्रगण्य थे। इससे सरल, सजीव, चलती हुई मुहावरेदार भाषा-शैली के समर्थक थे।[१] इस स्वच्छन्द शैली में ही उनके सप्राण, प्रसन्नवदन, उन्मुक्त व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। शैली एवं शैलीकार यहां तदाकार हो जाते हैं। हृदय और भाषा के तादात्म्य स्थापित होने पर जन-जीवन का सामीप्य भी प्राप्त हो जाता है। भावों की तीव्रता में दीर्घ वाक्यों की लड़ियां टूटती जाती हैं। फलतः वाक्य छोटे और सरल हो जाते हैं। यथा—

'कल सांझ को चिराग जले रेल पर सवार हुए, 'वह गए वह गए', राह में स्टेशनों पर बड़ी भीड़, न जाने क्यों? और मज़ा यह कि पानी कहीं नहीं मिलता था, यह कम्पनी मजीद के खानदान की मालूम होती है कि ईमानदारों को पानी तक नहीं देते, या सिप्रस का टापू सकीर के हाथ आने से और शाम में सरकार का बन्दोबस्त होने से यह भी शामत का मारा शामी तरीका अखतियार किया गया कि शाम तक किसी को पानी न मिले। स्टेशन के नौकरों से फर्याद करो तो कहते हैं डाक पहुंचावें रोशनी दिखलावें कि पानी दे, खैर, जो तो अयोध्या पहुंचे, इतना ही धन्य माना कि श्रीरामनवमी की रात अयोध्या में कटी, भीड़ बहुत ही है, मेला दरिद्र और मैले लोगों का यहां के लोग बड़े ही कंगली टर्रे हैं, हम दोपहर को उस पार जाते हैं, ऊंट गाड़ी यहां से पांच कोस पर मिलती हैं।''[२]

व्यंग्यात्मक शैली

भारतेन्दु की उपर्युक्त बहु-प्रचलित एवं मूल-गद्य शैलियों के अतिरिक्त दो शैलियां और भी मुख्य हैं, जिनका कि सम्बन्ध विशेषतः युग-धर्म से था। यहां पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि युग-नेता एवं युग-निर्माता के रूप में भारतेन्दु की उपर्युक्त दोनों शैलियों में भारतेन्दु-युग की शैलियों की प्रधान विशेषताएं निहित हैं। तात्कालिक सम्पूर्ण युगाकाश में भारतेन्दु शैलियों की प्रभा ही व्याप्त थी। युग की विशिष्ट गद्य-शैलियों में उनका योगदान ही सर्वाधिक है। (अतः युग की अधिक चेतन व्यंग विनोद, कटाक्ष, परिहास आदि की प्रवृत्तियों ने, समाज, शासन, तथाकथित धर्म की अंध-विश्वास आधारित रूढ़ियों के विरुद्ध जो कठोर आलोचना, चुभते व्यंग्यबाण तथा विरोधियों पर घात-प्रतिघात किये थे—उन्होंने मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत करने की कला को विकसित किया था।) हिन्दी में मार्मिक व्यंग-शैली का जन्म ही भारतेन्दु-युग में हुआ। आर्य-समाज में विशेषः दयानन्द सरवस्ती ने अपनी प्रखर उक्तियों तथा मार्मिक व्यंग्यों के द्वारा व्यंग्यात्मक शैली को अधिक बल दिया। भारतेन्दु, दयानन्द सरस्वती, प्रतापनारायण

१. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध : पृ० ३१।
२. हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका : फरवरी १८७९ : पृ० ११।

मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बाबू बालमुकुन्द गुप्त इत्यादि ने इस शैली में अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत कीं।

भावुक एवं विनोदी भारतेन्दु ने शुद्ध हास्य-रस के साथ तीखे व्यंगों का जो अत्यन्त सुन्दर समन्वय किया है, वह अभूतपूर्व है। नई रोशनी के अध-कचरे, नवयुवकों पर पश्चिमी सभ्यता का जो भूत सवार हो रहा था, उसे संकेत करके उन्होंने अनूठे ढंग से जो चुटकियां ली हैं, वे मार्मिक हैं। इनके व्यंग मधुर हैं, जो दिल में टीस उत्पन्न कर सकते हैं, पर कराह नहीं। जैसे—

"इस पूजा में अश्रुजल ही पाद्य है, दीर्घ श्वास ही अर्घ्य है, आश्वासन ही आचमन है, मधुर भाषण ही मधुपर्क है, सुवर्णालंकार ही पुष्प है, धैर्य ही धूप है, दीनता ही दीपक है, चुप रहना ही चन्दन है और बनारसी साड़ी ही बिल्व पत्र है, आयु रूपी आँगन में सौन्दर्य तृष्णा रूपी खूंटा है, उपासक का प्राणपुंज छाग उसमें बंध रहा है, देवी के सुहाग का खप्पर और प्रीति की तलवार है, इसमें महाष्टमी है और पुरोहित यौवन है।

पाद्यादि उपचार करके होम के समय यौवन पुरोहित उपासक के प्राण समिधों में मोहाग्नि लगाकर सर्वनाश, तन्त्र के मन्त्रों से आहुति दे 'मान खण्डन के लिए निद्रा स्वाहा', 'बात मानने के लिए मां-बाप बन्धन स्वाहा', 'वस्त्रालंकारादि के लिए यथा सर्वस्व स्वाहा', 'मन प्रसन्न करने के लिए यह लोक परलोक स्वाहा' इत्यादि होम के अनन्तर हाथ जोड़कर स्तुति करे।"[१] —स्त्री-सेवा पद्धति

आलंकारिक काव्यात्मक शैली

रीति कालीन परम्परा के अस्ताचलगामी होने पर आधुनिक काव्याकाश में भारतेन्दु का उदय हुआ है। इस निकटतम सम्बन्ध के कारण रीति काल की आलंकारिकता, शब्द-वैचित्र्य, दूरदेशीय कल्पनाएं, काव्यात्मकता आदि विशेषताएं भारतेन्दु-युगीन गद्य के क्षेत्र में अवतरित हो गईं। वैसे स्वयं भारतेन्दु स्वभावतः वाणी-विलास तथा शब्दों के ऊहापोह में न फंसकर सरल-बोधगम्य भाषा शैली का प्रयोग करते थे; परन्तु दीर्घ रीतिकालिक संस्कार कहीं-कहीं प्रबल होकर उनकी भाषा में फूट पड़े हैं। ऐसे स्थलों में निश्चित ही अलंकृत एवं अतिरंजित भाषा में असंख्य कल्पनाएं गूंथ दी गई हैं। उदाहरणतः 'सूर्योदय' लेख, ढाई पृष्ठों का एक परिच्छेद ही नहीं एक वाक्य में पूरा हुआ है। इन दीर्घ-सूत्री वाक्यों की मरुभूमि में भी, भारतेन्दु की अद्भुत कल्पनाओं की हरित-भूमियां, मन-कुरंग को व्यथित नहीं होने देतीं। यद्यपि भारतेन्दु की यह शैली व्यावहारिक एवं स्वाभाविक नहीं है, तथापि भावों की उमंग में और मन की तरंग में, उनकी बहुमुखी प्रतिभा से इस प्रकार की काव्यात्मक या आलंकारिक शैली के दर्शन हो जाते हैं। शैलियों के विकास की दिशा में इस शैली का भी अपना योगदान है। भारतेन्दुजी के समकालीन अनेक लेखकों ने भी उनका सफल अनुकरण किया है, उनमें बालकृष्ण भट्ट का 'चन्द्रोदय' लेख महत्त्वपूर्ण है।

१. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध : पृ० १०३

"देखो भाई ! सूर्य का उदय हो गया। अहा ! इसकी शोभा इस समय ऐसी दिखाई पड़ती है मानो अन्धकार को जीतने को दिन ने यह गोला मारा है, अथवा प्रकाश का यह पिण्ड है, वा आकाश का यह कोई बड़ा लाल कमल खिला है, वा लोगों के शुभाशुभ कर्म की खराद का यह चक्र है, अथवा चन्द्रमा के रथ का पहिया है, घिसने से लाल हो गया है, अथवा काल के निर्लेप होने की सौगन्ध खाने का यह तपाया हुआ लोहे का गोला है, अथवा उस बजे आतिशबाज का जिसने रात को अद्भुत गज सितारा छोड़ा था, यह दिन का गुब्बारा है, वा यह एक लाल व्यौमयान (बैलून) है जो समय को लिये इधर-उधर फिरा करता है, वा संसारियों का दिन के काम पर जो अनुराग है, यह उसका समूह है वा पूर्व दिशा का माणिक्य का शीश फूल है, वा काल खिलाड़ी का यह लाल पतंग है, वा समय-रेल का आगमन-सूचक वह आगे की लालटेन है।[1] —सूर्योदय

पं० बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ ई०)

भारतेन्दु-युगीन शैलीकारों में भट्ट जी का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शैलीकार के रूप में वे इसलिए भी अधिक मान्य हैं कि उनका व्यक्तित्व उनकी शैली में विशेषतः स्फुटित हुआ है। यद्यपि उनके समक्ष मुख्यतः तीन शैलियां प्रचलित थीं—सितारे हिंद की उर्दू दाँ शैली, दूसरी लक्ष्मणसिंह की विशुद्ध संस्कृतमयी कृत्रिम तथा उखड़ी हुई शैली और तीसरी भारतेन्दु की मध्यमार्गी सामान्य व्यावहारिक भाषा-शैली। भट्टजी की शैली इन सबसे भिन्न है। यद्यपि उनमें उर्दू-फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत के तत्सम और तद्भव सभी प्रकार के शब्द विपुल मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु उनमें कृत्रिमता एवं प्रयास कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। भट्टजी की शब्द-विधायनी शक्ति महान् थी, साथ ही वे नई कहावतें गढ़ लेने की कला में निपुण थे। दूसरी भाषाओं के शब्द ग्रहण में भी वे अति उदार थे। फलस्वरूप, जहां उन्हें अपने भाव, विचार अथवा अनुभूतियों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता होती, उन्हें शब्द-संकोच का अनुभव नहीं होता। वे चट से शब्द, मुहावरे या कहावतें ले लेते अथवा तत्काल गढ़ लेते थे। इससे उनकी शैली में रोचकता, सजीवता, भाव-व्यंजकता, ओज, कान्ति के साथ प्रसाद गुण का समुचित परिहार हुआ है। उनकी उत्तर-कालीन रचनाओं में विराम-चिह्नों का भी प्रयोग हुआ है। कई स्थानों पर मस्ती में वाक्य भी लम्बे हो गये हैं, फिर भी उसमें दुरूहता नहीं आ सकी है।

भट्टजी की शैली की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें व्यंग्य, चुहुल, परिहास की वृत्ति सदा क्रियाशील रहती है। नन्दकुमार बालकृष्ण की भांति ये बालकृष्ण भी चलते-चलते शरारत करते और फबतियां कसते जाते हैं। उनके व्यंग्य और परिहास इतने सप्राण एवं सशक्त हैं कि उनके पश्चात् अभी भी उन जैसा दूसरा व्यंग्य-कर्त्ता दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे—

"गाजीदीन, मसुरियादीन, गंगादीन, दुर्गादीन, सीतलादीन, मातादीन, भगवान-

---

१. उद्धृत—गद्य-पुष्प-माला : पं० शारदाप्रसाद वर्मा : पृ० १।

दीन आदि दीन वाले नामों की हीन दशा पर हमें भी एक नई कल्पना सूझती है अकिल अजीरन दीन।"[१]

भट्टजी की शैली का प्रतिनिधि उदाहरण

लोकएषणा—'हम तो यही कहेंगे कि जो इस दुनिया साजी के जाल में नहीं फंसा वही बड़ा ज्ञानी, बड़ा तपस्वी, बड़ा संयमी, श्रद्धालु भक्त और जीवन मुक्त है—इससे छुटकारा पाना ही योगीस्वरों की सिद्धियां हैं—पागल जनूनी, सौदाई, दीवाना, महाघिनौना, असभ्य, बेवकूफ गाउदी कहलाता हुआ इस घृणित लोक-रंजना से छुटकारा रहे वह अच्छा किन्तु साक्षात् दंभ के पूर्णावतार बनकर महामहोपाध्याय, षट्शास्त्री, सिद्धेश्वर योगी होना अच्छा नहीं, बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि लौकिक से अपने को छूटते न देख लोग दीवाने सौदाई महामैले और घिनौने बन गये हैं—राजा सगर के पुत्र असमंजस, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, आदि महात्माओं की पुरातन कथाओं को वास्तविक भावार्थ इस लोकरंजना से छुटकारा पाना ही का है—सच तो यों है कि हम इस लोक-एषणा के लिये जो इतनी चेष्टा करते हैं सो इसका यही प्रयोजन है कि समाज में हमारी सुर्खरुई रहे, कुल की कान निभती जाय, कोई नाम न धरे जो इस लोक लाज को न डरा जिसने बेशर्मी का जामा पहिन लिया उसे इस लौकिक से सरोकार ही न रहा—खोजते-खोजते ऐसे दो ही पाये एक तो वे जो तर्क दुनिया सिद्ध और महात्माओं में शामिल हैं और दूसरे दीवाल दारिये—इन दीवालियों को भी हम उन सिद्धों से कुछ कम नहीं समझते क्योंकि इज्जत आबरू या मोती की-सी आब उतर जाने का ख्याल जिस पर लोकएषणा का सत-खण्डा महल बना हुआ है दिवाले के साथ ही साथ निकल भागता है।"[२]

पं० प्रतापनरायण मिश्र (१८५६-१८९४)

भारतेन्दु-मण्डल एवं युग के विशेष जागरूक, सिद्ध तथा महाप्राण शैलीकारों में बालकृष्ण भट्ट के पश्चात् प्रतापनारायण मिश्र महत्त्वपूर्ण हैं। एक की शैली का विवेचन दूसरे की चर्चा के अभाव में अपूर्ण रहता है। इन्होंने अत्यन्त उपेक्षित और अति सामान्य विषय जैसे—'भौं', 'दांत', 'बात', 'वृद्ध' इत्यादि विषयों पर, अपने आत्मरस में सराबोर कलम चलाई है। मिश्रजी की शैली की प्रथम तथा प्रमुख विशेषता उसकी सहज-व्यक्तित्वजन्यता है। उनका अर्जित व्यक्तित्व सर्वथा गौण रहता है, परन्तु अपनी जन्माणि प्रतिभा की प्रखरता के कारण ही उनकी रचनाओं में अधिक रोचकता, ग्रामीणता, मुहावरे और कहावतें तथा स्वाभाविकता रहती है। उनका यह व्यक्तित्व उनकी शैली में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

भट्टजी की भांति हास्य-परिहास, व्यंग्य एवं कटाक्ष इनकी शैली में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध होता है। जन-जीवन, विशेषतः ग्राम-जीवन के अति समीप और अनुकूल

१. भट्ट-निबन्धावली-भाग-१ (नाम में नई कल्पना) : पृ० ७७।
२. हिन्दी-प्रदीप (बालकृष्ण भट्ट) : लोकएषणा : नवम्बर-दिसम्बर, १९०० : पृ० १६।

इनकी भाषा का रूप है। निःसन्देह भट्टजी की भाषा-शैली में इनसे अधिक शिष्टता, नागरिकता और परिष्कृत साहित्यिकता है। अतः इनकी शैली में भाषा का स्वरूप अस्थिर तथा वाक्य-विन्यास त्रुटिपूर्ण मिलता है। भारतेन्दु-युग में ही नहीं, आगे द्विवेदी-युग में भाषा के वैभवशाली दिनों में भी, मिश्रजी की भाषा की जिन्दादिली तथा मुहावरेबाजी अन्य किसी शैलीकार में न आ सकी।

अराजकता-काल में भाषा की अस्थिरता, अव्यवस्था, व्याकरण की उपेक्षा, विराम-चिह्नों का अभाव, ग्रामीणता आदि दोष आ गये थे, वे सब एक ही स्थान में मिश्र-जी की भाषा में मिल सकते हैं। शैली में पंडिताऊपन और पूरबीपन की भी कमी नहीं रहती। जैसे लगै, जावै, खाओ, खावो, उपजाय, उपजोय, रिषि, रितु, सेंतमेंत, व्यारी, धोका, खौखियाना, झपका, जटल्ला, शान्तता, लावण्यता, विद्वान, समाज, इत्यादि शब्द विपुल मात्रा में मिलते हैं। उनकी भाषा-शैली के एक दो उदाहरण देखिये :—

"यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जलवात का वर्णन करते किन्तु इन दोनों विषयों में हमें एक बात कहने का भी प्रयोजन नहीं है हम तो केवल उसी बात के ऊपर दो-चार बात लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे सम्भाषण के समय मुख से निकल-निकल के पर हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है। सच पूछिये तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव जाति समस्त जीव-धारियों की शिरोमणि अशरफुलमखलूकात कह-लाती है। शुक सारिकादि पक्षी केवल थोड़ी-सी समझने योग्य बातें उच्चारित कर सकते हैं इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आद्रित समझे जाते हैं, फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैं तौभि उसका सम्बन्ध उसके साथ लगाये रहते हैं।" —बात

"घर की मेहरिया कहा नहीं मानती, चले हैं दुनियां भर को उपदेश देने, घर में एक गाय नहीं बांधी जाती गोरक्षणी सभा स्थापित करेंगे, तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है बने हैं देश हितैषी, साढ़े-तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नहीं कर सकते देशोन्नति पर मरे जाते हैं कहां तक कहिये हमारी नौसिखिया भाइयों को 'माली खुलिया' का अजार हो गया। करते-धरते कुछ भी नहीं हैं बक-बक बांधे हैं। हैं। जबसे शिक्षा कमीशन हिन्दी को हंट (शिकार) किया तब से एडीटर महात्मा और सभाओं के मेम्बरों के दिमागों में फितूर पड़ गया है।"

घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बांधै

चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय प्रेमघन (१८५५-१९२२ ई०)

आलंकारिक कलात्मक शैली

भारतेन्दु-युगीन गद्य-शैलीकारों में प्रेमघन जी विशेषतः उल्लेखनीय हैं। गद्य-शैलियों की जो विलक्षणता उनके निबन्धों में उपलब्ध होती है, उनसे वे अन्य सम-सामयिक शैलीकारों से दूर खड़े हो जाते हैं। उनकी शैलियों की एक विशेषता यह भी है कि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए वे अत्यधिक सक्षम हैं। जैसे उनके जीवन

के प्रत्येक पग पर रईसी ठाठ प्रगट होता था, वैसे ही शैली में आलंकारिकता एवं कलम की कारीगरी यत्र-तत्र ही नहीं, सर्वत्र दृष्टिगत होती है। विशिष्ट विलक्षणता इनकी शैलीगत विशेषता है। उनका शब्द-चयन बड़ा मधुर तथा उपयुक्त होता था। "वे हर-एक शब्द को बहुत सोच-समझकर प्रयोग में लाते थे, और शायद यही उनके पत्र-पत्रिकाओं के ठीक समय पर न प्रकाशित होने का मुख्य कारण था।" + + + उन्हें शब्द-मैत्री का, अनुप्रास का, तथा भाषा में जिन्दादिली का, होना आवश्यक समझ पड़ता था।[1] शैली में तुकबन्दी, मुहावरेबाजी तथा गद्य-काव्य के पुराने ढंग की झलक रहती है। यद्यपि उनके समकालीन ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली में भी सुन्दर शब्द-चयन, आलंकारिकता एवं अनुप्रासिकता उपलब्ध होती है, परन्तु उपाध्यायजी की शैली में लम्बे-लम्बे वाक्यों की जटिलता के साथ अर्थ-गाम्भीर्य एवं सारगर्भितता का पूर्ण परिपाक रहता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "उनकी भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ आडंबर के रूप में नहीं होता था, उनके लेख अर्थ-गर्भित और सूक्ष्म-विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिन्दी का था।"[2] रचना में नियम निर्घोष सुनाया, तडित समाचार-विज्ञापन की वीर बहुटियां नीरद ने दिखलाई, संग्रह सुरेंद्रा युध, साहित्य सौदामिनी, हास्य हरितांकुर जैसे पद एवं संस्कृत के तत्सम और तद्भव आलंकारिक शब्द उनके वाक्यों में सौन्दर्य विकीर्ण करते थे।[3]

उनके दीर्घकाय वाक्यों के अनुरूप ही उनके प्रघट्टक भी दीर्घकाय होते थे जो कि उनके विचारों की गम्भीरता और भावों की सघनता के साथ, शैली की विशेषता के भी परिचायक हैं। जैसा कि पूर्व-उल्लेख किया जा चुका है कि वे किसी विचार या भाव को सीधे और सरल ढंग से प्रस्तुत करने में साहित्यिकता या काव्य-कला नहीं मानते थे। अतः वे कलम की कारीगिरी प्रदर्शित करने में एक के पश्चात् एक वाक्य को गूंथते जाते थे। इसी से उनके वाक्य तथा प्रघट्टक दीर्घकाय हो जाते थे।

भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र तथा भारतेन्दु-मण्डल के एक यशस्वी सदस्य होने के अतिरिक्त प्रेमघनजी का महत्त्व गद्य-शैली के क्षेत्र में अधिक है। यह इसलिए भी कि उनके समक्ष युग-नायक भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि भिन्न-भिन्न शैलीकारों के आदर्श और प्रतिभाएं थीं, फिर भी वे उनसे बहुत कम प्रभावित होकर अपनी विलक्षणता से पृथक् ही रहे। अतः उन्हें खड़ी बोली गद्य के प्रथम आचार्य भी कहा गया है।[4] इतना ही नहीं, निबन्धों में, जहां कि शैली का सर्वाधिक परिपाक होता है अपने उन्मुक्त प्रयासों के कारण उन्हें हिन्दी का मौण्टेन कहा है। "जिस प्रकार से पाश्चात्य-साहित्य में मौण्टेन ने निबन्ध लेखन-कला को जन्म दिया है उसी प्रकार

१. दिनेश नारायण उपाध्याय : प्रेमघन-सर्वस्व (भाग-२) : भूमिका : पृ० १६।
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४६६।
३. दिनेश नारायण उपाध्याय : प्रेमघन-सर्वस्व (भाग-२) : भूमिका : पृ० १५-१६
४. प्रेमघन-सर्वस्व (द्वितीय भाग) : भूमिका : पृ० १७।

प्रेमघनजी ने हिन्दी में कार्य किया है।[1] प्रेमघनजी की इस शैली की अपनी परम्परा है। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के प्राचीन लेखकों की आलंकारिकता, तुकबन्दी तथा अनुप्रास को परिष्कृत कर आगे बढ़ाया। इंशाअल्ला खां की शैली को प्रौढ़ एवं परिपक्व बनाया, साथ ही द्विवेदी-युगीन बाबू शिवपूजन सहाय प्रभृति लेखकों ने उसका अनुकरण भी किया। जैसे —

"यद्यपि हमारी आंखों में अब न यह काशी है और न वह बुढ़वा मंगल क्योंकि न वे लोग हैं, न वह समय, न वे अपने मित्र, न वह मंडली, न वह अपना सामान, न वह ममत्व और न मन का यह उत्साह है, न अपने को किसी से मिल बैठने का चाव, और न अपने में किसी का वह अभिन्न भाव, न उस उत्कण्ठित और अकृत्रिम चित्त से किसी का स्वागत और सत्कार की लालसा और न अपने को उस आनन्द अनुभव को कभी भूलने की आशा है। हां! कुछ बहुत दिन की बात भी नहीं है मानो अभी कल काशी के अमल आकाश का चन्द्र वह प्यारा हरिश्चन्द्र जिसे लोग भारतेन्दु भी कहते हैं प्रकाशित था, और काशी प्रभा-पुंज प्रकाशी सी दिखलाई पड़ती थी, जो उसके अस्त होने से आज अन्धकार राशी सी हो गई। यद्यपि बड़े-बड़े भारी और ऊंचे स्थान के रहनेवाले नक्षत्र तुल्य असंख्य सज्जन और सूर्य तुल्य अन्य अनेक महानुभाव अद्यावधि यहीं विद्यमान हैं, परन्तु वह प्रकाश, वह मनोहरता, वह सुधा सिंचन-शक्ति कहां है। नवीन या सामान्य जनों के लिये काशी वही है, बुढ़वा मंगल भी वैसा ही होता है, परन्तु हां, जिसके चित्त पर उस चन्द्र के चन्द्रिका की चमक पड़ी है, और सुधा-सीकर का स्पर्श हुआ है उनके लिये अवश्य ही वह बनारस बिना रस है। यों तो अब भी राजघाट से अस्सी तक उसी भांति सजी-धजी सहस्रावधि नौकाएं दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु प्रायः अचल भाव से भोसलाघाट पर स्थित रहनेवाली वह नौका जिसकी लाल पताका फहराती हुई *'मंगला यतनोहरिः'* की पुकार करती थी कहां है, जिसके चारों ओर दर्शकों से भरी असंख्य किश्तियां घेरे पड़े रहती थी और जहां निरन्तर आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता था, जिस पर बैठे आनन्द निमग्न लोग भूख-प्यास भूले, निद्रा की शपथ खाये, यह नहीं समझ सकते थे कि कब सन्ध्या व अर्ध रात्रि हुई अथवा प्रभात वा दोपहर हुआ। वहां हर घड़ी नई समा बंधी रहती थी और कोई क्षण ऐसा न आता कि जब उठने या सोने को जी चाहता, सच तो यह है तायफों के बीच में पाश्र्ववर्ती दोनों भाड़ों की प्रशंसा में, जो क्रमशः इस रूप में होती थी, 'यह चाल ही कुछ और है', 'यह बात ही कुछ और है', 'यह तर्ज़ ही कुछ निराली है', 'यह कैड़ा ही कुछ जुदा गाना है', 'यह रविश ही कुछ और है', 'यह चाशनी ही कुछ दूसरी है' सबको मुग्ध करती थी यह दशा कदाचित् इनकी दशा का यथार्थ चित्र न हो परन्तु भारतेन्दु की सभा पर तो यह पूर्णतया चरितार्थ होता ही है।"[2]

१. प्रेमघन-सर्वस्व (द्वितीय भाग) : भूमिका : पृ० १६
२. —वही— —वही— : पृ० १०६।

उत्तर-भारतेन्दु-युग में हिन्दी-गद्य की स्थिति एवं शैलियां

भारतेन्दु-युगीन हिन्दी-गद्य-शैलियों का समष्टित: पर्यालोचन करने पर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन होता है कि तात्कालिक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से सम्पूर्ण देश में जो जन-चेतना विकीर्ण हुई, उससे साहित्य में विविधरूपता तथा नवीन विषयों की उपलब्धि हुई। इसके पूर्व का गद्य सैकड़ों वर्षों से प्रधानत: धार्मिक टीकाओं की गोद में ही बैठा चला आ रहा था। उसके प्रति इस दुलार-प्यार अथवा संकुल भावना ने ही वस्तुत: उसे पंगु बना दिया था, कि सैकड़ों वर्षों की आयु प्राप्त करके भी उसने जन-जीवन के साथ न तो अपना सम्बन्ध बढ़ाया और न अपने सामर्थ्य का ही विस्तार किया। भारतेन्दु-युग में प्रेस का आशीर्वाद प्राप्त करके, हिन्दी-गद्य धर्म की गोद से उतरकर पत्र-पत्रिकाओं के वाहनों पर चढ़कर सभी विषयों की ओर कदम रखने लगा। इससे उसका क्रीड़ा-क्षेत्र बढ़ा और उसकी पंगुता का शनै:-शनै: शमन हो चला। उसकी अविकसित अवस्था में, उसके साथ जो पंडिताऊपन, ब्रज-भाषापन, पूरबीपन आदि की व्याधियाँ लग गई थीं, वे भी भारतेन्दु-युग में गद्य को अनेक दिशाओं में दौड़ाने-घुमाने से दूर हो चली थीं। भाषा विचारों एवं भावों की परिचालक होती है। उसकी दुर्बलावस्था समाज के मस्तिष्क तथा हृदय को भी निर्बल कर देती है, इसके विपरीत उसका सामर्थ्य एवं समृद्धि, उन्हें प्रौढ़ तथा सशक्त बना देते हैं। भारतेन्दु-युग में जैसे-जैसे भाषा की शक्ति बढ़ती गई, उसमें विचारों और भावों की प्रगाढ़ संनिहिति होने लगी, वैसे-वैसे नवीन शैलियों की उद्भावना भी उसमें होती गई।

भारतेन्दुजी के नेतृत्व में ही हिन्दी-गद्य की भाषा को नवीन रूप दिया गया तथा उसमें सामर्थ्य की प्रतिष्ठा की गई। युग की परिस्थितियों ने उनके कार्य में अपना महान् योगदान दिया। फलत: सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों को लेकर उस युग के निबन्धकारों ने निबन्ध के सभी प्रकारों को रचा। विचारात्मक, भाषात्मक, आत्मव्यंजक, वर्णनात्मक, कथात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध उस युग में लिखे गए। निबन्धों के विषय की अनेकरूपता तथा उन विषयों को अभिव्यक्त करने के प्रकारों में विविधता के कारण भारतेन्दु-युग की शैली में भी अनेकरूपता आई। विचार-प्रधान, भाव-प्रधान, काव्यात्मक, वर्णन-प्रधान इन निबन्धों में भी काव्यात्मकता की पूरी छाप रहती है—शैलियों के निर्माण का आरम्भ उस युग में हुआ। इन शैलियों के साथ चुलबुली और चटपटी शैली, कथा कहने की शैली, हास्य-व्यंग्य और विनोद की शैली, प्रभावात्मकता के साथ व्याख्यानात्मक शैली आदि अनेक शैलियों की स्थापना भारतेन्दु-युग में हुई। शैलीगत इस प्रकार की विविधता भारतेन्दु-युग के पूर्व न थी।[१]

यद्यपि भारतेन्दु युग में हिन्दी-गद्य की नवीन शैलियों की उद्भावना हो गई थी, तथापि उनके रूप में न तो स्थिरता ही आई थी और न प्रौढ़ता ही। उस समय भाषा का प्रधान उद्देश्य सरलतम शब्दों में भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति करना मात्र

१. शिवनाथ : भारतेन्दु-युगीन-निबन्ध : पृ० ११० ।

था। हिन्दी के तात्कालिक वरिष्ठ-सेवक, हिन्दी-जनता के बौद्धिक-ज्ञान की क्षुधा-तृप्ति के लिए जो सामग्री जुटा रहे थे, उससे कुछ सामान्य नवीन शैलियां हिन्दी-जनता के सामने आईं। इन शैलियों का प्रारम्भिक उद्देश्य भी लोक-रुचि जागृत करना था। इससे प्रौढ़, परिष्कृत तथा नवीन प्रकार की शैलियों को विकसित करने का अवसर न था। भारतेन्दु-युग के अन्त में भी हिन्दी की अपनी दुर्बलताएँ, व्याकरण की व्यवस्था का अभाव, शब्द-भांडार का संकोच, वैज्ञानिक शब्दावली का दुर्भिक्ष, क्षेत्रीय भाषाओं का परस्पर कलह आदि अनेक समस्याएँ थीं। अतः, हिन्दी के स्वरूप को संवारने, सजाने तथा स्थायित्व देने में व्यस्त हिन्दी के कर्णधार, शैलियों को प्रौढ़ता एवं परिष्कार न दे सके।

अराजकता काल (सन् १८८५-१९०३)

भारतेन्दु-युग में हिन्दी-गद्य की कौमार्यावस्था थी। उस समय हिन्दी-गद्य का सामान्य स्वरूप स्थिर नहीं हुआ था। लेखकों का उद्देश्य हिन्दी का प्रचार-प्रसार करके लोक-रुचि को हिन्दी के पठन-पाठन की ओर आकर्षित करना था। वह स्थिति वर्तमान स्थिति से बहुत भिन्न थी। लोग मनोविनोद के लिए साहित्य पढ़ते थे और शौक के लिए लिखते थे। साहित्य से अर्थोपार्जन की प्रवृत्ति उन दिनों कम दिखाई देती थी। इस स्थिति में भारतेन्दु, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र जैसे मौलिक निबन्धकार ही युग के श्रेष्ठ गद्यकार एवं शैलीकार थे। इनकी शैलियां व्यक्तिगत प्रयोग मात्र हैं। उनमें प्रौढ़ता, परिमार्जन तथा समष्टित्व का सम्यक विकास न हो सका और न वह सम्भव ही था। १८८५ ई० में भारतेन्दु की मृत्यु के साथ गद्य के क्षेत्र में एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व उठ गया और गद्य-शैली प्रयोगों, वैयक्तिक चुहलों, सनकों और बंगला-उर्दू के अनुकरण तक सीमित रह गई। धीरे-धीरे भाषा के क्षेत्र में अराजकता छा गई और भारतेन्दु की सामान्य हिन्दी-शैली की बात पीछे पड़ गई।[1]

अतएव खड़ी बोली हिन्दी का गद्य साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपनी अनन्त यात्रा के लिए कटिबद्ध होकर निकल पड़ा। अब उसके चरणों में शक्ति और दृढ़ता भी आ चली थी। भारत के प्रायः सम्पूर्ण उत्तराखण्ड की यात्रा करके उसने अपने क्षेत्र का पर्याप्त प्रसार भी कर लिया। पत्र-पत्रिकाओं के रूप में 'सुधाकर', 'बनारस-अखबार', 'सार-सुधानिधि', 'बुद्धि-प्रकाश', 'आनन्द कादम्बिनी', 'भारत-मित्र', 'विद्या-विनोद', 'कवि-व-चित्रकार' आदि वृत्त-पत्रों तथा पत्रिकाओं में गद्य का रूप उपस्थित होने लगा। मत वैभिन्न एवं प्रारम्भिक अवस्था के कारण न तो हिन्दी-गद्य में वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, शब्दानुशासन, विराम-चिह्न आदि का नियमन ही था और न कोई एकरूपी व्यवस्था ही। एकस्वरता के अभाव में अस्त-व्यस्त, अप्रौढ़ और अपरिष्कृत हिन्दी-गद्य अधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ बना रहा। हिन्दी के

१. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-साहित्य की कहानी : पृ० १५६

क्षेत्र में अराजकता फैलने लगी। इसके कई कारणों ने अपना योग दिया। जैसे—

१. युग-नियन्ता का अभाव

शैली के ये व्यक्तिगत प्रयोग निश्चय ही कालान्तर में प्रौढ़त्व एवं स्थायित्व प्राप्त कर लेते; परन्तु असमय में ही युग-पुरुष तथा युग-निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को, ५ जनवरी, १८८५ को अन्तक यमदेव का अनिवार्य आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा और हिन्दी-गद्य-निर्माण का कार्य बीच में ही रुक गया। भारतेन्दु-मण्डल बिना नेता के छिन्न-भिन्न हो गया, मानो सेनापति के अभाव में सारी सेना तित्तर-बित्तर हो गई हो।[1] अतः हिन्दी के सम्पूर्ण राज्य में राजा-विहीन उच्छृंखला, स्वेच्छाचारिता एवं अराजकता फैल गई। श्रीधर पाठक ने काव्य के रूप, भाषा, छन्द, अभिव्यंजना शैली, प्रकृति-वर्णन आदि में स्वच्छन्दता का प्रवर्तन करके और अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने 'खड़ी बोली आन्दोलन' (सं० १९४५) द्वारा पूर्ववर्ती युग से भिन्न एक नवीन युग का सन्देश दिया। वह युग किसी भी निश्चित लक्ष्य की सिद्धि न कर सका। उच्चकोटि की रचनाएं भी इस समय नहीं हुईं। श्रीधर पाठक, बदरीनारायण चौधरी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, देवकीनन्दन खत्री आदि साहित्यकार अपनी-अपनी धुन में मस्त रहे। यह वस्तुतः प्रतिभा के संघर्ष का काल तथा नेतृत्व के परीक्षण की घड़ियाँ थीं। नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में निकृष्ट अनुवादों एवं तिलस्मी तथा ऐय्यारी रचनाओं की धूम रही। पत्र-पत्रिकाएं भी पथ-भ्रष्ट थीं। कोई किसी की सुनने वाला न था। सभी वक्ता, गुरु या नेता बने थे; श्रोता, शिष्य या अनुगामी कोई नहीं था। अतएव वह अराजकता-युग था।[2]

२. विभिन्न आन्दोलनों की विषम प्रतिक्रिया एवं उतावली

'मूड़ मुड़ाते ही ओले पड़ें' की कहावत तात्कालिक हिन्दी-भाषा पर पूरी तरह घटित हुई। पूर्व परिस्थितियों ने इस अराजकता को अधिक घातक बनाया। देश में चल रहे अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलनों ने जन-जीवन को बहुत अधिक सक्रिय बना दिया था। एक तो इन आन्दोलनों का संचालन-दायित्व अधिकांशतः हिन्दी-गद्य को वहन करना पड़ा, दूसरे इन आन्दोलनों की प्रतिक्रियास्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में जागृति और उन्नति हुई, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी बहुत कुछ हिन्दी ही रही। गद्योन्नति, समाजोन्नति की सहचरी है। इस चतुर्दिश समाजोन्नति ने असंख्य लेखकों को विशेषतः हिन्दी-गद्य की ओर प्रवृत्त किया। फलस्वरूप हिन्दी-गद्य-गंगा नवीन भावनाओं के साथ बड़े वेग से प्रवाहित हो चली। इसमें योग-दान की पुनीत प्रेरणा ने असंख्य भक्तों को अपनी श्रद्धांजलियाँ भेंट करने को उतावला कर दिया। इस उत्साह के कारण बहुत से लोग, अपनी अनगढ़ रचनाएं लेकर

१. डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० २६५।
२. डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० २६५।

विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों से भी भारती के मन्दिर में भेंट करने लगे। गुण की अपेक्षा गणना को अधिक गौरव प्राप्त होने के कारण किसी को अपनी सामग्री सुधारने-संवारने का न अवकाश ही था और न ध्यान ही। "साथ ही आत्मत्याग समझकर लोग हिन्दी में लिखते थे और मातृ-भाषा समझकर उसे सीखने की आवश्यकता बिल्कुल ही नहीं समझते थे।"[1] इससे अराजकता बढ़ी और नेता के अभाव ने उसे और भी भयंकर बना दिया। इस समय कोई ऐसे प्रभावी, अनुभवी तथा महाप्राण व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो कि इस अपार भीड़-भाड़ को अपनी युक्ति, घुड़क तथा ज्ञान से व्यवस्थित कर सब पर अपने व्यक्तित्व का सिक्का जमा कर भाषा-परिमार्जन, स्वरूप-संगठन, व्याकरण-नियमन कर शुद्ध, व्यावहारिक तथा वैधानिक भाषा की प्राण-प्रतिष्ठा कर सके।

३. भिन्न भाषा-भाषी प्रभाव

विभिन्न आन्दोलनजन्य उतावली के कारण हिन्दी-भाषा में अराजकता बढ़ी, साथ ही जन-जागृति के नव-प्रभात में अंग्रेजी, उर्दू-फारसी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती आदि क्षेत्रों से हाथ खींचकर बहुत से हिन्दी और अहिन्दी क्षेत्रों के विद्वान् तथा लेखक, हिन्दी की सहायता को अपना राष्ट्रीय कार्य समझ कर अवतीर्ण हुए। उन लोगों के साथ उनकी मूल भाषाओं के संस्कार भी आना स्वाभाविक था। इन लोगों ने अज्ञानतावश हिन्दी की प्रकृति के विपरीत लिंग, वचन तथा वाक्य-विन्यास की अनेक त्रुटियां कीं। कोई एक ही शब्द को पुँल्लिग मानकर पौरुष की पगड़ी पहिना देता, तो दूसरा उसी शब्द को स्त्रीलिंग स्वीकार कर, ओढ़नी उड़ा देता था। इस प्रकार अनेकों शब्दों की दुर्दशा बनाई जा रही थी। विभिन्न भाषाओं के अनुसार शब्दों के वचनों में भी अनेकरूपता आ गई थी। इतना ही नहीं एक ही लेखक कभी एक ही शब्द को एक ढंग से लिखता था, कभी दूसरे ढंग से। ऐसी स्थिति, हिन्दी-व्याकरण के अज्ञान या अध-कचरे ज्ञान के कारण हो रही थी।

विभिन्न भाषाओं के संस्कार, भिन्न भाषा-भाषी लेखकों की मौलिक रचनाओं तथा हिन्दी-लेखकों द्वारा भिन्न भाषाओं के अनुवादों के माध्यम से हिन्दी में आये। हिन्दी ने अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि समृद्ध भाषाओं की अंगुली पकड़कर या अनुकरण कर उनके नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध आदि के अनुवादों का आश्रय लिया। इन भाषाओं के असंख्य शब्द, पद या मुहावरे हिन्दी में वैसे के वैसे या शाब्दिक-अनुवाद के कृत्रिम विधान द्वारा ग्रहण कर लिये गए। हिन्दी के सीमित शब्द-भाण्डार में इन समृद्ध भाषाओं के उपयुक्त पर्यायवाची शब्द न होने के कारण भी, विदेशी शब्दों और पदों को विवशतावश अंगीकृत किया गया।

अनुवाद का कार्य निश्चय ही इतना सरल नहीं है जितना कि बहुधा समझा जाता है और उस समय भी समझा गया। बिना दोनों भाषाओं पर अधिकार किये ही

१. डॉ० भोलानाथ : हिन्दी-साहित्य : पृ० ४२।

जल्दी-जल्दी उल्टा-सीधा अनुवाद करके शीघ्र ही प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति बढ़ गई थी।

४. नये शब्दों की आवश्यकता एवं निर्माण

भारतवर्ष में पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के साथ अनेकों आन्दोलनों के फल-स्वरूप असंख्य नवीन विषय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। विशेषतः नये विचारों और विषयों के शिक्षण के लिए बहुत बड़े शब्द-कोश की आवश्यकता हुई। भारतेन्दु के समय से ही इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये नये शब्दों का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया। जहाँ तक प्रकाण्ड-वैयाकरण अथवा भाषा-शास्त्री के द्वारा शब्दों का निर्माण किया जाना तो सर्वथा उचित ही है, परन्तु जहाँ ऐरा-गैरा सभी आवश्यकतानुसार शब्दों को गढ़ने लगे, वहाँ अनर्थकारी परिणाम हुआ। इस प्रकार भाषा के गढ़ने या निर्माण करने का कार्य वस्तुतः भाषा के लिये ही घातक होता है। "यदि किसी भाषा को किसी बात ने जिंदा ही मारा है तो वह है भाषा को गढ़ने का गंदा सिद्धान्त।"[१] दुर्भाग्यवश हिन्दी में भाषा को गढ़ने की प्रवृत्ति बहुत समय से बलवती पायी जाती है। हिन्दी को शब्दों की इस बेढंगी पच्चीकारी तथा गढ़ने की कला ने बहुत हानि पहुँचाई है।

५. बाबू साहबी हिन्दी

पश्चिमी-शिक्षा और सभ्यता की प्रतिक्रिया सभी भारतीयों पर एक-सी नहीं हुई। शताब्दियों की पराधीनता ने हमारे राष्ट्रीय अभिमान को बहुत कुचल दिया था, इससे बड़े-बड़े आन्दोलनों और संस्थाओं के प्रयत्न, प्रचार और प्रसार के पश्चात् भी, ऐसे भारतीयों की पर्याप्त संख्या निकल आई थी, जो कि नये अंग्रेजी पढ़े-लिखे काले साहबों के दैनिक-व्यवहार और बातचीत में प्रगट होती थी। नये मुल्लाओं की पाँच नवाजों की तरह, ये नये भारतीय अंग्रेज पग-पग पर अपने अंग्रेजी-ज्ञान की दाद देने के लिये अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग करने में ही गौरव का अनुभव करते थे। अन्तश्चेतना से अनायास अथवा शब्दाभाव-वश यदि अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग किया जावे तो वह क्षम्य हो सकता है; परन्तु जान-बूझकर सप्रयास बीच--बीच में अंग्रेजी-शब्दों के प्रयोग से कृत्रिम भाषा-शैली का प्रचलन हुआ। इसे कदापि स्वस्थ नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि यह बाबू साहबी हिन्दी की प्रवृत्ति द्विवेदी-युग तक में पर्याप्त मात्रा में रही है; परन्तु इसका प्रारम्भ यहीं से हो जाता है। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम के रूप में भारत में सर्वत्र मान्य हो गई थी। अतः अंग्रेजी का चश्मा बहुतों की आँखों पर चढ़ चुका था।

यहाँ पर यह तथ्य विचारणीय है कि हिन्दी-उर्दू के शब्दों की खिचड़ी तो हिन्दी-भाषी जनता के गले में सरलता से तथा शौक से उतर सकती है; परन्तु हिन्दी के साथ अंग्रेजी के अनेक शब्द रेत के कण की भाँति कदापि ग्राह्य नहीं थे।

६. हिन्दी-उर्दू संघर्ष

हिन्दी की कमनीय एवं दयनीय दशा में, उर्दू का हिन्दी के प्रति विद्वेषपूर्ण

१. डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री : हीरक जयन्ती ग्रन्थ : पृ० २३१।

व्यवहार बहुत ही षड्यन्त्रपूर्ण तथा घातक था। हिन्दी के उत्कर्ष के प्रत्येक पग की बाधक उर्दू रही है। हिन्दी-उर्दू के संघर्ष में वस्तुतः चोटी-दाढ़ी का संघर्ष स्फुटित हुआ है। प्रत्यक्षतः प्रमुख हिन्दी-क्षेत्र उत्तर-प्रदेश की प्रारम्भिक शिक्षा के माध्यम तथा सम्मानित राज-कचहरियों की सम्मानित भाषा के रूप में उर्दू ने हिन्दी पर आक्रमण किया, तथा छद्मरूप में 'हिन्दुस्तानी' का नाम रखकर और देवनागरी की ओढ़नी पहिनकर वर्षों आघात करती रही। सदियों की परतन्त्रता से भारत में शिक्षा का उद्देश्य सरकारी नौकरी प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करना मात्र रह गया था। अतः, इस बात का प्रयत्न बराबर होता रहा कि दफ्तरों में हिन्दी न घुसने पाये। दफ्तरों की भाषा जब तक उर्दू रहेगी, तब तक झख मारकर लोगों को अपने बच्चों को उर्दू की शिक्षा देनी पड़ेगी और यह कहने का मौका रहेगा कि उर्दू पढ़े-लिखे लोगों की भाषा है।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि सरल जनता शिक्षित और सभ्य कहलाने के चक्कर में तथा सरकारी नौकरी के लालच में उर्दू-फारसी की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करती थी। ऐसे लोगों के सिद्ध प्रतिनिधि राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद तो थे ही, परन्तु उनके पश्चात् और विशेषकर भारतेन्दु के अस्त होने पर, यह सब नक्षत्र-मण्डली भी उस रात्रि में अपने को प्रकाश-पुंज मानकर भारतेन्दु की चन्द्रिका की निंदा में रत हो गई। फलतः हिन्दी के साथ उर्दू-फारसी के अनुकरण पर विचित्र शब्दों को गढ़ा भी गया। इस घोर संकट-काल तथा दौर्बल्यावस्था में इन बीमारियों का भक्ष्य होना हिन्दी के लिए स्वाभाविक भी था। हिन्दी की शक्ति बढ़ाने के लिए, उसके गंवारूपन को दूर करके उसे 'फैशनेबल' बनाने के लिए[2] इन अग्राह्य अरबी-फारसी के शब्दों का भी आलिंगन किया गया।

७. उच्चारण-सम्मत भाषा

सन् १८७३ में भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' अथवा 'चन्द्रिका' के जन्म से हिन्दी में बोलचाल के तद्भव शब्दों का बाहुल्य हुआ। इसी समय व्याकरण की उपेक्षा करके भाषा को उच्चारण-सम्मत रखने का प्रयत्न किया गया। हिन्दी प्रदेश बहुत बड़ा है और उसमें बारह से भी अधिक बोलिया हैं।[3] इस प्रकार लिखने और बोलने के साम्य को बल देने के कारण एक विशेष गड़बड़ी उत्पन्न हुई। विभिन्न राज्यों में उच्चारण की भिन्नता के कारण भी शब्द के अनेक रूप हो गये। इसने स्थिति का गम्भीर कर दिया। पूर्वी प्रभाव से 'या' के स्थान पर 'व' का अशुद्ध प्रयोग हुआ। 'व' तथा 'श', 'ण' और 'न', य और ज, छ और क्ष इत्यादि गड़बड़ियां बनी रहीं।

८. आलोचकों एवं समाचार-पत्र सम्पादकों की दौर्बल्यावस्था

इस समय हिन्दी-समाचारपत्रों की संख्या अवश्य बढ़ गई थी। ऐरा-गैरा कोई भी बिना आवश्यक योग्यता अर्जित किये पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक बन जाते थे।

---

१. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका : सं० १९९५, भाग १९, अंक-३ : पृ० २४६।
२. डॉ० उदयभानु सिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० ३१।
३. डॉ० भोलानाथ : हिन्दी-साहित्य : पृ० ६२।

इससे न तो उनके पास स्वस्थ सामग्री ही रहती थी और न प्रौढ़ भाषा ही। वे बहुधा इतने अयोग्य होते थे कि अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य की उपेक्षा कर गाली-गलौच करने और व्यक्तिगत मामलों को लेकर झगड़ते थे। भाषा का तो वे मानो सपिण्ड श्राद्ध करते थे।

'आनन्द-कादम्बिनी', 'विद्या विनोद', 'समालोचक', 'सुग्रहिणी', 'हिन्दी-प्रदीप', 'कवि-व-चित्रकार', 'छत्तीसगढ़-मित्र', 'बुद्धि-प्रकाश', 'देव-नागर' इत्यादि प्रमुख पत्र थे।

६. ब्रज-भाषा के पथ का प्रभाव

अभी कुछ वर्ष पूर्व तक हिन्दी का गद्य ब्रज-भाषा की गोद में ही मुख्यतः बैठकर अपनी जीवन-यात्रा कर रहा था। खड़ी बोली के द्वारा, अब वह विश्व के अनेक क्षेत्रों में जाने को तत्पर हुआ था। इससे ब्रज-भाषा का प्रभाव भारतेन्दु-युग के उत्तरार्द्ध में खड़ी बोली की गद्य-भाषा पर बहुत पड़ा। ब्रज-भाषा में प्रायः संयुक्ताक्षरों को स्थान नहीं दिया जाता है, इस कारण पंचम वर्णों को अनुस्वर का रूप दे दिया जाता है। जैसे पुञ्ज, पिङ्गल, पण्डित क्रमशः पुंज, पिंगल और पंडित लिखे जाते हैं। इसी प्रकार श, ण, ड़ को भी मधुर बनाने के प्रयास में स, न और र बना दिया जाता है। ब्रज से हलन्त् का परिचय न होने के कारण धर्म, कर्म, कार्य को क्रमशः धरम, करम, कारज लिखे जाते हैं। ब्रज-भाषा—विशेषकर पद्य—की ये वृत्तियां अनभिज्ञता तथा सरलता के उद्देश्य से खड़ी बोली में आ गईं। इसने भी खड़ी बोली हिन्दी के गद्य में अनेकरूपता तथा अस्थिरता बढ़ाई। यहां तक कि संस्कृत के तत्सम और तद्भव रूपों की भी उपेक्षा करके उत्तरदायी, स्थायी, विजयी को उत्तरदाई, स्थाई और विजई बना लिया।

१०. प्रमाणित शब्द-कोश तथा व्याकरण का अभाव

हिन्दी के पास अपना कहा जाने वाला शब्द-कोश बहुत ही क्षीण और सीमित था। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के प्रचार से यह शब्दाभाव और भी खटका; परन्तु विवशता थी। फिर प्रमाणित शब्द-कोश तो तात्कालिक परिस्थिति में होना सम्भव भी न था। इसी प्रकार उसके पास एक सुन्दर तथा मान्य व्याकरण का भी अभाव था। शब्द-कोश तथा व्याकरण दोनों ही भाषा के रूप को नियमित एवं स्थिर करते हैं। ये दोनों ही भाषा की रीढ़ हैं, जो कि भाषा की एकरूपता, दृढ़ता तथा स्थायित्व के लिए उत्तरदायी होते हैं। यद्यपि सन् १८७५ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'हिन्दी-व्याकरण' प्रकाशित हुआ था; परन्तु वह कृतकार्य न हो सका। उस समय भी 'ये' तथा 'ए' दोनों रूप चलते थे और वे आगे भी चलते रहे। युग-नेता भारतेन्दु एवं उनके अनुयायियों का उद्देश्य भाषा को स्वाभाविक गति से विकसित करना था। इसको पूर्ण अवसर देने के लिये, उन्होंने स्वयं ही भाषा को व्याकरण की कठिन कारा में बन्द करना उचित नहीं समझा। उन्हें भय था कि व्याकरण की कठोर शृंखलाओं में आबद्ध गद्य-लता पनप नहीं सकेगी। इस स्वच्छन्द विकास के सिद्धान्त ने भी भाषा को हानि पहुंचाई।

११. अरबी-फारसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप घोर संस्कृत शब्दों का आग्रह

कार्य-कारण सम्बन्ध की भांति प्रतिक्रिया क्रिया से सम्बद्ध है। अरबी-फारसी शब्दों की कड़वी गोलियां देवनागरी वैष्ठित शक्कर में खिलाने की प्रतिक्रिया-स्वरूप, घोर संस्कृत के कृत्रिम गढ़े हुए शब्दों को हिन्दी में प्रयुक्त किया गया। पश्चिमी राजनीति तथा इस्लामी धर्म-नीति के घातक पाटों के बीच में भारतीय जन-भाषा हिन्दी को बुरी तरह कुचल दिया था। इसके प्रतिकार के लिए प्रकाण्ड पण्डित भीमसेन शर्मा ने, जो स्वामी दयानन्द के अनन्य शिष्य तथा संस्कृत के विद्वान् थे, अरबी-फारसी के मूल शब्दों को ही संस्कृतजन्य सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया, जैसे दुश्मन, सिफारिश, चश्मा, शिकायत आदि के स्थान पर क्रमशः दुःशमन, क्षिप्राशिष, चक्ष्मा, शिक्षायत्न आदि को प्रस्तुत किया। जैनेन्द्र किशोर ने अपने 'कमलिनी' उपन्यास में जैसे 'नाक बह रही है' के स्थान पर 'नासिका रन्ध्र स्फीत होना' लिखा है, जो निश्चय ही हास्यास्पद है।[1] आगे जाकर द्विवेदी-युग में भी साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाकर आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज और लन्दन को क्रमशः उक्षप्रत्तर, कामसेतु तथ नन्दन कहा है।

१२. भारतेन्दु की भाषा की त्रुटियां तथा उनका नेतृत्व

भारतेन्दु-मण्डल के सदस्यों की भाषागत त्रुटियों की कौन कहे, स्वयं भारतेन्दुजी ने उठैंगे बोलैंगे, गिरैंगे, मिलैंगे, रातैं, बातैं, बेर भई, श्यामलताई, अधीरज मना, कृपा किया है, गृहस्थैं, नाना-देश, रथ-जात्रा आदि अशुद्ध शब्दों एवं पदों का प्रयोग किया है, जिसका दुष्प्रभाव अन्य लेखकों पर अवश्य पड़ा है। यद्यपि उन्होंने युग-नेतृत्व किया और अपने समकालीन साहित्य सेवियों का मार्ग-निर्देशन भी किया; परन्तु वह सब मित्र-भाव से ही किया गया। आचार्य एवं गुरु की भांति (जैसा द्विवेदीजी ने आगे किया है) अपने समकालीनों पर शासन एवं नियंत्रण उन्होंने नहीं किया।

जैसा कि पूर्व-निर्देश किया जा चुका है कि एक लम्बा जीवन व्यतीत कर देने पर भी खड़ी बोली हिन्दी के गद्य में अनेक कारणों से शक्ति और प्रौढ़ता न आ सकी थी। गद्य-शैलियों की दृष्टि से जो व्यक्तिगत प्रयास उसमें हुए थे, उनमें स्थायित्व एवं समष्टित्व का विकास ही न हो पाया था कि युग-नेता भारतेन्दु की मृत्यु हो गई और समस्त हिन्दी के विशाल क्षेत्र में अराजकता फैल गई। उस अराजकता में उपर्युक्त प्रमुख कारणों तथा हिन्दी की तात्कालिक लोक-प्रियता के मद में भी उन्मत्त होकर लेखकों ने, भाषा की अत्यधिक दुर्गति कर दी। हिन्दी के कथित सेवियों में हठ, दुराग्रह एवं मिथ्याभिमान इतने बढ़ गए कि उनका दुष्परिणाम उसी समय दृष्टिगोचर होने लगा और भाषा में अव्यवस्था फैलने लगी। ये दुराग्रह तथा मिथ्याभिमान ही कारण थे, जिससे न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित जो कुछ भी उनके मुँह से निकलता था या कलम प्रसूत होता था उसे ही ठीक कहा जाता था। नाई की बरात में सभी

१. डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० ३२

ठाकुर बन रहे थे। अतः, परिणामस्वरूप विचित्र हुल्लड़ मच गई थी।

अतः, इस अराजकता और अव्यवस्था में भाषा का रूप अस्थिर था। एक ही शब्द के कई रूप चल रहे थे[1]—जैसे :

(क) जायगा, जायेगा, जावेगा, जाएगा; इसलिये, इसलिए; खायगा, खावेगा; स्थायी, स्थाई; करिये, करिए; सकता, सक्ता; रखा, रक्खा; हुआ, हुया, हुवा; सूर्य, सूर्य्य; पूर्व, पूर्व्व; मर्यादा मर्य्यादा; इन्हे, इन्हें, इने; उन्हें, उनने; जिस पर, जिस्पर; करने, कर्ने; तो, तौ; वरन, वरं; स्रोत, श्रोत।

(ख) मूलतः उच्चारण के ही कारण

घबराहट, घबड़ाहट; लखनऊ, नखलौ; शमशान, श्मशान; मतलब, मतबल; मुहावरा, मुहाबिरा; भूख, भूक; धोखा, धोका; पहचान, पहिचान; अंगुली, उंगली; साबुत, साबूत।

(ग) असंस्कृत एवं व्याकरण-विरुद्ध शब्द

वादाविवाद, अनुवादित, द्रुतलेखन शैलिता, शान्तता, लावण्यता, माधुर्यता, राजनैतिक, ऐक्यता, विद्वान्-समाज, निर्दोषी, निर्धनी, कर्त्तव्यता, जात्याभिमान।

(घ) बेमेल शब्द प्रयोग

स्कूल-भवन, उच्च-ख्याल, खास-श्रेणी, काफी-संख्या, खतरनाक-प्रवृत्ति।

(ङ) अनुस्वर तथा पंचम वर्ण का मिला-जुला प्रयोग

परन्तु-परंतु, सन्देह-संदेह, सम्प्रदाय-संप्रदाय, पण्डित-पंडित, किञ्चित-किंचित, गङ्गा-गंगा।

(च) व, ब, है, हैं, ट, ठ, इ, ई, जैसी, त्रुटियां व अन्य प्रयोग

विचार-बिचार, विद्या-बिद्या, काव्य-काब्य, बाल्य बिबाह, मकूतीदर, टिकाना लिक्खें, लिखावठ, सहेज, क्यौंकि, प्रवृत्ती, अपत्ति।

(छ) अज्ञान तथा कामचोरीवश पुनरुक्ति की त्रुटियां

भिन्न २, कभी २, बार २, बड़े २।

---

१. (क) विद्या-विनोद : १८९४-५।
(ख) हिन्दी-प्रदीप : १८९४-१९०० ई०।
(ग) समालोचक : फाइल-१९०२-३।
(घ) ब्राह्मण : (भाग १ से ३ तक)।
(ङ) छत्तीसगढ़-मित्र।
(च) आनन्द-कादम्बनी।
(छ) भारत-मित्र।

(ज) हास्यास्पद ठेठ संस्कृत में अनूदित शब्द

नासिका रन्ध्रस्फीत होना (नाक बहना), दुःशमन (दुश्मन) क्षिप्राशिष (सिफारिश), चक्ष्मा (चश्मा), शिक्षा-यत्न (शिकायत)।

(झ) ग्रामीण तथा देशज शब्दों की भरमार

मुतकी (बहुत), खीसा (जेब), व्यारी (रात्रि का भोजन), खौरियाना (क्रुद्ध होना), सेतमेत (बिना मूल्य में), मुडिया वै (सुनी-अनसुनी करना), टेटुआ (जलि का कौआ), जटल्ला (कठिन)।

(ञ) संस्कृत, अरबी-फारसी आदि के लिंग-भेद की गड़बड़ी

उस समय एक बहुत बड़ी गड़बड़ी लिंग-भेद के कारण हुआ करती थी, जो कि दुर्भाग्यवश कुछ मात्रा में अभी भी बनी हुई है। इसमें अहिन्दी-भाषियों की तो बात ही क्या है, हिन्दी-भाषी क्षेत्र के विद्वानों में भी मतैक्य नहीं था। आत्मा, अग्नि, देवता, मोती, मृत्यु, सन्तान, दही, ऋतु, वायु, गेंद, कुंज, झंझट, गड़बड़, विधि इत्यादि शब्द दोनों लिंगों में प्रयुक्त होते थे।

जब हिन्दी में तद्भव तथा तत्सम शब्दों की यह गति थी, तो अरबी-फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों की दुर्दशा का तो कहना ही क्या था। एक ही शब्द कहीं पुँल्लिग बन कर पगड़ी बांध कर पुरुषों की सभा में शामिल हो जाता था और दूसरी जगह ओढ़नी ओढ़कर नारी-समाज में जा बैठता था।

(ट) वचन की अनेकरूपता

स्त्रियां, स्त्रीएं; नारियां, नारिएं; राजाओं, राजे।

(ठ) वाक्य-रचना तथा विन्यास की दशा

(१) हमारे यहां पुस्तकों की संख्याएं दो सहस्र हैं।

(२) उन दिनों गन्दे उपन्यासों के प्रचार हुए।

(३) प्रत्येक पुस्तकों को ध्यान से पढ़ा जाता है।

(४) ८ तारीख को बड़े जोर से आंधी आइ उसी दिन आगरे में टिड्डियों का दल आया और वृक्षों पर बैठ गइ।[1]

(५) हिन्दुस्थान के बहोत से राजा लोगों ने अपनी राज भक्ति दिखाने के लिये अपनि सैन्य लोगों को उपस्थित युद्ध में भेजने के लिए प्रस्ताव किया था इसलिये भारतेश्वरी ने सन्तोष प्रकाश किया है।[2]

(६) योरोप खण्ड में किसी दो राजों के बीच में जब यह होने का उपक्रम होता है तब दोनों दुसरे दुसरे स्वाधीन राजों को अपने अपने दल में मिलाने के लिये

---

१. भारत-मित्र : २ जून १८७८ : पृ० ६।
२. भारत-मित्र : २ जून १८७८ : पृ० ६।

साध्यमत चेष्टा करते हैं, और वो लोग भी अपने २ राज्य का कुशल और शान्ति रक्षा और भावी भय को दूर करने के लिये प्रकाश्य वा चोरी चोरी उन दोनों में से एक के पक्ष में हो जाते हैं।[1]

(७) उनकी परम विदुषी और बुद्धिमती माता की उत्तम शिक्षा से उसकी मानसिक शक्तियां अत्यन्त गम्भीर और दृढ़ हो गयीं थीं और उनका वह उपार्जन केवल प्राकाश्य में दिखाने को ही न था।[2]

(८) हिंस्र जींव संकुल पवर्त्त स्थलियों के रहने वाले निरन्तर आखेट में तत्पर रहते हैं। जिस्से उनमें विशेष वीरत्व आ जाता है—मूर्द्धन्य वर्ण ट वर्ग पकार का प्रयोग वंग भाषा में जो बहुत कम है उस्का कारण यही है कि उनकी बोली इन मूर्द्धन्य वर्णों के उच्चारण में अनुपयुक्त है।[3]

(९) + + + सो ये चारों देवता अकुला और तुम्हारे पाने के लिये आशाबद्ध हो हमें तुम्हारे पास भेजा है, मैं समझता हूं कि इन चारों में एक किसी को तुम अवश्य सनाथ करोगी।[4]

इस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकृति के शब्दों, पदों तथा वाक्यों के स्वच्छन्द एवं अबाध प्रयोगों में न तो शब्दों की एक-रूपता ही थी और न उनकी उचित व्यवस्था ही। व्याकरण के अंकुश के अभाव के साथ ही एक कठोर नियन्ता, चतुर लोक-नायक तथा दूरदर्शी शासक की अत्यधिक आवश्यकता थी। हिन्दी की अन्त: दशा स्वस्थ साहित्य के निर्माण के उपयुक्त नहीं थी। बौद्धिक ज्ञान की क्षुधा की तृप्ति के लिए वह अभी तक विशेष सामग्री जुटा नहीं सकी थी। इससे अन्यान्य भाषाओं के विद्वान् विशेषत: अंग्रेजी की 'डिग्री' प्राप्त, हिन्दी को मूर्खा-हिन्दी (Stupid Hindi) कहते थे।[5] अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, संस्कृत के भारतीय विद्वान् हिन्दी में न लिखकर अन्य किसी भाषा में लिखकर अपने सम्मान की रक्षा करना चाहते थे। आर्थिक लाभ की दृष्टि से भी हिन्दी का पढ़ना-लिखना तात्कालिक परिस्थितियों में श्रेयस्कर नहीं था।

ऐसी स्थिति में देश के जिन विद्वानों से हिन्दी के भाण्डार को भरने के लिए आग्रह किया जाता था, वह कह देता था कि क्या करें मुझे तो हिन्दी आती नहीं। सर्वत्र घोर निराशा और हिन्दी की दैन्यावस्था थी। "उस समय हिन्दी उस भाषा का नाम रह गया जो टूटी-फूटी चाल पर देव-नागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

—बालमुकुन्द गुप्त[6]

हिन्दी की इस अस्थिरता, अव्यवस्था तथा अराजकता में न तो भाषा का परिष्कार तथा स्थायित्व हो सकता था और न वह स्वाभाविक था। उस समय तो हिन्दी के भव्य-भवन की नींव ही भरने के उपक्रम हो रहे थे। नींव के पत्थरों को न गढ़ा

---

१. भारत-मित्र : ३१ अक्तूबर १८७८।
२. विद्या-विनोद (भाग १) : १८९२-५।
३. 'मर्यादा' भाग १, संख्या १ : पृ० १।
४. दमयन्ती-स्वयंवर : बालकृष्ण भट्ट : पृ० २३।
५. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० २३।
६. रमाकान्त त्रिपाठी : हिन्दी-गद्य-मीमांसा : पृ० ४०।

जाता है और न सुधारा ही। दूसरे शब्दों में यह गद्य का शैशव-काल था अथवा लालन-पालन काल था, शिक्षण-काल द्विवेदी-युग में आया।[१] अतः इस तथ्य की उपेक्षा करके उस समय की गद्य-शैलियों का समष्टिगत अध्ययन नहीं किया जा सकता। ईस्वी सन् १९०० के आस-पास तक तो वस्तुतः हिन्दी-गद्य-शैली की परीक्षा केवल व्यक्तिगत पद्धति पर ही की जा सकती है। तात्कालिक लेखकों की कुछ, कहां, कैसी अपनी विशेषताएं प्राप्त होती हैं और वह कहां तक शुद्धाशुद्ध लिखता है, इतना ही जान लेना यथेष्ट मालूम पड़ता है।[२]

गद्य-शैलियों की दृष्टि से भारतेन्दु-युग का मूल्यांकन

१. गद्य-युग—इस युग के अधिकांश भावों, विचारों एवं जन-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य ही रहा। परिस्थितियों तथा युग-पुकार ने इस महान् उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए खड़ी बोली हिन्दी के गद्य को ही सर्वाधिक उपयुक्त समझकर उसके प्रचार-प्रसार तथा उन्नयन को प्रोत्साहित किया।

२. अनुभूति तत्त्व एवं आत्मीयता की प्रधानता—इस युग की प्रेरणा का केन्द्र अन्तःउमंग तथा बाह्य परिस्थिति-जन्य अन्तर्प्रेरणा की अनुभूति थी। राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार भावोद्गार तथा भाव-प्रकाशन की क्षमता में वृद्धि हुई। इस युग में पाठक और लेखक बहुत समीप थे, उनमें दुराव-छिपाव अथवा भेद न था। साहित्यकारों में आत्मीयता की अधिकता तथा सजग व्यक्तित्व की प्रधानता थी। अभिव्यक्ति के प्रेषक एवं प्रेष्य के सीधे तादाम्य-सम्बन्ध के कारण युग की गद्य-शैली में जो सहज आत्मीयता स्फुटित हुई है, वह पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती किन्हीं गद्यकारों में क्वचित् ही उपलब्ध होती है।

३. रोचकता तथा सजीवता—इस युग में विशेषकर जनता के दैनिक जीवन से सम्बन्धित विषयों को चुनकर रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया। जन-बाल-रुचि को आकर्षित करने के लिए सरल, सजीव एवं मोहक गद्य-शैली ही उपयुक्त रहती है। इससे गद्य-शैलियों में मुहावरों तथा लोकोक्तियों द्वारा रोचकता स्फुरित करने का प्रयत्न किया गया। इससे उर्दू-फारसी के जन्मजात् विरोध होने पर भी उर्दू-फारसी की शब्दावलियों एवं पदावलियों को पर्याप्त स्थान दिया गया।

४. सुधार की भावना और व्यंग्यात्मक शैली—जीवन के अनेक क्षेत्रों में जो सुधार की प्रखर भावना थी उसमें व्यंग्यात्मक शैली को प्रमुख स्थान दिया गया। कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों पर कठोर चोट के साथ शारीरिक-मानसिक वासनाओं की दृढ़ शृंखलाओं को काटने के लिए ऐसी चुटकियां और व्यंग्योक्तियां आवश्यक भी थीं। इस कार्य में यह आवरणपूर्ण भाषा सफल रही।

५. शब्द-कोश की वृद्धि तथा विभिन्न शैलियां—भिन्न-भिन्न विषयों पर

१. गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन : (काव्य के रूप) : पृ० २४०।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० ६।

रचनाएं करने के कारण शब्द-कोश तथा शब्द-रूपों की वृद्धि अत्यन्त वांछनीय हुई। भारतेन्दु-युग आन्दोलन का युग था। उन असंख्य आन्दोलनों के अतिरिक्त परस्पर अनेक विवाद भी देश में चल रहे थे। इनमें विरोधियों को वश में करने के लिए खण्डन-मण्डन, तर्क-वितर्क के द्वारा बुद्धिवाद का आश्रय लिया गया। व्यंग्य की प्रखर बाणावलियां और परिहास के रंगीन छींटे, बौद्धिक विवेचन एवं विश्लेषण की ओट लेकर विरोधियों पर छोड़े जाते थे। इससे हिन्दी के शब्द-कोश की बहुत वृद्धि हुई तथा विभिन्न गद्य-शैलियों का विकास-पथ प्रशस्त हुआ।

६. **हल्की रचनाओं में कला-पक्ष की उपेक्षा**—इस समय प्राचीनता को संभालने के साथ नवीनता के ग्रहण का भी प्रबल आग्रह था, साथ ही हिन्दी-साहित्य के निर्माण के साथ व्यापक तथा द्रुत-प्रचार का कार्य भी आवश्यक था। उनका तात्कालिक उद्देश्य उच्च-गम्भीर साहित्य का निर्माण करना नहीं था, वरन् प्रचारार्थ, सरल, सस्ता तथा शीघ्र उत्पन्न विपुल साहित्य अपेक्षित था। हिन्दी-साहित्य के रिक्त कोश की पूर्ति के साथ विरोधियों के दिलों पर हिन्दी का सिक्का जमाना भी उनका अभीष्ट था। यहां तक कि एक ही साहित्यकार अनेक गद्य-पद्य के रूपों में रचनाएं कर रहा था। अतः समयाभाव में कला की उपेक्षा हुई। 'हास्य' और 'भारत-दुर्दशा' एक ही कलम से लिखने के कारण निश्चित ही रचनाओं का स्तर हल्का रह गया और कला का परिष्कार उनमें न हो सका।

७. **अस्थायी महत्त्व की सामयिक रचनाओं की प्रधानता**—इस युग के साहित्यकार मूलतः पत्रकार थे। उनकी अधिकांश रचनाएं उनकी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, टिप्पणियां, आलोचनाएं इत्यादि ढंग की होती थीं। यहां तक कि निबन्धों के विषय भी बहुलांश में सामयिक होते थे और उनमें तात्कालिक विषयों, कारणों तथा समस्याओं पर विचार किया जाता था। इससे ये रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में आबद्ध सामयिक तथा अस्थायी महत्त्व की होती थीं। पत्र-पत्रिकाएं जन-साहित्य होने के कारण, उनकी भाषा-शैली सरल, व्यावहारिक, हृदयग्राही तथा मिश्रित शब्दों वाली होती थी।

८. **युग-साहित्य में निबन्धों की श्रेष्ठता**—भारतेन्दु-युग में गद्य के अनेक रूपों में, सबसे अधिक सफलता निबन्धों को मिली और निबन्ध-साहित्य ही युग का सबसे समृद्ध अंग हुआ[1] क्योंकि व्यक्तित्व जो निबन्ध की आत्मा है, इस युग के निबन्धों में अधिक निखरा है। निःसन्देह निबन्ध-कला का पूर्ण विकास इस युग में नहीं हो सका।

९. **खड़ी बोली गद्य पर ब्रज-भाषा की छाया**—यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही खड़ी बोली का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिष्ठित हो चुका था, तथापि इस काल के हिन्दी-गद्य पर ब्रज की छाया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। भारतेन्दु की गद्य-शैली भी इसका अपवाद न थी।

१०. **देश एवं युग-चेतना का माध्यम हिन्दी तथा वाहक पत्र-पत्रिकाएं**—भारतेन्दु-युग में भारत में जितने भी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा

[1] डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग : पृ० ९५।

अन्य आंदोलन तथा जन-जागृति हुई, उन सबका अधिकांश में माध्यम हिन्दी रही। विशाल देश की असंख्य भिन्नताओं को अंगीकृत करके हिन्दी की गद्य-शैलियों में अव्यवस्था तथा अस्थिरता आ गई। इसके साथ ही युग के सभी चेतन-पुंज व्यक्तियों ने अपने विचार-प्रचार के लिए पत्र-पत्रिकाओं के पहियों पर चढ़ाकर जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु के अस्त होने पर विशेषतः इन चेतन-पुंजों ने मनमाने ढंग से अपनी-अपनी अनगढ़ भाषा-शैलियों को अबाध गति से प्रसारित किया जिससे कि भाषा के क्षेत्र में घोर अराजकता फैल गई।

११. नवीन गद्य और उसकी नवीन गद्य-शैलियां—आधुनिक हिन्दी-गद्य का प्रादुर्भाव भारतेन्दु-युग में हुआ और उसी के साथ गद्य-शैलियों का नवीन रीति से निर्माण का श्रीगणेश हुआ। जिसकी प्रेरणा और आधार पर आगे की गद्य-शैली उत्तरोत्तर विकसित होती गई।[1]

१. शिवनाथ : भारतेन्दु-युगीन निबन्ध : पृ० १०१

अध्याय : ४

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८): व्यक्तित्व, कृतित्व एवं शैलियां

जन्म, पैतृक परम्परा एवं संस्कार

हिन्दी के प्रथम आचार्य एवं युग-निर्माता पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म संवत् १९२१ (बैशाख शुक्ल ४) को कान्यकुब्ज द्विवेदी ब्राह्मण रामसहाय के यहां दौलतपुर ग्राम, जिला रायबरेली में हुआ था। यह ग्राम ६०-७० छोटे-छोटे ग्रामीण घरों वाला, शहर के वातावरण से बहुत दूर था; परन्तु सौभाग्यवश यहां के ब्राह्मण परिवार में पढ़ने-लिखने की प्रवृत्ति अवश्य थी। यह उल्लेखनीय है कि इसी ग्राम में १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कविराज सुखदेव मिश्र आकर बस गये थे।[1] और उनकी स्वस्थ परम्परा में सरस्वती आराधना चल रही थी। स्वयं द्विवेदीजी के पितामह संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनकी अकाल मृत्यु हो जाने से द्विवेदीजी के पिता रामसहाय दुबे तथा छोटे भाई दुर्गाप्रसाद की पढ़ाई-लिखाई न हो सकी। फलस्वरूप, जीविकोपार्जन के लिए रामसहाय को 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अन्तर्गत फौज में भर्ती होना पड़ा और उनके छोटे भाई दुर्गाप्रसाद समीप के ताल्लुकेदार के यहां किस्से-कहानी सुनाने का कार्य करने लगे।

सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में द्विवेदीजी के पिता रामसहाय ने विद्रोहियों का साथ देकर देशानुराग एवं निर्भीकता का परिचय दिया। अंग्रेजों के दमन से सकुशल बचकर वे दौलतपुर आ गये और वहां से बम्बई में जाकर बल्लभ कुल के गोसाइयों के यहां नौकर हो गये। रामसहाय को मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त महावीर का इष्ट था। अतः उन्होंने अपने बालक का नाम भी महावीर सहाय रखा। अपने जीवन में महावीरप्रसाद द्विवेदी की दृढ़ता, निर्भीकता, कार्यकुशलता, कर्त्तव्य-परायणता, आदर्श सेवा-भाव आदि जिन गुणों का स्फुटन हुआ है, वे सब देव महावीर के ही 'प्रसाद' के स्वरूप समझे जा सकते हैं। जन्म के कुछ समय पश्चात् ही बालक की जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मन्त्र 'ओम्-ह्रीं-ओम्' अंकित किया गया।[2] भारत की प्राचीन ग्रामीण परम्परा, परिस्थिति तथा ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण इनका विद्याध्ययन संस्कृत से प्रारम्भ हुआ। जीवन के आरम्भ में ही सरस्वती-मंत्र के त्वरित परिचय तथा

१. देवीदत्त शुक्ल : बाल-द्विवेदी : पृ० ४।
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : और उनका युग : डॉ० उदयभानुसिंह : पृ० ३४।

'संस्कृत शीघ्र-ब्रोध', 'अमर कोष', 'दुर्गा-सप्तशती' आदि का अध्ययन, उनके भावी उत्कर्ष का प्रेरक सिद्ध हुआ। यहां संस्कृत की पढ़ाई पूर्ण ही न हो पायी कि उर्दू पाठशाला में इन्हें भरती कर दिया। पाठशाला की शिक्षा समाप्त होने पर इन्हें प्रथम प्रमाणपत्र में भूल से 'सहाय' से 'प्रसाद' बना दिया गया; फिर तो वे सदा के लिए महावीर के 'प्रसाद' होकर इष्ट देव का अनुकरण करने लगे। महावीर का इष्ट सेवा-धर्म था। इस महावीर ने भी सरकार, साहित्य और समाज की सेवा का व्रत अपने जीवन में लिया और उसका निर्वाह भी किया।

शिक्षा

अब महावीर का 'प्रसाद' एवं सरस्वती का दया-दाक्षिण्य उनके कवच थे; जिनसे सज्जित यह बालक १३ वर्ष की अल्पायु में ही आटा-दालादि को पीठ पर लादकर १८ कोस की यात्रा पैदल करता। देश में अंग्रेजी-शिक्षा और उसके आकर्षण बढ़ गये थे। इसी से बालक को रायबरेली के अंग्रेजी स्कूल में इतने कष्टों के पश्चात् भी भेजा गया। यदि सब कष्ट इतना ही होता तो भी ठीक था। उन्हें पांच वर्ष के अंग्रेजी-अध्ययन काल में रायबरेली, रनजीतपुरवा, फतेहपुर तथा उन्नाव के स्कूलों की शरण लेनी पड़ी, फिर भी उनकी अंग्रेजी स्कूल की पढ़ाई पूरी न हो सकी।

रेलवे की नौकरी

उन्नाव की पढ़ाई छोड़कर १८ वर्ष की आयु में १५ रु० मासिक पर वे अजमेर में रेलवे की नौकरी करने लगे। वे अपने अल्प वेतन में से ५ रु० घर भेजकर दायित्व-निर्वाह, ५ रु० में जीवन-निर्वाह तथा शेष ५ रु० अपने अध्यापक को देकर सरस्वती आराधन करते थे। ये उनके कर्त्तव्य-पालन, मितव्ययता, विद्यानुराग एवं निस्पृहता के ज्वलंत द्योतक हैं। साथ ही उनके भविष्य के संकेतक भी। निःसन्देह, इस महर्षि ने बालक ध्रुव की भांति बाल्यावस्था से ही अपनी आराध्या देवी सरस्वती की आराधना आरम्भ करके हिन्दी-जगत में ध्रुव-पद प्राप्त कर लिया।

अजमेर में एक वर्ष नौकरी करने के पश्चात् वे पिताजी के पास बम्बई आ गये। यहां उन्होंने अंग्रेजी, मराठी, गुजराती और संस्कृत का अभ्यास किया और पड़ोसी रेलवे के बाबुओं के सम्पर्क में आकर तार का कार्य सीख लिया। तत्पश्चात् जी० आई० पी० रेलवे में २५ रु० मासिक पर नौकरी कर ली। उन्होंने अनेक पदों पर कार्य किया और वहां का कार्य सीखा। इस समय उनकी प्रतिभा का विलक्षण विकास और प्रकाश हुआ। कार्य की लगन, समय की पाबन्दी, कर्त्तव्य की तत्परता तथा सतत कठोर अध्यवसाय—ये सब उनके व्यक्तित्व के अंग बन गये। यथार्थ में उनके इन्हीं गुणों ने जिनका कि विकास उनकी रेलवे की नौकरी की अवधि में हुआ था, उन्हें हिन्दी-साहित्य का प्रथम आचार्य बनाया। अपना कार्य अत्यधिक तत्परता से शीघ्र ही पूर्ण करके अपने सहयोगियों के कार्य में हाथ बंटाना, उनके सभी कार्यों की पूरी जानकारी रखना, उनका दैनिक कार्यक्रम था। 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में भी आगे जाकर

इन्हीं गुणों ने उन्हें अपने सहकारियों और अधिकारियों का हृदयहार बना लिया था। सरकारी नौकरी करते हुए द्विवेदीजी ने अपने आत्म-सम्मान की, अपने सबसे मूल्यवान रत्न की भांति सदैव ही रक्षा की और उसके प्रति सदा सजग रहे।

साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश

उनकी ज्ञान और साहित्य की ओर रुचि ने उनके जन्म के साथ ही जन्म लिया था। शैशव काल ही से उन्होंने 'रामचरित मानस' और 'ब्रज-विलास' को खूब ध्यान से सुना और याद किया था। हिन्दी के सैकड़ों कवित्त-सवैये उन्हें कंठस्थ हो गये थे। बम्बई में रहने पर, शिक्षा के वैभव और चमत्कार ने उन्हें विशेष प्रभावित किया और उन्होंने अपने संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी के ज्ञान को बढ़ाने के साथ मराठी और गुजराती पढ़ना भी प्रारम्भ कर दिया। विशेष महत्त्वपूर्ण यह है कि वे नियमित अध्ययन करते थे। सन् १८८५ में जब वे रेलवे की नौकरी में होशंगाबाद में थे, भारतेन्दु की 'कवि-वचन-सुधा' से प्रभावित होकर हिन्दी में कविता लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। वहीं उन्होंने हिन्दी का पिंगल पढ़ा और बाबू हरिश्चन्द्र कुल श्रेष्ठ की देखरेख में संस्कृत के 'शिव-महिमा' का हिन्दी-गद्य और पद्य में सफल अनुवाद किया। फिर तो भर्तृहरि के दो शतक, 'गीत-गोविन्द' और 'गंगा-लहरी' के अनुवाद तथा 'ऋतुतरंगिणी' और 'देवी-शतक' की रचना की गई। मराठी के अध्ययन में वे गण-वृत्तों से आकर्षित हुए और उन्होंने हिन्दी-साहित्य में प्रथमतः भर्तृहरि के शतकों के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी रच-नाओं में गण-वृत्तों का प्रयोग किया।

अब द्विवेदीजी की सरकार तथा साहित्य-सेवा साथ ही साथ चलने लगीं। झांसी में आने पर उनके साहित्य-प्रेम तथा सद्गुणों का सर्वत्र प्रभाव छा गया। सभी सहयोगी तथा अधिकारी तक उनका सम्मान करते, बड़े साहब तो उनकी सलाह के बिना कोई काम भी न करते। वेतन भी उन्हें सौ रुपये से अधिक मिलता था; परन्तु वे अपना खर्च लगभग एक-तिहाई में चला लेते और शेष रुपये पुस्तकों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं में तथा दूसरों की सहायता में व्यय कर देते थे।

५ जनवरी, सन् १८८५ में भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् हिन्दी-जगत नेतृत्व-हीन हो गया था, और उसमें भीषण अराजकता फैल चली थी। उनके छोड़े हुए कार्य की पूर्ति तो दूर रही, इसके विपरीत उसे क्षत-विक्षत किया जा रहा था। भाषा में अव्यवस्था, अस्थिरता, बहुरूपता तथा अपरिपक्वता बढ़ गई थी। उस समय हिन्दी 'स्टुपिड हिन्दी' कही जाती थी।[1] हिन्दी के शब्द-समूह में विलक्षण गदर हो रहा था और जिसे जहां जगह मिलती थी वह वहीं स्थान दबा बैठता था।[2] दूसरे लोग हिन्दी-साहित्य का नाम लेकर चिढ़ उठते थे। कहा जाता था कि हिन्दी में साहित्य ही नहीं है। बंगला में साहित्य था, मराठी में हो चला था और गुजराती में हो रहा था; परन्तु हिन्दी में

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० २३

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : वाग्विलास पृ० १०३।

कुछ नहीं था। हां, यदि कुछ था तो भाषा की विकलांगता, शब्दों का अकाल, हिन्दी-उर्दू की झंझट, प्राचीन लेखकों की उच्छृंखलता, सन्निपात का-सा बकवास एवं नव सिखियों की उद्दंडता और वैमनस्य। जब भाषा का स्वरूप ही स्थिर और निश्चित नहीं था, तो शैलियों के विकास के दर्शन करना तो वैसे ही असम्भव था जैसे कि भूत के घर में भगवान की प्रतिमा को खोजना। मातृभाषा की यह दुर्दशा द्विवेदीजी को बहुत खल रही थी। सन् १८९१ तक उनकी छोटी-छोटी छः कविता की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। दूसरी प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन और उनके उत्कृष्ट साहित्य के पर्यावलोचन ने उन्हें अपनी मातृभाषा की उन्नति की ओर अधिक प्रेरित किया। उन्हें कहीं से भी आशा की किरण दिखाई नहीं देती थी। हिन्दी के नये लेखकों में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम संयुक्त प्रान्तीय बी० ए० उत्तीर्ण लाला सीताराम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने कालीदास के काव्यों का पद्यानुवाद किया था। इससे उनके नाम की धूम और धाक दोनों ही थीं। द्विवेदीजी को वे अनुवाद ठीक नहीं लगे और उन्होंने उनकी आलोचना 'कुमार सम्भव की भाषा' के नाम से १८९६ ई० में 'काशी-पत्रिका' तथा उसके पश्चात् कालाकाँकर के 'हिन्दुस्थान' में प्रकाशित कराई। यह द्विवेदीजी की प्रथम आलोचना थी। इसका स्वागत प्रायः सभी क्षेत्रों में हुआ। सन् १८९७ में इन्हीं लालाजी की 'ऋतु-संहार भाषा' बंबई के 'श्री वैंक्टेश्वर-समाचार' में छपी। इनकी सफलता तथा सम्मान से द्विवेदीजी को और भी अधिक उत्साह मिला और उन्होंने लालाजी के 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' की समालोचनाएं भी लिख डालीं। सन् १९०१ में 'हिन्दी कालीदास की समालोचना' पुस्तकाकार प्रकाशित हुई और द्विवेदी-कीर्ति सर्वत्र फैल गई। लालाजी तथा उनके समर्थकों को उनके अकाट्य विद्वत्तापूर्ण तर्कों का उत्तर तक नहीं सूझ सका।

इसी बीच में द्विवेदीजी की 'नेषध-चरित-चर्चा' १९०० ई० में प्रकाशित होने पर, पं० माधवप्रसाद मिश्र, सम्पादक 'सुदर्शन' काशी से एक और भी साहित्यिक टक्कर हो गई। पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर हुई हिन्दी की इस प्रथम समीक्षा की कटु एवं व्यक्तिगत आक्षेपपूर्ण आलोचना का द्विवेदीजी ने विद्वतापूर्ण उत्तर, विस्तारसहित 'सरस्वती' १९०० के दो अंकों में दिया। इस प्रकार हिन्दी-संसार में द्विवेदीजी एक खरे और विद्वान् आलोचक के साथ सुकवि के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

सन् १९०३ के लगभग उन्होंने अपनी कविताओं का संग्रह 'काव्य-मंजूषा' जयपुर, तथा 'कुमार सम्भवसार' नागरी-प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित कीं और अंग्रेजी की पुस्तक 'बेकन विचार-रत्नावली' तथा संस्कृत से 'भामिनी विलास' के हिन्दी अनुवाद किये। 'दार्शनिक परिभाषा' एक मौलिक छोटी पुस्तक भी लिखी।

१६ जुलाई, १८९३ को 'नागरी-प्रचारिणी सभा' काशी की स्थापना हो चुकी थी और उसने अपने दूसरे वर्ष से ही 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', हिन्दी ग्रन्थों की खोज, शब्द-कोश, व्याकरण, इतिहास आदि का निर्माण एवं प्रकाशन कार्य आरम्भ कर दिया था। उत्तर-प्रदेश के न्यायालयों में हिन्दी के प्रवेश तथा उर्दू के साथ समानाधिकार प्राप्ति के लिए जो विशाल आन्दोलन किया गया था, उसमें द्विवेदीजी ने पूर्ण योग

दिया। झांसी तथा जालोन के जिले के सहस्रों लोगों से प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर करवाये, स्वयं कविता के रूप में पृथकत: सरकार के पास आवेदनपत्र भिजवाया। फलत: तात्कालिक लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर मैंगडानल के आदेश से २१ अप्रैल, १९०० से हिन्दी को अपना अधिकार प्राप्त हुआ।

इस प्रकार 'महावीर बाबू' की सरकारी नौकरी, हिन्दी-सेवा तथा हिन्दी-प्रचार कार्य साथ-साथ चलते गये। वास्तव में उनकी कार्य-शक्ति अद्वितीय थी। कठिन अध्यवसाय उनके स्वभाव का अंग बन गया था। डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिण्टेंडेंट के कार्यालय के बड़े बाबू के पद पर भी उन्हें बहुत कार्य करना पड़ता था। अंग्रेज अधिकारी रात्रि को भी विश्रान्ति न लेने देते थे। वे स्वयं तो अपने बंगले या 'क्लब' में रंगरेलियां करते और द्विवेदीजी को उनके तार लेना और उत्तर देना पड़ता था। इतना ही नहीं अंग्रेज अधिकारी दफ्तर के दूसरे छोटे बाबुओं से भी इस प्रकार दिन-रात कार्य करने की आशा रखते थे। बड़े बाबू द्विवेदीजी के द्वारा, उन्होंने आज्ञा देकर, यही कठोराचार एवं अत्याचार अन्य छोटे कर्मचारियों पर करना चाहा। द्विवेदीजी स्वयं को कष्ट दे सकते थे, पर दूसरों को नहीं। वे स्वत: गौरांगों के इन अत्याचारों से क्षुब्ध थे। स्वयं को ही अत्याचार का शस्त्र बनते देखकर, उनके सहनशीलता-सिन्धु में भी बाढ़ आ गई और उन्होंने अंग्रेज अधिकारी से स्पष्ट कह दिया कि इस प्रकार की अनुचित आज्ञा मैं नहीं दे सकता। हृदय के विद्रोह की अग्नि ऊपर आ गई। विरोध बढ़ता गया।

द्विवेदीजी को इस पद पर पांच वर्ष हो चुके थे और इस बीच में उनका मन पर्याप्त ग्लानिपूर्ण रहता था; परन्तु यह यति अपने सुख से विरक्त रहकर कार्य करता गया। उन्हीं दिनों उनकी दृष्टि में 'इंडियन प्रेस' इलाहाबाद की प्रकाशित शालोपयोगी एक हिन्दी की पाठ्य-पुस्तक आई, जिसमें विशेषत: भाषा-सम्बन्धी बहुत सी त्रुटियां थीं। हिन्दी की तात्कालिक अस्थिरता, अव्यवस्था एवं अराजकता से तो वे दु:खी पहिले ही थे; छोटे-छोटे बालकों को अशुद्ध और त्रुटीपूर्ण भाषा शालाओं में पढ़ाई जाती देखकर उन्हें मार्मिक दु:ख हुआ। उन्होंने उन सब त्रुटियों की ओर शिक्षा-विभाग का ध्यान आकर्षित किया और अन्य पत्रों में भी कड़ी आलोचनाएं निकालीं। उक्त 'रीडर' के लेखक या प्रकाशक को उनके आक्षेपों का कोई उत्तर नहीं सूझा। इतना ही नहीं, इन्हीं द्विवेदीजी के कारण सहस्रों को हानि उठानेवाले गुणग्राही 'इंडियन प्रेस' के स्वामी तथा 'सरस्वती' के व्यवस्थापक बाबू चिन्तामणि घोष, उनके पांडित्य पर मुग्ध हो गये और अपने मैनेजर बाबू गिरजाकुमार घोष को द्विवेदीजी की सेवा में झांसी भेजकर 'रीडर' लिखवाने का आग्रह किया। द्विवेदीजी ने भी 'शिक्षा-सोपान' रीडर लिख दी, परन्तु वे अन्य कारणों से स्वीकृत नहीं हुईं। फिर भी इसके द्वारा बाबू चिन्तामणि घोष से उनका सम्पर्क अधिक अवश्य हो गया। अब द्विवेदीजी का हिन्दी के क्षेत्र में उच्च स्थान निश्चित हो चुका था। सन् १९०० में हिन्दी की युग-निर्मात्री एवं यशस्वी सचित्र मासिक पत्रिका 'सरस्वती' कार्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल-गोस्वामी, जगन्नाथदास रत्नाकर, राधाकृष्णदास तथा बाबू श्यामसुन्दरदास के सम्पादन में प्रकाशित हुई। किसी प्रकार लगभग दो वर्ष तक इन पांचों सम्पादकों ने पत्रिका

प्रकाशित की; परन्तु प्रारम्भ के चारों सज्जन छोड़कर चल दिये और समस्त दायित्व श्यामसुन्दरदासजी के सिर पर आ गया। एक ही वर्ष में वे भी उकता गये और दूसरा प्रबन्ध शीघ्र कर लेने की सूचना दे दी गई। योग्य सम्पादक की खोज में दृष्टि दौड़ाई गई। द्विवेदीजी की प्रतिभा, योग्यता एवं लगन की विभा सर्वत्र फैल चुकी थी, साथ ही चिन्तामणि बाबू से परिचय भी था। द्विवेदीजी के समक्ष यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। २५ रु० मासिक पारिश्रमिक के रूप में लेना स्वीकार कर वे 'सरस्वती' सम्पादन करने लगे।

सरस्वती-सम्पादन

एक व्यक्ति दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता, विशेषतः लक्ष्मी और सरस्वती की। द्विवेदीजी भी ये दोनों सेवाएं अधिक नहीं कर सके। एक और स्थायी सरकारी नौकरी, १५० रु० का भारी वेतन, तथा उच्च सम्मानित पद था तो दूसरी ओर २५ रु० माह की वैयक्तिक नौकरी—सम्पादकी थी। हां, दूसरी ओर हिन्दी-सेवा का अवसर, मातृ-भाषा के प्रति कर्त्तव्य-भाव तथा आत्माभिमानपूर्ण स्वतन्त्रता थी। अंग्रेज ट्रफिक सुपरिण्टेंडेंट से उनकी पटती न थी। उन्होंने एक दिन अपना त्यागपत्र रेलवे की नौकरी से दे ही दिया। उनकी धर्मपरायण तथा पति-अनुरक्ता पत्नी ने भी उन्हें साहस और सहयोग दिया और उन्होंने लक्ष्मी की उपेक्षा कर 'सरस्वती' की सेवा का व्रत लिया। हिन्दी के इतिहास में यह घटना सदा को स्मरणीय और अमर हो गई। 'सरस्वती' सम्पादन स्वीकार करते ही युग-नेतृत्व उनके हाथ आ गया।

'सरस्वती-सम्पादक' महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ ही हिन्दी-जगत् में प्रथमतः सन् १६०३ में आधुनिक सम्पादन-कला का प्रवेश हुआ। ऐसी आलोचना की शैली का भी हिन्दी में प्रादुर्भाव हुआ कि समाज और साहित्य दोनों ही सजग हो उठे। पुराने समीक्षकों एवं शैलीकारों के कान खड़े हो गये और नये लोगों को उज्ज्वल प्रकाश मिला। तात्कालिक विषम परिस्थितियों में हिन्दी के लिए एक अत्यन्त अध्यवसायी सेवक, एकनिष्ठ कर्मयोगी, साहसी महावीर, बहुभाषा-विज्ञ, प्रकाण्ड विद्वान्, प्रखर आलोचक, कठोर अनुशासक तथा कुशल युग-नियन्ता सूत्रधार के महाप्राण व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। द्विवेदीजी में ये सब विशेषताएं एक साथ ही उपस्थित थीं।

व्यक्तित्व

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व बहुत विशाल एवं विशद था। सुविशाल शरीर में उनकी प्रभावी मुख-मुद्रा, सिंह की-सी बड़ी तथा घनी मूंछें, उन्नत ललाट, नीचे घनी भौंहें, तेजस्वी मर्म-भेदी दृष्टि-सम्पन्न दूर देश-विदेश के हिन्दी-सेवियों को पहिचान कर ढूंढ़ निकालने वाले नेत्र आदि उनके बाह्य-व्यक्तित्व का निर्माण करते थे। प्रथम दर्शन से ही दर्शक उनके उस भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाता था।

द्विवेदीजी के प्रति युग की श्रद्धा का रहस्य उनके व्यक्तित्व की प्रामाणिकता में है। है। उनके वचन और कर्म में अद्‌भुत साम्य था। इसी से उनकी वाणी का जादू

उनके युग के सभी साहित्यकारों पर पूर्णतः पड़ सका। जैसा वे अन्य व्यक्तियों को करने को कहते थे, वैसा वे स्वयं करते थे। प्रथम वाणी को बुद्धि से तोलकर फिर क्रिया से बोलना उनका सिद्धान्त था। इसी चरित्र का प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ सका। उदाहरणतः जब भी उन्होंने किसी दूसरे व्यक्ति की रचना से कुछ भी ग्रहण किया, स्पष्टतः उसके नाम का उल्लेख कर कृतज्ञता-ज्ञापन कर दी। पराये माल पर साहुकारी करने की प्रवृत्ति उनकी नहीं थी। उनकी यह विशेषता भी उनकी शैली में प्रकट हुई है।

स्पष्टता और ईमानदारी उनकी शैली के अन्तः गुण हैं। उनकी भाषा भावों को गोपनीय और दुरूह नहीं रखना चाहती। उनके हृदय के समान उनकी भाषा भी सरल, स्पष्ट तथा निर्मल है। उन्हें आधुनिक औपचारिकता या तकल्लुफ से चिढ़ थी। साथ ही मर्यादा और शिष्टाचार से भी प्रेम था। स्वभाव की स्पष्टता के कारण, अनेक स्थलों पर वे ठेठ शब्दों का प्रयोग करने से नहीं हिचके हैं। स्वभाव की रुखाई कपास की भांति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में कपास की ही खेती की 'निरस विदस गुनमय फल जासू'।[1]

द्विवेदीजी नियमित पूजा-पाठ, संध्या-बन्धन आदि कुछ नहीं करते थे। ईश्वर स्मरण में राम का नाम दिन में १०-२० बार ले लेते थे। श्रीरामायण व श्रीमद्भागवत में विशेष श्रद्धा थी। धार्मिक बन्धन उन्हें जकड़ नहीं सके थे। वे ईश्वर में दृढ़ विश्वास अवश्य रखते थे। अतः बाह्य दृष्टि से देखने वाले आसपास के लोग उन्हें प्रायः नास्तिक समझते थे। साथ ही इनके रहन-सहन का स्तर भी काफी ऊंचा, पर सादा था। इससे उन्हें ठीक से समझना बहुत कठिन था। बहुतों के लिये वे 'बाबूजी' थे और कुछ के लिये 'पण्डितजी'। पं० यज्ञदत्तजी शुक्ल ने, जो कि द्विवेदीजी के भानजा-दामाद हैं, एक संस्मरण का उद्घाटन करते हुए लिखा है—"द्विवेदीजी को उनके समीप के ग्राम के एक अर्द्ध-शिक्षित चतुर सज्जन ने 'महावीर बाबू अंगरेज' की संज्ञा दी थी।"[2]

द्विवेदीजी किसानों के घर भी जाते और उनसे ठेठ देहाती भाषा में बोलते। व्यक्ति को देखकर भाषा का उपयोग करते। अछूतों से भी बहुत घुल-मिलकर बातें करते। दूसरों के दुःख या बीमारी को देखकर उनका रोम-रोम करुणा से भर जाता। अपनी बीमारी की उन्हें चिन्ता नहीं थी।

विवाह-शादी की पुरानी सभी रीतियों का वे पालन करते। शुभ कार्य को शगुन या घड़ी विचार कर करते। कर्मकाण्ड का पूरा पालन करते। ये उनकी मर्यादा तथा परम्परा-पालन का प्रतीक है। हां, उन्होंने सर्वत्र प्राचीनता का पालन नहीं किया। दैनिक जीवन में स्नान के पश्चात् सीधे भोजन पर बैठ जाते, ईश्वर भजन या पूजा नहीं करते। हां, दूसरों को कभी रोकते भी नहीं। साधु-समागम भी न करते, पर उनका आदर अवश्य करते। देव प्रतिमाओं के सामने सिर न झुकाते, पर मन में आस्था व श्रद्धा रखते। संध्या, प्रातः नियमित गंगा तट पर घूमने जाते, पर स्नान नहीं करते।

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी (महावीरप्रसाद द्विवेदी) : पृ ११।

२. श्री यज्ञदत्त शुक्ल : व्यक्तित्व दर्शन—आचार्य प्रवर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी : उद्धृत—'त्रिपथगा' दिसम्बर १९५५ : प० ११३।

सम्भवतः स्वास्थ्य इसका कारण हो सकता है; परन्तु यह स्पष्ट है कि उन्हें बाह्य दिखावा या आडम्बर पसन्द नहीं थे।

अन्तःव्यक्तित्व उनका सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल तथा गहन था। नियमबद्धता, नियमितता और अनुशासन ने उनके जीवन को अत्यन्त कठोर, संयमशील और कर्मठ बना दिया था। सत्याग्रह, प्रतिभा और गहन अध्ययन ने उनके स्वाभिमान को जागृत कर दिया था। महावीर की-सी सेवा भावना, लगन, अगाध शक्ति, साहस, निरभिमानता, दृढ़ता आदि गुण, उन्हें अपनी पैतृक धरोहर तथा इष्टदेव के प्रसाद के रूप में प्राप्त थे। सीधा, सरल, स्पष्ट तथा स्वाभाविक व्यवहार उन्हें प्रिय था; इसके विपरीत टेढ़ा एवं आडम्बरपूर्ण जीवन से घृणा थी। शिष्टाचार, विनम्रता, धैर्य और सादगी की वे प्रतिमूर्ति थे। सत्य-निष्ठा और गुण-ग्राहकता उनके जीवन की टेक थी। दान देना उनकी बान थी तथा आत्माभिमान थी उनकी शान। निर्भयता और स्पष्टवादिता उनके रक्त का स्वभाव था। परिश्रम करना ही उनका प्रमुख व्यसन था।

वे गम्भीर तथा शान्त थे; किन्तु उदास और शुष्क नहीं। व्यस्तता तथा नियमितता के प्रति कठोर आग्रह ने जहां उन्हें गम्भीर तथा शान्त बना दिया था, जीवन के प्रति सरसता एवं तरलता ने, उदासी और शुष्कता से उन्हें रहित भी कर दिया था। उनके कठोर अनुशासन, दृढ़ कार्य-परायणता तथा सतत तत्परता की लौह काया में सहृदयता, दया तथा सेवा-भाव की आत्मा पूर्णतः सुरक्षित थी। इस महादुर्धर्ष व्यक्तित्व के दुर्ग में उनके हृदय की कोमल वृत्तियां निश्चित ही स्वच्छन्दता तथा स्वतन्त्रता से पुष्पित तथा फलित होकर लहलहा उठीं। वज्रादपि कठोर, कुसुमादपि सुकुमारता इस महान् युग नायक के व्यक्तित्व के साधारणतः दो रूप हैं। यथार्थतः वे दोनों भिन्न नहीं, अभिन्न हैं। एक ही हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। उनका हृदय उनके शरीर से महान् लगने लगता है।

उनके इन असंख्य गुणों के समक्ष उनका बाह्य विशाल व्यक्तित्व सूक्ष्म-सा लगने लगता है और सुरसा-विजेता महावीर का-सा अन्तःव्यक्तित्व विराट् हो जाता है। उनके दीर्घ क्रियाशील जीवन की असंख्य घटनाएं उनके अन्त.व्यक्तित्व की गाथाएं कहने में सक्षम हैं। अतएव उनका व्यक्तित्व बहिर्मुख न होकर प्रधानतः अन्तर्मुखी ही था। उनकी प्रतिभा सहजा की अपेक्षा अर्जित अधिक थी और उनके अत्यन्त कर्मठ जीवन का प्रतिफल थी। मनसा, वाचा, कर्मणा वे एक थे।

पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की इस विशदता एवं विषमता को सुन्दर शब्दों में विवेचित किया है। 'द्विवेदीजी सचमुच' वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि चरित्रवाले लोकोत्तर पुरुष थे। उच्छृंखलता न उन्हें साहित्य में पसन्द थी, न जीवन में। वे दुष्टों के कट्टर शत्रु थे, बड़े निर्भीक और प्रभावशाली। कर्म-क्षेत्र में वे बराबर वज्र रहे, पर क्षेत्र त्याग के अनन्तर वे बड़े ही कोमल हो गए। ऐसा भासित होता है कि उनकी उग्रता आरोपित थी, वे जान-बूझकर अपने को कड़ा बनाए रखते थे, हृदय से बड़े कोमल थे। जिन द्विवेदीजी ने सम्पादन-काल में पुस्तकों की छोटी-छोटी त्रुटियों के लिए लेखकों और प्रकाशकों को लथेड़ा था, विश्राम-ग्रहण

करने पर उन्होंने सबकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा आरम्भ कर दी। जिसने केवल अपना चित्र छापकर पुस्तक को सचित्र लिखने की धृष्टता करनेवालों को कड़ी ताड़ना दी, जिसने एक फार्म भूल से कम लग जाने के कारण प्रकाशक को बड़ी फटकार बताई, जिसने सजिल्द और अजिल्द दो प्रकार की पुस्तकें निकालकर सम्पादक के पास अजिल्द भेजने वाले की कंजूसी की खबर ली, उस व्यक्ति ने ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे पंच कल्यानी सभी लेखकों की प्रशंसा के पुल बांधना क्यों आरम्भ कर दिया। पहले वे सम्पादक थे, उग्रता का बाना त्यागकर उन्होंने अपनी प्रकृतिस्थ कोमलता ऊपर की।"[1]

"देश के अनेक बड़े-बड़े नेताओं का निकट से अध्ययन करने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हो चुका है, और वह बिना किसी संकोच के कह सकता है कि पूज्य द्विवेदीजी से बढ़कर उच्चकोटि का मनुष्य उसे हिन्दी-साहित्य-सेवी-समाज में अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। द्विवेदीजी की विद्वता अथवा लेखन-शैली की आलोचना करने का मुझे अधिकार नहीं। उनके सब ग्रन्थों को मैंने पढ़ा भी नहीं, और उन पर सम्मति देना तो मेरे लिए पूर्ण अनधिकार चेष्टा होगी, पर मनुष्यता की दृष्टि से इतना मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूं कि द्विवेदीजी जितने महान् लेखक हैं, उससे कहीं अधिक बढ़कर वे महापुरुष हैं।"[2]

द्विवेदीजी के उत्कर्ष का मूल मन्त्र संयम था। वे संयम के मूर्तरूप थे। सुख में दुःख में, घर में बाहर, आपत्ति में आनन्द में—सभी जगह संयम उनका साथ देता था। 'सरस्वती' सम्पादन-काल में इसी संयमशीलता के कारण अविचलित रूप से वे हिन्दी की सेवा कर सके। उनकी संयम-प्रियता का प्रतिबिंब, हिन्दी-गद्य में व्याकरण-निर्माण के लिए किये गए अध्यवसाय के रूप में दिखता है। इससे उन्होंने अपने स्वयं के जीवन के अनुसार हिन्दी-गद्य के जीवन को भी संयमित करने का प्रयत्न किया। द्विवेदीजी की संयमित शैली पर उनके व्यक्तित्व के इस अंश का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली में संयम के दर्शन हमें पग-पग पर होते हैं और यही उनकी शैली की विशेषता है। इनके पूर्व हिन्दी के किसी कलाकार में संयम का इतना प्रबल आग्रह नहीं मिलता।

"भाषा-साहित्य का इतना बड़ा पण्डित हिन्दी में, खड़ी बोली के इतिहास में, दूसरा पैदा नहीं हुआ। वे अनेक भाषा-विज्ञ थे। हिन्दी की विशेषता का उन्हें जितना ज्ञान था उतना किसी दूसरे को नहीं। द्विवेदीजी की हिन्दी में ऐसी छाप नहीं पड़ती, जिससे कोई आलोचक उन्हें किसी दूसरी जबान से प्रभावित कहे। हिन्दी के अच्छे-से-अच्छे और लेखकों पर दूसरी भाषा और शैली का पड़ा हुआ प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाता है।[3] द्विवेदीजी के पाण्डित्य की महत्ता और मौलिकता असंदिग्ध है। उनके विरोधी भी उनके प्रसंशक थे।" आप विद्या में गुरु बृहस्पति, स्नेह में ज्येष्ठ भ्राता तथा करुणा में बुद्ध के सदृश हैं।[4] एक दीर्घ संघर्ष के बाद हिन्दी के प्रौढ़ आलोचक, 'भारत-मित्र'

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० २५।
२. बनारसीदास चतुर्वेदी : संस्मरण : (द्विवेदीजी के साथ चार दिन) : पृ० ९९।
३. दुलारेलाल भार्गव : 'सुधा' (सम्पादकीय विचार) : वर्ष ८, खण्ड १, संख्या ४ : पृ० ३४४।
४. द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ : पृ० ५३२।

सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त के द्विवेदीजी के प्रति ये शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

"द्विवेदीजी के व्यक्तित्व से सम्बद्ध उनकी धारणाओं, विचारों, भावों, अनुभूतियों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं अन्यान्य संस्कारों का प्रभाव उनके आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, जीवन-दर्शन एवं अन्ततोगत्वा उनकी भाषा-शैली पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'व्यक्तित्व ही शैली है,' इस सत्य का प्रतिपादन उनके व्यक्तित्व एवं शैली के गम्भीर अध्ययन से हो जाता है।"

कृतित्व

भारतेन्दु के अस्त होने के पश्चात्, अराजकता-काल वस्तुतः प्रतिभाओं के संघर्ष का काल एवं नेतृत्व के लिए परीक्षण की घड़ियां थीं, जिसमें सफल होकर हिन्दी के प्रथम आचार्य के रूप में द्विवेदीजी ने युग का नेतृत्व अंगीकृत किया और अपने समकालीन साहित्य-सेवियों का मार्ग-दर्शन तथा अनुशासन किया। उनके पूर्व यद्यपि भारतेन्दुजी युग-नेतृत्व कर चुके थे; परन्तु उनका सम्बन्ध समकालीनों से मित्रवत् था। द्विवेदीजी ने आचार्य और गुरु की तरह दृढ़ता एवं चतुर लोकनायक की तरह दूर-दर्शिता से युग पर शासन किया। उनका कार्य भी भारतेन्दु की अपेक्षा अधिक जटिल तथा विषम था। इस समय हिन्दी का प्रचार-प्रसार इतना अधिक हो गया था कि उसके सुधार तथा सजावट के लिए न केवल, बहुमुखी प्रतिभा, श्रम एवं चातुर्य ही अपेक्षित थे वरन् नीर-क्षीर, विवेक, दृढ़ता एवं संयम भी आवश्यक थे। द्विवेदीजी भारतेन्दु की मार्ग-विधायक शक्ति के सूत्र को लेकर आगे बढ़े। हिन्दी के साहित्य-क्षितिज पर उदित इस अप्रतिभ विभूति ने अपनी विभा से सम्पूर्ण साहित्य-जगत् को आलोकित कर दिया। अथवा द्विवेदी के ऋतुराज सम आगमन से हिन्दी के साहित्य-कानन में नव-बहार आ गई। सुरभि समीर से मस्त हो अनेकों सुहृदयों के सुमनों में प्रेम-पराग स्फुटित हुआ, नवीन विचार-कलिकाएं खिलीं, भाव-प्रसून मुस्कराये और अनेकों नये विषयों की लताएं तथा शाखाएं हरी-भरी हो चलीं। यद्यपि उन्होंने साहित्य के दोनों रूपों—गद्य तथा पद्य—का मार्ग-दर्शन किया; परन्तु गद्य में एतर क्षेत्रों की अपेक्षा, उनका सूत्र-संचालन अधिक दृढ़ और महत्त्वपूर्ण है। "उन्होंने हिंदी के गद्य और पद्य के विकास में जो शक्ति दी है, वह हिम शेखर शिखरों की नदी की तरह सदा प्रवाहिणी रहने वाली है। आज जो अनेक रूपों में हिंदी की आत्मा खुलती हुई देख पड़ती है, उसके मूल में आचार्य द्विवेदीजी की ही अपार साधना है। उन्हें यथेष्ट सम्मान प्राप्त हुआ है, पर श्रम व साधना के विचार से बहुत कम। भाषा के रूप परिष्कार में जो विज्ञता की वह संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारों द्वारा ही सम्भव हुआ है।"[1]

"भाषा के परिष्कार में द्विवेदीजी ने जैसा काम किया वैसा काम एक ही व्यक्ति ने किसी भाषा में न किया होगा। जितना युद्ध उन्होंने अकेले शरीर से किया, उतना किसी हिंदी के महारथी ने न किया होगा। हिंदी की इतनी अधिक उन्नति का सबसे

१. दुलारेलाल भार्गव : 'सुधा' (सम्पादकीय विचार) : वर्ष ८, खण्ड १, संख्या ४ : पृ० ३४४।

अधिक श्रेय उसी महावीर को है। जिस समय उन्होंने अपनी लेखनी उठाई थी उस समय हिंदी 'स्टुपिड हिंदी' कही जाती थी। क्या आज किसी की हिम्मत है कि वह हिंदी को इन शब्दों में सम्बोधित कर सके।"[१] "विगत तीस वर्षों का हिन्दी-साहित्य का इतिहास श्रद्धेय पण्डितजी की कीर्ति-कौमुदी से ही आलोकित है। इस इतिहास-मन्दिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्हीं की साहित्य-सेवा है। स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर शर्मा ने जिस 'सरस्वती' की महावीरता का गुणगान किया था, उसे हटा दीजिए तो पहले पन्द्रह वर्षों का इतिहास शून्य मात्र रह जाता है और पिछले पन्द्रह वर्षों का बिल्कुल लचर।"[२] "हिन्दी के जिन भक्त प्रेमियों को उसके बीसवीं सदी के इन प्रारम्भिक तीन दशकों के नवजीवन पूर्ण इतिहास का समुचित ज्ञान है, उनको द्विवेदीजी के महान् कर्तृत्व का भी वैसा ही ज्ञान है।"[३] "यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य दिखलाकर कह सकता हूं कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिन्दी-साहित्य गगन में सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। परन्तु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा-भरा करने वालों में द्विवेदीजी की ही गणना होगी।"[४] सारांश यह है कि जिस शैली के गद्य को द्विवेदीजी ने अपनाया है उसमें प्रसाद, ओज, सामंजस्य, प्रतिपक्षता, बहुभाषिता तथा व्यंग्य के साथ सजीवता अथवा यह कहिये कि स्पष्टता (Correctness) भी रहती है।[५]

द्विवेदीजी का सरस्वती-सम्पादन-कार्य

आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती-सम्पादन-कार्य हाथ में लेने के पूर्व लगभग १६-१७ वर्ष से साहित्य-सेवा प्रारम्भ की थी, और लगभग १८ वर्ष तक सम्पादन-कार्य करने के पश्चात् सन् १९३० तक भी वृद्धावस्था में कुछ न कुछ साहित्य-सेवा करते ही रहे हैं। इस प्रकार से उन्होंने लगभग ४० वर्षों से अधिक साहित्य-सृजन किया है। इस दीर्घ कालावधि में भी उनका 'सरस्वती-सम्पादन-काल' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि कई आलोचकों एवं इतिहास लेखकों ने केवल उनके सरस्वती-सम्पादन-काल को ही द्विवेदी-युग की संज्ञा दी है।[६] इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कालावधि में उन्होंने अत्यधिक श्रम से सम्पूर्ण शक्ति-सहित हिन्दी की सेवा की

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० २३।
२. रामदास गौड़ : द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ (हिन्दी गद्य-शैली पर प्रभाव तथा दान) : पृ० ५२२।
३. देवीदत्त शुक्ल 'सरस्वती-सम्पादक' —वही— पृ० ५३९।
४. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी —वही— पृ० ५३८।
५. रमाकान्त त्रिपाठी : हिन्दी-गद्य-मीमांसा : पृ० २४१।
६. (क) रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ६००।
(ख) डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० २६४।
(ग) आचार्य चतुरसेन शास्त्री : हिन्दी-भाषा और साहित्य का इतिहास : पृ० ५१८।

है। उन्होंने १ जनवरी, १९१० के 'सरस्वती सम्पादकीय' में स्वयं स्वीकार किया है कि ५०-६० पृष्ठों की मासिक पत्रिका के ४०-५० पृष्ठ उन्हें जूही के मैदान में रहकर लिखने पड़े हैं। एक वार को छोड़कर कभी विलंब से प्रकाशन नहीं, कभी छुट्टी-अवकाश नहीं। यह कार्य वास्तव में 'बड़े परिश्रम और बड़ी जां फिशानी' का था, शारीरिक शक्ति के बाहर। 'सरस्वती' की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक इन तीन-तीन संस्थाओं के संचालक का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया।[1]

सरस्वती प्रकाशन के पूर्व तथा द्विवेदीजी के कार्य-क्षेत्र में पदार्पण के समय **कलकत्ता** से 'भारत मित्र', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'हितवार्त्ता'; **बंबई**—'श्री वैंकटेश्वर समाचार'; **पटना**—'बिहार-बन्धु'; **बनारस**—भारत जीवन; ये ही प्रमुख साप्ताहिक थे। राजा रामपालसिंह कालाकांकर से हिन्दी का एकमात्र दैनिक 'हिन्दुस्थान' निकालते थे। **प्रयाग** से भट्टजी का 'हिन्दी-प्रदीप'; **बिलासपुर**—'छत्तीसगढ़-मित्र'; हिन्दी की साहित्यिक मासिक पत्रिकाएं थीं।[2] हिन्दी की आन्तरिक दशा अच्छी नहीं होने के कारण न उसकी ओर विशेष जन-रुचि ही थी और न उसमें अच्छे लेखक। हिन्दी क्षेत्र के अनेक अच्छे विद्वान् उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि में ही लिखते थे। विदेशी भाषी विद्वान् रायबहादुर लाला बैजनाथ ने 'विधवा विवाह' पुस्तक प्रथम हिन्दी में लिखी, पर उसकी प्रतियां नहीं बिकीं और वही उर्दू की पुस्तक के दो संस्करण बिक गये। अतः वह उर्दू में ही लिखने लगे थे।[3]

नये लेखकों का आह्वान

हिन्दी की यही सामान्य दशा थी। 'सरस्वती' के सम्पादन के प्रथम वर्ष में, अच्छे लेखों के अभाव में पं० गिरजादत्त वाजपेयी के अतिरिक्त, शेष सब लेख द्विवेदी जी की कलम के थे। उन्होंने सरस्वती की दूसरी-तीसरी संयुक्त संख्या में "हिन्दी-भाषा और साहित्य" लेख लिखकर काशी विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों को कड़ा उलाहना दिया। उसमें महामना मालवीयजी को भी नहीं छोड़ा गया और सबसे हिन्दी में लिखने व लिखवाने का अनुरोध किया गया। प्रथम वर्ष में ही व्यंग्य चित्रों के द्वारा हिन्दी के तात्कालिक साहित्य की अपने ढंग की निराली आलोचना की। 'साहित्य-सभा', 'शूर-समालोचक', 'नायिका भेद का पुरस्कार', 'कला सर्वत्र सम्पादक', 'मातृ-भाषा का सत्कार', 'रीडर लेखक और हिन्दी', 'काशी-साहित्य-सभा', 'चातकी चरम लीला' आदि समीक्षाएँ व्यंग्य चित्रों में कीं, जिनका प्रभाव बहुत गहरा हुआ। अनुरोध, प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर हिन्दी में लेखकों की संख्या बढ़ी। देश और विदेश के योग्य व्यक्तियों को चुनकर व्यक्तिगत रूप से भी आह्वान किया गया। इनमें **अमेरिका** से स्वामी सत्यदेव, परिव्राजक भोलानाथ पांडे और राजकुमार खेमका;

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी: हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी (महावीरप्रसाद द्विवेदी) : पृ० ४।
२. द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ : पृ० ५२२।
३. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : पृ० ५२२।

इंग्लैंड से सन्त निहालसिंह, सुन्दरलाल, कृष्णकुमार माथुर; फ्रांस से बेनीप्रसाद शुक्ल तथा देश में रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, कामताप्रसाद गुरु, विश्म्भरनाथ शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, देवीदत्त शुक्ल, गंगानाथ झा, लक्ष्मीधर वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरणसिंह आदि को हिन्दी के क्षेत्र में आमन्त्रित किया और लिखवाया। जिन्होंने उन्हें उत्तर दिया कि "मुझे तो हिन्दी आती नहीं।" उनसे भी उन्होंने पुनः बलपूर्वक आग्रह किया और कहा—"तो क्या हुआ आ जायेगी।" द्विवेदीजी की निगाह में जहाँ कोई अच्छा लेख आता वे उसके लेखक का पता लगाकर उसे प्रोत्साहित करते थे। इतना ही नहीं, यह कार्य तो वे 'सरस्वती' के कार्य से मुक्ति पाने पर भी करते रहे। कालीदास कपूर, राजबहादुर लंगोड़ा, जगदम्बाप्रसाद हितैषी, ज्योतिप्रसाद निर्मल, पं० सुन्दरलाल, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीराम शर्मा, रामदास गौड़, रायसाहब छोटेलाल बार्हस्थत्य आदि को द्विवेदी जी ने समय-समय पर पत्र भेजकर उत्साहित किया है। सुविधा पाकर लेखकों के घर तक जाने से वे नहीं चूके हैं। प्रोत्साहन देने में तो वे मानो कि हिन्दी के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ही थे। उन्होंने भी हिन्दी में कितने ही रमेशचन्द्र दत्त पैदा किये।[1] इस प्रकार उनके द्वारा सैकड़ों की संख्या में लेखकों व कवियों की फौज खड़ी हो गई।[2]

द्विवेदीजी में प्रेरणा-शक्ति अद्वितीय थी। उनके आग्रह को टालना सरल कार्य नहीं था। वे जिस ढंग से हिन्दी की सेवा कार्य के लिए नये लेखकों को प्रेरित करते, पुरानों को आश्वस्त करते तथा अभावों का संकेत करते थे, वह बहुत मर्मस्पर्शी होता था। जैसे—'आइए, तब तक हमीं लोग, अपनी अल्प शक्ति के अनुसार, कुछ विशेषत्वपूर्ण काम कर दिखाने की चेष्टा करें। 'हमीं' से मेरा मतलब, शिक्षितों के मतानुसार, उन अल्पज्ञ और अल्प शिक्षित जनों से है जो, इस समय, हिन्दी के साहित्य-सेवियों में गिने जाते हैं और जिसमें मैं अपने को सबसे निकृष्ट समझता हूं। पिछले साहित्य-सम्मेलन ने क्या काम किया और क्या न किया, इस पर विचार करने की यहाँ, इस लेख में, आवश्यकता नहीं। उसकी तो रिपोर्ट भी छपकर अब तक प्रकाशित नहीं हुई। आवश्यकता इस समय हिन्दी में थोड़ी-सी अच्छी-अच्छी पुस्तकों की है। विभक्तियाँ मिलाकर लिखी जानी चाहिएं या अलग-अलग; पाई, गई और आई आदि शब्दों में केवल ई-स्वर लिखना चाहिए या ई युक्त यकार; पर सवर्ण सम्बन्धी नियम का पालन करना चाहिए या केवल अनुस्वार से काम निकाल लेना चाहिये—ये तथा और भी ऐसे ही अनेक बातों पर विचार करने की भी आवश्यकता है। परन्तु तदपेक्षा अधिक आवश्यकता उपयोगी विषयों की कुछ पुस्तकें लिखने की है। आइए, हम लोग मिलकर भिन्न-भिन्न विषयों की एक-एक पुस्तक लिखने का भार अपने ऊपर ले लें; और एक वर्ष बाद, उसकी छपी हुई या हस्तलिखित कापी अगले सम्मेलन में उपस्थित करके यह दिखला दें कि अपनी मातृ-भाषा हिन्दी पर हमारा कितना प्रेम है और उसकी

१. देवीदत्त शुक्ल : बाल-द्विवेदी : पृ० ४१।
२. —वही— : पृ० ४२।

सेवा करना हम कहाँ तक अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अल्पज्ञता के कारण, हमसे यह काम उतना अच्छा न हो सकेगा जितना अच्छा कि संस्कृत और अंग्रेजी के पारंगत विद्वानों से हो सकता है। परन्तु इसके लिए हमें दोष नहीं दिया जा सकता। मुझे आशा है कि हमारी दोषपूर्ण रचनाओं को देखकर स्तन्यपान के समय अपनी प्यारी माँ से सीखी हुई भाषा की दुर्दशा को देखकर अंग्रेजी और संस्कृत के हिन्दी भाषा-भाषी विद्वानों को हम पर और हम पर नहीं तो अपनी मातृ-भाषा पर, अवश्य दया आवेगी और वे अवश्य ही उसके उद्धार का कार्य आरम्भ कर देंगे। बस, मुझे अब इतनी ही प्रार्थना करनी है—

अयुक्तमस्मिन्यदि किंचि दुक्तम ज्ञान तौ वा मतिविभ्रमाद्वा।
औदार्य-का-रुण्य विशुद्ध धीभिर्मनीषिभिस्त त्यरिमार्जनीयम ।।[1]

इस प्रकार से द्विवेदीजी ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक हिन्दी के स्थायी कोश की वृद्धि के लिए विभिन्न ढंगों से देशी और विदेशी विद्वानों को प्रेरित किया। उनके 'मिशन' की पूर्ति में 'सरस्वती' सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुई। उसने द्विवेदीजी की शक्ति को अनन्त गुना बढ़ा दिया। 'सरस्वती' विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका अधिक थी। द्विवेदीजी के सम्पादक होने के पूर्व ही हिन्दी में जो अव्यवस्था, अस्थिरता और अराजकता फैली थी, उसमें द्विवेदीजी के आह्वान पर जो नये लेखक उत्पन्न हो गए थे, उन्होंने भी अराजकता में कुछ वृद्धि की। द्विवेदीजी ने तो इस सिर-दर्द को स्वयं मोल लिया था। अतः, सर्वप्रथम उन्होंने आलोचना की अपनी दुर्धर्ष शक्ति को भाषा को परिष्कृत, परिमार्जित, व्याकरण-सम्मत तथा सुगठित करने में लगाया। विशेषतः 'भारतेन्दु-युग' की बाढ़ को स्थिर गति पर लाने में द्विवेदीजी ने साधना की थी। भाषा-सम्बन्धी जितना भी लचरपन उनके सामने आया, उसकी उन्होंने अच्छी खोज-खबर ली। जहाँ एक ओर वे नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन देकर निर्माण-कार्य में लगाने की चेष्टा करते रहते थे, वहीं दूसरी ओर उनको रचना के समस्त दोषों से बचाने के लिये, कठोर नियन्त्रण और आलोचना भी करते रहे।[2] उनकी आलोचना नश्तर का काम करती थी। दुर्भाग्यवश उस समय हिन्दी के पास अच्छा शब्द-कोश, व्याकरण अथवा मान्य कसौटी आदि कुछ न थे। बड़े-बड़े लेखक और कवि भी अशुद्ध लिखते थे। द्विवेदीजी स्वयं जो लिखते थे या सम्पादित करते थे, अत्यन्त सावधानी के साथ करते थे। उनका लक्ष्य बहुधा भाषा की शुद्धि की ओर रहता था। छोटे-छोटे प्रयोगों पर भी लम्बी चर्चाएँ होती थीं, तब कोई रूप स्वीकार किया जाता था। "भाषा के परिष्कार में द्विवेदीजी ने जैसा काम किया वैसा काम एक ही व्यक्ति ने किसी भाषा में नहीं किया होगा। जितना युद्ध उन्होंने अकेले शरीर से किया, उतना किसी हिन्दी के महारथी ने न किया होगा।[3] यह निश्चय है कि उनके अथक

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : (द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग) संवत् १९६९, कार्य-विवरण भाग २ : पृ० १५८ ।

२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता : पृ० ५ ।

३. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० २३ ।

परिश्रम के बिना हिन्दी के लिए जन-सुलभ, सामान्य, जातीय-शैली का विकास करना असम्भव था।"[१] उनके परिश्रम की प्रामाणिकता, कर्त्तव्य के प्रति सजगता तथा अनुशासन में दृढ़ता का ज्वलंत उदाहरण यही है कि वे बी० ए०, एम० ए० की कौन कहे पी-एच० डी० डिग्रीधारी महोदय को लिख सके "सम्पादन के सम्बन्ध में मैं किसी की कोई शर्त्त स्वीकार नहीं कर सकता।"[२] सम्पादक द्विवेदी के चार आदर्श थे—(१) पाठकों के हानि-लाभ का ध्यान, (२) न्याय पथ से विचलित न होना, (३) मालिक का विश्वास भाजन होना, तथा (४) समय की पाबन्दी।[३] इन्हीं आदर्शों की रक्षा में, उन्हें बहुत संघर्ष करने पड़े।

संघर्ष

द्विवेदीजी का सरस्वती-सम्पादन का प्रथम दशक, विशेषतः गद्य-संस्कार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्हें दूसरे साहित्यिक महारथियों जैसे बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि लोगों से संघर्ष करने पड़े। वास्तव में द्विवेदी-युग को साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।[४] उनकी इस कठोर साधना और तपस्या का ही परिणाम है कि वे हिन्दी के प्रथम आचार्य के रूप में अजर-अमर हुए। "संसार के आधुनिक साहित्य में यह एक अद्भुत-सी बात है कि एक आदमी साहित्य का सृष्ट अपने 'क्या' नहीं, 'कैसे' के बल पर हो गया।"[५]

सम्पादन-काल के दूसरे ही वर्ष द्विवेदीजी ने नवम्बर सन् १९०५ की 'सरस्वती' में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखकर भारतेन्दु से लेकर तात्कालिक बहुत से लेखकों की, व्याकरण सम्बन्धी भूलें उदाहरण और कारण सहित उद्धृत कर आलोचना की और लिखा कि इन्हीं भयंकर भूलों के कारण हिन्दी की उन्नति में बाधा हुई तथा भाषा में 'अनस्थिरता'[६] आई है। 'भारत-मित्र' के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी उसमें न बच सके और द्विवेदीजी द्वारा प्रयुक्त अनस्थिरता शब्द को लेकर उनकी परिहास-सिद्ध शैली में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से एक लेख-माला दस संख्याओं में छद्म नाम 'आत्माराम' से निकाली और द्विवेदीजी पर असम्बद्ध आक्षेप किये। द्विवेदीजी ने एक ओर उनका तर्कपूर्ण उत्तर 'सरस्वती' में दिया। 'अनस्थिरता' शब्द का अनगिनत अनबन, अनबोला, अनमेल आदि से मेल बताया और दूसरी ओर 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' और 'टेसू की टांग' कविताएँ भी लिखीं। प्रसिद्ध विद्वान् पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

१. हिन्दी-साहित्य की कहानी : डॉ० रामरतन भटनागर।
२. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : पृ० ५४३।
३. 'साहित्य-सन्देश' (आत्म निवेदन) : अप्रैल १९३९।
४. द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रस्तावना : पृ० ७।
५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य-सन्देश—भाग २, अंक ८ : पृ० ३१८।
६. सरस्वती—भाग ६ सं० ११ : पृ० ४२५।

ने द्विवेदीजी के पक्ष को उचित ठहराया और 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक से गुप्त जी का प्रतिवाद किया। विवाद में सौजन्यता और व्यावहारिक शिष्टता भी नहीं रही। वास्तव में यह टक्कर एक शब्द को ही लेकर न थी, वरन् यह दो शैलियों तथा दृष्टिकोण का अन्तर था।[1]

वे एक संघर्ष से मुक्त हो ही न सके थे, कि बीच में ही काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा से भिड़ना पड़ा। एकनिष्ठ कर्त्तव्य-परायण सम्पादक के रूप में उन्होंने अक्तूबर १९०४ की 'सरस्वती' में 'सभा' द्वारा की गई हिन्दी-पुस्तकों की खोज रिपोर्ट की आलोचना कर रिपोर्ट के दोष बताये। यद्यपि द्विवेदीजी उक्त सभा के १९०० ई० से ही सदस्य थे और उसके साथ उनके बहुत अच्छे सम्बन्ध थे; परन्तु कर्त्तव्य-पालन में मित्रता और पक्षपात वे नहीं कर सकते थे। फलतः, उन्हें 'सभा' के 'सरस्वती अनुमोदन' से भी हाथ धोना पड़ा। सभा-सूत्रधार बाबू श्यामसुन्दर दास को, जिन्होंने द्विवेदीजी का विरोध 'भारत-मित्र' के द्वारा किया, 'कौटिल्य-कुठार' निबन्ध से समुचित उत्तर दिया। जून १९०७ में यह संघर्ष द्विवेदीजी की विजय में समाप्त हुआ। हिन्दी में लिंग भेद का निर्णय करने पर भी कई बार छोटे-छोटे विवाद चलते गये।

द्विवेदीजी के इन साहित्यिक विवादों ने हिन्दी जगत को बहुत सजग कर दिया था। 'शेष' शब्द पर मतैक्य नहीं था। इसके अर्थ को लेकर बालमुकुन्द गुप्त सम्पादक 'भारत-मित्र' तथा पं० लज्जाराम मेहता, सम्पादक "वैंकटेश्वर समाचार" में विवाद चला। इन दिनों भाषा तथा व्याकरण की विविध समस्याओं को लेकर छोटे-मोटे अनेक विवाद चले। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथा बड़ा विवाद विभक्तियों को मूल शब्द से सटाकर या हटाकर लिखने के प्रश्न पर सन् १९०९ में चला। सटाऊवाद के समर्थक संस्कृत-सिद्धान्त के अनुयायी पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा अमृतलाल चक्रवर्ती थे; तथा हटाऊ-वादियों में प्रमुख थे रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, भगवानदास हालना आदि। द्विवेदीजी विभक्तियों को हटाकर लिखने के पक्ष में थे, फिर भी उनका मत सुविधा-नुसार सटा या हटाकर लिखने का था। नागरी-प्रचारिणी सभा का भी यही मत था, अर्थात् सर्वनामों में सटाकर तथा संज्ञाओं में हटाकर लगाना उचित समझा गया था। तात्पर्य यह है कि अस्थिरता या अनस्थिरता अथवा हटाऊवाद या सटाऊवाद की ध्वजा-पताकाओं के सहित, हिन्दी के महारथियों के अनेक कलम-युद्ध हुए जो कि असि-युद्ध से किसी भी भाँति कम नहीं थे। इन संघर्षों ने हिन्दी के लेखकों की प्रमाद निद्रा भंग कर दी। उनके कान खड़े हो गये। निःसन्देह शब्दों के इन सागर-मन्थनों में अनेकों रत्नों की प्राप्ति हुई। इन दीर्घ मन्थनों के मेरुदण्ड आचार्य द्विवेदी ही थे। उन अस्थायी, अप्रिय घटनाओं से हमारी भाषा की वैसे ही एक स्थायी सुष्ठ विशेषता बन गई जैसे कीचड़ से कमल खिलता है।[2] युगारम्भ में जो 'जल्दी काम सस्ता दाम' की कहावत चरितार्थ हो गई थी। नये-नये हिन्दी प्रेमियों के मारे हिन्दी की दुर्दशा होने लगी थी

१. डॉ० रामविलास शर्मा : लोक-जीवन और साहित्य : पृ० १६५।

२. श्यामसुन्दर दास तथा रामकृष्ण दास : द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ : प्रस्तावना : पृ० ७।

और व्याकरण एकान्त में पड़ा कराह रहा था। उन सबकी देख-भाल की जाने लगी। भाषा में अस्थिरता और उच्छृङ्खलता क्रमशः घटने लगी तथा व्याकरण की रक्षा से भाषा का सौष्ठव बढ़ने लगा।

सच तो यह है कि उस समय तक हिन्दी का अपना सर्वमान्य व्याकरण ही न था। इसकी पूर्ति के प्रयत्न हो रहे थे। 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' की स्थापना (१८९३ ई०) के दूसरे ही वर्ष ५०० रु० के पुरस्कार की घोषणा के द्वारा उत्तम व्याकरण तैयार कराने का कार्य हो रहा था और उसके लिए एक समिति भी गठित की गई थी। अब हिन्दी का प्रथम शब्द-कोश भी १९०७ में बनाने का निश्चय किया गया। अतः, हिन्दी-व्याकरण तथा शब्द-कोश के अभाव में द्विवेदीजी का भाषा-संस्कार कार्य बहुत कठिन था। उनका मत था कि "आहार विहार के परिणाम को परिमित रखने और आरोग्य-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन न करने से आदमी अधिक समय तक जीता रहता है; अल्पायु नहीं होता। इसी तरह व्याकरण के नियमों से भाषा के कलेवर को दृढ़ करने से उसका भी आयुबल बढ़ जाता है।"[1]

सम्पादन-कार्य की विकटता

द्विवेदीजी के सम्पादन का अध्ययन करने के लिए 'सरस्वती' के प्रकाशित अंक उतने लाभदायक तथा सहायक नहीं हो सकते, जितनी कि अन्य हस्तलिखित रचनाएँ हैं। लेखकों की रचनाओं पर द्विवेदीजी का कलापूर्ण स्पर्श हुआ, जिसने कि उन रचनाओं में प्राणों का संचार कर दिया। अनेक स्थलों पर तो मूल लेखक का ही व्यक्तित्व तिरोहित हो गया। कई बार उन्हें अत्यधिक कठोर बनकर लेखकों की रचनाओं का तिरस्कार भी करना पड़ा अथवा उनके कोप का भाजन भी होना पड़ा है। इसका ज्ञान भी उसी हस्तलिखित सामग्री के पर्यालोचन से हो सकता है। सौभाग्य से वह सब सामग्री 'काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा' के संग्रहालय में सुरक्षित है।

दीनजी ने अपनी रचना अस्वीकृत होने पर उन्हें लिखा था—"यथोचित पहुँचे। नवम्बर मास की 'सरस्वती' आप ही ने सम्पादित की है कि किसी दूसरे से भाड़े पर सम्पादित कराई है। इसी विद्वता के घमण्ड में आकर हमारी काव्य दूषित कहकर लौटा दी थी। जिन श्रीधर पाठक की आपने श्रीधर सप्तक में बड़ी तारीफ हांकी है और श्री जयदेव व किन्नरेश का अवतार बताया है यदि यह उन्हीं श्रीधर की काव्य है तो मालूम हो गया कि आपने और पाठकजी ने हिन्दी को हलाल करने का बीरा उठाया है।[2]

त्रुटि सुधार कार्य

द्विवेदीजी ने सामग्री संशोधन में बहुत श्रम किया है। कई बार तो वस्तु को

---

१. वाग्विलास : (भाषा व्याकरण) : फरवरी, १९०६ : पृ० ८१।

२. भगवानदीन, सेकेण्ड मास्टर, छत्रपुर : पत्र—२४ नवम्बर १९०३ (हस्तलिखित) (काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के पास सुरक्षित)

बिल्कुल नया रूप दे दिया है। यथा—

मूल—

एक पुराने बुड्ढे पंडित और उनकी युवा पत्नी

पंडितजी की अवस्था करीब ४५ वर्ष की है और स्त्री की २० वर्ष। पंडित जी बहुत विद्वान् मनुष्य हैं। और पुस्तकें लिखी हैं। सप्ताह में दो एक दिन उन्होंने समाचार या मासिक पत्रों के लिये लेख लिखने को नियत कर लिया। और पंडितजी ने हमसे कहा कि इन्हीं दिनों में विशेषकर जब वह कुछ लिखते होते हैं तो उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती है। यह पंडितानी स्वरूपवान हैं और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं और वयस में बहुत कम है। —गिरजादत्त वाजपेई

नवीन रूप— पण्डित और पण्डितानी

पंडितजी की अवस्था करीब ४५ वर्ष की है और उनकी पत्नी की २० वर्ष की। पंडितजी अंग्रेजी और संस्कृत दोनों में विद्वान् हैं और कई पुस्तकें लिख चुके हैं। सप्ताह में दो-एक दिन उन्होंने समाचार-पत्र और मासिक पुस्तकों के लिये लेख लिखने को नियत कर लिया है। विशेषकर इन्हीं दिनों में अर्थात् जब वे कुछ लिखते होते हैं तब उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती हैं। पंडितानी स्वरूपवती हैं और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं, उमर में बहुत कम हैं ही।[1]

जनवरी १९०३—गिरजादत्त वाजपेयी

शीर्षक— **मूल**—'मेरा विदेशानुभव'

सुधार—नई दुनिया संबंधिनी रामकहानी[2]

मूल—जब से मैं अमरीका आया हूं मैंने अपना कायदा ऐसा रखा है कि यूनिवर्सिटी का साल पूरा होने तक मेरे पास कुछ न कुछ रुपया अवश्य ही बचा रहे ताकि मजदूरी ढूंढ़ने के समय तक खाने के लिये काफी हो।[3]

सुधार—जब से मैं अमेरिका आया हूं मैं इस तरह रहता हूं कि विश्वविद्यालय का साल पूरा होने तक मेरे पास कुछ न कुछ रुपया अवश्य ही बच रहे जिसमें मजदूरी ढूंढ़ने के समय खाने-पीने के लिए कष्ट न हो।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने द्विवेदीजी की पत्रकारिता के सम्बन्ध में लिखा है—"उन्होंने मेरे पद्य 'सरस्वती' में छाप तो दिये, परन्तु उनमें इतने संशोधन हुए थे कि वस्तुत: वे उन्हीं के हो गये थे। उन्होंने मुझे लिखा भी था, आपने इन्हें थोड़े समय में लिखा होगा; पर इन्हें ठीक करने में हमें तीन-चार घंटे लग गये।"[4]

द्विवेदीजी का संशोधन-निर्देशक तत्त्व उन्हीं के शब्दों में यह है—"संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहुसंख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि

---

१. हस्तलिखित सामग्री (काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के पास सुरक्षित)।
२. भोलानाथ पांडे (अमेरिका) : सरस्वती, दिसम्बर १९०९ (हस्तलिखित)।
३. सत्यदेव : 'सरस्वती' (मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ) सितम्बर १९०९ (हस्तलिखित)
४. उद्धृत—बालमुकुन्द गुप्त : स्मारक ग्रन्थ : पृ० ३४३।

यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।"[1]

द्विवेदीजी की इस सतर्कता और तत्परता का शुभ परिणाम धीरे-धीरे दृष्टि-गोचर होने लगा। दूसरे नये ही नहीं, पुराने लेखक भी उनकी भाषा-शैली आदि को ध्यान में रखकर, सोच-समझकर अपनाने लगे। कुछ ही वर्षों में 'द्विवेदी' शब्द व्यक्ति-वाची न होकर हिन्दी के क्षेत्र में सम्प्रदाय या स्कूल-वाचक हो गया। 'महावीरी या द्विवेदी-हिन्दी' टकसाली बन गई। उनकी शैली का प्रभाव उनके समकालीन लेखकों की शैलियों पर पड़ा। इतना ही नहीं, उनकी शैली का प्रभुत्व हिन्दी में अभी भी थोड़ा बहुत मिलता है। "बहुत थोड़े लोग यह जानते हैं कि आजकल जिस भाषा का वे उपयोग करते हैं उसकी शैली के निर्माण करने का श्रेय अधिक अंशों में, द्विवेदीजी को ही प्राप्त है।"[2] निःसन्देह उन्होंने व्याकरण के व्यतिक्रम तथा भाषा की अस्थिरता को दूर करके हिन्दी-गद्य को नये चौराहे पर खड़ा कर दिया। इससे उसका क्षेत्र विस्तृत हुआ। विषयों की विविधता के साथ शैली की विविधता का प्रादुर्भाव हुआ। उनके पूर्व सम्पादक अपनी रुचि के अनुसार भाषा में अपनी रुचि के विषयों पर लिखते थे, अब सम्पादकों को जन-रुचि पर ध्यान देना पड़ा—स्वरुचि गौण हो गई। अब सम्पादक की भाषा तथा विचारों पर विचार करने का भी कार्य जनता करने लगी।[3] इस कार्य में द्विवेदीजी ने ही प्रथम 'भगीरथ प्रयत्न किया है।' जब उन्होंने हिन्दी की साहित्य-चर्चा छोड़कर लोक-रुचि को उसकी ओर आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त कर ली तब संस्कृत-साहित्य की चर्चा करके उस रुचि को और भी परिष्कृत कर सन् १९१७ से 'सरस्वती' को जो लोकोपयोगी रूप उन्होंने प्रदान किया, वहीं उनकी सम्पादन-कला सम्बन्धी विलक्षणता का सुन्दर दर्शन होता है।[4] संक्षेप में द्विवेदीजी और उनके अनुयायियों का आदर्श समाज में एक सात्विक ज्योति जगाना है।[5]

द्विवेदीजी का भाषा-संस्कार एवं आदर्श

द्विवेदीजी के युग-सूत्र सम्भालने के कुछ ही वर्ष पूर्व, विदेशी भाषा-भाषी विद्वान् जिसे 'मूर्खा-हिन्दी' (स्टुपिड हिन्दी) कह कर पुकारते थे और सोचते थे कि 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।' अतः, सरस्वती के स्वामी ब्रह्माजी को दी गई उस चुनौती को 'सरस्वती' के सेवक द्विवेदीजी ने स्वीकार कर, हिन्दी के प्रथम आचार्य होकर, उसे संस्कृत एवं शिक्षित करके, राष्ट्रभाषा के सर्वोच्च सम्मान के योग्य बना दिया। उन्होंने भाषा का परिमार्जन, स्वरूप-संगठन तथा वैयाकरणी भूलों का

१. उद्धृत—जीवन-स्मृतियां (महावीरप्रसाद द्विवेदी) : सम्पादक क्षेमचन्द्र 'सुमन' : पृ० ४६
२. लल्लीप्रसाद पांडे (निबन्धकार) : द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : पृ० ५४८।
३. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : पृ० ५४८।
४. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : पृ० ५४१।
५. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : प्रस्तावना : पृ० ७।

परिहार करके शुद्ध, व्यावहारिक एवं वैधानिक भाषा की प्राण-प्रतिष्ठा की। वाक्य-रचना, वाक्य-विन्यास, विराम-चिह्नों, प्रघट्टक आदि की हिन्दी में उन्होंने स्थायी व्यवस्था की। उन्होंने भाषा के अन्तर तथा बाह्य स्वरूप में भी एकता लाने का प्रबल प्रयत्न किया। द्विवेदीजी ने अपनी दूर दृष्टि से हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य को देखकर, उसे महान् उत्तरदायित्व के वहन करने योग्य बनाने का संकल्प लिया था। हिन्दी में शब्दाभावों की समस्या को हल करने के लिये संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि के सरल तथा व्यावहारिक शब्दों को स्वीकार किया। उनका मत था कि जब तक बोलचाल की भाषा के शब्द मिलें, संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायं? 'घर' शब्द क्या बुरा है जो गृह लिखा जाय? 'कलम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखा जाय? 'ऊंचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? संस्कृत जानना हम लोगों का जरूरी कर्त्तव्य है। पर इसके मेल से अपनी बोलचाल की हिन्दी को दुर्बोध करना मुनासिब नहीं। पुस्तकें लिखने का सिर्फ इतना ही मतलब होता है कि जो कुछ उनमें लिखा गया है वह पढ़ने वालों की समझ में आ जाय। जितने ही अधिक लोग उन्हें पढ़ेंगे उतना ही अधिक उन्हें लिखने का मतलब सिद्ध होगा। तब क्या जरूरत है कि भाषा क्लिष्ट करके पढ़ने वालों की संख्या कम की जाय? जो संस्कृत भाषा हजारों वर्ष पहले बोली जाती थी उसे मिलाने की कोशिश करके अपनी भाषा के स्वाभाविक विकास को रोकना बुद्धिमानी का काम नहीं। स्वतन्त्रता सबके लिये एक-सी लाभदायक है। कौन ऐसा आदमी है जिसे स्वतन्त्रता प्यारी न हो? फिर क्यों हिन्दी से संस्कृत की पराधीनता भोग कराई जाय? क्यों न वह स्वतंत्र कर दी जाय? संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गये हैं उनका प्रयोग हिन्दी में होना ही चाहिये। ये सब अब हिन्दी के शब्द बन गये हैं। उनसे घृणा करना उचित नहीं।"[१]

द्विवेदीजी संस्कृत के विरोधी कदापि नहीं थे। वे चाहते थे कि संस्कृत शब्द तब लिये जावें जब हिन्दी के अथवा अन्य व्यावहारिक शब्द न मिलें। वे हिन्दी के हिमायती थे और उसे पूर्ण भाषा मानते थे; इससे संस्कृत-फारसी के अस्वाभाविक शब्दों के प्रयोग के विपक्षी थे। शब्दावली की विशुद्धता की दृष्टि से द्विवेदीजी उदार विचार के थे।[२] निःसन्देह कला, विज्ञान, शास्त्र आदि के पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत में देने के विरोधी न थे। वे परिभाषा को भी सरल बनाना चाहते थे। डॉ० ग्रियर्सन के मत से वे पूर्णतः सहमत थे कि हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से न होकर अपभ्रंशों से हुई है। इसी से वे कहते थे कि 'हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार अभी कल से शुरू हुई है।'[३] उन्होंने इसीलिए संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर 'मृदुता' को चाहा, मृदुत्व या मृदुपन को नहीं, 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नाशा' उन्हें पसन्द नहीं। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश अपनाया।[४] इतना ही नहीं गूढ़ तथा कठिन विषयों को

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी भाषा की उत्पत्ति : पृ० ४९-५० ।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी को गद्य-शैली का विकास : पृ० ९८ ।
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी भाषा की उत्पत्ति : पृ० ५४-५५ ।
४. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : प्रस्तावना : पृ० ८ ।

भी उन्होंने सरल, साधु तथा प्रभावमयी भाषा में प्रस्तुत किया। इसी के अनुरूप उनका मत भी था कि "लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिये। उन्हें वागाडम्बर द्वारा पाठकों पर यह प्रगट करने की चेष्टा न करनी चाहिये कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। परन्तु यह गुण नहीं, दोष है।[1]

छोटे-छोटे वाक्यों में बल तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की स्पष्ट अभिव्यंजना द्विवेदीजी के बायें हाथ का खेल था। उनके वाक्यों में ऐसी उठान और प्रगति दिखाई पड़ती थी जिससे भाषा में वही बल प्राप्त होता था जो अभिभाषण में। पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता था। उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते थे कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता था कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा, और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक को अभीष्ट है।[2]

आलोचक द्विवेदीजी

द्विवेदीजी की हिन्दी-सेवाओं का मध्याह्न-काल 'सरस्वती-सम्पादान' काल ही है। उसके माध्यम से उन्होंने प्रधानतः युगानुशासन एवं युग-संचालन किया है। उन्होंने अधिकांश में आलोचनाएं तथा टिप्पणियाँ लिखी हैं। द्विवेदीजी का आलोचक व्यक्तित्व इन टिप्पणियों में अधिक निखरा है। अतः, वे उनकी महान् देन हैं।

वैसे समालोचक के लिए सम्पादक होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है; परन्तु सम्पादक के लिए समालोचना अपेक्षतः स्वाभाविक एवं सुविधा-सम्पन्न अवश्य है। द्विवेदीजी की समालोचनाओं का मूल प्रेरक-स्रोत उनका सम्पादकीय जीवन है। वे 'सरस्वती' के अत्यधिक सजग, सप्राण तथा निर्भीक सम्पादक होने के कारण देश-विदेश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक गति विधियों पर टिप्पणियां करते रहते थे। कर्त्तव्य-पालन तथा परम्परानुसरण के लिए उनके परिवर्तियों ने भी इस प्रकार टिप्पणियां अपने सम्पादकीय लेखों तथा विविध विषयों में की हैं; परन्तु द्विवेदीजी का-सा उद्भट, निर्भीक, एवं पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व उनमें नहीं मिलता है। द्विवेदीजी अपनी ये आलोचनाएं तथा टिप्पणियां गहन चिन्तन, सहृदयता तथा आधार-पुष्टता के साथ प्रस्तुत करते थे। यही कारण है कि वे बड़ी मार्मिक, ठोस और मस्तिष्क उद्वेलक होती थीं।

द्विवेदीजी की समीक्षाएं तथा काव्य विवेचनाएं केवल कर्त्तव्य-पालन के निमित्त नहीं होती थीं। वे सउद्देश्य तथा निर्माणकारी होती थीं। वे उनके द्वारा काव्यकारों का मार्ग-प्रदर्शन भी करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कठोर मर्यादावादी तथा संयमित आलोचक का चोला धारण किया था। द्विवेदीजी की शास्त्रीय आलोचनाओं के पीछे

१. रसज्ञ-रंजन : पृ० १७-१८।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० ९८।

उनकी जीवन-तपस्या थी। वे अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के समर्थकों का जिस गति तथा तत्परता से धन्यवाद नहीं कर पाते थे, उससे वे अधिक प्रखरता और भावावेश से विरोधियों को निष्प्रभ कर सकते थे। अतएव, उनका मण्डन की अपेक्षा खण्डन अधिक सबल और सप्राण होता था। उन्होंने नये और अधकचरे लेखकों की आलोचना ही प्रखरता से नहीं की, वरन् महाकवि कालिदास के दोषों का भी निर्भीकता से उद्घाटन किया। उनकी दोषानुवेषण दृष्टि बहुत सूक्ष्म और प्रबल थी, इसीलिए वे आदर्श और मर्यादित साहित्य की वृद्धि कर सके, तथा तात्कालिक परिस्थिति में प्रौढ़ तथा व्याकरण-सम्मत व्यावहारिक भाषा का शिलान्यास कर सके।

हिन्दी-समीक्षकों की परम्परा में द्विवेदीजी का अक्षुण्य स्थान है। उन्होंने ही वास्तव में हिन्दी की प्रौढ़ समालोचना का श्रीगणेश किया है। पुस्तकाकार में आलोचना करने वाले ये प्रथम आलोचक हैं। उन्होंने आलोचना की निर्णायक शैली की आलोचनाओं को पीछे छोड़कर विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक आलोचना शैलियों का सूत्रपात किया। 'विक्रमांकदेव चर्चा' में द्विवेदीजी ने व्याख्यात्मक शैली की ओर प्रथम पग बढ़ाया।

आलोचना के क्षेत्र में उनकी भाषा अपेक्षतः अधिक प्रखर, प्रवाहमयी, व्यंग्यपूर्ण तथा चुटीली होती है। पहाड़ी झरने के सदृश्य उसमें गति, स्वाभाविकता, प्रच्छालन की शक्ति होती है। विशेषता इसमें यह रहती है कि उनके व्यंग्य और कटाक्ष भी उनकी प्रकृति के समान सरल, स्पष्ट तथा व्यावहारिक होते हैं, जिन्हें समझने में न तो समय लगता है और न श्रम। ओज, गाम्भीर्य तथा संयमित भाषा की कठोर चट्टानों के मध्य से उनके व्यंग्य, कचोट, मसखरी के शीतल मधुर निर्झर बहते रहते हैं। इन वाक्य-निर्झरों में कहीं भी गति-हीनता, लचरता, अशुद्धि आदि अवांछनीय तत्त्वों का समावेश नहीं मिलता। उनके भाव स्पष्ट, विचार सरल तथा भाषा साधु है।

द्विवेदीजी की गद्य-शैलियां

समय के साथ द्विवेदीजी की भाषा-शैली में उतार-चढ़ाव हुए हैं। उनकी भाषा में भाव-प्रकाशन की तीन प्रमुख शैलियों का विधान उपस्थित है—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक। यद्यपि उनके पूर्व भी इन शैलियों का अस्तित्व अवश्य था, परन्तु उनका रूप स्थिर नहीं हो सका था।[1] द्विवेदीजी ने विषयानुकूल अपनी शैली में कलात्मक परिवर्तन किया है, साथ ही उसमें सदैव आकर्षण भी बनाये रखा है। कुशल कथावाचक का कौशल तथा सहृदय अध्यापक का स्नेह—उनकी शैली को सरलता एवं व्यावहारिकता प्रदान करता है। "द्विवेदीजी की गद्य-शैली में हमें पहली बार कलापूर्ण गद्य के दर्शन होते हैं। आचार्य द्विवेदी की सफलता का रहस्य उनकी गद्य-शैली को ही है।"[2]

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० १०० ।
२. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० १५६ ।

व्यंग्यात्मक शैली

उनकी व्यंग्यात्मक शैली का स्वरूप बहुत व्यावहारिक तथा सामान्य स्तर का होता है। इसमें वाक्य छोटे और सरल तथा भावाभिव्यंजना प्रणाली सुगम होती है। बीच-बीच में व्यंग्य और विनोद के छींटे, उक्तियों की हल्की फुहारें पाठकों के हृदय को मसोस देती हैं। ये व्यंग्य केवल व्यंग्य के लिए होकर सुधार के लिए ही होते हैं। उनमें मसखरापन भी है और गम्भीर गूढ़ तत्त्व भी। सूक्ष्म दृष्टि से देखने भर उनके उद्देश्य एवं आदर्श को ध्यान में रखकर, आलोचनात्मक शैली से व्यंग्यात्मक शैली दूर नहीं है।[1] उनके व्यंग्यों में आलोचना निहित रहती है तथा आलोचनाओं में भी कहीं-कहीं व्यंग्य रहता है। उनकी लेखनी बिना व्यंग्य किये गद्य नहीं लिख सकती। जैसे—

"बृहस्पति को भी बारह वर्षों तक बारहखड़ी की बारीकी बताने की योग्यता रखने वाले ये अहम्मानी महाशय न्याय, नीति, सदाचार और सचाई सबको एक साथ तिलांजली दे देते हैं। प्रतिकूल समालोचना पढ़ते ही उनके हृदय में उच्चता, योग्यता, श्रेष्ठता, आत्म-मर्यादा और प्रखर पांडित्य के पानी की प्रबल धारा-सी बहने लगती है।[2]

आलोचनात्मक शैली

आलोचनात्मक शैली में उनकी भाषा अधिक शुद्ध, संयत एवं परिमार्जित हो गई है। उसमें व्यंग्य, विनोद तथा मुहावरों की छटा विशेष न होकर गम्भीरता अधिक है। इसमें तथ्यातथ्य निरूपण करने के साथ, विषय का विवेचन करते हुए वे अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। द्विवेदीजी मूल रूप से आलोचक हैं और इसीलिए उनकी आलोचना शैली का व्यवहार अधिक हुआ है। इसमें अंग्रेजी-उर्दू के तत्सम शब्दों का भी इतना व्यापक प्रयोग नहीं हुआ है जितना कि व्यंग्यात्मक शैली में हुआ है। मुहावरों के प्रायः अभाव में भी उन्होंने अपनी भाषा की शक्ति को क्षीण नहीं होने दिया है, साथ ही पर्याप्त प्रवाह का भी निर्वाह किया है। जैसे—

"कविता, संगीत, चित्रकला और मूर्ति-निर्माण-विद्या की गिनती ललित-कलाओं में है। असभ्य, अशिक्षित और असंस्कृत देशों में इन कलाओं का उत्थान नहीं होता। जिन कृतिविध और शिक्षा सम्पन्न देशों के निवासियों के हृदय, मानवीय विकारों के अनुभव से, संस्कृत और सुपरिमार्जित हो जाते हैं वही इन कलाओं के निर्माण की ओर आकृष्ट होते और वही इनसे परमानन्द की प्राप्ति भी कर सकते हैं। परन्तु ऐसे देशों में एक प्रकार के और भी सौभाग्यशाली जन जन्म पाते हैं जो इन कलाओं के ज्ञाताओं और निर्माणकर्त्ताओं से भी अधिक सरस हृदय होते हैं। वे इन कलाविदों की कृतियों से कभी-कभी उस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करते हैं जो उनकी सृष्टि करनेवालों को भी नसीब नहीं। वे व्यक्ति कलावेत्ताओं के द्वारा निर्मित कलाओं के नमूनों में ऐसी-ऐसी बारीकियाँ खोज निकालते हैं जिनका अनुभव स्वयं निर्माताओं को भी नहीं होता, इतर जनों की तो बात ही नहीं। मनुष्य हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा गुप्त भावों को हृदयांगम

१. प्रेमनारायण टण्डन : द्विवेदी मीमांसा : पृ० १८१।
२. रमाकान्त त्रिपाठी : हिन्दी-गद्य मीमांसा : पृ० २४१।

करनेवाले ये पिछले भव्य भावुक धन्य हैं। इनके सम्बन्ध भावों का यथेष्ठ अभिनन्दन इन्हीं के समकक्ष अन्य सहृदय सज्जन कर सकते हैं, दूसरे नहीं।"[१]

गवेषणात्मक शैली

द्विवेदीजी की गवेषणात्मक या विचारात्मक शैली में व्यंग्यात्मक तथा आलोचनात्मक शैलियों की अपेक्षा भाषा का स्वरूप अधिक गम्भीर, प्रौढ़ तथा विशुद्ध रहता है। इसमें संस्कृत के शब्द पूर्वापेक्षा अधिक तथा उर्दू, फारसी, अंग्रेजी के कम रहते हैं। विषयानुकूल भाषा-शैली में परिवर्तन होने के कारण गम्भीरता या हल्कापन आ गया है। भाषा में गम्भीर भावों के वहन करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिये संस्कृत शब्दों के प्रयोग में वृद्धि हो गई है। हां, फिर भी उर्दू-फारसी के शब्दों का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया गया है। शक्तिशाली शब्दावली में स्थिरतापूर्वक विषय प्रतिपादन किया गया है। इस शैली में यद्यपि उन्होंने अधिक गम्भीर तथा शास्त्रीय विषयों का भी विवेचन किया है फिर भी उसमें दुरूहता, अस्पष्टता या भ्रमात्मकता नहीं आ सकी है। इस प्रकार की भाषा लिखने में द्विवेदीजी को कुछ सावधानी रखनी पड़ी है। अतः, द्विवेदीजी की शैली की सामान्य विशेषताओं के रहने पर भी यह उनकी प्रतिनिधि भाषा-शैली के तारतम्य में कुछ बनावटी या गढ़ी हुई ज्ञात होती है।[२] यथा :—

"आजकल के इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि देश में जैसे-जैसे अधिक सुधार होता है और जैसे-जैसे विद्या-बुद्धि बढ़ती जाती है; वैसे ही वैसे कविता-शक्ति भी कम हो जाती है। अब पहले के ऐसे अच्छे कवि नहीं होते। यह इस बात का प्रमाण है। यह बहुत ठीक है कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन काल की ओर देखते हैं त्यों-त्यों कविता विशेष रसाल दिखाई देती है। प्राचीन कवियों का सारा ध्यान अर्थ की ओर रहता था; भाषा की ओर बहुत ही कम रहता था। इसीलिए उनकी कविता में उनका हृद्-गत-भाव बहुत ही अच्छी तरह से ग्रंथित हो जाता था। परन्तु उनके अनन्तर होने वाले कवियों में प्रबन्ध, शब्द-रचना और अलंकार आदि की ओर ध्यान अधिक जाने से कविता में अर्थ-सम्बन्धी हीनता आ गई है। एक बात और भी है। कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता, एक प्रकार की सात्विकता और एक प्रकार का भोलापन दरकार होता है। वह समय के परिवर्तन से प्रतिदिन कम हो जाता है, इसीलिए पहिले की जैसी कविता अब नहीं होती।[३]

सम्पादकीय टिप्पणियों की भाषा-शैली

सम्पादकीय टिप्पणियां तथा संक्षिप्त लेखों में उनकी भाषा अधिक सरल, सुबोध और व्यावहारिक रहती है। वे अपने प्रिय पाठकों के समक्ष बड़े स्नेह और आत्मीय भाव से नवीन ज्ञान की बाल-घुट्टी देते हैं। अनेक स्थलों पर तो पाठकों को

---

१. समालोचना समुच्चय (भारतीय कला) : फरवरी १६५७।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० १०३।
३. रसज्ञ-रंजन : पृ० ६७-६८।

इस 'घुट्टी-पान' का ज्ञान भी नहीं हो पाता और वे विभिन्न अद्भुत तथा रुचिकर विषयों के साथ समन्वित करके नवीन ज्ञान को हृदयंगम करा देते हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें पाठकों के हृदय तथा मस्तिष्क से तादात्म्य एवं आत्मीयता स्थापित करनी पड़ती है। निःसन्देह उत्तम शैलीकार की सबसे बड़ी विशेषता भी यही है। उनकी यह शैली सरस के साथ मनोरंजक भी है, जिसमें कहानी का-सा आनन्द रहता है। उनकी टिप्पणियां 'बातों के संग्रह' हैं।

इन टिप्पणियों में उन्हें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, पुरातत्त्व सम्बन्धी आदि अनेक विषयों पर कलम उठानी पड़ती। अतः, विषय तथा पाठकों के प्रति भी समान उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए गहरी सूझ-बूझ तथा मार्मिक दृष्टि से टिप्पणियां प्रस्तुत की गई हैं। अनुकूल विषयों पर उनका मत प्रशंसात्मक, भाषा सौम्य तथा शैली प्रसाद गुण सम्पन्ना होती है। इसके विपरीत स्थिति में मत में कठोरता, भाषा में व्यंग्यात्मकता तथा शैली में ओज गुण का प्राधान्य रहता है। विषयानुसार उनकी भाषा-शैली में उतार-चढ़ाव तीव्रता, आक्रोश एवं आवेग रहते हैं। उनके गद्य में लयात्मकता का स्फुरण हुआ है। भावुकता का भी सर्वथा अभाव नहीं है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा-शैली में मृदुलता एवं माधुर्य गुणों की अपेक्षा आवेग और ओज की अधिकता है जो उनके व्यक्तित्व एवं देश-काल-परिस्थिति के अनुकूल है। "सच पूछिये तो किसी निश्चित रीति या शैली का न होना ही उनकी भाषा की विशिष्टता है।"[1] इस कथन का संकेत यही है कि उनकी समस्त रचनाओं में भाषा की प्रायः एकरूपता है, जिस कारण शैलियों का विभाजन पूर्णतः सम्भव नहीं है। यथा :—

ओजगुण सम्पन्ना शैली

"यूरोप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वतंत्रता के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊंचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि का आकार है, जो साहित्य पतितों का उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।"[2]

१. डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० २६२-३।
२. उद्धृत-गद्य-पुष्प माला (पृ० २२) : साहित्य की महत्ता : महावीरप्रसाद द्विवेदी

भावात्मक शैली

"भारत, क्या तुम्हें कभी अपने पुराने दिनों की भी याद आती है? क्या तुम्हें इस बात का स्मरण स्वप्न में भी होता है कि किसी समय तुम ज्ञान, विज्ञान, सम्मान आदि सभी विषयों में रत्नोपमान थे ? धन, जन और प्रभुता में भी तुम अपना सानी न रखते थे। स्वर्ण और रजत ही की नहीं, हीरों तक की एक नहीं अनेक खानें तुम्हारी ही रत्नगर्भा भूमि के भीतर भरी हुई पड़ी थीं। जिन किनकी हीरक मणियों को पाकर इस समय यूरोप के कुछ देश अपने को परम सौभाग्यशाली समझ रहे हैं वे सब तुम्हारी ही दी हुई हैं। पर कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा यह प्राचीन वैभव, इस समय कथावशेष हो गया है। लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें यूरोप और अमेरिका ने परास्त कर दिया। बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुँह दिखाने लायक न रक्खा। तुम्हारे हीरों का भी ह्रास हो गया। अब तो उन्होंने ब्रेजील, ट्रांसवाल आदि देशों का आश्रय ग्रहण कर लिया है। चेतो, जागो, कर्म और चेष्टा करनी सीखो। पुरानी बातों का स्मरण कर लो, पर उनकी दुहाई देकर डींग मत मारो। उद्योग, अध्यवसाय और पश्चिम के द्वारा अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करो। चुपचाप मत बैठो।"[1]

शब्द-चयन

सरलता, स्पष्टता एवं सुबोधता के प्रति दृढ़ आग्रह होने से उनका शब्द-चयन के प्रति उदार दृष्टिकोण रहा है। इससे उर्दू के व्यावहारिक शब्द आखिर, असलियत, कबूला, क़द्र, बेखबर, बदौलत, बेकदरी, खुशामद, खुश मिज़ाज, मालूम, मौजूद, सादगी, सफर, दौर-दौरा भी रहते हैं तथा फारसी के अव्यावहारिक शब्द इस्तेदाद, पस्त हिम्मती, काफ़िया, नाहमवार, झांछा, हम चुनी दीगरे नेस्त इत्यादि भी आ गए हैं—अंग्रेजी के—नेचरल, पोयट्री, सर्टिफिकेट, वर्स, इमेजिनेशन आदि शब्द भी मिलते हैं।

शब्द-चयन के सम्बन्ध में उनका मत द्रष्टव्य है—"जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए बाहर के खाद्य-पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बन्द हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव प्रयत्न करने पर भी परित्यक्त नहीं हो सकता।"[2] द्विवेदीजी का कार्य मूलतः विचारात्मक कोटि का न होकर प्रचारात्मक था। हिन्दी अपनी तात्कालिक परिस्थिति में अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ गौरवपूर्ण अस्तित्व के साथ राष्ट्र-भाषा पद के लिए भी प्रतियोगितात्मक संघर्ष कर रही थी। उसके लिए द्विवेदीजी ने अपनी शैली में उदारतापूर्वक शब्द-चयन किया, उसमें कहावतों, मुहावरों

१. सरस्वती (भारतवर्ष में हीरे की खानें) : २६। ६ : पृ० ६४२।
२. सरस्वती : भाग १६, संख्या १ : पृ० ५१।

तथा उक्तियों को स्थान दिया और उन सबको सरल वाक्य-विन्यास में प्रस्तुत किया। एक ही भाव या विचार एक छोटे से वाक्य में रख देने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता था; इसलिए कई बार तो वे भिन्न-भिन्न शब्दों में, भिन्न विन्यास के साथ उसी बात को अनेक वाक्यों में प्रगट करते थे। उनकी यह व्यास शैली तथा सरल वाक्यावलियां ही उनकी प्रचार पद्धति में विशेष सहायक सिद्ध हुई।

द्विवेदीजी का व्यक्तित्व बाह्याडम्बरहीन, सरल तथा प्रामाणिक था। उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व का यह गुण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनके समक्ष संस्कृत भाषा का शाब्दिक इन्द्रजाल, आलंकारिकता तथा बाह्य साज-सज्जा भी थी, तथा उर्दू-फारसी की शाब्दिक उछल-कूद, नाज-नखरे, चंचलता, हल्कापन लिए हुए गतिशीलता भी। इन दोनों दुकूलों से अपनी भाषा-तरिणी की रक्षा करते हुए उन्होंने अपनी भाषा-शैली को घरेलू, व्यावहारिक, अनलंकृत तथा सक्षम ही रखा है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया गया है।

द्विवेदीजी की भाषा-शैली का विकास तथा त्रुटियां

द्विवेदीजी की शैली का जो स्वरूप उनके लेख के मध्य तथा उत्तरकाल की रचनाओं में उपलब्ध होता है वह उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में नहीं था। प्रेमचन्दजी ने उनकी भाषा-शैली के सम्बन्ध में जो धारणा व्यक्त की है वह उनकी प्रौढ़ शैली की संकेतक है—

"जहां व्यक्तित्व है, वहाँ शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है। उस (द्विवेदीजी की) शैली में कितना संयम है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलभाव है। उसमें रसिकों का बांकपन नहीं, पंडितों का गाम्भीर्य नहीं, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं—एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है।"[1]

'सरस्वती-सम्पादन' कार्य को हाथ में लेने के पूर्व द्विवेदीजी की भाषा में भी नवसिखिये लेखकों का शब्दाडम्बर, अनुप्रास का आग्रह, शुद्ध संस्कृत का वाक्य-विन्यास, खालिस उर्दू की मुहावरेबाजी आदि के प्रदर्शन का शौक था।[2] शब्दों के अशुद्ध प्रयोग, क्रमदोष तथा व्याकरण की अन्य सामान्य त्रुटियां होती रहती थीं। इनका परिमार्जन एवं परिष्कार तो 'महावीरी हिन्दी' या 'सरस्वती' की टकसाली-हिन्दी बनने पर बाद में हुआ है। यथा :—

* "शेष २२ निबन्धों का विषय बहुशः ऐसा है जो एतद्देशीय जनों को तादृश रोचक नहीं है।"[3]

** "सत्य के साथ असत्य का मेल करने में मनुष्य को एक प्रकार का आनन्द मिलता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि मनुष्य के मन से वृथाभिमान, अत्युच्च आशा, अनुचित आग्रह तथा नाना प्रकार की कल्पना निकाल ली जावें तो सहस्रशः

१. प्रेमनारायण टण्डन : द्विवेदी मीमांसा : पृ० १७२।
२. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : प्रस्तावना : पृ० ८।
३. बेकन विचार रत्नावली—भूमिका : महावीरप्रसाद द्विवेदी।

मनुष्यों का चित्त इतना उदास, खेदित आंकुचित हो जायेगा कि, वह स्वतः उन्हीं को दु:खदायक होने लगेगा।"[1]

*** "इसी प्रकार मन की बात मित्र से कहने में भी मन कलुषित नहीं होता, प्रफुल्ल होता है।"[2]

**** "उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान, कक्षा में तभी सन्निवेशित हो सकता है, जब वह सर्व तो भाव से शुद्ध हो। अशुद्धता दोष दूषित होने से संशय अथवा भ्रम में उसकी अतिव्याप्ति हो जाती है।"

अत:, द्विवेदीजी की प्रारम्भिक रचनाओं में संस्कृत शब्दों की विशुद्धता का आग्रह, अनुप्रास तथा यमक आदि, शब्दाडम्बर, अशुद्ध, व्याकरण-च्युत शब्दों का प्रयोग बहुरूपता इत्यादि दोष मिलते हैं। अंग्रेजी के अनुकरण पर विराम-चिह्नों के प्रयोग पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है पर भूलें भी बहुत की हैं, बिना वाक्य पूर्ण हुए ही पूर्ण-विराम लग गए हैं। ऐसे ही अनुसूचक (—) चिह्नों के भी गलत प्रयोग किये हैं और उन्होंने आगे जाकर स्वीकार भी किया है।[3] उन्हैं, चाहैं, जावैं, करैंगे, मिलैं, बातैं, कर दैवे, जैसे प्रयोग तो उनकी शुरू की—"बेकन विचार रत्नावली" (अनुवाद, १८६६), 'भामिनी विलास' (१६००), 'नैषध चरित चर्चा' (१६००), 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' (१६०१) ही नहीं, 'भाषा और व्याकरण' निबन्ध (नवम्बर १६०५) तक पर्याप्त मिलते हैं। इन्हीं दिनों उन्हें देखने या दृष्टिपात करने की अपेक्षा 'दृक्पात' तथा बातचीत सुनने के स्थान पर 'मुख चर्या' का निरीक्षण करना अधिक पसंद करते थे।

राष्ट्र-भाषा की ओर हिन्दी की प्रगति

द्वि सहस्राब्दी का द्वितीय दशक द्विवेदी-युग में हिन्दी-गद्य-निर्माण की दृष्टि से स्वर्णाक्षरों में अंकित होने योग्य है। इस समय तक द्विवेदीजी के अथक परिश्रम से भाषा की उच्छृंखलता तथा अराजकता का शमन हो चला था। गद्य के क्षेत्र में खड़ी-बोली की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई थी और उसका स्वरूप परिष्कृत तथा प्रौढ़ हो चला था। इसी कालावधि में बाबू प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, माखन-लाल चतुर्वेदी, बद्रीनाथ भट्ट सुदर्शन, पद्मसिंह शर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', जी० पी० श्रीवास्तव, राजा राधिकारमणसिंह, चण्डीप्रसाद हृदयेश, पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास इत्यादि अनेक प्रतिभाशाली गद्य-शैली-कारों का हिन्दी में प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से प्रथम तीन साहित्यकार तो काव्य तथा शैली की दृष्टि से विश्व-साहित्य में अपना स्थान रखते हैं। अब हिन्दी का गद्य भी अपनी परिस्थिति के अनुसार विकसित हो चला था। द्विवेदीजी का साहित्य तथा भाषा, परिस्थिति की उपज हैं। भाषा-शैली के साथ विषय तथा वस्तु के घनिष्ठ

१. बेकन विचार रत्नावली : महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सत्य' : पृ० २।
२. —वही— —वही— 'मैत्री' : पृ० १००।
३. 'सरस्वती' अप्रैल १६१७।

सम्बन्ध की जो उपेक्षा अभी तक हो रही थी, उसके स्थापित होने से भाषा में नवीन शक्ति एवं सजीवता का उद्भव हुआ। सन् १९१३ तक हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में केवल विषय-संकलन होता रहा और पाठकों के रुचि-प्रसार का कार्य चलता रहा। इसके उपरान्त ही भाषा में प्रौढ़ता और एकरूपता को क्रमशः प्रश्रय मिल सका है।[1]

कवींद्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् १९१३ में गीतांजली पर नोबुल पुरस्कार प्राप्त करके ख्याति अर्जित की थी, उसके पश्चात् बंगला की कोमलकान्त पदावलियां, भाव-सुकुमारता तथा चित्र-शैली से हिन्दी के गद्य और पद्य दोनों ही आकर्षित एवं प्रभावित हुए। हिन्दी-गद्य में भावात्मक स्वच्छन्द तथा चित्र-शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

द्विवेदी-युग में राजनीतिक आन्दोलनों ने गद्य-शैलियों को प्रभावित करने में वही कार्य किया जो भारतेन्दु-युग में आर्य-समाज आदि आन्दोलनों ने किया था। राष्ट्र द्रुतगति से आगे बढ़ रहा था। सन् १९०५ में बंग-भंग के कारण जनता में जोश की लहर दौड़ गई तथा 'रौलट बिल' की भी भीषण प्रतिक्रिया हुई; जिसके फलस्वरूप तथा अन्य कारणों से सन् १९१६ में बंग-एकीकरण के कारण भारतीयों में आत्म-विश्वास जागा तथा सन्तोष हुआ और १९१९ के सुधारों से जो सर्व-साधारण में जागृति हुई, इससे शक्ति का झुकाव उच्चवर्ग से मध्यमवर्ग की ओर हुआ। जनता का शासन से सम्बन्ध बढ़ा; चुनावों में जन-जीवन के समीप आने, समझने, समझाने के लिए 'हिन्दुस्तानी' आन्दोलन शुरू किया। विपुल भावाभिव्यक्ति हुई, इसमें देश की एकता की प्रतीक हिन्दुस्थानी भाषा-शैली का समर्थन राजनीतिक नेताओं—विशेषशः गांधीजी के द्वारा किया गया। समाचार-पत्रों के प्रचार-प्रसार से भी हिन्दी-उर्दू मिश्रित जन-भाषा के रूप में हिन्दुस्थानी शैली को कुछ प्रोत्साहन मिला; परन्तु हिन्दी-उर्दू की समस्या राजनीतिक ही नहीं थी, वरन् सांस्कृतिक भी थी। राष्ट्र-भाषा का प्रश्न भी इसके साथ लगा था। उर्दू-फारसी के समर्थक 'हिन्दुस्थानी' का विरोध कर रहे थे तथा विशुद्ध हिन्दी के पोषक भी इसके पक्ष में न थे। उत्तर-प्रदेश के विशाल भू-भाग में उर्दू की राजकीय मान्यता तथा सम्मान बने रहने के कारण, साम्प्रदायिकता प्रिय मुसलमानों ने उर्दू को ही राष्ट्र-भाषा बनाने का आग्रह किया। स्वभावतः तथा उर्दू की साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रियास्वरूप, भारत की प्राचीन भाषा देव-वाणी संस्कृत बहुला विशुद्ध हिन्दी का प्रतिपादन, राष्ट्र-भाषा के पद के लिए किया गया। इस प्रकार राष्ट्र-भाषा के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर उर्दू, हिन्दुस्थानी तथा विशुद्ध हिन्दी की विकट समस्या राजनीतिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप उठ खड़ी हुई थी।

वस्तुतः, इस समस्या का मूलाधार शैली ही थी, भाषा नहीं। कारण यह है कि न तो 'हिन्दुस्तानी' ही कोई स्वतन्त्र भाषा है और न उर्दू ही। ये दोनों खड़ी-बोली हिन्दी के ही भिन्न रूप हैं। जिस प्रकार से हिन्दुस्तानी के पास न तो कोई लिपि है, न व्याकरण-विधान है और न पृथक् शब्द-कोश ही है, उसी प्रकार से न्यूनाधिक मात्रा में उर्दू की दशा है। अतः, ये खड़ी-बोली हिन्दी की ही शैलियां हैं; जिन्हें खींचतान कर विदेशी भाषाओं

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : परिवर्धित संस्करण की भूमिका : पृ० ७।

के प्रभाव के कारण पृथक् भाषाओं की संज्ञा प्रदान कर दी गई थी। हमारे विचार से हिन्दी-भाषा तथा उसके साहित्य की दुर्बलता तथा असमर्थता और अंग्रेजी की नीति ही प्रधान कारण थे, जिनकी उपस्थिति में हिन्दी को उसकी शैलियों ने ही चुनौती दी थी। यहां यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि भारत के कण्ठ एवं हृदय-प्रदेश की बोली खड़ी-बोली हिन्दी को, जो और जितना संघर्ष बाह्य अन्य प्रांतीय भाषाओं से नहीं करना पड़ा, उतना उसको अपनी अन्तःशैलियों से जूझना पड़ा। हिन्दी के इस अन्तःविवाद ने यद्यपि उसकी गति को कुछ वर्षों के लिए कुंठित कर रखा; परन्तु अन्ततोगत्वा वही उसे लाभदायक हुआ। हिन्दी के समर्थकों ने उर्दू-हिन्दुस्थानी से हतोत्साहित न होकर नवप्रेरणा ली; जिससे हिन्दी की अपनी बलिष्ठ जातीय शैली की उद्भावना हुई। आवश्यकता आविष्कार की जननी है, तो प्रतिद्वंद्वता है प्रगति की प्रेरक शक्ति। फलस्वरूप हिन्दी में बहुत-सी शैलियों का प्रचलन किया गया। शब्द-भाण्डार को पुष्ट करने के विशेष प्रयत्न हुए। हिन्दी की क्षमता-वृद्धि तथा विरोध-शमन-शक्ति के लिए कथित हिन्दुस्थानी तथा उर्दू भाषाओं की शब्दावलियां, वाक्य-विन्यास आदि को कुशलतापूर्वक आत्मसात कर लिया गया। सामान्य जनता की भाषा को विकसित कर, हिन्दी की अपनी राष्ट्रीय या जातीय शैलियों की स्थापना करने का भी प्रयत्न किया गया। हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिला कर एक भाषा विकसित करने या यों कहें कि सामान्य जनता की भी समझ में आ सकने वाली साहित्यिक भाषा की नींव डालने के इस प्रयत्न से हिन्दी-भाषा का एक लाभ भी हुआ है। हिन्दी-गद्य विकसित होकर उस स्थिति में आ गया है कि उसे थोड़ी पढ़ी-लिखी जनता भी समझ ले। संधियों और समासों से बनी हुई पदावलियां और संस्कृत की कठिन तत्सम शब्दावलियों का मोह बहुत-कुछ छूट गया है। उनके स्थल पर सामान्य जनता में प्रचलित शब्दों को भी स्थान मिलने लगा है। शैली सरल, सीधी और सुस्पष्ट हो चली है।[1]

आचार्य द्विवेदी के आह्वान पर भी हिन्दी क्षेत्रीय अन्य भाषाओं के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् अपनी मंजी हुई कलम के साथ हिन्दी के प्रांगण में अवतीर्ण हुए, उनके योग से भी भाषा में सामान्यता एवं सुबोधता आई। विशेषतः उर्दू-फारसी के क्षेत्र से उपन्यास सम्राट् बाबू प्रेमचन्द, तुलनात्मक आलोचना शैली के प्रवर्त्तक आचार्य पद्मसिंह शर्मा, लोकप्रिय कहानीकार सुदर्शन प्रभृति बहुत से सुलेखक हिन्दी में आ गये। इससे हिन्दी में व्यावहारिकता, सरलता, गतिशीलता और चपलता आ गई। मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग बढ़ा, जिससे भाषा की शक्ति में वृद्धि हुई। भारतेन्दु ने हिन्दी की सामान्य शैली का जो प्रयत्न किया था, उसी का पूर्ण परिपाक द्विवेदी-युग में प्रेमचन्द, पद्मसिंह आदि की शैली में हुआ। सच तो यह है कि प्रेमचन्द आदि की रचनाओं में साहित्यिक आदर्श तथा शैलियों का रूप फला-फूला था, उसके जनक भी द्विवेदीजी ही थे।[2] प्रेमचन्द की हिन्दी में द्विवेदीजी की हिन्दी का ही मुहावरे से पुष्ट जन-प्रचलित रूप विकसित हुआ।[3] इस

१. डॉ० भोलानाथ : हिन्दी-साहित्य : पृ० ५३।
२. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : प्रस्तावना : पृ० ७।
३. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी की कहानी : पृ० १५७।

प्रकार भाषा के विकास के साथ सरलता और सुबोधता की वृद्धि हुई, ऐसा होना स्वाभाविक भी है और स्वीकृत सिद्धान्त भी।[1]

सन् १९१७ के आस-पास के हिन्दी साहित्य-सम्मेलनों के प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय अधिवेशनों की विवरण-पत्रिकाओं के अध्ययन से एक महत्त्वपूर्ण तथा आश्चर्य-जनक तथ्य का उद्घाटन होता है कि अधिकांश अवसरों पर विशुद्ध हिन्दी के स्थान पर विदेशी प्रचलित शब्दों के व्यवहार का समर्थन किया गया। इन सब परिस्थितियों में हिन्दी में एक उदार एवं विशद् भावना का विकास हो गया, जिसके कारण हिन्दी-भाषियों के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषियों ने उसे राष्ट्र-भाषा के पद पर अभिषिक्त करने का पूर्ण समर्थन किया। हिन्दी के लिए यह परम गौरव का विषय है कि उसने कभी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति स्वीकार नहीं की और राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर अहिन्दी भाषियों ने ही सर्वप्रथम इसका समर्थन करके हिन्दी की लोकप्रियता, महत्ता तथा क्षमता को प्रमाणित किया। सन् १८८९ ई० में शैशवावस्था तथा अराजकता युग में ही इस 'होनहार बिरवान के चीकने पातों' को परख कर मध्य-प्रदेश राज्यान्तर्गत राजनांदगांव में पण्डित (रेवरेण्ड) नारायण वामन तिलक ने 'देश हितकारिणी सभा' के द्वारा इसे राष्ट्र-भाषा बनाने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। मराठी-पत्रों ने इस देशोपयोगी विचार का प्रचार किया। १८९३ में पूना की 'वकतृत्वोत्तेजक सभा' ने राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर जो प्रति-योगिता की थी, उस समय केशव वामन पेठे को सारगर्भित एवं सप्रमाण, भाषण में हिन्दी का समर्थन करने पर प्रथम पुरस्कार दिया।[2] इतना ही नहीं उक्त देश हितका-रिणी सभा में पं० अम्बिका दत्त व्यास को स्वयं आमंत्रित कर इस कार्य को सफल करने में पूर्ण सहायता देने का वचन देकर नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी को सन्देशा पहुंचाया।[3]

द्विवेदी-युग में राष्ट्र-भाषा के पद के लिए हिन्दी की स्थिति अधिक दृढ़ हो गई। सन् १९०९ में बड़ौदा की हिन्दी-परिषद् के अवसर पर डॉ० भण्डारकर (बंबई), रमेश-चन्द्र दत्त, रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य न्यायाधीश ग्वालियर आदि अहिन्दी भाषी विद्वानों ने भी हिन्दी की सरलता एवं सुबोधता की प्रशंसा करके उसे सम्पूर्ण भारत में प्रयुक्त होने योग्य घोषित किया। महर्षि अरविंद घोष ने अपने साप्ताहिक पत्र 'धर्म' बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध मासिक पत्र 'बंग-दर्शन' तथा सैयद-अली बिलग्रामी जैसे विद्वानों ने इसे राष्ट्र-भाषा पद के लिए संस्तुत किया। यहाँ तक कि सन् १९१८ में प्रत्येक प्रान्त में इसे राष्ट्र-भाषा के लिए स्वीकार किया जाने लगा।[4]

इस प्रकार से द्विवेदीजी के अथक परिश्रम से, हिन्दी भाषा का स्वरूप परिष्कृत,

१. डॉ० भोलानाथ : हिन्दी-साहित्य : पृ० ५४।
२. पं० भगवानदत्त सिरोठिया, राजनांदगांव : सप्तम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, जबलपुर : कार्य विवरण (दूसरा भाग) लेख मा० : पृ० १५५-१५६।
३. पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : द्वितीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन स० १९६८। हिन्दी की वर्तमान दशा।
४. पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : अष्टम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, इंदौर, सं० १९७५ : हिन्दी साहित्य संसार की आठ वर्षों की प्रगति का सिंहावलोकन।

परिमार्जित एवं प्रौढ़ हुआ। उसमें अंग्रेजी की सरलता, स्पष्टता, वाक्य-विन्यास, विराम-चिह्नों तथा प्रघट्टकों का प्रचार बढ़ा। हिन्दी की भारतवर्ष में सार्वभौम प्रतिष्ठा हो चली। प्रायः सभी प्रान्तों से राष्ट्र-भाषा पद पर उसे अभिषिक्त करने के विचार उठने लगे। अतः, उसने भी अपने गौरव के अनुकूल ही देश की भाषाओं के अनुकूल तत्त्वों को आत्मसात करने का प्रयत्न किया। समन्वय भारत, भारतीय संस्कृति तथा भारती की विशेषता है। वस्तुतः शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि सभी में एक ओर तो हिन्दी ने अपने मूल स्वभाव की रक्षा की और दूसरी ओर उदारतापूर्वक स्वकीया भाषाओं—संस्कृत, बंगला, मराठी, उर्दू आदि से गुणों का ग्रहण किया; साथ ही परकीया अंग्रेजी से भी वह परांगमुखः न हुई। इन सबकी शैलियों का उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। "एक ओर तो संस्कृत का शब्दाडंबर, अलंकार-प्रियता और वर्णन-नैपुण्य; दूसरी ओर बंगला भाषा की रसात्मकता और भावुकता की बाढ़, कोमल कान्त पदावली तथा व्यंजनापूर्ण विशेषण; तीसरी ओर मराठी साहित्य की अलंकारिकता और तर्कशील रुक्षता और गंभीरता; चौथी ओर उर्दू की उक्ति-वैचित्र्य, भाषा की उछल-कूद, नाज व अंदाज़ तथा विनोद-प्रियता और अंग्रेजी की स्पष्ट और सरल व्यंजना तथा प्रभावशालीनता अपने प्रभाव डाल रहे थे। उस समय हिन्दी ने अंग्रेजी की स्पष्ट भाव-व्यंजकता, बंगला की सरसता और माधुर्य, मराठी की गंभीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया और इस प्रकार एक सन्तुलित और समन्वित भाषा-शैली और भाव-धारा का विकास किया।[१] इसके विपरीत हिन्दी की अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभीरता और अतिशयोक्ति; मराठी की विशेष आलंकारिकता, बंगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास, यमक-प्रियता और अद्भुत शब्द जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया।[२] अतएव अनुकूल तत्त्वों का ग्रहण एवं प्रतिकूलों का त्याग किया गया। द्विवेदीजी स्वयं उपर्युक्त सभी भाषाओं के ज्ञाता थे। इसीलिए उन्होंने एक अनुभवी वैद्य की भांति हिन्दी की प्रकृति, जातीय परम्परा, तात्कालिक परिस्थितियां आदि सबसे मेल खानेवाले तत्त्वों को चुना। इसी से यह भी कहा जाता है कि द्विवेदी जी की भाषा परिस्थिति की उपज है।[३] हमारे विचार से द्विवेदीजी की और उनका अनुगमन करने वाले लेखकों की ही भाषा का यह प्रभाव है या हो सकता है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा से राज-भाषा हो गई।"[४]

भारतेन्दुजी ने जिस हिन्दी को जीवन के समीप लाने का प्रयत्न किया था, उसे द्विवेदीजी ने विश्वालोक में ला खड़ा किया। द्विवेदीजी ने भाषा का जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह इतना जन-जीवन के अनुकूल है कि उनकी शैली का अनुकरण समाचार-पत्रों के क्षेत्र में अधिक किया गया। उनकी शैली के इस सामूहिक सत्कार ने शैली के भविष्य के लिये बहुत बड़े द्वार का उद्घाटन कर दिया है। उसकी सम्भावनाएं बहुत बढ़

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल : हीरक जयन्ती ग्रन्थ : पृ० १५३।
२. डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास : पृ० १७६।
३. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : प्रस्तावना : पृ० ६।
४. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य : पृ० २७।

आज द्विवेदीजी की हिन्दी-गद्य तथा भाषा-शैलियों के क्षेत्र में की गईसे वाओं का स्मरण जिन शब्दों में किया जाता है,[1] उनका विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

"द्विवेदीजी ने कठोर परिश्रम करके हिन्दी-गद्य-शैली में एक निश्चित शैली की स्थापना की—"
—पुरुषोत्तमदास टंडन

"द्विवेदीजी का महत्त्व उनके लेखों में नहीं है। उनका महत्त्व विशेषकर इसी बात में है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और सुन्दर रूप देने का सफलतापूर्वक उद्योग किया। कहें तो कह सकते हैं कि वे वर्तमान हिन्दी-भाषा के निर्माता के नाम से प्रसिद्ध रहेंगे।"
—डॉ० श्यामसुन्दर दास

"द्विवेदीजी सचमुच आधुनिक हिन्दी-साहित्य के महावीर थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भले ही वर्तमान हिन्दी के जनक हों, किन्तु टकसाली हिन्दी का, जिसका कि आज सब जगह प्रचलन है, स्वरूप का निर्णय और प्रचार करने में महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का बहुत बड़ा हिस्सा है।"
—काका कालेलकर

हिन्दी-गद्य-शैलियों के क्षेत्र में द्विवेदीजी के कृतित्व का मूल्यांकन

१. **हिन्दी की जातीय शैली का विकास**—प्रथमतः हिन्दी की जातीय शैली को विकसित एवं पुष्ट करने का महत्त्वपूर्ण कार्य द्विवेदीजी के अध्यवसाय से हुआ। उनके अथक प्रयत्नों के द्वारा हिन्दी का जो परिमार्जित स्वरूप निखर उठा था, उसी से उसमें अपनी जातीय शैलियों को जन्म देने की क्षमता आ सकी। इसके द्वारा भाषा का स्वरूप अधिक सरल एवं व्यावहारिक हो गया।

२. **अभिव्यंजना शक्ति का प्रौढ़ स्वरूप**—द्विवेदीजी ने तो सर्व-साधारण पाठकों के लाभार्थ विचारात्मक लेखों को प्रस्तुत किया था, जिसका कि प्रौढ़ एवं विकसित रूप पंडित रामचन्द्र शुक्ल के उच्चकोटि के विचारात्मक गम्भीर निबन्धों में द्रष्टव्य है। भाषा की गूढ़, सूक्ष्म विश्लेषणात्मक शक्ति का परिपाक भी शुक्लजी के निबन्धों में हुआ है। इसी प्रकार से द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में माधवप्रसाद मिश्र के एक ओर भावात्मक निबन्ध हैं तो दूसरी ओर वियोगी हरि, रायकृष्णदास आदि के गद्य-काव्यों का माधुर्यमय विकसित स्वरूप है। इस प्रकार से प्रौढ़ भाषा में 'गागर में सागर' भरने की क्षमता आ गई।

३. **विभिन्न विषय तथा कलात्मकता**—इस युग में लेख, निबन्ध, नाटक, कहानियां आदि के विषय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से चुने जाने लगे। स्थूल-सूक्ष्म, भौतिक-आत्मिक, साहित्यिक-राजनीतिक, धार्मिक-आर्थिक आदि सभी विषयों पर रचनाएं प्रस्तुत की गईं। सामान्य तथा विशेष दोनों ही ढंग पर सफल प्रयोग किये गये। द्विवेदीजी ने ही स्वयं इनका सूत्रपात किया। इतना ही नहीं, विषय-प्रधान और

१. साहित्य-सन्देश : भाग २, अंक ८, अप्रेल १९३९ : पृ० ३५८।

वस्तु-प्रधान दोनों ही प्रकार की रचनाएं सामने आईं और उनमें कलात्मक सौंदर्य की प्रतिष्ठा की गई। फिर भी पौरुषपूर्ण कर्मठता के इस युग में उपयोगितावाद की ओर अधिक झुकाव रहा, इसमें कलात्मक साहित्य परिपुष्ट न हो सका।

४. **लोक-रुचि-परिष्करण**—द्विवेदीजी की रचनाओं का उद्देश्य मनोरंजन या चमत्कार प्रदर्शन न होकर ज्ञान-संवर्द्धन एवं लोक-रुचि परिष्करण था। इससे उन्होंने गद्यात्मक काव्य-रूपों के अतिरिक्त इतिहास, भूगोल, विज्ञान, पुरातत्त्व इत्यादि विषयों की रचनाओं पर स्वयं कलम उठाई और दूसरों को प्रेरित किया। इनके द्वारा लोक-रुचि बदली और भाषा का सरल स्वरूप जनता की आंखों में नाचने लगा।

५. **राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रभाव**—द्विवेदी-युग की सर्वोपरि चेतना राष्ट्रीयतामय हो गई थी। यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही राष्ट्रीय आन्दोलनों का श्रीगणेश हो गया था; परन्तु विभिन्न धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों का ही बोलबाला था। अब भाषा-शैली पर राष्ट्रीय आन्दोलनों ने अधिक प्रभाव डाला, जिसके अन्तर्गत राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर विभिन्न मत प्रस्तुत हुए। उर्दू, हिन्दुस्थानी, बंगला तथा अंग्रेजी भाषाओं ने भी अपने-अपने दावे पेश किये; इन सबसे अपने को अधिक सक्षम बनाने के लिए हिन्दी द्वारा उदारतापूर्वक अन्य भाषाओं के अनुकूल तत्त्वों का ग्रहण किया गया। इससे भाषा की शक्ति का अत्यधिक विकास हुआ।

६. **वैज्ञानिक शब्द-कोश**—अनेक विषयों पर द्विवेदीजी ने जो कलम उठाई थी, उसके फलस्वरूप विशाल शब्द-भाण्डार की आवश्यकता बहुत बढ़ गई थी। नागरी-प्रचारिणी-सभा भी वैज्ञानिक तथा मान्य शब्दावली, हिन्दी में प्रस्तुत करने को प्रयत्नशील थी। फलस्वरूप वैज्ञानिक कोश (१९०७) तथा 'हिन्दी शब्द-सागर' का प्रकाशन जनवरी १९२९ में किया गया, जिसके हो जाने से शब्दों की एक-रूपता, शुद्धता तथा निश्चितता आई, साथ ही विविध वैज्ञानिक ग्रन्थों के लिखने में सुविधा हुई। इस विपुल शब्द-राशि के द्वारा अंग्रेजी आदि के अवांछनीय शब्दों का क्रमशः पिंड छूटने लगा और भारतीय विद्वानों को हिन्दी में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ।

७. **हिन्दी के क्षेत्र में नवीन प्रतिभाओं का विकीर्ण होना**—भाषागत संस्कार, व्याकरण की प्रतिष्ठा तथा शब्द-भाण्डार के विस्तार के फलस्वरूप द्विवेदी-युग के अस्ताचल पर तथा उनके जन्म-काल में ही, हिन्दी-गद्य के साहित्याकाश पर अनेक प्रकाश-पुंज नक्षत्रों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनकी प्रभा से हिन्दी जगत् जगमगा उठा। इनमें डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, जैनेन्द्रकुमार, बेचन शर्मा उग्र, सतगुरुशरण अवस्थी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविंद बल्लभ पन्त, हीरानन्द सच्चिदानन्द वातसायन, अज्ञेय, विनोदशंकर व्यास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, डॉ० रामकुमार वर्मा इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अध्याय : ५

द्विवेदी-युग के निबन्ध-साहित्य की गद्य-शैलियां

निबन्ध और शैलियां

शैली के नियामक तत्त्वों में काव्य-रूप का जो महत्त्व है उसकी चर्चा प्रथम अध्याय[1] में हो चुकी है। अतः, निबन्ध-साहित्य में शैलियों का अध्ययन करते समय निबन्धों का स्वरूप, अनिवार्य तत्त्व, उद्देश्य, प्रकार आदि का विचार करना आवश्यक है। ये सब मिलकर न्यूनाधिक मात्रा में निबन्धों की शैलियों पर प्रभाव डालते हैं और उन्हें अन्य काव्य-रूपों की शैलियों से भिन्न करते हैं।

साहित्यिक रूपों में आधुनिक निबन्ध, हिन्दी में नवीन विधा है। यही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण गद्य-रूप है जिसके दर्शन सम्पूर्ण भारतीय वांगमय में कहीं भी नहीं होते। हिन्दी में भारतेन्दु-युग में प्रथमतः आधुनिक निबन्ध दृष्टिगोचर होते हैं। सच तो यह है कि आधुनिक निबन्ध स्वरूप, तत्त्व, उद्देश्य आदि की दृष्टि से पश्चिम की देन हैं।[2] अतएव, संक्षिप्त में पश्चिमी निबन्धों के स्वरूप, तत्त्व आदि का परिचय प्राप्त कर लेना उत्तम होगा।

पश्चिम में आधुनिक निबन्धों के जन्मदाता महान् फ्रांसिसी लेखक माइकल डी मौण्टेन (सन् १५३३-९२) माने जाते हैं; परन्तु हिन्दी अपने निबन्धों के लिये अंग्रेजी की ही ऋणी है। इस दीर्घ कालावधि में पाश्चात्य निबन्धों ने एक लम्बी यात्रा तय की थी। इस सजे और संवारे हुए गद्य के पूर्ण विकसित और पुष्ट रूप पर हिन्दी आकर्षित हुई। यह घटना उसके प्रथम उत्थान भारतेन्दु-युग की है। फिर भी यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी ने निबन्ध की विदेशी मान्यताओं और तत्त्वों का अन्धानुकरण नहीं किया, वरन् उस पर अपना रंग चढ़ाकर अपनी छाप लगा दी है।

मौण्टेन की प्रथम रचना 'ऐसे' (Essay) १८५० ई० में प्रकाशित हुई। इसके विषय सरल तथा जीवन-सम्बन्धी थे। भाषा-शैली तरंगमयी, वैयक्तिक, सरल और सुबोध थी। व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिबिंब उसमें अंकित था। प्रत्येक पृष्ठ पर व्यक्तित्व की स्वेच्छाचारिता इसकी साक्षी है। हृदय-पक्ष बुद्धि-पक्ष पर सदा छाया रहा। उसने निबन्धों में स्मृति-चित्रों, उद्धरणों एवं कथात्मक इतिवृत्तों को स्थान दिया।[3] वह

१. अध्याय—१ : पृ० ६९—७२।

२. जयनाथ नलिन : हिन्दी निबन्धकार : पृ० ८।

३. An essay is a medley of reflections, quotations and anecdotes. "There is no method or plan in the Essay." —*M. D. Montaigne.*

निबन्धों में स्वच्छन्द कल्पनाओं के रखने के समर्थक थे, जिसमें कि अपने-आपको खोलकर प्रस्तुत करना पड़ता है।[१] अर्थात् आत्माभिव्यक्ति निबन्धकार का मूल उद्देश्य है। निबन्धकार विषय के माध्यम से पाठक या श्रोता का हृदय अपनी ओर आकर्षित करता है। निबंध-लेखक का रहस्य उसकी सृजनात्मक आत्मानुभूति में है।[२]

निबन्धों के सम्बन्ध में एक नवीन-पक्ष, प्रसिद्ध अंग्रेज निबन्धकार फांसिसी बेकन (सन् १५६१-१६२६) ने अपने प्रकाशित संग्रह के द्वारा १५९७ में प्रतिपादित किया। उसने निबन्धों में वास्तविक बन्ध देने के लिए सूक्ष्मता, गठन, गम्भीरता तथा बुद्धि-प्रधानता को आवश्यक माना। इस पक्ष में मौण्टेन की सरलता, सुबोधता, विस्तृत विवेचना तथा हृदय-प्रधानता के ठीक विपरीत तत्त्व रखे गये। बेकन ने विषय-पक्ष को प्रमुखता दी और शैली की आत्मीयता पर बल नहीं दिया। बेकन ने वस्तुतः मौण्टेन के ढांचे में अपनी 'डिजाइन' बनाकर अपना रंग भरा। फिर भी पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध में व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता अपेक्षित है।

पश्चिम में निबन्धों को बहुलांश में मस्तिष्क की उन्मुक्त अवस्था में, अनियमित और अपरिपक्व स्वच्छन्द रचना माना है।[३] आदर्श तथा सच्चे निबन्धों में हल्कापन, सरलता तथा पाठक और लेखक के बीच विश्वासपूर्ण मैत्रीभाव की स्थापना आवश्यक समझी गयी है।[४] हर्बर्ट रीड ने निबन्धों को अवैयक्तिक खुले पत्र माना है जो किसी विशेष को सम्बोधित नहीं किये जाते हैं।[५]

निबन्धों के तत्त्व—पश्चिमी के 'ऐसे' को, (जो फ्रेंच भाषा के 'एसाई' शब्द से बना है) जिसका अर्थ प्रयत्न होता है, हिन्दी में 'निबन्ध' की संज्ञा दी गई है, जिसका संकेत संगठन या बन्ध अथवा तारतम्य से है। हिन्दी में निबन्धों की एक संतुलित तथा पूर्ण अभिव्यक्ति निम्नलिखित रूप में मानी गई है :

---

१. "These are fancies of my own, by which I do not pretend to discover things, but to lay open myself." —*M. D. Montaigne.*

२. "It is to communicate personality...That is the character the perfect essayist requires. The personality with which he writes may not be entirely his own, but it must be a complete (not changeable) personality. The main interest is always shifted subtly from the subject of the essay to the kind of mind and being the personality—which is writing the subject creative egotism is the secret of the essayist."
—*M. D. Montaigne (Extracted from the 'Enjoyment of Literature' By Elezabeth.)*

३. "Essay is a loose sally of the mind, an irregular undigested piece not a regular and orderly composition." Jonson.
—*The Study of Literature : Hudson W. H. :* p- 443.

४. "The ideal essay seems to apply a certain lightness and ease and a confidential relation between the author and the reader."
—*The English Essay and the Essayiests : Hugh Walker* : p. 20.

५. "An essay is as old as any occasional writing; it is an impersonal form of letter writing—an open letter that need not to be addressed to any one in particular." —*English Prose Style* : *Herbert Read :* p. 67.

"निबन्ध विषय-प्रतिपादन में सर्वांगीणता का विचार न रखने वाला गद्य-रचना का वह प्रकार है जिसमें आत्मानुभूति की प्रधानता हो, विषय-निरूपण में स्वतन्त्रता हो, रचना के प्रत्येक तत्त्व में लेखक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो, जिसकी शैली में मौलिकता, साहित्यिकता एवं अपनेपन की छाप हो, जिसको अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषताओं में लोकानुरूपता हो तथा जिसका आरम्भ अन्तःप्रेरणा के अनुसार हो। हिन्दी-निबन्ध की इस परिभाषा में आये हुए उसके मुख्य तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ गौण तत्त्व भी हैं—जैसे विचारों की कसावट, विषय-तत्त्व एवं व्यक्ति-तत्त्व में समन्वय, विषय से घनिष्ठ लगाव, भाषा में आत्मीयता, भाव या विचार का वातावरण, व्यंग्य, हास्य, विनोद, भावुकता का स्पर्श, युग की अभिव्यक्ति, कल्पना का विकास, अन्विति (unity) बल (emphasis) स्वयं में पूर्णता आदि।"[१]

उपर्युक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में निबन्ध का गृहीत रूप पश्चिम के हल्के साहित्य (Light Literature) से भिन्न है।

निबन्धों में शैली—भावों और विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य का प्रचलन हुआ उसे ही निबन्ध-साहित्य की संज्ञा प्रदान की गई।[२] साहित्य में निबन्ध-लेखक और पाठक के मध्य सबसे छोटा, सरल और सीधा राजपथ है। व्याख्यान और वक्तृता दोनों के सभी तत्त्वों का सामंजस्य इसमें मिलता है। इसमें गम्भीरता आवश्यक है। मर्यादा इसका गौरव है। गद्य इसमें प्रौढ़ता प्राप्त करता है। निबन्ध, लेखक के हृदय का मुक्त संगीत है। इतना ही नहीं, निबन्ध वह स्वच्छ दर्पण है, जिसमें हम लेखक के यथार्थ चित्र को देख सकते हैं। कथा-कहानी में लेखक अपनी गुप्त अभिव्यक्ति करता है। नाटक में वह पात्रों में छिपकर अपनी भाषा तथा शैली का दोष उनके माथे सरलता से मढ़ लेता है; परन्तु निबन्धों की सीधी-सपाट स्थली में सिर छिपाने को भी उसे स्थान नहीं रहता। इसीलिए लेखक के विशेष निजीपन[3] व्यक्तित्व की सर्वाधिक अभिव्यक्ति निबन्धों में ही होती है। विषय-विवेचन और चयन की जितनी अधिक स्वच्छन्दता एवं स्वतन्त्रता निबन्धों में रहती है उतनी कहीं नहीं, साथ ही स्थान-संकोच के कारण सागर को गागर में भरने का दृढ़ आग्रह भी रहता है। इन परिस्थितियों में निबन्धों में लाघवता, आत्मीयता, बन्धता, सामंजस्य, गम्भीरता, सौष्ठव, सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता अपेक्षित है। अतएव शैली की दृष्टि से निबन्ध में एक भी शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए। शिथिलता, अस्पष्टता और असंतुलन का उसमें कोई स्थान नहीं रहता। निबन्धों का वाक्य-विन्यास अत्यन्त संश्लिष्ट, सुगठित, संतुलित तथा संक्षिप्त होना चाहिए। निबन्ध-पाठक को यह अनुभूति भी न हो कि वह जो कुछ पढ़ रहा है, वह श्रमसाध्य है या मस्तिष्क के व्यायाम का परिणाम है। इससे निबन्धों में हास्य, व्यंग्य तथा विनोद की योजना रखना आवश्यक है। पं० बालकृष्ण

१. निबन्ध-निचय (प्राक्कथन) : पं० नन्ददुलारे वाजपेयी एवं रामलालसिंह : पृ० १।
२. डॉ० श्रीकृष्णलाल : निबन्ध-संग्रह (भूमिका) : पृ० २।
३. गुलाबराय : काव्य के रूप : पृ० २३६।

भट्ट तो हास्य को लेख का जीवन ही मानते थे।[१] श्रेष्ठ निबन्धकार श्रेष्ठ अभिनेता की तरह अनेक भावों और रसों के कुशल चित्र-कर्त्ता होते हैं।[२]

इस प्रकार से निबन्धकार को शैलीगत अनेक विशेषताओं की रक्षा करना अपेक्षित रहता है। गद्य-साहित्य की सर्वाधिक बलिष्ठ विधा होने से ही कहा गया है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।[३] गद्य में भाषा की शक्ति का पूर्ण उत्कर्ष निबन्ध में होता है। उसके माध्यम से सम्पूर्ण गद्य-गरिमा स्फुटित होती है। निबन्ध में ही गद्य-लेखक की शैली का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है और 'शैली ही व्यक्ति है' (Style is the man himself) की उक्ति साहित्य की इस विधा के सम्बन्ध में पूर्णतया सार्थक होती है। काव्य की इस विधा में सभी तत्त्व रहते हैं; किन्तु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्त्व मिला है। कोई विषय निबन्ध के क्षेत्र से बाहर का नहीं है। इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, जीवन, मीमांसा, कथा, यात्रा आदि सभी इसके व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। शैली की विशेषता विविध प्रकार के विवेचनों और वर्णनों को निबन्ध की संज्ञा प्रदान करती है।[४] इस विस्तृत एवं व्यापक क्षेत्र के साथ निबन्धों में व्यक्तित्व की अनिवार्यता रहती है। बिना लेखक के निजत्व के, रचना को निबन्ध की संज्ञा नहीं मिल सकती। निबन्ध के विरल घूंघट में से शैली के माध्यम से निबन्धकार के व्यक्तित्व को झांका और निहारा जा सकता है। अतः, अनन्त विषयों और उनकी अनन्त शैलियों की सृष्टि के लिए निबन्ध-साहित्य सर्वाधिक उर्वर क्षेत्र है। अपनी बहुरूपता, अनेक प्रकारता और गुण-संनिविष्ट के कारण वह आधुनिक काल के साहित्य को उत्तरोत्तर प्रभावित करता और उस पर छाता जा रहा है।[५] हिन्दी-गद्य की शक्ति, सामर्थ्य, प्रौढ़ता एवं परिष्कृति का बहुत बड़ा श्रेय निबन्धों को प्राप्त है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी की गद्य-शैलियों का विकास निबन्धों द्वारा ही हुआ। हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का इतिहास हिन्दी की गद्य-शैलियों के विकास का इतिहास है। द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य इस इतिहास की एक कड़ी है और उसका विशेष महत्त्व है।"[६]

निबन्धों के प्रकार और शैलियां

निबन्धों के प्रकार के साथ शैलियों का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। कई बार तो यहाँ तक देखा जाता है कि वस्तुतः निबन्धों के प्रकार पर ही शैलियों के प्रकार किये गए हैं।

व्यक्ति-प्रधान तथा वस्तु प्रधान

मूलतः निबन्धों में दो तत्त्व रहते हैं—व्यक्तित्व और वस्तु-तत्त्व। कुछ निबन्धों

१. हिन्दी-प्रदीप : सं० बालकृष्ण भट्ट, १९०० ई० जिल्द २३, संख्या १-२-३।
२. हिन्दी-साहित्य की कहानी : डॉ० रामरतन भटनागर : पृ० २०३।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५०५।
४. गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन (काव्य के रूप) : पृ० २२४।
५. "भारतेन्दु-युगीन" निबन्ध : शिवनाथ : पृ० ३।
६. गंगाबक्शसिंह : द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य : पृ० ३३।

में व्यक्तित्व की प्रधानता होती है और कुछ में विषय या वस्तु-तत्त्व की। वैसे तो समस्त गद्य-रूपों में निबन्धों में ही व्यक्ति-तत्त्व का प्रच्छन्न स्वरूप प्रगट होता है और इनमें विषय या वस्तु को गौण स्थान मिलता है: परन्तु जहाँ निबन्धकार का व्यक्तित्व, अधिक सजग, सप्राण एवं व्यापक होता है, व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएं प्रगट करता है और विषय या वस्तु को आत्मसात कर लेता है, उन्हें व्यक्ति-प्रधान निबन्ध कहते हैं। इसके विपरीत वस्तु या विषय-प्रधान निबन्धों में लेखक वस्तु या विषय से बंधकर भावाभिव्यंजना करता है और उसका व्यक्तित्व उसी में तिरोहित हो जाता है। ऐसे निबन्धों में लेखक को अपने विचारों के ताने बाने विषय-वस्तु के समीप रहकर बुनने होते हैं। विषय-वस्तु के पर्यावलोचन में वैज्ञानिक दृष्टि रखकर सूक्ष्मता, सतर्कता और यथातथ्यता को स्थान दिया जाता है। विषय या वस्तु व्यक्तित्व को अधिक उभरने नहीं देते। विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न निबन्धकार ही वस्तु-प्रधान निबन्धों में व्यक्तित्व की पर्याप्त व्यंजना कर पाते हैं। 'मजदूरी और प्रेम' में अध्यापक पूर्णसिंह का व्यक्तित्व ऐसे वस्तु-प्रधान निबन्ध में भी अधिक व्यापक एवं प्रबल है। भारतेन्दु-युगीन निबन्ध बहुलांश में व्यक्ति-प्रधान थे तथा द्विवेदी-युग के अपेक्षतः वस्तु-प्रधान।

भाव-प्रधान—भाव-प्रधान निबन्ध भी वस्तुतः व्यक्ति-प्रधान निबन्ध ही होते हैं। इनमें व्यक्ति की अभिव्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। मन की हवस पूरी तरह निकालने का अवसर लेखक को मिलता है। हृदय मस्तिष्क से प्रधानतः सशक्त रहता है। अतः, इनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा भाव-तत्त्व एवं रागात्मक-तत्त्व की प्रमुखता रहती है। हृदय की उद्दात्त अनुभूतियों, तीव्र भावनाओं और भावुकता की पूर्णभिव्यक्ति होती है। सच तो यह है, कि इन निबन्धों का मूल उद्देश्य भाव-उद्दीपन रहता है। इस कोटि के निबन्ध वस्तुतः साहित्यिक महत्त्व के अधिक होते हैं और उनमें भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास लक्षित होता है। इन निबन्धों में भाषा की सांकेतिक अर्थाभिव्यक्ति का जो सौन्दर्य स्फुरित होता है वह विचारात्मक निबन्धों में प्रायः नहीं मिलता। भावों की प्रखरता जहां वाणी को ओजमयी, गतिशील तथा प्रभावी बना देती है, वहाँ उनकी शैली हृदय को स्पर्श करनेवाली मधुमती, सुकुमार तथा आत्मविभोरकारक होती है। भावात्मक निबन्धों में मानव अनुभूतियाँ जितनी शाश्वत, चिरन्तन और प्रबल होंगी एवं लेखक उन्हें जितनी तन्मयता और कुशलता से चित्रित करेगा उतना ही स्थायी तथा हृदयग्राही प्रभाव उसका होगा।

भावातिरेक के कारण कहीं तो भावों का प्रवाह त्वरित गति से प्रवहमान होता है या पहाड़ी निर्झर की भांति असम्बद्ध हो जाता है। उसकी धाराएं यत्र-तत्र रुक जाती हैं, गति शिथिल हो जाती है और प्रशान्त भाव से बह चलती है। इन्हीं भाव-धाराओं के अनुरूप भावात्मक निबन्धों में तीन शैलियां उपलब्ध होती हैं—धारा, तरंग तथा विक्षेप शैली।

(क) **धारा शैली**—भावों की धारा एक-सी गति से बहने के कारण, वाक्य शृंखलामय निकलते जाते हैं, अधिक छोटे-बड़े नहीं होते।

अध्यापक पूर्णसिंह का निबन्ध 'मजदूरी और प्रेम' भावात्मक धारा शैली का

श्रेष्ठ उदाहरण है।

(ख) **तरंग शैली**—जहाँ भावों में तरंगों के आरोह-अवरोह के समान वाक्य-विन्यास तथा शब्द-विन्यास प्रस्तुत होता है, पाठक ठिठकते और मस्त होते जाते हैं। वहां तरंग शैली की सृष्टि होती है। माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता' में इस शैली के दर्शन होते हैं।

(ग) **प्रलाप शैली**— भाव-धारा अतिवेग में रुकावटें और बाधाएं पाकर विक्षिप्त-सी हो जाती है, ऐसी स्थिति में भाषा में उच्छृंखलता, अव्यवस्था तथा उखड़ापन आ जाता है। भावों के तारतम्य के अभाव में भाषा को भी वैसा ही रूप धारण करना पड़ता है। महाराज कुमार रघुवीरसिंह के 'ताज' में यह शैली मिलती है।

विचारात्मक निबन्ध

भावात्मक निबन्धों के ठीक विपरीत जिन रचनाओं में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रहती है और भाव एवं कल्पना-तत्त्व सापेक्षतः गौण रहते हैं, उन्हें विचारात्मक निबन्ध कहा जा सकता है। इनमें विचारों की शृंखला के साथ ठोस गठन भी अपेक्षित रहता है।

शैली की दृष्टि से इस प्रकार के निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समास-शैली तथा आचार्य श्यामसुन्दरदास की व्यास-शैली भी प्रयुक्त हो सकती है। निःसन्देह समास-शैली अधिक उपयुक्त रहती है। शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहां एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूंसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खंड को लिए हो।[1] परिच्छेद और वाक्य ही नहीं, शब्दों की उपयुक्तता एवं संश्लिष्टता भी इनमें आवश्यक रहती है। यही कारण है कि भाषा-शैली की परख इनमें अधिक होती है। यह अल्पतम शब्दों का लघुपात्र होता है जिसमें अधिकतम ज्ञान-रस भरा रहता है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध विशेषतः सुन्दर विचारात्मक निबन्धों में हैं। सच तो यह है कि भाषा की वैचारिक-शक्ति के स्फुरण के लिए ये निबन्ध सर्वाधिक उपयुक्त विधा है।

वर्णनात्मक निबन्ध

इनमें स्थान, दृश्य, मौसम, ऋतु, यात्रा, त्यौहार, मेला इत्यादि के क्रमगत यथार्थ वर्णन रहते हैं। जिस निबन्धकार की कल्पना, अनुभूति तथा मेधा जितनी अधिक शक्ति-सम्पन्न होगी उसका वर्णन उतना अधिक यथार्थ एवं हृदयग्राही होगा। निबन्धकार से न तो गहन चिन्तन की अपेक्षा की जाती है और न अत्यधिक भाव विभोरता की। सरलता, सुबोधता इसके गुण होते हैं।

वर्णनात्मक निबन्धों में वर्णनात्मक शैली अधिक फबती है। शैली में भी प्रसाद गुण की अनिवार्यता रहती है।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५०६
२. जयनाथ नलिन : हिन्दी निबन्धकार : पृ० २२।

माधवप्रसाद मिश्र की 'रामलीला' और द्विवेदीजी का 'प्रभात' ये निबन्ध इस शैली के अच्छे उदाहरण हैं।

विवरणात्मक निबन्ध

इसमें कोई कथा, घटना या अन्य तारतम्य प्रधान विषय प्रस्तुत किया जाता है। कालक्रम एवं सम्बद्धता का निर्वाह इसकी सबसे बड़ी विशेषता रहती है। अतएव वर्णनात्मक निबन्धों से तुलनात्मक दृष्टि से इनमें अधिक सतर्कता एवं कलात्मकता चाहिए। अतः, कल्पना व बुद्धि-तत्त्व दोनों ही आवश्यक हैं। शैली की दृष्टि से इसमें भी प्रसाद गुण अति आवश्यक है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का 'हंस सन्देश' इसका उदाहरण है।

हिन्दी-निबन्धों में शैलियों का विकास

समृद्ध अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क से हिन्दी ने गद्य-साहित्य की उत्कृष्ट विधा निबन्ध का अनुकरण १९वीं सदी के प्रथम चरण में किया। सन् १८२६ में हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदंत-मार्त्तण्ड' कलकत्ता से पं० जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ और उसमें विभिन्न विषयों पर लेखादि निकलने लगे। देश में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि अनेकों आन्दोलनों के द्वारा राष्ट्रीय जन-जागृति हुई। इसी शुभ घड़ी में हिन्दी-निबन्धों का जन्म हुआ। अनेकों पत्र-पत्रिकाएं हिन्दी में प्रकाशित हुईं। इन्हीं से निबन्धों का शैशवकाल प्रारम्भ हुआ। आधुनिक हिन्दी-निबन्धों का जन्म तो वस्तुतः भारतेन्दु-युग में ही हुआ है; परन्तु उन्हें बचपन में बहुत समय तक 'लेख' नाम से ही पुकारा जाता था। उन लेखों में वर्तमान काल में गृहीत निबन्धों की सभी विशिष्टताएं स्फुटित हो चली थी। भारतेन्दुजी ने सामयिक समस्याओं पर विचार करने के लिए जो 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' प्रकाशित की, उसी में यथार्थ रूप में गम्भीर विवेचना के साथ निबन्धों का यह स्वरूप सामने आया। निबन्धों के विशाल प्रांगण में नये लेखकों को विविध विषयों की किसी भी दिशा में चौकड़ी भरने की अधिक सुविधा मिली और भिन्न-भिन्न विषयों पर भिन्न-भिन्न शैलियों में लेख लिखे जाने लगे। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि निबन्धकारों के द्वारा भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक आदि ढंग के निबन्ध प्रकाशित हुए। साथ ही गम्भीर और मनोरंजनात्मक कोटि के भी निबन्ध निकले।

भारतेन्दु-युग में भावात्मक शैली की प्रधानता थी। अंग्रेजी के 'ऐसे' शब्द की पूर्ण व्यंजनानुकूल वैयक्तिक शैलियों में निबन्ध लिखे गये। किसी ने रसासिक्ता संगीतात्मक अनुप्रासपूर्ण शैली का प्रयोग किया, किसी ने संस्कृत-प्रधान अलंकृत भाषा को अपना इष्ट बनाया, किसी ने व्यवहृत, स्वाभाविक सरल, सुबोध सामान्य भाषा-शैली में अपने भाव-रस को उंड़ेला, और किसी ने विलक्षण फक्कड़पन और बेतकल्लुफी से भाषा में जीवन का संचार किया और सदा-सर्वदा के लिए पाठकों की आत्मीयता प्राप्त कर ली।

शैली की दृष्टि से जितनी सफलता भारतेन्दु-युग के निबन्ध लेखकों को मिली उतनी किसी को किसी क्षेत्र में नहीं।[1] इस युग का लेखक अपनी विलक्षण शैली के द्वारा ही रागात्मक वृत्ति को उत्तेजित कर उनके हृदय को अपने साथ चलने को विवश कर सका।[2] फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि युग के अधिकांश निबन्ध आलोचनात्मक थे जिनमें कि व्यंग्य, परिहास और चुहुलबाजी अधिक थी, शालीनता और प्रांजलता अपेक्षतः कम।

भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् एवं द्विवेदीजी के सरस्वती-सम्पादन ग्रहण करने के पूर्व अराजकता-काल निबन्धों के प्रणयन की दृष्टि से शान्ति युग कहा जा सकता है। यह शान्ति अथवा संक्रमण-काल हिन्दी के अबाध गति से उन्नयन करने का सूचक था। निःसन्देह इस काल में नवीन प्रवृत्तियां आशा के रंगीन आकाश में उड़ने की तैयारियां करने लगी थीं और कुछ ऐसे निश्चित संकेत मिलने लगे थे कि नवीन युग का सुन्दर प्रभात होने वाला है। 'काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती' का प्रकाशन आदि युग के संकेत वाहक थे। इसी समय बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी बंगवासी पत्रिका के द्वारा हिन्दी-गद्य को संस्कृत एवं परिष्कृत करने का कार्य किया।'बंगवासी' टकसाल से गुप्तजी के राष्ट्रीय चेतना एवं अतीत गौरवपूर्ण सुन्दर लेख प्रकाशित हुए।

इसके अतिरिक्त नागरी के गद्य को परिष्कृत एवं पुष्ट करने के लिए भाषा, लिपि, व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर बहुत से लेख एवं आलोचनाएं प्रस्तुत हुईं, और एक प्रौढ़ निबन्धकार की क्षमता हिन्दी-जगत के समक्ष उपस्थित हुई। 'शिव शम्भू के चिट्ठे' जो वस्तुतः विशिष्ट आलोचनात्मक निबन्ध ही हैं, अधिक लोकप्रिय हुए। इनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता इनकी व्यंग्यात्मकता है। साधारण चलती बातों पर फबती कसना और व्यंग्य-बाण छोड़ना तो सबको आता है, पर गम्भीर विषयों को लेकर तात्कालिक भीषण राजनीतिक परिस्थिति में लार्ड कर्ज़न जैसे प्रखर एवं सशक्त व्यक्ति पर व्यंग्यों की झड़ी लगाना उन्हीं का कार्य था। उनकी शैली में जीवन है, रस है और नाटकीय तत्त्व हैं।

द्विवेदीजी के सरस्वती-सम्पादन क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर भावों की स्वच्छन्द शब्द-क्रीड़ा और व्यंग्य-परिहास के स्थान पर गम्भीरता को महत्त्व दिया जाने लगा। शिक्षित पाठकों और लेखकों की संख्या-वृद्धि ने युग के निबन्धों व लेखों की भाषा-शैली को प्रौढ़ एवं अधिक गम्भीर होने में सहायता की। हिन्दी पत्रों की संख्या तथा उनके स्तर के साथ ही हिन्दी-निबन्धों का विकास हुआ। मनोरंजन के स्थान पर ज्ञान-संवर्द्धन एवं उपयोगिता की प्रतिष्ठा की गई। द्विवेदीजी ने ज्ञान-राशि के संचित कोश को साहित्य कहा[3] और निबन्धों के द्वारा ही प्रमुखतः उस कोश की पूर्ति की। वस्तुतः निबन्धों की समृद्धि के साथ ही भाषा तथा शैलियों का उत्कर्ष हो चला। इन लेखकों, निबन्धकारों ने विभिन्न शैलियों में अपने व्यक्तित्व के पूर्ण समाहार से हिन्दी के निबन्ध-

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग : पृ० ६० ।
२. गंगाबक्शसिंह : द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य : पृ० ३४-३५ ।
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी : साहित्य की महत्ता ।

साहित्य को परिपुष्ट किया। इन लेख-मालाओं और निबन्धों ने हिन्दी का प्रचार-प्रसार, पाठकों का ज्ञान-संवर्धन एवं शैलियों की सृष्टि का कार्य किया। द्विवेदी-युग की भाषा और शैली का रूप भी इन्हीं निबन्धों में विशेष निखरा। द्विवेदीजी ने गद्य-भाषा का परिष्कार और संस्कार भी इन्हीं निबन्धों के द्वारा किया।[1] इस समय के निबन्धों में भाषा-शैली तथा भाव-शैली के विभिन्न-रूपों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। निबन्धों द्वारा ही गद्य की विभिन्न शैलियों का विकास होता है, यह बात इस युग के निबन्धों द्वारा पूर्णतया प्रमाणित हो जाती है। हिन्दी की जातीय शैली को विकसित करने में इस युग के निबन्धों ने अपूर्व सहयोग दिया है।[2]

द्विवेदी-युगीन निबन्धों की विशेषताएं—

(अ) निबन्धों ने अपने क्षेत्र का विस्तार कर अनेकों विषयों को अपनाया, फलतः विषयानुकूल विभिन्न शैलियों का जन्म हुआ।

(ब) युग में भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के बढ़ जाने से नवीन विषयों, भावों तथा विचारों को प्रस्तुत करने में योग मिला।

(स) भाषा के परिष्कार एवं प्रौढ़ता से भारतेन्दु-युगीन निबन्धों में प्रवर्त्तित शैलियों का निखार हुआ और उनमें सूक्ष्म विश्लेषण एवं विवेचन की क्षमता बढ़ी।

(द) विचार-प्रधान निबन्धों का युग में बाहुल्य रहा, जिसमें विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, तार्किक और समीक्षात्मक शैलियों के विकास को बल मिला। इनमें समास तथा व्यास दोनों ही प्रकार की शैलियों का रूप निखरा।

अतः, द्विवेदी-युग में निबन्ध-साहित्य ने प्रगति के प्रशस्त राज-पथ पर द्रुतगति से प्रचलन किया। इस समय अनेक महाप्राण निबन्धकारों का प्रादुर्भाव हुआ। स्वयं युग-नेता पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पाण्डेय रामावतार शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चण्डीप्रसाद हृदयेश, माखनलाल चतुर्वेदी, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी इत्यादि निबन्धकारों ने हिन्दी के निबन्ध-साहित्य को अपनी बहुमूल्य रचनाओं से संवारा और सजाया।

हिन्दी में निबन्धों का चरम-विकास गद्य-गीतों में ही मिलता है। काव्य और कला के देश भारतवर्ष में अंग्रेजी-साहित्य के निबन्धों की भांति हास्य, व्यंग्य तथा व्यक्तिगत विशेषताओं से पूर्ण निबन्धों का विकास नहीं हुआ, वरन् काव्य के भाव, विचार, कला और आदर्श से युक्त गद्य-गीतों का विकास हुआ।[3] और इस क्षेत्र में विशेषतः रायकृष्ण दास, वियोगी हरि तथा माखनलाल चतुर्वेदी को अधिक सफलता प्राप्त हुई। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि द्विवेदी-युग हिन्दी-निबन्ध का प्रौढ़-युग था। जिस कोटि के उत्कृष्ट निबन्ध उस युग में लिखे गये हैं, उस कोटि के निबन्ध हिन्दी के

---

१. डॉ० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० ३३१।

२. गंगाबक्रासिंह : द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य : पृ० १४५।

३. डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास : पृ० ३५६।

वर्तमान गौरवपूर्ण दिनों में भी अप्राप्य हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अध्यापक पूर्णसिंह, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की-सी प्रौढ़, परिष्कृत तथा हृदयहारिणी शैली के दर्शन आज भी नहीं होते। द्विवेदी-युगीन निबन्धों की प्रगति की स्वीकृति के परे, यहां यह तथ्य भी स्मरणीय है कि इस युग के निबन्धों में लेखकों के व्यक्तित्व की छाप पूर्व-युग की अपेक्षा हल्की पड़ गई थी। प्रतापनारायण मिश्र एवं बालकृष्ण भट्ट के तेजस्वी, सजग एवं सप्राण व्यक्तित्वों की-सी गहरी छाप द्विवेदी-युग के निबन्धों में विरल है। फिर भी सम्यक् रूप ने समग्रहतः देखने पर निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में अनेक महाप्राण निबन्धकार उत्पन्न हुए और उन्होंने निबन्ध-साहित्य की जो उर्वर पृष्ठ-भूमि तैयार की कि उसमें आगे जाकर सन् १९३० के पश्चात् आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, राहुल सांस्कृत्यायन, अज्ञेय महादेवी वर्मा, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नगेन्द्र इत्यादि निबन्धकारों की अवतारणा हुई।

युग के प्रमुख निबन्धकार और उनकी गद्य-शैलियां

बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०)

व्यक्तित्व—हिन्दी-गद्य में भारतेन्दु-युग एवं द्विवेदी-युग के संक्रान्ति काल के मध्य भाषा-शैली के आदर्श सेतु एवं सूत्रधार बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुरयानी ग्राम में, सन् १८६५ में लाला पूरनमल गोयल गोत्रीय अग्रवाल वैश्य के घर हुआ था। उन दिनों पंजाब में उर्दू-फारसी की ही सत्ता थी। अतिकुशाग्र बुद्धि बालमुकुन्द को स्थानीय मदरसे में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हुई। पंजाब सूबे के दस हजार छात्रों में जिनकी परीक्षा तात्कालिक असिस्टेंट इन्सपेक्टर कोसली (जिला रोहतक) ने ली थी, गुप्तजी को ५वीं कक्षा, उम्र १४ वर्ष में सर्वाधिक विलक्षण एवं बुद्धि सम्पन्न कहा और आगे शिक्षा दिलाने का दृढ़ आग्रह किया। उसी वर्ष दुर्भाग्यवश अपने होन-हार पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किये बिना ही ३४ वर्ष की अल्पायु में उनके पिताजी और उनके केवल ६ दिन पश्चात् ही उसके पितामह की मृत्यु हो गई। इससे गुप्तजी के अध्ययन की आशा पर पानी ही नहीं फिर गया वरन् घर का उत्तरदायित्व सिर पर आ गया। पैतृक व्यवसाय, हिसाब-किताब, कर्ज-वसूली, लेन-देन, झगड़े निपटाने जैसे कठिन कार्य में १४ वर्ष की उम्र में ही इन्हें लग जाना पड़ा। फिर भी वे अध्ययन करते गये और ज्ञान-प्राप्ति के प्रत्येक अवसर का उपयोग करने में सजग रहे। उर्दू-फारसी का अध्ययन घर पर किया और जब इनके छोटे भाई घर के कार्य में सहयोग देने योग्य हो गये तो वे पढ़ाई के लिए दिल्ली चले गये और कुछ ही माह के परिश्रम से १८८६ ई० में मिडिल पास हो गए।

मथुरा से पं० दीनदयाल के द्वारा प्रकाशित उर्दू पत्र 'मथुरा' में इन्होंने १८८५ के लगभग लेख लिखना प्रारम्भ किया और उर्दू के प्रसिद्ध लेखक शौदा साहब ने उनकी प्रशंसा की। इसके पश्चात् उर्दू के 'अखबार-ए-चुनार' (१८८६) तथा 'कोहेनूर' (१८८७) के पत्रों की अखबार-नवीसी (पत्र-सम्पादन) की। उर्दू-शायरी में गुप्तजी का उपनाम 'शाद' था, जिसका अर्थ आनन्द है। वे वस्तुतः आनन्दी पुरुष थे। उनकी शैली में उनके

आनन्द की तरंगें स्फुटित हुई हैं।

घर की धार्मिक वृत्ति तथा स्वयं की रुचि होने से बचपन में तुलसीकृत रामायण तथा सूर-सागर के दैनिक अंश पाठ से हिन्दी की ओर झुकाव हुआ; दिल्ली में मिडिल परीक्षा के समय हिन्दी की ओर रुचि बढ़ी। भारतेन्दु की प्रतिभा विकीर्ण हो ही चुकी थी, अतः, आधुनिक हिन्दी की रचनाओं का पठन-पाठन का अवसर भी मिला। उर्दू के सफल लेखक एवं सम्पादक होकर भी इन्हें उर्दू की हिन्दी-विरोधिनी नीति पसन्द न थी। सभी क्षेत्रों में उर्दू हिन्दी को दबोचे बैठी थी। हिन्दी की वेदना भरी कराह, ज्योंही इनके कानों में पहुंची, कि इन्होंने उर्दू की अखबार-नवीसी छोड़कर १८८९ में महामना मालवीयजी की प्रेरणा से कालाकांकर से प्रकाशित हिन्दी के पत्र 'हिन्दुस्थान' की सह-सम्पादकी स्वीकार कर ली। वहीं वे पं० प्रतापनारायण मिश्र के सम्पर्क में आये। गुप्तजी मिश्रजी को अपना गुरु मानते थे। मिश्रजी की शैली का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। गुप्तजी की प्रतिभा से 'हिन्दुस्थान' भी प्रदीप्त हो उठा। गुप्तजी के राष्ट्रीय विचारों की प्रखरता से 'हिन्दुस्थान' पत्र के स्वामी भयभीत हो उठे। सरकार के विरुद्ध निर्भीकतापूर्ण ठेठ भाषा-शैली में लिखने के कथित अपराध में इन्हें वहां से हटना पड़ा।

गुप्तजी स्वभाव से विनोदी तथा स्वच्छन्द प्रकृति के थे। भारतीय संस्कृति, धर्म तथा राष्ट्रीयता के प्रति दृढ़ निष्ठा थी। व्यक्तिगत सिद्धान्त और धारणाएं भी इनकी अत्यन्त प्रबल थीं। किसी भी मूल्य पर वे इन सिद्धान्तों तथा श्रद्धा के केन्द्रों पर आघात सहने को तैयार न थे। उनकी गद्य-शैली में उनके स्वभाव की इस प्रखरता तथा स्वच्छन्दता के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। तात्कालिक भारत में जबकि अंग्रेजी राज्य का सूर्य मध्याह्न में तप रहा था, उसकी ओर कड़ी दृष्टि से देखना भी भयानक परिणामकारी हो सकता था; इस अल्हड़ मस्ताने ने अपने निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व प्रलाप से उस अंग्रेजी शासन पर तीखे प्रहार करना प्रारम्भ किये। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे विचारों के दृढ़ तथा स्वभाव के प्रखर थे। इस कारण उनका सम्पादकीय जीवन एक पत्र के सहारे पूर्ण न हो सका। 'हिन्दुस्थान' पत्र से हटने के पश्चात् वे १८९३ में 'हिन्दी बंगवासी' कार्यालय के बुलावे पर कलकत्ता पहुंचे। वहां हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, देवीसहाय पाटनवाले, सदानन्द मिश्र जैसे महारथियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। 'बंगवासी' के सम्पादक भी वे अधिक न रह सके और कलकत्ता से 'भारत-मित्र' का सम्पादन हाथ में ले लिया। सौभाग्य से यही पत्र उनकी अधिकांश हिन्दी सेवाओं का माध्यम रहा। उनके कठिन परिश्रम तथा प्रतिभा के कारण गुप्तजी के 'भारत-मित्र' की गणना हिन्दी के प्रथम कोटि के पत्रों में होने लगी। उन्होंने उच्च कोटि की आलोचनाएं कीं, तथा भाषा-शैली विषयक गड़बड़ी को सतर्कतापूर्वक निर्मूल करने का प्रयत्न भी किया। उनकी समालोचना के थपेड़े खाकर कितने ही लेखक और कवि राह पर आ गये।

गुप्तजी का मूल-रूप सम्पादक का ही है। उनकी हृदयानुभूतियां तथा 'दिल के मलाल' पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही जनता के समक्ष आये। 'भारत-मित्र' की

सम्पादकीय टिप्पणियां वे 'शिव शम्भू के चिट्ठे' स्तम्भ से लिखते थे

गुप्तजी का सम्पादकीय जीवन भारतवर्ष में कांग्रेस आन्दोलन के साथ प्रारम्भ हुआ। जिसने उनके राष्ट्रीय विचारों को बल दिया। आगे जाकर 'बंग-भंग' के घातक निर्णय के साथ राष्ट्रीयता की दुधारी तलवार पर शान चढ़ा दी गई। उनमें राष्ट्र-प्रेम की मात्रा इतनी अधिक थी कि उनके व्यक्तित्व के बहुत से गुण उसी के अन्तर्गत स्फुटित हुए हैं। हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में उस समय उनके समान प्रखर राष्ट्र-प्रेमी सम्पादक कोई न था। इसके लिए उन्होंने अपने सुख-शान्ति की भी भेंट चढ़ा दी। उन्होंने स्वयं विदेशी शासन की आलोचना की और अपने समकालीन सम्पादकों को विदेशियों के पिष्टपेषण करने ने रोका।'शिव शम्भू के चिट्ठे' टेसु इत्यादि उनकी इस क्षेत्र की प्रतिनिधि रचनाएं हैं।

राष्ट्र-प्रेमी के साथ ही वे राष्ट्र-भाषा-प्रेमी भी थे। वे हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए सदैव सचेष्ट रहे। उन्होंने भाषा को सुधारा, संवारा और व्याकरण की गलतियों से मुक्त ही नहीं किया, उसमें रवानगी भी पैदा की जो द्विवेदीजी के यहां कम मिलती है।[1]

स्वभाव की सरलता, सादगी तथा आडम्बरहीनता उनकी विशेषता थी। इससे कभी-कभी लोग उन्हें शुष्क, अव्यावहारिक या ललित कला-विरोधी भी समझ जाते थे; परन्तु उनकी हास्य, विनोद, परिहास की प्रकृति थोड़ी ही देर में वह धारणा बदल देती थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र के प्रभाव से उनकी स्वयंभू हंसोड़ प्रकृति का रंग गहरा हुआ। बहुधा वे होली के अवसरों पर 'भारत-मित्र' को व्यंग्य और परिहास की पिचकारियों से रंग-रंजित करके प्रकाशित करते थे। स्वयं उर्दू के लेखक होकर उर्दू की लिखावट की खिल्ली उड़ाते हुए कहते कि उर्दू में 'अभ्युदय' को 'ओबेहूदे' तथा 'भारत-मित्र' को 'भारत-मेहतर' पढ़ा जाता है। व्यंग्य-वाक्य और व्यंग्य-चित्र उनके विशेष शस्त्र थे। सन् १६०३ में जब बाबू श्यामसुन्दरदास 'सरस्वती'-सम्पादन से विदा हुए और द्विवेदीजी ने उनका स्थान ग्रहण किया, उस समय बाबू साहब के प्रकाशित चित्र के नीचे छपा था—"मातृभाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास सौम्यशील-निधान बाबू श्यामसुन्दरदास"। इसकी प्रतिक्रिया में गुप्तजी ने लिखा—"पितृभाषा के बिगाड़क सफल, एफ० ए० फिस्स। जगन्नाथप्रसाद वेदी बीस कम चौब्बीस"।[2] इन्हीं परिहास प्रेमी चतुर्वेदीजी से उनकी बहुत पटती थी। उनकी हँसी-दिल्लगी भी बहुधा श्लेष में होती थी।

चाटुकारिता से उन्हें घृणा थी। उनकी खरी, स्पष्टवादी प्रकृति के साथ निर्भीकता तथा ओजस्विता का चोली-दामन का सम्बन्ध भी था। ओजस्विता बिना निर्भीकता के यदि पंगु है, तो ओजस्विताविहीन निर्भीकता निरर्थक है। गुप्तजी को इन दोनों अन्योन्याश्रित गुणों का बहुलांश प्राप्त था। वे बड़े से बड़े व्यक्तियों से भिड़ जाते और उन्हें अपनी प्रतिभा से निष्प्रभ कर देते थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्यिक दिग्गज, लार्ड कर्जन जैसे प्रखर गवर्नर जनरल, फुलार जंग जैसे तेज

१. डॉ० रामविलास शर्मा—'अवन्तिका' वर्ष १, अंक २ : पृ० ६३।
२. गुप्त स्मारक ग्रन्थ : पृ० ३३०।

बंग-गवर्नर तथा महाराजा ग्वालियर सर माधवराव सिंधिया जैसे तेजस्वी पुरुष के साथ वे जूझ पड़े थे।

ओजस्विता तथा निर्भीकता से भी महान् गुण उनके हृदय की निष्कपटता और चरित्र की निर्मलता में दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य द्विवेदी तथा पं० माधवप्रसाद मिश्र के साथ उनका विवाद और विरोध काफी चला, पर गुप्तजी से बैर नहीं बांधा। अवसर हाथ लगते ही वे उनसे प्रेम तथा सम्मानपूर्वक मिले। अमृतलाल चक्रवर्ती से उनकी विचार विषमता थी, पर संकट के समय उन्हें न केवल आर्थिक सहायता दी वरन् उनसे मिलने कारागृह तक पहुँचे।

बंग-साहित्य और साहित्यकारों के प्रत्यक्ष लम्बे सम्पर्क के कारण इन पर बंगला भाषा का प्रभाव पड़ा। विशेषता: वे बंकिम बाबू की प्रतिभा के अत्यधिक कायल थे। उन्हीं के 'कमला कां तेर दफ्तर' से प्रभावित होकर उन्होंने 'शिव शम्भु का चिट्ठा' लिखा। इसी 'चिट्ठे' ने शिव शम्भु शर्मा नामधारी गुप्तजी को लोकप्रियता एवं अमरता प्रदान की है। छद्म आलोचक 'आत्माराम' व्यंग्यकार खत और चिट्ठों का लेखक 'शिव शम्भु शर्मा' तथा सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त—ये एक ही व्यक्तित्व की त्रिमूर्तियाँ हैं। इनकी भाषा-शैली भी अपनी-अपनी पृथक् है।

भाषा-शैली

गुप्तजी के व्यक्तित्व की विशेषताओं की स्पष्ट छाप उनकी शैली में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। गुप्तजी रचना, भाव, विषय और सजीव भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के अधिक निकट ज्ञात होते हैं। उनकी भाषा और शैली पर भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र का विशेष प्रभाव है, इससे वे द्विवेदी-युग के यशस्वी निबन्धकार होकर भी भारतेन्दु-युग के सबल प्रतीक प्रतीत होते हैं। उन्होंने द्विवेदीजी के भाषा-सुधार कार्य में तथा हिन्दी की अव्यवस्था, अराजकता और अस्थिरता को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। द्विवेदीजी के समान गुप्तजी का अंकुश भी स्वेच्छाचारियों को सदा खलता था। उनकी मृत्यु पर इसीलिये हिन्दी के ऐसे उच्छृङ्खल लेखकों को स्वतन्त्रता का अनुभव हुआ था।[1]

द्विवेदी-युग की उषा बेला में बाबू बालमुकुन्द गुप्त की प्रतिभा सर्वाधिक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में देदीप्यमान हुई। हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण करते ही उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं प्रबुद्ध प्रयत्नों द्वारा हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान के सेवकों में अपना अति उच्च-स्थान बना लिया। हिन्दी की जातीय शैली के प्रणयन तथा भाषा के परिष्कार में उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। जैसी कि सफलता उनके परवर्ती हिन्दी-गद्य-लेखक पं० पद्मसिंह शर्मा, मुंशी प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि मूल उर्दू-लेखकों को उत्तर-द्विवेदी काल में प्राप्त हुई थी वैसी ही पूर्व-द्विवेदी काल में गुप्तजी को उपलब्ध हुई थी। इस दृष्टि से मूल उर्दू के हिन्दी लेखकों में वे अग्रगण्य ठहरते हैं और सजीव,

१. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, लाहौर विवरण—ज्येष्ठ शुक्ल १, सं० १९७९।

प्रवाहमयी, चंचल, चुहुलपूर्ण मस्त, जिन्दादिल भाषा के प्रवर्त्तक के रूप में भी मान्य हैं। हिन्दी-गद्य निर्माताओं की मण्डली में भी उनका व्यक्तित्व अपना विशेष स्थान रखता है। इतना ही नहीं, हिन्दी-साहित्याकाश से भारतेन्दु के एकाएक अस्त होने के पश्चात् एवं द्विवेदी-मार्तण्ड के उदय होने के पूर्व जो संधि-बेला या संक्रमण काल था, उसमें गुप्तजी का विभा ने शुक्रतारे की भाँति सर्वाधिक आलोक प्रदान किया। उन्होंने कई नवीन लेखकों को अंधकार में भटकने से बचाया और उन्हें मार्ग प्रदर्शित किया। स्वयं युग-पुरुष द्विवेदीजी से 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर विवाद किया। इस प्रकार से उन्होंने भारतेन्दु प्रवर्त्तित भाषा को शक्ति प्रदान कर आगे बढ़ाया। भाषागत अराजकता, अव्यवस्था को दूर करने का प्रयत्न किया और द्विवेदीजी के भाषा-संस्कार के कार्य में हाथ बंटाया।

गुप्तजी ने आलोचक, व्यंग्यकार और सम्पादक—इन तीन प्रमुख रूपों में हिन्दी-गद्य को विविध शैलियाँ प्रदान की हैं और हिन्दी-गद्य शैलियों के मार्ग को प्रशस्त किया है। इस दृष्टि से वे युग के अग्रगण्य शैली-शिल्पी भी सिद्ध होते हैं। उन्होंने सरल तथा व्यावहारिक शब्दों के द्वारा जो प्रभावी भावाभिव्यक्ति की है, वह अनुकरणीय तथा आकर्षक प्रमाणित हुई। चलती सरल, मुहावरेदार भाषा में हृदय को स्पर्श किया जा सकता है, यह हिन्दी के पाठकों के सामने प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया। हिन्दी की इस जन-शैली ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में बहुत सहायता पहुँचाई। इसीलिए उन्होंने भाषा में मध्यम मार्ग का अनुकरण किया। उनकी शैली समसामयिकों में श्रेष्ठ मानी जाती थी। इस स्वतन्त्र शैली के प्रवर्त्तक भी वे ही थे। आधुनिक हिन्दी की आधारशिला रखने वाले दो-चार प्रमुख व्यक्तियों में गुप्तजी का स्थान है।[१] हिन्दी को राष्ट्र-भाषा पद के लिए अग्रसर करने में भी इनका महत्त्वपूर्ण हाथ है।

गुप्तजी की भाषा-शैली सम्बन्धी नीति तथा उनकी भाषा-शैली का सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित हो सकता है—

"हमारे लिये इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिन्दी बोलनेवाले तो समझ ही सकें, उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ न कुछ समझ सकें, जिनमें वह नहीं बोली जाती है। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठी आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे। किसी देश की भाषा उस समय तक काम की नहीं होती जब तक उसमें उस देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते।"[२]

सरल और स्वच्छ शैली के विनोदी लेखक[३] गुप्तजी के मूलतः उर्दू लेखक होने के कारण उनकी गद्य-शैली में उर्दू की स्वाभाविक चपलता, मस्ती, जिन्दादिली, रोचकता

---

१. मुन्शी दयानारायण निगम सम्पादक 'जमाना' अक्तूबर-नवम्बर १९०७ : उद्धृत—बालमुकुन्द गुप्त : स्मारक ग्रन्थ : पृ० : २७२।

२. गुप्त-निबन्धावली : पृ० : ५७०।

३. डॉ० हजारीप्रसादी द्विवेदी : हिन्दी-साहित्य : पृ० ४३९।

आदि गुण प्रारम्भ से ही उपस्थित मिलते हैं। वे स्वयं भाषा की व्यावहारिकता को महत्त्व देते थे, इसी से हिन्दी के लेखकों को उर्दू का ज्ञान आवश्यक मानते थे।[1] पत्र-कारिता के आश्रय से पालित-पोषित तथा राजनीतिक परिस्थितियों से परिपुष्ट गुप्तजी की भाषा पाठक के हृदय को गुदगुदाती भी है और मस्तिष्क को कुरेदती भी है। हिन्दी, उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के प्रयुक्त मुहावरे उनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में जीवन फूँकते हैं। इससे उनकी भाषा में सरलता भी आ गई है और स्पष्टता भी। भाषा शैली के इन गुणों के कारण वे हिन्दी-गद्य तथा आलोच्य युग के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में समझे जाते थे।[2]

गुप्तजी के वाक्य भी साधारणतः छोटे व सरल होते हैं। वाक्य-विन्यास में कृत्रिमता नहीं आ सकी है। हाँ, कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास में व्यतिरेक उत्पन्न करके उन्होंने शैली में नवीनता का सूत्रपात किया है। कलात्मकता की दृष्टि से उन्होंने पुनरुक्ति को भी स्थान दिया है। उनकी ये पुनरुक्तियाँ उनकी सिद्ध-हस्तता ही प्रगट करती हैं और कलाकार के स्पर्श से दोष गुण हो गई हैं इनसे भी भाषा में शक्ति और दृढ़ता आई है। जैसे—

"वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसी को उस कठिन दशा में उस भयानक काली रात में वह गोकुल पहुँचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदों को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार करके भीगते हुए उस बालक को गोकुल पहुंचाकर उसी रात कारागार में लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज का प्यारा हुआ, माँ बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ। उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई, जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्व प्रधान अवतार हुआ और शिव शम्भु शर्मा का इष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत संतान के लिये तीर्थ हुआ।"[3]

मिश्रित, गूढ़ व्यंग्यात्मक शैली गुप्तजी के व्यक्तित्व की सबल व्यंजक है। उसमें उनकी भाषागत बहुज्ञता तथा स्वभावगत व्यंग्य और परिहास का समन्वय रहता है। ये व्यंग्य भी अन्योक्तियों में होते हैं और पर्याप्त भूमिका के पश्चात् प्रस्तुत किये जाते हैं। कभी-कभी तो लगने लगता है कि लेखक मूल विषय से भटक गया है; परन्तु जैसे ही कलात्मक ढंग से वह विषय पर ठीक पहुँचता है तो लेखक के कौशल की दाद देनी पड़ती है। यथा—

"एक बार एक छोटा-सा लड़का अपनी सौतेली माता से खाने को रोटी मांग रहा था। सौतेली माँ कुछ काम में लगी थी, लड़के के चिल्लाने से तंग होकर उसने उसे

१. बालमुकुन्द गुप्त : स्मारक ग्रन्थ : संस्मरण और श्रद्धांजलियां : पृ० २६३।
२. बालमुकुन्द गुप्त : स्मारक ग्रन्थ : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (संस्मरण रायकृष्णदास) : पृ० ३६८।
३. बालमुकुन्द गुप्त : चिट्ठे और खत : (आशीर्वाद) : पृ० ४३।

एक बहुत ऊँचे ताक में बिठा दिया। बेचारा भूख और रोटी दोनों को भूल नीचे उतार लेने के लिये रो-रोकर प्रार्थना करने लगा, क्योंकि उसे ऊँचे ताक से गिरकर मरने का भय हो रहा था। इतने में उस लड़के का पिता आ गया। उसने पिता से बहुत गिड़-गिड़ाकर नीचे उतार लेने की प्रार्थना की। पर सौतेली माँ ने पति को डांटकर कहा, कि खबरदार! इस शरीर लड़के को वहीं टंगे रहने दो, इसने मुझे बड़ा दिक किया है। इस बालक की सी दशा इस समय इस देश की प्रजा की है। श्रीमान् से वह इस समय ताक से उतार लेने की प्रार्थना करती है, रोटी नहीं माँगती। जो अत्याचार उस पर श्रीमान् के पधारने के कुछ दिन पहले से आरम्भ हुआ है, उसे दूर करने के लिये गिड़गिड़ाती है, रोटी नहीं माँगती। बस, इतने ही में श्रीमान् प्रजा को प्रसन्न कर सकते हैं! सुनाम पाने का यह बहुत ही अच्छा अवसर है, यदि श्रीमान् को उसकी कुछ परवाह हो"[१]

गुप्तजी के मुहावरों के कुछ उदाहरण

हक्का-बक्का होना, उड़न छू होना, काफूर होना, हौसला बढ़ना, हिम्मत तोड़ना, घर करना, मन फड़क उठना, दिन ढलना, जीने मरने का साथ, नाक में नकेल डालना, काम की चक्की में पिसना, नशा किरकिरा होना, टेढ़ी खीर, सिक्का जमाना, धूल मिलाना, आँख में धूल झोंकना इत्यादि हैं। इन मुहावरों की एक विशेषता यह रहती है कि वे बहुत जन-प्रचलित तथा व्यंजक होते हैं।

गुप्तजी ने अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग उदारतापूर्वक किया है। वे विदेशी शब्दों का अनुवाद करके ग्रहण करने की अपेक्षा उन्हें मूलतः स्वी-कृत करना ही उत्तम समझते थे। अनुवाद में मूल शब्द के भाव की पूर्ण रक्षा और अनुवाद करने की कठिनाई के कारण, मूल शब्द का भारतीयकरण करना पसंद करते थे। जैसे अंग्रेजी के लार्ड, कमाण्ड इत्यादि शब्दों को लाट, कमान ही रखा है तथा अरबी-फारसी के शब्दों के नीचे के नुक्तों को छोड़कर वे बेफिकर, मालुम, मूजब, अफ-सोस लिखते थे।

गुप्तजी की भाषा-शैली भी युग की अराजकता, अव्यवस्था और शिथिलता के प्रभाव से अछूती नहीं बच सकी है। उसमें भी शब्दों की बहुरूपता, अशुद्ध रूप, प्रयोग तथा व्याकरण की अन्य त्रुटियाँ मिलती हैं। आवेंगे, जावेंगे, करेंगे, कटूक्ति, तयारी, कार्य इत्यादि शब्द रूप; यह वह के दोनों वचनों में प्रयोग तथा सामान्य लिंग वचन की भूलें प्रमुख हैं।

(क) "अंग्रेजी में छपी हुई मुंशी देवीप्रसादजी के सार्टीफिकटों की एक पुस्तक मेरे दृष्टिगोचर हुई।"[२]

(ख) "भारत-मित्र के पाठकों ने यह लेख बड़े चाव से पढ़े हैं। ढूंढ़-ढूंढ़कर बड़ी आरजू से मंगाये हैं। जिनको न मिले उनका तकाजा है कि वह लेख जल्द

१. गुप्त-निबन्धावली : (चिट्ठे और खत) : पृ० २२५

२. गुप्त-निबन्धावली : पृ० ३१।

पुस्तकाकार छपें, जिससे हम भी देख सकें।"[१]

(ग) "कालाकांकर हिन्दी पत्र 'हिन्दुस्थान' से कोई दो वर्ष हमारा भी सम्बन्ध रहा। उसका कारण हुई थी पंडित श्री मदनमोहन मालवीयजी की कृपा।"[२]

फिर भी, निःसन्देह हिन्दी-गद्य शैलियों के विकास में गुप्तजी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने भाषा को सुधारा-संवारा तथा उसमें सौष्ठव उत्पन्न किया। उन्होंने भाषा की व्यंजना-शक्ति की भी वृद्धि की। उनके हाथ में हिन्दी-गद्य निखरकर कलापूर्ण हो गया कि उसे पढ़ने में कविता का-सा आनन्द आता है।" उनकी भाषा की-सी रवानी द्विवेदीजी के यहाँ कम मिलती है।[३]

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध (१८६५-१९४७ ई०)

हरिऔधजी की साहित्यिक प्रतिभा गद्य-क्षेत्र में उपन्यास, नाटक, समीक्षा के अतिरिक्त निबन्धों में भी मुखरित हुई है। यद्यपि निबन्धकार के रूप में उनका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना उपन्यासकार के रूप में है, तथापि निबन्ध-शैलियों की दृष्टि से वे अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनके जीवन-दर्शन एवं व्यक्तित्व की चर्चा 'कथा-साहित्य' में 'शैलियाँ', अध्याय में की गई है।[४]

निबन्ध रचना-साहित्य-संदर्भ, उद्बोधन तथा अन्य स्फुट निबन्ध

उनके निबन्धों में इनका कवि-व्यक्तित्व अधिक सजग मिलता है। हिन्दी तथा हिन्दुत्व के प्रबल पोषक होने के कारण उन्होंने हिन्दी के लिए स्वस्थ साहित्य निर्माण के लिए ही प्रयत्न नहीं किया, वरन् उसके प्रचार-प्रसार एवं प्रतिष्ठा-स्थापन के लिए कई शैलियों के प्रयोग किये हैं। प्रचारवादी सैद्धान्तिक के रूप में व्यावहारिक भाषा का समर्थन किया है। संस्कृत के विद्वान् तथा संस्कृति के समर्थक होकर भी उन्होंने शुद्ध संस्कृत शब्द-समूह के स्थान पर व्यवहृत अपभ्रंश संस्कृत शब्दों के प्रयोग को उत्तम समझा है।[५] फिर भी मन की तरंग तथा विभिन्न शैलियों के प्रयोग के लिए उन्होंने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त का कठोरता से पालन नहीं किया है। उनकी भाषा बहुलांश में संस्कृतगर्भित है और उसमें कहीं-कहीं बाण, दण्डी के संस्कृत गद्य-काव्य का स्मरण दिलाने की क्षमता है। 'संदर्भ-सर्वस्व' की भूमिका में वे स्वयं भाषा की संस्कृतगर्भितता को स्वीकृत करते हैं, परन्तु इसका कारण वे संदर्भ के अन्तर्गत गूढ़ार्थ प्रकाशन, सारोक्ति की श्रेष्ठता तथा नानार्थवत्ता का वेदत्व को मानते हैं।[६]

काव्यात्मकता एवं भावात्मकता के संयोग से उनकी भाषा स्थान-स्थान पर

१ गुप्त निबन्धावली : पृ० ४२७।
२. उद्धृत—आदर्श निबन्ध : सम्पादक—डॉ० जगन्नाथप्रसाद वर्मा (हिन्दुस्थान) : पृ० १७।
३. डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य : (बालमुकुन्द गुप्त) : पृ० १६६।
४. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ७ : पृ० ३७४।
५. अधखिला फूल : भूमिका : पृ० ३७।
६. संदर्भ-सर्वस्व : भूमिका : पृ० 'ख'।

काव्यमयी, आलंकारिक तथा कृत्रिम हो गई है। सामान्य शब्दालंकारों में विशेष रुचि तथा विशुद्धता के दृढ़ आग्रह से भाषा में प्रसाद गुण तिरोहित होने लगा है। लम्बे वाक्य 'किन्तु-परन्तु' के साथ बोझिल से हो गये हैं। जहाँ वाक्य सामान्य कोटि के हैं वहाँ शैली में स्पष्टता आ गई है।

"सौभाग्य की बात है कि दृष्टिकोण बदला है, परम कमनीय कलेवरा शृङ्गार रस की कविता-सुन्दरी कवि-मानस समुच्च सिंहासन से धीरे-धीरे उतर रही है और उस पर लोकोत्तर कान्तिवती जातीय राग-रंजिता कविता देवी सादर समासीन हो रही है। ललित-लीला-निकेतन वृन्दावन धाम अब भी विमुग्धकर है; किन्तु सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला भारत-वसुन्धरा आज दिन अधिक आदरवती है। तरल तरंगमयी तरणि-तनया उत्फुल्लकारी है; किन्तु प्रवहमान देश-प्रेम पावन प्रवाह समान सर्वप्रिय नहीं। भगवान मुरली मनोहर की मधुमयी मुरलिका आज भी मोहती है, मोहती ही रहेगी; किन्तु अब हम उसके माधुर्य में देश प्रेम का पुट, ध्वनि में जातीयता की धुन और सुरीलेपन में सजीव स्वर लहरी होने के कामुक हैं। प्रेम प्रतिभा राधिकादेवी की आराधना आज भी होती है; किन्तु पुष्पांजलि अर्पण कर बद्धांजलि हो अब यही प्रार्थना की जाती है—माता तू जिसकी हृदयेश्वरी है, उसके गम्भीर भाव से कह दे—भारत भूतल फिर भाराक्रान्त है।"[1]

"प्रातःकाल का समय था। भगवान भुवन भास्कर की किरणें उषा देवी से गले मिलकर धरातल को ज्योति प्रदान कर रही थीं। समीर धीरे-धीरे बह रहा था। दिशाएँ प्रफुल्लित थीं। धारा अंक विलसिता सरिता विहंसिता थी। लोल लहरें नर्तन-रत थीं और किरणों के साथ कल्लोल कर रही थीं। सरिता तट पर खड़े भोजराज अंभोजोपम नेत्रों से इस दृश्य को देख रहे थे और प्रकृति सुन्दरी की मनोहारिणी छवि अवलोकन कर विमुग्ध थे।"[2]

जहाँ तक उपर्युक्त भाषा-शैली का प्रश्न है, वह साधारणतया बोधगम्य और क्षम्य हो सकती है, परन्तु जहाँ प्रगाढ़ भाव-प्रणवता के साथ जब वे संस्कृत के दीर्घ-काय सामासिक शब्दों को गुथते जाते हैं, तो दण्डी और बाणभट्ट की गद्य-काव्य शैली का समा बंध जाता है, वाक्यावलियाँ भी दीर्घकाय हो जाती हैं और केवल वाक्य के अन्त की हिन्दी क्रियाएँ ही, जाते समय धीरे से संकेत कर जाती हैं कि रचना हिन्दी की है।

"बालार्क अरुण राग रंजित प्रफुल्ल पाटल-प्रसून, परिमल-विकीर्णकारी मन्द-वाही प्रभात समीरण, अतसीकुसुमदलोपमेयकान्ति नवजलधर पटल, पीयूषप्रवर्षणकारी सुपूर्ण-शुभ्रशारदीय शशांक, रविकिरणोद्भासित वीचिविक्षेपणशीला तरंगिणी, श्यामल-तृणावरण-परिशोभित उत्तुंग शैल शिखर श्रेणी, नवकिशलय कदम्बसमलंकृत वासंतिक विविध विटपावली, कोकिल कुलकलंकीकृत कंठसमत्कीर्ण कल निनाद, अत्यन्त मनो-मुग्धकर और हृदयतल स्पर्शी हैं।"[3]

१. संदर्भ-सर्वस्व : (साहित्य) पृ० १४७।
२. संदर्भ-सर्वस्व : (धाराधीश की दान धारा) : पृ० ५०।
३. अधखिला फूल का समर्पण : पृ० ३-४।

उपाध्यायजी की शैली की एक बड़ी विशेषता उसकी संजीवन शक्ति है। है। शिथिलता, शुष्कता तथा निष्प्राणता उसमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। भाषा की इस जीवन शक्ति को सदैव बनाये रखने के लिए उन्होंने अनेक उपक्रमों का सहारा लिया है। कुशल व्याख्याता के सदृश्य कहीं तो वे प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं, फिर स्वयं ही उनका समाधान करते हैं। अपने तथ्य के समर्थन में कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार विभिन्न स्थलों से प्रसिद्ध उक्तियां तथा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इस युक्ति से उनकी शैली बलवती तथा तर्कपूर्ण विवेचनात्मक हो जाती है। जैसे—

"विचारणीय तो यह है कि उनका व्यवहार, उनकी इस प्रकार की बातें कहां तक युक्ति संगत हैं, और शास्त्र की आज्ञा इस विषय में क्या है। क्या कर्म का त्याग उचित है? जिस रूप में प्राय: भगवद्भजन आजकल किया जा रहा है, क्या वह अपने शुद्ध रूप में है? वैराग्य किसे कहते हैं? उसका सच्चा रूप क्या है? मुक्ति किसे कहते हैं? क्या संसार असार है? ये प्रश्न साधारण नहीं। परन्तु, यह अवश्य है कि वास्तविकता छिपी भी नहीं है। कर्म का त्याग किसी काल में नहीं हो सकता, भगवदाज्ञा है—

नियतं कुरु कर्म्मत्वं कर्मज्यायोह्य कर्मण:।
शरीर यात्रापि चते न प्रसिद्धयेद कर्मण:॥

सदा कर्म करो। कर्म न करने से कर्म का करना अच्छा है। कर्म का त्याग करने से तो शरीर यात्रा का भी निर्वाह न होगा। और सुनिये :—

त्यक्त्वाकर्म फलासंग नित्यतृप्तो निराश्रय:।
कर्मण्यमि प्रवृत्तोपि नैवकिंचित् करोति स:॥[1]

स्वत्व के अति दृढ़ आग्रह ने बहुधा उनकी भाषा में ओज के साथ विदग्ध प्रयोग, व्यंग्य, कटाक्षादि का सुन्दर सम्मिश्रण कर दिया है। भावावेश में मुहावरों के प्रवाह और अनुप्रासिक शब्द योजना ने उनकी भाषा को गति तथा शक्ति प्रदान की है। भावों की प्रबलता में कई वाक्यांश जुड़ते चले गये हैं और लम्बे वाक्यों की शृंखला बन गई है। इन स्थलों पर प्रभावपूर्ण भावाभिव्यंजना मुहावरों के माध्यम से हुई है, जिससे भाषा सजीव, सुगठित तथा हृदयहारी हो गई है। यथा —

"आज दिन हमारे सिर-धरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलनेवाले भी आग लगा रहे हैं और भगवा पहनने वाले भी भांग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूंछे उखाड़कर मूंछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूंसकर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंगकर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काटकर अपना पेट पाल रहे हैं और बेबसों के घर को जलाकर अपने घर में घी के दीये बाल रहे हैं। पूंजीवालों का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है, पर किसी सटे पेट वाले को देखते ही उनकी आंख पर पट्टी बंध जाती है। सण्डे-मुसण्डे डण्डे के बल माल भले ही चाब लें पर भूख से जिनकी आंखें नाच रही हैं; उनको वे कानी-कौड़ी भी देने

१. संदर्भ-सर्वस्व : (वेदान्तवाद) : पृ० २८-२९।

के रवादार नहीं।"[1]

हरिऔधजी का विशिष्ट शब्द-चयन ही उनकी शैली की विलक्षणता के लिए उत्तरदायी है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव दोनों ही प्रकार के शब्दों का समादर किया है; परन्तु उर्दू-फारसी शब्दों से वे सप्रयास बचे रहे हैं। गद्य को प्रभावपूर्ण तथा हृदयस्पर्शी बनाने के लिए मार्मिक शब्दों का चयन किया है। भावों की गम्भीरता के कारण भी, गम्भीर वातावरण के उपयुक्त, उर्दू-फारसी के शब्दों को स्थान नहीं मिल सका है। अनेक स्थलों पर उन्होंने अतिक्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। सामासिकता के कारण भी बड़े शब्दों की योजना हुई है। जैसे—सहानुभूति-जनित-हृदय-ममता, श्रुतिकंठ-विदीर्णकारी, दुरूहता-वारिधि-संतरण, मनोरम-पुष्प-फल-भार-विनम्र, स्निग्ध-पत्रावली-परिशोभित इत्यादि। क्वचित: प्रचलित तथा व्यावहारिक अंग्रेजी के शब्द भी उनकी भाषा के प्रवाह में खिचे चले आए हैं। यथा—स्टाइल, पेरा, बायकाट, हैड, टाइप आदि।

हरिऔधजी का वाक्य-विन्यास सीधा और सरल है। उसमें व्यतिरेक उत्पन्न करके चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। फिर भी लम्बे-लम्बे सामासिक शब्दों की भांति उनकी वाक्यावलियां प्रायः विशालकाय मिलती हैं। एक वाक्य में कई जगह सात-सात आठ-आठ उपवाक्य गुथे मिलते हैं। इन्हीं के अनुरूप उनके परिच्छेदों का विस्तार भी सात-सात आठ-आठ पृष्ठों में रहता है। उदाहरणत: उनका ४६ पृष्ठों का उद्बोधन ग्रन्थ केवल ११ परिच्छेदों में पूर्ण हो गया है और जिसका अन्तिम परिच्छेद ६ पृष्ठों से अधिक का है और प्रथम सबसे छोटा २ पृष्ठों से कम का नहीं है। फिर भावावेग के साथ क्रमश: वाक्य और परिच्छेद लम्बे होते गये हैं। यथा एक वाक्य—

"तेरा विचार है कि हमारी संख्या आज भी बीस कोटि है, आज भी समुतुंग हिमालय से समुद्रकूलम परिशोभी कन्याकुमारी अन्तरीप तक हमारा धर्म कोलाहल तार स्वर से श्रुत होता है, आज भी प्रान्तवर्ती अफगानिस्तान से सुदूर स्थित ब्रह्मदेश पर्यन्त हिन्दू धर्म की विजय मेरी गुरु गम्भीर नाद से निनादित है, आज भी काशी श्रुति मधुर संस्कृत शब्दोच्चारण से वैसी ही मुखरा है, नदिया में आज भी अवच्छेद का वच्छिन्न का वैसा ही गगनभेदी कोलाहल है भ्रष्ट श्रीअवधपुरी दिन-दिन अधिक शोभाशालिनी हो रही है, पर्वोत्सवों पर पुण्य क्षेत्र प्रयाग, धर्म्म क्षेत्र हरिद्वार आज भी सवेवेत मानव मण्डली से वैसी ही अपूर्व शोभा धारण करते हैं, अब तक घर-घर शास्त्र पुराण की चर्चा है, ग्राम-ग्राम शास्त्रीय कार्य-कलाप से पवीत्रीकृत है, फिर चिन्ता का कौन स्थान है ?"[2]

'एक विचार एक भाव' के आदर्श से सर्वथा दूर हट जाने के कारण उनकी भाषा में दुरूहता और अस्पष्टता दोष कई जगह आ गया है। इनके अतिरिक्त कई शब्दों के अशुद्ध रूप भी मिलते हैं जैसे—हम्हीं, धूंधले, घिरे हुये, ठण्ढ़ी इत्यादि।

फिर भी सम्यक् दृष्टि से हरिऔधजी की भाषा में सौष्ठव, स्निग्धता एवं

१. निबन्ध—'दो-दो बातें' : उद्धृत—गद्य पुष्प-माला : सं० शारदाप्रसाद वर्मा : पृ० ४२।
२. उद्बोधन : पृ० ४५।

विशदता है, जिसका श्रेय उनके काव्य-कौशल को है। क्योंकि वे कवि पहले हैं और गद्य-लेखक उसके बाद, तभी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं है।[1]

माधवप्रसाद मिश्र (१८७१-१९०७ ई०)

द्विवेदी-युग में माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा अध्यापक पूर्णसिंह—ये तीन विलक्षण प्रतिभाएं हुई हैं, जो अपने अल्प साहित्यिक-जीवन में अमर हो गई हैं। मिश्रजी इस त्रिमूर्ति में प्रथम एवं सबसे अल्पजीवी साहित्यकार थे।

माधवप्रसाद मिश्र का जन्म भिवानी के पास कूंकड़ ग्राम जिला हिसार(पंजाब) में, भाद्र मास की शुक्ल त्रयोदशी को हुआ था। इनके पिता पं० रामजीदास तथा पितामह पं० जयरामदास संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे और सम्पूर्ण हरियाना प्रान्त में उनके यश की दीप्ति फैली थी। यहां से जयरामदास किसी धनाढ्य मारवाड़ी के आग्रह से भिवानी चले गये थे।

बालक माधवप्रसाद का विद्यारम्भ पिताजी द्वारा ही हुआ। असाधारण बाल-चपलता एवं प्रतिभा के साथ उनकी ग्रहण शक्ति बहुत प्रखर थी; परन्तु उपद्रवों और शरारतों में मन उलझा रहता था। इन पर इनकी पितामही का प्रभाव गहरा पड़ा। वे हरि-भक्त तथा साध्वी थीं और इन्हें पुराण, महाभारत इत्यादि की कथाएं सुनाया करती थीं। बालक के कोमल हृदय को इन संस्कारों ने धर्मभीरु बना दिया। पिताजी ने पुराण, काव्य, धर्म-शास्त्र तथा व्याकरण की शिक्षा दी। तत्पश्चात् पं० श्रीधर पाठक और राममिश्र शास्त्री से दर्शन-शास्त्र तथा पं० उमापति से साहित्य का अध्ययन किया। साथ ही उर्दू, मराठी, गुजराती, बंगला और पंजाबी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार २५ वर्ष की उम्र तक सब शक्तियों से सम्पन्न होकर ये कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। धर्म, देश तथा साहित्य को इन्होंने अपने जीवन-रस से सींचा।

सन् १९०० में बाबू देवकीनन्दन खत्री के सहयोग से काशी से 'सुदर्शन' मासिक पत्र का प्रकाशन बहुत सफलता से किया। 'सुदर्शन' २ वर्ष ४ माह से अधिक नहीं चल सका, फिर भी इसमें बहुत ही सुन्दर और बेजोड़ निबन्ध प्रकाशित हुए, जैसे उस काल में दुर्लभ थे। पांडित्य के साथ प्रांजल, पुष्ट एवं परिमार्जित भाषा में इन्होंने ६० से अधिक लेख अधिकांश जीवनियां आदि लिखी हैं। इनमें हिन्दू-पर्वों और त्योहारों पर ८ बड़े सुन्दर तथा प्रौढ़ निबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं—'श्रीपंचमी', 'होली', 'रामलीला', 'व्यासपूजा', 'नवीन वर्षोत्सव', 'कुम्भ पर्व', 'श्रावण के त्योहार' और 'विजयादशमी'। भावात्मक निबन्धों में 'सब मिट्टी हो गया' अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने सात तीर्थ-यात्राओं पर भी बड़े मनोहर व सुन्दर लेख लिखे। 'वैश्योपकारक' पत्र का भी दो वर्ष तक सम्पादन-कार्य किया। उनकी हिन्दी-सेवा की कुल अवधि १० वर्ष से कम है।

धर्म के क्षेत्र में सनातन-धर्म के पूर्ण पक्षपाती थे। उसकी निन्दा व अपमान वे सहन नहीं कर सकते थे। भारत-धर्म महामण्डल के उत्थान में पं० दीनदयालु शर्मा को

१. पं० रमाकान्त त्रिपाठी : हिन्दी-गद्य-मीमांसा : पृ० २९६

बहुत सहयोग दिया। कलकत्ता के 'विशुद्धानन्द सरस्वती' विद्यालय की स्थापना में योग दिया तथा मारवाड़ी-समाज की कुरीतियों को दूर करने में बहुत सफलता पायी।

उन्नत ललाट, उन्नत ग्रीवा एवं उन्नत वक्ष-स्थल उनकी भारतीय संस्कृति, सनातन धर्म और स्वत्व की उच्चता तथा उन्नतावस्था के प्रतीक हैं। बुद्धि की प्रखरता ने उनके ललाट को ऊंचा किया, स्वाभिमान ने ग्रीवा को और स्वदेशाभिमान ने उनके वक्ष-स्थल को उठाया। बड़ी-बड़ी ऐंठी मूंछें, प्रकाशमान तीव्र ज्योतिर्मय नेत्रों से उनका आत्मविश्वास टपकता था। सिर पर मारवाड़ी ढंग की पगड़ी, शरीर पर बंद गले का अंगरखा और उस पर पंडिताऊ ढंग से ग्रीवा की परिक्रमा करते हुए दोनों सुदृढ़ स्कन्धों पर धवल परिकर शोभा देता था। इस प्रकार से उनके आकर्षक, निर्भीक तथा निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व ने उनकी भाषा-शैली में स्पष्टता, प्रखरता एवं खरापन का संचार किया। स्वभाव से अध्यवसायी तथा रुचि में जिज्ञासु मिश्रजी ने अध्ययन और देश-पर्यटन के द्वारा अपार ज्ञान का संचय किया एवं उसे भाषा का कलेवर प्रदान कर अपने व्यक्तित्व के प्राणों से मुखरित कर दिया। उनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों से उनकी विविध शैलियां उद्भूत हुई हैं।

मिश्रजी ने क्रमागत भावों को बड़ी निपुणता से चित्रित किया है। उनके विचारों में गम्भीरता तथा वाणी में ओज है। विषय, परिस्थिति तथा पात्र के अनुकूल भाषा को रखने से उनकी अभिव्यंजना-शक्ति विशेष बलवती है। संस्कृत का अगाध अध्ययन करने के कारण उनकी गद्य-शैली में संस्कृत की शब्द-योजना मिलती है। वे संस्कृत के शब्द, पद, श्लोक, कहावतें इत्यादि की सहायता से भाषा में शक्ति, गति और स्पष्टता प्रदान करते हैं। उन्होंने बिना उर्दू की सहायता के ही भाषा में चमत्कार भर दिया है। एक साथ ही अनेक भाव व्यंजक शब्द-माला के समान भाषा में गूंथे हुए हैं। जो हृदय को बिना प्रभावित किये नहीं रहते। जैसे—**विवरणात्मक शैली :**

"हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मन्द भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसन्धान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा। सब अपनी क्षमता को भूल जायेंगे देश आत्म-ज्ञान शून्य हो जायेगा इसलिये उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम नाम' का दृढ़ सम्बन्ध किया था।

"महाराज दशरथ का पुत्र-स्नेह, श्रीरामचन्द्रजी की पितृ-भक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रात-भक्ति, भरतजी का स्वार्थ-त्याग, वशिष्ठजी का प्रताप, विश्वामित्र का आदर, ऋष्यश्रृंग का तप, जानकीजी का पातिव्रत, हनुमानजी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथजी का कठोर कर्त्तव्य किसको स्मरण नहीं है? जो अपने 'रामचन्द्र' को जानता है। वह अयोध्या को, मिथला को कब भूला हुआ है? वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्वाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और जब वह 'रामलीला' देखता है तभी यह ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण' आदि की तरह चलना न

चाहिये, रामादि के समान प्रवृत्ति होनी चाहिये ।"[1]

मिश्रजी की विवेचनात्मक शैली उनकी बहुत-सी रचनाओं में दृष्टव्य है। शुद्ध भाषा के साथ संस्कृत, हिन्दी आदि के सुन्दर एवं भावानुकूल श्लोक उनके कथन की ही पुष्टि नहीं करते वरन् उनकी शैली को भी सशक्त एवं प्रौढ़ करते हैं। तर्क और प्रमाण का संयोजन उनके वाक्यों को भी अपेक्षतः दीर्घ कर देता है। मिश्रजी को पैतृक-सम्पत्ति में संस्कृत-निष्ठा प्राप्त हुई थी। उनका संस्कृत निष्ठ व्यक्तित्व उनकी इस शैली में मुखरित हुआ है। यथा—

"सन्तोषामृत तृप्तानां यत्सुखं शांतचैत साम् ।
कुतस्तद्धन लुब्धा नामितश्चेतश्य धावताम् ।।"

अर्थात् सुख सन्तोषामृत से तृप्त शान्त चित्त पुरुषों को है वह इधर-उधर भटकनेवाले धन के लोभियों को कहां ?

"इसलिये हमने कहा है कि सन्तोष धार्मिक की परिपक्व दशा में हो सकता है, आरम्भ में नहीं, क्योंकि वह धर्माचरण का फल है और इसलिये यह कहना भी कोई अनुचित नहीं कि इसके अधिकारी बिरले ही जिज्ञासु पुरुष हो सकते हैं, सब नहीं हो सकते। सुतरां, प्रस्तुत विषय में धृति का अर्थ धैर्य ही ठीक ठहरता है, क्योंकि इस समान धर्म का सोपान भी धर्म्माचार्यों की अधिकतर प्रणाली के कौशल से खाली नहीं है।"[2]

सरोष एवं उद्विग्नतापूर्ण शैली में मिश्रजी के व्यक्तित्व का स्वधर्म एवं संस्कृति का अभिमान जाग्रत हो जाता है। जिस किसी विरोधी ने उनके सम्मान केन्द्र-बिन्दुओं पर आक्षेप किये अथवा उन्हें वक्र-दृष्टि से देखा उसकी उन्होंने अच्छी तरह खोज-खबर ली। इस उद्वेग की स्थिति में वे विरोधी की विद्वत्ता तथा उसके पद की कोई चिन्ता न कर निर्द्वन्द्व होकर, उन आक्षेपों का मुंहतोड़ उत्तर—ईंट का जवाब पत्थर से देते हैं। जर्मन प्रोफेसर वेवर, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा महामना मालवीय भी उनसे नहीं बचे "भारतीयता की रक्षा के लिए उनकी लेखनी ढाल ही नहीं, विरोधी पर आक्रमण करने के लिये तेज तलवार भी बन जाती।"[3]

(क) "पर हमारी अयोध्या की इन पुरानी बातों को दो-चार ब्यूहलर और बेवर आदि जो दुराग्रही विलायती पंडित सहन नहीं करते उनके लिये यह असह्य और अन्याय की बात हो रही है कि जिस समय उनके पितर वनचरों के समान गुजारा कर रहे थे, उस समय हिन्दुओं के भारतवर्ष में पूर्ण सभ्यता और आनन्द का डंका बज रहा था।"[4]

(ख) "विदेशियों के खुशामदी, स्वदेशियों के निंदक मृत राजा शिवप्रसाद भी अबुलफजल के कथन को बढ़ावा मान प्रकारांतर से उसी का अनुमोदन करते हैं।"[5]

१. निबन्ध-रत्नावली : (भाग-२)—(रामलीला) : पृ० १३-१४ ।
२. निबन्ध-रत्नावली : (भाग-२)—(धृति और क्षमा) : पृ० ६३ ।
३. जयनाथ नलिन : हिन्दी-निबन्धकार : पृ० ११२ ।
४. जयनाथ नलिन : निबन्ध-रत्नावली (भाग-२)—(अयोध्या) : पृ० ४१ ।
५. जयनाथ नलिन : निबन्ध-रत्नावली (भाग-२)—(अयोध्या) : पृ० ४५ ।

माधवप्रसाद मिश्र के व्यंग्य भी उनके व्यक्तित्व की शालीनता एवं शिष्टता के अनुरूप ही होते हैं। उनमें प्रखरता भी है और हृदय को आन्दोलित करने की शक्ति भी। मिश्रजी के व्यंग्यों में भी उनका स्वधर्मानुराग ही कारण होता है—

"अयोध्या के अविद्य और उदर सर्वस्व 'टकाराम' बैरागियों से दुःखित यात्री को राजभवन में आकर आराम मिलता है। महाराज के मंदिर, उद्यान और पुस्तकालय सब मनोहर हैं, रसिकता से खाली एक भी नहीं है।"[1]

भावात्मक निबन्धों में तो स्वभावतः मिश्रजी के व्यक्तित्व का रंग गाढ़ा रहता ही है; परन्तु विचारात्मक निबन्ध भी उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व में सराबोर होने से नहीं बचे हैं। इनमें भी उनकी शैली का माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का सुन्दर परिपाक हुआ है। स्व-संस्कृति के कट्टर अभिमानी मिश्रजी जब भारतीय पर्व, त्योहार, श्रद्धा केन्द्रों आदि पर अपनी लेखनी चलाते हैं तब उसमें 'असाधारण' मंजे हुए शैलीकार की सरलता, स्पष्टता सजीवता, भाव-विभोरता, कथावाचक की उपदेशात्मकता, ओज-सम्बोधन और प्रश्न-शैली का सुन्दर मिश्रण भी हो जाता है। विचारों की लड़ियों में गुंथते हुए वाक्य लम्बे अवश्य हो जाते हैं, परन्तु दुरूह नहीं। मुहावरों तथा उक्तियों ने भी जगह-जगह उपस्थित होकर उनकी भाषा-शैली को गतिमयी एवं बलवती बनाया है। यथा —

"पाठक! श्रीपंचमी तो आ गई किन्तु इस दिन भारत में माता सरस्वती की पूजा कौन करेगा? क्या हम लोग इस योग्य रह गए हैं कि भगवती के सामने इस दिन पवित्र लेखनी का स्पर्श करें? जो लोग जान-बूझकर दुराग्रह और द्वेष के कारण धर्म-प्रचारक साधु सच्चरित्र महानुभावों पर अपशब्दों की वृष्टि कर और निज नीच हृदय का उद्गार निकालकर वाणी की अप्रतिष्ठा कर रहे हैं, क्या वे लोग इस दिन लेखनी की पूजा कर सकते हैं? परदार लंपट को जितेन्द्रिय, धूर्त प्रवंचक को संसार त्यागी, निर्लोभ संन्यासी धर्म और देश के संहार कर्त्ता उदर सर्वस्व को देश-हितैषी धर्मात्मा, और गंडा मूर्ख को सुपंडित, सुलेखक, सुवक्ता लिखना जिनके बाएं हाथ का खेल है, जो सामान्य लोभ के कारण अपनी पेटभरी आत्मा के विरुद्ध लिखने में नेक भी संकोच नहीं करते, उन्हें लेखनी व सरस्वती पूजने का क्या अधिकार है।"[2]

प्रश्न-शैली के साथ ही उदाहरणों की झड़ी लगाकर या वाक्य के विशिष्ट शब्द पर बार-बार जोर देकर मिश्रजी ने भाषा को गतिशीलता एवं शक्ति प्रदान की है। इस प्रकार शैली को प्रभावशील और पुष्ट करने में द्विवेदी-युग में मिश्रजी बेजोड़ ठहरते हैं। यथा—

"ऐसी अवस्था में यदि परीक्षा से काम न लिया जाय तो क्या किया जाय? बहुधा देखा गया है कि कपट मूर्ति चतुर चूड़ामणि लोग ही बहुत मधुर भाषण और शिष्टाचार प्रदर्शित करते हैं। अल्पज्ञ पुरुष ही 'बड़ा धोता बड़ा पोथा पण्डित पगड़ा

१. निबन्ध-रत्नावली : (भाग-२)—(अयोध्या) : पृ० ५४।
२. माधव मिश्र निबन्ध-माला (भाग-१) : तृतीयखंड श्री पंचमी : पृ० ५-६।

बड़ा' का उदाहरण बनते हैं। निर्गन्ध कुसुम ही अधिक रंगीला होता है। नया मुसलमान ही 'अल्ला-अल्ला' पुकारता है। भूला पाण्डेय ही दूनी संध्या किया करता है और अधर्म्मात्मा ही धर्मध्वजी बनता है। इसीलिए संसार में परीक्षा के बिना काम चलना कठिन है।"[१]

निबन्धों की भूमिका प्रस्तुत करने के अनेक ढंग होते हैं। माधवप्रसाद मिश्र का यह ढंग कई निबन्धों में अत्यन्त नवीन और चमत्कारपूर्ण है। कहानी के वातावरण की तरह न केवल निबन्ध का सूत्रपात होता है, वरन् निबन्ध के मध्यकालीन विवेचन में और अन्त में भी कहानी जैसा वातावरण निर्मित किया है, आगे जाकर निबन्धों में इस कला का सुन्दर रूप गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी में उपलब्ध होता है। जैसे—

"चाचा ! चाचा ! सब मिट्टी हो गया जो खिलौना आप दिल्ली से लाए थे, उसे श्रीधर ने तोड़-फोड़कर मिट्टी कर दिया।"[२]

संस्कृत के अच्छे विद्वान् होने के कारण मिश्रजी की भाषा में संस्कृत की आलंकारिकता, विशेषतः शब्दानुप्रास और तुकान्त का आग्रह उपसर्ग, प्रत्यय आदि को जोड़ने की वृत्ति जगह-जगह परिलक्षित होती है। इससे उनकी भाषा की साज-सज्जा हुई तथा सौन्दर्य में वृद्धि भी हुई है, परन्तु जहां इस वृत्ति में अति हो गई है वहाँ कृत्रिमता आ गई है। यथा—

"जहाँ महा-महा महोधर लुढक जाते थे और जहां अगाध अतल स्पर्श जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी-सी किन्तु सुशीतल वारि-धारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्धजनों के दग्ध हृदय का यथा कथचित संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश में दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहां अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेह शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है, जिससे कभी-कभी थोड़ा-सा भूभाग प्रकाशित हो जाता है।"[३]

मिश्रजी को अपनी संस्कृतोन्मुखी वृत्ति का स्मरण भी रहता था, इसीलिये उन्होंने एक ओर अपनी रुचि से मुंह नहीं मोड़कर घोर संस्कृत के दुरूह शब्दों का भी प्रयोग कर दिया है तो दूसरी ओर उन्हें स्पष्ट करने के लिये उन शब्दों के सामने कोष्टक में सरल और व्यावहारिक शब्दों को दे दिया है। जैसे—

दैर्घ्य (लंबाई), विस्तार (चौड़ाई), प्राकार (कोट), परिखा (खाई), वारमुख्या (गणिका) इत्यादि।

वैयाकरणी व्यक्तित्व के कारण मिश्रजी की भाषा शुद्ध, परिष्कृत तथा व्याकरण सम्मत है। शब्दों की अनेकरूपता और वाक्य-विन्यास की त्रुटियां उसमें नहीं हैं। कहीं-कहीं विराम-चिह्नों के प्रयोग गलत हुए हैं जो तात्कालिक दशा के संकेतक

१. सं० डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : (परीक्षा) : आदर्श-निबंध : पृ० ३६।
२. माधव मिश्र निबन्धमाला (भाग-१) चतुर्थ खंड : (सब मिट्टी हो गया।) : पृ० ५०।
३. निबन्ध-रत्नावली : (भाग-२)—(रामलीला) पृ० : १०-११।

हैं। जैसे—

"वह बड़ भागी धन्य है! जिसका कभी इन तीन अक्षरों के शब्द से काम न पड़े, अपना भरम लिए हुए मुर्दी भलमंसी के साथ जीवन के दिन पूरे कर दे।"[1]

विराम-चिह्नों की उपेक्षा के तो बहुत से उदाहरण मिलते हैं।[2]

पं० गोविन्दनारायण मिश्र (१८५६-१६२३ ई०)

भारतेन्दु-युगीन चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' के परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण पं० गोविन्दनारायण मिश्र का, द्विवेदी-युगीन गद्य-शैलीकारों में विशेष स्थान है। हिन्दी-जगत् की इस महाधुरन्धर विभूति का प्रादुर्भाव सं० १८१६ में बंग-भूमि कलकत्ता में पं० गंगानारायण मिश्र के यहां हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। गंगानारायण अंग्रेजों की कोठियों में दलाली का कार्य करते थे। वे कुछ ही संस्कृत पढ़े थे, पर उसके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। संस्कृत की परम्परा उनको पीढ़ियों की प्राप्त थी। इस अनुकूल वातावरण में इनके पिताजी ने भी इन्हें घर पर ही प्रारम्भिक शिक्षा संस्कृत की दी। इसके पश्चात् भी उन्हें उच्च शिक्षा के लिए संस्कृत-कालेज में प्रविष्ट कराया गया। इसी बीच उन्होंने प्राकृत-व्याकरण और प्राचीन हिन्दी का गहन अध्ययन भी किया।

संस्कृत-महाविद्यालय के अध्ययन-काल में ही इनके पिताजी की मृत्यु हो गई और इन्हें पढ़ाई बन्द करके पिताजी का कार्य हाथ में लेना पड़ा। हिन्दी के सौभाग्य से वे दलाली के कार्य में असफल हुए और हिन्दी के सेवा-क्षेत्र में उतर पड़े। मिश्रजी में संस्कृत के सामान्य पण्डितों की एकांगिता न थी। बहुभाषा-भाषी जन-समूह के निकट सम्पर्क में रहने से इनका संस्कृत-विद्वत्ता का भार हल्का हो गया था। बंगाली, मराठी, गुजराती तथा अंग्रेजों के सम्पर्क का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा; परन्तु उन सब पर संस्कृत का रंग ही अधिक गहरा था।

कलकत्ता में हिन्दी-सेवा-कार्य बहुत वर्षों से चल रहा था। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा पं० छोटेलाल मिश्र दोनों ने मिलकर हिन्दी के दो पत्र प्रकाशित किए। 'भारत-मित्र' के प्रकाशन के पश्चात् पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र की प्रेरणा से 'सार-सुधा-निधि' साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन सन् १८७८ में हो चुका था। इसके सम्पादक गोविन्द-नारायण के फुफेरे भाई पं० सदानन्द थे, इन्हीं के सहकारी एवं सहयोगी होकर ये भी उसी का कार्य करने लगे। इस प्रकार और परिस्थिति में ये हिन्दी की सक्रिय सेवा में अवतरित हुए।

यथार्थ में 'सार-सुधा-निधि' पत्रिका का सम्पादन इन्हीं ने किया; क्योंकि सदानन्दजी बहुधा अस्वस्थ रहते थे। इनके पांडित्य एवं सेवाओं से पत्र का स्तर भी बहुत ऊंचा हो गया। यह पत्रिका १२ वर्ष चली और मिश्रजी को ही इसका श्रेय प्राप्त

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : आदर्श निबन्ध : (परीक्षा) : पृ० ३७।
२. प्रस्तुत प्रबन्ध के इसी अध्याय का उद्धरण १ श्रीपंचमी : पृ० २४१।

हुआ। ये अपने पत्र के अतिरिक्त अन्यान्य पत्रों जैसे 'धर्म-दिवाकर', 'उचित वक्ता' इत्यादि में भी अपने लेख प्रकाशित कराते थे।

प्रत्यक्ष एवं सक्रिय साहित्य-सेवा से पृथक् होने के पश्चात् भी वे कुछ-न-कुछ हिन्दी की सेवा करते ही रहे। 'विभक्ति विचार' शीर्षक से प्रसिद्ध निबन्ध 'उचित वक्ता' में प्रकाशित कराने तथा १९६१ वि० में 'सारस्वत-सर्वस्व' प्रकाशन से इनका सम्मान विशेष बढ़ गया। सम्पादन-कार्य से निवृत्त होकर इन्होंने पुरोहिती-वृत्ति के द्वारा जीवकोपार्जन प्रारम्भ किया और काशी चले आये। हिन्दू धर्म एवं कर्म-काण्ड पर इन्हें पूर्ण श्रद्धा थी।

हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों से आपका परिचय था। काशी में आकर 'हिन्दी साहित्यविद्यालय' की इन्होंने स्थापना की और उसके प्रधान आचार्य बने।

द्विवेदी-युग में हिन्दी के अपने ढंग के ये एक ही विद्वान् थे। हिन्दी तथा संस्कृत पर पूर्ण पाण्डित्य के अतिरिक्त अंग्रेजी, बंगली, मराठी और पंजाबी के अच्छे ज्ञाता थे। पढ़ने का इन्हें व्यसन था, इसी से वे अनेक प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन कर सके। इनमें एक बड़ी विलक्षणता यह मिलती है कि बहु-भाषी प्रचण्ड विद्वान् होने पर भी वे कम लिखते थे और बहुधा अपना नाम छिपाकर लिखते थे। आपने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर सभापति का पद भी सुशोभित किया था।

निःसन्देह, वे एक सफल एवं प्रगल्भ वक्ता थे। जनता को प्रभावित करने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। भरी सभा में निर्द्वन्द्वता और निर्भीकता से वे अपने विरोधियों का मुंह-तोड़ उत्तर देते थे।

उपर्युक्त विशेषताओं से सम्पन्न महान् अन्तःव्यक्तित्व के ही अनुरूप उनका बाह्य व्यक्तित्व भी बहुत महान् था। विशाल भीमकाय पुष्ट शरीर, चेहरे पर सिंह-सी घनी बड़ी मूंछें, उठी हुई नासिका, सौम्य भावपूर्ण नेत्र, गले में बड़ी रुद्राक्ष की माला, शरीर पर तनीदार कुर्ता और धोती, स्कन्धों पर धवल उत्तरीय वस्त्र और सिर पर दुपट्टा—ये सब मिलकर उनके स्थूल व्यक्तित्व का निर्माण करते थे। मुद्रा, शरीर एवं वेश-भूषा से वे पूरे पुरोहित थे।

रचनाएं—"विभक्ति विचार" ११, "गोविन्द निबन्धावली" २५।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र की विलक्षण गद्य-शैली उनके प्रचण्ड पाण्डित्य तथा संस्कृत के अगाध अध्ययन का प्रारूप है। जिस प्रकार से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को आलंकारिकता, शब्दाडम्बर और कलम की कारीगिरी में ही काव्य-कला के दर्शन होते थे, वैसे ही मिश्रजी अपने उच्चकोटि के पाण्डित्य प्रदर्शन में ही भाषा-शैली के उत्कर्ष का दर्शन करते थे। उन्होंने भाषा को भावाभिव्यक्ति का साधन न मानकर, स्वयं साध्य ही मान लिया है। इसलिए शब्दों के साथ चुहुल और खिलवाड़ करने में उन्हें आनन्द आता था। सीधा और सरल विषय या वस्तु के साथ भी उनकी शब्द-ठिठोली और अर्थ की आंख-मिचौली बहुधा हो जाती है। व्यर्थ ही शब्दों में उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर उन्हें संश्लिष्ट बनाया गया है; जैसे—सुचतुर, प्रपीड़ित, समुच्चरित, सुपण्डित, सुकठिन, मौनावलम्बनपूर्वक, अनिष्टोत्पादकत्व, प्रतिबाधक इत्यादि।

उनकी शैली की मैत्री बाण और दण्डी के गद्य में मिलती है तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी की शैली के आदर्श के ठीक विपरीत उसका स्थान है। ढूंढ़-ढूंढ़कर ठेठ संस्कृत के शब्दों को आमन्त्रित किया गया है तथा उर्दू-फारसी आदि के शब्दों का तिरस्कार हुआ है। लम्बे-लम्बे सामासिक शब्द जिस प्रकार से ३-४ शब्दों के योग से दीर्घकाय हो गये हैं, वैसे ही उनके वाक्य भी असाधारणतः दीर्घ तथा दुरूह हैं। इस प्रकार के वाक्यों की ऊष्मा में सन्तप्त अर्थ ही, शुष्क मरुभूमि की भांति बीच में ही समा जाता है। हिन्दी में संस्कृत की गौणी शैली के एकमात्र प्रतिनिधि ये ही हैं। उनके व्यक्तित्व का अगाध पाण्डित्य ही उनकी भाषा-शैली में घनीभूत होकर उपस्थित हुआ है। यथा—

"सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभाव से सबका चित्तचोर सुचारु सजीव चित्र-रचना-चतुर चितेरा, और जब देखो तब ही अभिनव सब नवरस रसीली नित नव नव भावरस रसीली, अनूप रूप सरूप गरबीली, सुजन मनमोहन-मन्त्र की कीली, गमक जमकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार-साज सजीली, छबीली कविता-कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अग जग मोहनी बलाकी सबला, सुभाव सुन्दरी, अति सुकोमला अबला की नवेली, अलबेली, अनोखी पर परम चोखी भी प्रेम पोखी, समधिन सुहावनी, नयन मन-लुभावनी भोली रूप-छवि को आंखों के आगे परतच्छ खड़ी भी दरसाकार मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना हरसाना और रिझाना ही है।"[1]

कादम्बरीकार बाण भट्ट की-सी संस्कृत की दीर्घ सामासिक पद-रचना के बीच-बीच में ब्रजभाषा तथा अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग खटकता है। इतना होने पर भी उनकी भाषा में काव्योचित प्रवाह, लय एवं मार्मिकता है। अर्थ की भूल-भुलैयां में अटका-भटका पाठक भी बिना भावार्थ समझे शैली की ध्वनि से मोहित हो जाता है। मिश्रजी विभक्तियों को सटाकर लिखते थे। उनकी लेखन और भाषण दोनों ही की शैली में साम्य है। निम्नलिखित सुदीर्घ किन्तु अपूर्ण वाक्य से हमें उनकी भाषण-शैली के साथ साहित्य सम्बन्धी धारणाओं का ज्ञान भी हो सकता है। जैसे—

" × × × सरदपूनों के समुदित पूरनचन्द की छिटकी जुन्हाई सकलमन भाई के भी मुंह मसिमल, पूजनीय अलौकिक पदनखपद्रिका की चमक के आगे तेजहीन महीन और कलंकितकर दरसाती, लजाती, सरस-सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती अशेष मोह जड़ता प्रगाढ़ तम तोम सटकाती मुकाती निज भक्तजन मन वाञ्छित वरामय मुक्ति मुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथों से मुक्ति लुटाती सकल कला अलाप वलकलित, सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकार सुतार-तार सुरग्राम अभिराम लसित बीन प्रवीन पुस्तकाकलित मखमल से समधिक सुकोमल अति सुन्दर सुविमल लाल प्रवाल से लाल लाल कर पल्लवल्ल सुहाती विविध विद्या विज्ञान सुभ सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमन प्रकास हास वासव से अनयास सुगन्धित सित बसन लसन सोहा सुप्रभा विकसाती सुविमल मानस बिहारी मुक्ताहारी नीर क्षीर विचार सुचतुर कवि कोविद राज

१. कवि और चित्रकार : पृ० १

राजहिमसिंहासन निवासिनी मन्द हासिनी त्रिलोक प्रकासिन सरस्वती माता के प्रति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनौखी अतुल बलवाली परम प्रभावशाली सुजन मन मोहनी नवरसभरी सरस सुखद विचित्र वचन रचना का नाम ही साहित्य है।"[1]

पं० गोविन्दनारायण मिश्र की उपर्युक्त स्वाभाविक भाषा-शैली के अतिरिक्त व्यंग्यात्मक आलोचनाओं में भाषा का अपेक्षत: व्यावहारिक स्वरूप मिलता है। इसमें संश्लिष्ट वाक्य भी छोटे हो गये हैं और सामासिकता में भी कमी आ गई है। वैसे आदत से लाचार कहीं-कहीं उनकी मूल भाषा-शैली का आभास इन रचनाओं में भी मिल जाता है। जैसे—

"सरांश यह है कि अत्यन्त सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं; उसमें एक विषय की योग्यता का पाण्डित्य का लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परन्तु अभागी हिन्दी के भाग्य में इस विषय का विचार ही मानो विधाता ने नहीं लिखा है। जिन महाशयों ने समाचार-पत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना कर्त्तव्य समझा और जिनके बहुत से लेख प्रकाशित हो चुके हैं, सर्वसाधारण में इस समय वे सबके सब हिन्दी के भाग्य विधाता और सब विषयों के ही सुपण्डित माने जाते हैं। मैं इस भेड़िया धसान को हिन्दी की उन्नति के विषय में सबसे बढ़कर बाधक और भविष्य में विशेष अनिष्ठोत्पादक समझता हूँ।"[2]

बहुभाषी मिश्रजी का शब्द-चयन उनकी अध्ययन-परिधि की तुलना में बहुत सीमित है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ तद्भव रूपों का बाहुल्य है।[3] इन सुबोध और सरल शब्दों ने अवश्य ही कुछ सीमा तक दुरूहता को कम कर दिया है, फिर भी लम्बे सामासिक शब्द और लम्बे वाक्य पाठक की स्मरण शक्ति पर बहुत भारपूर्ण हो जाते हैं, जिनका कि भार वहन कर सकना साधारण पाठकों के लिए तो सम्भव ही नहीं है। विदेशी व्यावहारिक शब्दों की अल्प संख्या के साथ कहीं-कहीं विशाल मरुभूमि में मरु-उद्यानों की भांति मुहावरे भी पाठकों की थकावट को दूर करने के लिए मिल जाते हैं— जैसे टट्टी की ओट से शिकार करना, दिन फिरना, लीक पीटना, कलम कुल्हाड़ा चलाना, कमर कसकर काम करना, कोल्हू का बैल, आंखों में धूल झोंकना, हाथ पर हाथ रखकर बैठना इत्यादि मुहावरे भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

सौभाग्यवश मिश्रजी की द्राविणी प्राणायाम कराने वाली भाषा-शैली का अनुकरण द्विवेदी-युग में किसी ने नहीं किया। सम्पूर्ण युग में इस अति विलक्षण भावाभिव्यंजक शैली के वे ही एक मात्र उदाहरण हैं।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२२ ई०)

एक कमनीय कुसुम की भांति, गुलेरीजी का हिन्दी-साहित्योद्यान से सम्बन्ध अल्पकालिक रहा है; फिर भी उनके साहित्यिक सौरभ एवं सौन्दर्य की चर्चा अनन्त

१. द्वितीय साहित्य-सम्मेलन के भाषण से (साहित्य का स्वरूप)।
२. 'आत्माराम की टेंटें'।
३. प्रबन्ध और अध्याय का उद्धरण : १ : पृ० २४५-३।

काल तक होती रहेगी। पं० माधवप्रसाद मिश्र तथा अध्यापक पूर्णसिंह के सदृश्य इन्होंने भी हिन्दी की सेवाएँ बहुत कम प्रमाण में की हैं; परन्तु उनका स्थायी महत्त्व अधिक है।

गुलेरीजी का जन्म २५ अषाढ़ सं० १९४० को जयपुर में पं० शिवराम के यहां हुआ था। इनके पिता व्याकरण तथा शास्त्रों के बड़े पंडित थे। उनकी योग्यता एवं विद्वत्ता से प्रसन्न होकर वे जयपुर नरेश महाराज सवाई रामसिंहजी के यहां प्रधान पंडित के रूप में रहे। वहां उन्हें धन और यश दोनों ही प्राप्त हुए। चन्द्रधरजी एक योग्य एवं राज सम्मानित पिता की ज्येष्ठ संतान थे। जन्माणि व्यक्तित्व की सहजा प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति एवं अभ्यास ने उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकसित होने में महान् योग प्रदान किया। शैशवावस्था में ही स्वयं पिताजी ने इनका विद्यारम्भ किया। अनुकूल जलवायु और भूमि में पड़कर तथा अत्यन्त कुशलतापूर्वक पालित-पोषित होकर यह विद्या का बीज शीघ्र ही बढ़कर लहलहा उठा। ५, ६ वर्ष की अल्पायु में ही इन्हें ३-४ सौ संस्कृत के श्लोक तथा अष्टाध्यायी के दो अध्याय कंठस्थ हो गये। संस्कृत का इतना अच्छा अभ्यास हो गया कि वे संस्कृत में ही सम्भाषण करने लगे। १० वर्ष की अवस्था में इन्होंने संस्कृत में एक धारावाही भाषण देकर 'भारत-धर्म महामण्डल' के विद्वानों को आश्चर्यचकित कर दिया। संस्कृत की मासिक पत्रिका 'काव्य माला' के सम्पादक महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद के सम्पर्क में आने पर इनके हृदय में देश-सेवा तथा साहित्य-प्रेम जाग्रत हुआ।

सन् १८९३ में महाराज कालेज जयपुर में अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ किया तथा १८९९ में प्रयाग विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया और जयपुर राज्य की ओर से उन्हें एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया गया। उसी वर्ष उन्होंने 'महाभाष्य' पढ़ना प्रारम्भ किया। १९०२ में 'सम्राट्-सिद्धान्त' ज्योतिष ग्रन्थ के अनुवाद के द्वारा ये साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुए। उनके इस सुन्दर अनुवाद की प्रशंसा अंग्रेजों ने भी की। इसके पश्चात् लेफ्टिनेण्ट गेरट के सहयोग से The Jaipur Observatory and its Builder एक ग्रन्थ लिखा। इन सब कार्यों के साथ उनका अध्ययन भी सतत् होता रहा और १९०३ में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में बी० ए० उत्तीर्ण हुए और पुनः जयपुर राज्य से स्वर्ण-पदक प्राप्त किया।

गुलेरीजी की विशेष रुचि दर्शन में थी। वे बहुधा वेद एवं प्रस्थान त्रय का अध्ययन किया करते थे और दर्शन शास्त्र में एम० ए० करना चाहते थे; परन्तु जयपुर राज्य-सरकार के आग्रह पर वे राजा साहब खेतड़ी के संरक्षक बनकर अजमेर गये। वहीं मेयो कालेज में संस्कृत के प्रधान अध्यापक हुए। सन् १९२० में काशी विश्व-विद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष-पद पर इन्हें नियुक्त किया और इन्होंने दो वर्ष वहां कार्य किया। दुर्भाग्यवश ३९ वर्ष की अल्पायु में ११ सितम्बर १९२२ में इनका देहावसान हो गया।

ये भाषा-विज्ञान, वैदिक साहित्य, दर्शन और पुरातत्व के विद्वान् तथा हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, पाली, प्राकृत, बंगला और मराठी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। १८९७

में जयपुर में एक जैन वैद्य के सम्पर्क में हिन्दी की ओर विशेष झुकाव हुआ था और उन्होंने हिन्दी-सेवा की प्रतिज्ञा की थी। वहां उन्होंने 'नागरी-भवन' की स्थापना भी १६०० में की थी और 'समालोचक' पत्र के सम्पादन के माध्यम से हिन्दी-सेवाएँ कीं। काशी में आकर 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' के अन्तर्गत 'सूर्य कुमारी पुस्तक-माला' की स्थापना में बहुत योग दिया तथा शाहपुरा के महाराज उम्मेदसिंह द्वारा उनकी स्वर्गीय महारानी सूर्यकुमारी की स्मृति में २०,००० रु० दान प्राप्त कराकर उक्त 'माला' की स्थापना की।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का बाह्य व्यक्तित्व भी महान् था। ऊंचा पूरा, सुदृढ़ पुष्ट शरीर, ओजस्वी मुद्रा और उन्नत ललाट राजस्थानी पण्डितों की वेश-भूषा में बहुत फबता था। गुलेरीजी का पाण्डित्य उनके बाह्य व्यक्तित्व से टपकता था। वे द्विवेदी-युग में प्रथम कोटि के विद्वान् एवं शैलीकार थे।

युग के अन्य निबन्धकारों में गुलेरीजी के निबन्धों की शैली का अपना स्थान और अपना महत्त्व है। उनके निबन्धों में विचारों की मौलिकता, चिन्तन की स्वाधीनता तथा शैली की सुघड़ता है। शैलीगत गुणों की दृष्टि से वे द्विवेदी-युग के सबसे अधिक प्रगतिशील, प्राणवान तथा खरे लेखकों में हैं। भारतेन्दु-युग के ठेठ सीधे एवं ग्रामीण व्यंग्य और कटाक्ष गुलेरीजी के पाण्डित्यपूर्ण स्पर्श से संस्कृत और शिष्ट हो गये हैं। साथ ही उनकी प्रखरता और संघातक शक्ति में भी वृद्धि हुई है। उन्होंने व्यावहारिक तथा चुभती हुई भाषा को अपनाया है। इससे उसमें आद्योपान्त सरलता के साथ रोचकता और आकर्षण है। निःसन्देह उनकी इस भाषा-शैली में अकृत्रिम वैयक्तिता है।[1] जिसका निर्वाह उनकी अधिकांश रचनाओं में हुआ है। जैसे—

"ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवां' मूंजवत हिन्दूकुश के एकमात्र दर्रे खैबर में होकर सिन्धु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान भ्राज, अम्भीरि, वम्भारी, हस्त, सुहस्त कृशन, शंड मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबी डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिर कर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रार्तत्यों के साथ छोड़ आए और यहां 'भ्रार्तव्य वधाय सजातानां मध्यमेष्टयाय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो जम गए। जहां-जहां रास्ते में टिके थे वहां-वहां यूथ खड़े हो गए। यहां की सुजला सुफला शस्य श्यामला भूमि में बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूंजवत् पहाड़ की सोमलता का चस्का पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते। हां, उनमें कोई-कोई उस समय का चिल कौआ नगद-नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाता था। उस समय का सिक्का गौएं थीं। जैसे आजकल लखपति और करोड़पति कहलाते हैं वैसे वे 'शतगु' 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीलाल के पोते करोड़ी चन्द अपने 'नवग्वाः', 'दशग्वाः' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० १३६

पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहां पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमान्त पर जाकर ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है।"[1]

भावाभिव्यक्त को प्रबल बनाने के लिए गुलेरीजी ने विशेष शब्दों का प्रयोग किया है। इसके लिए अंग्रेजी और अरबी-फारसी के शब्दों को बीच-बीच में रख दिये हैं। यथा—

"इधर ये गौ के गुण बखानते। कहते इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है, पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मनोपली थी और इन्हें बिना लिये सरता नहीं।"[2]

"पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हनोज रोज अव्वल अस्त।"[3]

व्यंग्य की उद्भावना में गुलेरीजी ने शिष्ट और परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है। साधारणतः स्थूल दृष्टि से देखने पर उनकी भाषा का सौम्य और प्रशान्त स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है; परन्तु उसमें निहित प्रखर व्यंग्य सीधा हृदय का स्पर्श करता है। 'धर्म' शब्द के स्थान पर 'धरम' शब्द का प्रयोग भी उनके व्यंग्य का ढंग है। जैसे—

"यह कछुआ धरम का भाई शुतुर्मुर्ग—धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आंखों से पीछा करने वाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लम्बा चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आंखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ, पांव, सिर भीतर डाल लिया।"[4]

गुलेरीजी का विनोद बहुत परिष्कृत, सामाजिक तथा शास्त्रीय कोटि का होता है। उसमें अन्तःकथाएँ भी सन्निहित रहती हैं। उनका हास्य और विनोद लक्ष्य को भी सुखद कोटि का होता है, उसमें कटुता नहीं रहती।

भाषा को सप्राण एवं गति-शील करने के लिए वाक्य में कर्त्ता, कर्म या क्रिया का लोप कर दिया है। इससे उनकी भाषा की व्यंजक शक्ति की हानि भी नहीं हो सकी है। यथा—

(१) नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बन्द। (२) वही कछुआ धर्म, ढाल के अन्तर बैठे रहो। (३) आगे चल दिये।[5]

गुलेरीजी की विवेचना शैली में असाधारण ओज और बल रहता है। सैद्धान्तिक विषयों की विवेचना वे प्रबल तर्क, प्रश्नोत्तर और तथ्य प्रतिपादन के द्वारा करते हैं। कथन को पुष्ट और प्रभावी बनाने के लिए पुनरोक्ति का भी आश्रय उन्होंने लिया है।

" 'सोऽहम्' वह मै हूँ—यह बात भारतवर्ष के हिन्दू के सिवाय और कोई नहीं

१. आदर्श निबन्ध : सं० डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : (कछुआ धर्म) पृ० ६६।
२. —वही— —वही— : पृ० ६६-७।
३. —वही— —वही— : पृ० ७०।
४. आदर्श निबन्ध (कछुआ धर्म) : पृ० ७०।
५. आदर्श निबन्ध (कछुआ धर्म) : पृ० ६७—७०।

कहता। इसी बात के कहने से हिन्दू, हिन्दू है, इसी से हिन्दू का हिन्दुत्व है, हिन्दू का हिन्दू धर्म है। 'सोऽहम्' हिन्दू का लक्षण है, हिन्दुत्व का लक्षण है, हिन्दू धर्म का लक्षण है। बात क्या है ? सो समझ लेना चाहिये।"[1]

सैद्धान्तिक व्याख्या अथवा गूढ़ विषय-विवेचन में गुलेरीजी की सामान्य पुनरुक्तियां कम हो जाती हैं, भाषा की गति मन्थर हो जाती है और शैली अपेक्षतः गूढ़-गम्भीर हो जाती है। ऐसे प्रसंगों पर उनका शब्द-चयन भी संस्कृत तत्सम प्रधान हो जाता है और संस्कृत के सामासिक शब्दों की संख्या भी बढ़ जाती है। यथा—

"सच है, आंख की आवश्यकता और उपयोगिता की महिमा तब तक कदापि कम नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य जाति और इंद्रिय उत्पन्न न कर ले। दूरबीन प्रभृति विज्ञान के मुकुट स्वरूप यन्त्र आंख के परिशेष-पूरक हैं। आंख न होने से वे किसी काम के नहीं। विशेषतः चंचलता और त्वक से संबंध होने के कारण आंख ने मानो जगत के ज्ञान-साम्राज्य को ठोकर ही मार दी।"[2]

सामासिक तथा संयुक्त-शब्द—साध्यायत्त, अनन्तत्व, कृष्टान धर्मावलम्बी, मात्सर्य प्रभृति, अपरिमित साहस-सम्पन्न, विराट-मना-मनुष्य आदि।

निबन्धों के बहुधा प्रारम्भ में या अन्यत्र भी संस्कृत के सम्बद्ध श्लोक उद्धरण-स्वरूप प्रस्तुत किये गए हैं, इनके द्वारा गुलेरीजी का उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं रहता, वरन् भाव या विचार की प्रभावी अभिव्यक्ति करना रहता है। संस्कृत के इन श्लोकों तथा वाक्यों के द्वारा भाषा के लावण्य एवं बोधगम्यता में वृद्धि हुई है। जैसे—

"अब ब्रह्मावर्त ब्रह्मर्षि देश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत् ! यगन्धरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गगमिष्यति।"[3]

गुलेरीजी का शब्द-चयन-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। संस्कृत के तत्सम शब्दों से लेकर तद्भव, देशज, बोलचाल के घिसे-पिसे आदि सभी प्रकार के शब्दों का सत्कार कर भाषा में उन्हें संवारा-सजाया है। अंग्रेजी, फारसी, ब्रज आदि भाषाओं के शब्दों को भी ग्रहण किया है; यथा—मानोपली, कारवां, हुज्जत, गठकटे, चिलकौआ, सरना, टोटा इत्यादि।

भाषा में शक्ति तथा संभाषण के तत्त्वों का समावेश करने के लिए उन्होंने वाक्य तथा वाक्यांशों का बड़ी सतर्कता से प्रयोग किया है। वाक्य सुगठित हैं और बहुत बड़े नहीं हैं। यद्यपि प्रभाव की सर्जना करने के लिए उन्होंने पुनरुक्तियों से काम लिया है, तथापि उनसे वाक्य विशृंखलित नहीं हुए हैं। मन की उमंग तथा विनोद के लिए अवश्य ही वाक्य-विन्यास में व्यतिरेक किया गया है और ऐसे प्रसंग पर वाक्यांश भी अपेक्षाकृत अधिक मजेदार हो जाते हैं। जैसे—

(क) या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो।

१. 'समालोचक' : (सोऽहम्) : अगस्त, १९०३ : पृ० १९
२. 'सरस्वती' : (आंख) : जनवरी, १९०५।
३. आदर्श निबन्ध : (कछुआ धर्म) : पृ० ९७।

(ख) धर्म भागा और दण्ड कमण्डल लेकर ऋषि भी भागे।

(ग) कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है, पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हनोज रोज अव्वल अस्त।

अन्त में सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि गुलेरीजी के निबन्धों में एक अनोखी भाषा-शैली का विकास हुआ है। गम्भीरता के साथ विनोद-परिहास का समाहार और समन्वय बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। व्याकरण की भूलें तथा वाक्य-विन्यास की त्रुटियों का भी प्रायः अभाव है, कहीं-कहीं—करैं, तौ भी, बतावेंगे, तुम्हारे दे हमें, जैसे खटकने वाले प्रयोग भी मिल जाते हैं, जो वस्तुत. नगण्य हैं। यह वस्तुतः संस्कृत तथा देशज प्रभाव के कारण हुआ है।

पाण्डेय पं० रामावतार शर्मा (१८७७-१६२६ ई०)

सर्वतोन्मुखी प्रतिभा से सम्पन्न, द्विवेदी-युग के अग्रगण्य विद्वान्, महामहोपाध्याय विद्यामहोदधि आचार्य पं० रामावतार शर्मा का जन्म छपरा (बिहार) में पं० देवनारायण शर्मा के यहां हुआ था। घर पर ही इनके पिता के द्वारा संस्कृत से विद्यारम्भ हुआ। लगभग १२ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने वहीं से संस्कृत की प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की, तत्पश्चात् काशी के क्वीन्स कालेज में प्रविष्ट हुए। अपनी कुशाग्रता से महामहोपाध्याय पं० गंगाधर शास्त्री की विशेष स्नेह-दृष्टि प्राप्त की और मनोयोग से कठोर श्रम करके सन् १८६० में मध्यमा श्रेणी में पास हुए। सन् १८६३ में कलकत्ता संस्कृत कालेज की 'काव्यतीर्थ' और काशी की 'व्याकरण आचार्य' प्रथम खंड, एक ही साथ उत्तीर्ण हुए। सन् १६०१ में एम० ए० परीक्षा में २०० उद्धरण ऋग्वेद के प्रस्तुत किये। इसके उपलक्ष में प्रथम श्रेणी तथा प्रथम स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ।

सन् १६०१ में सेंट्रल हिन्दू कालेज, बनारस में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। यहीं पर सन् १६०२ के लगभग उनके साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। इस कालेज में वे १६०५ तक रहे और इस अवधि में वे काशी की विद्वत्मण्डली के प्रमुख सभा-पण्डित थे। सन् १६०६ में वे पटना कालेज में प्रोफेसर हो गये, जहां वे अन्त तक रहे। बीच में क्रमशः २ और ३ वर्षों के लिये कलकत्ता-विश्वविद्यालय में वसु मल्लिक व्याख्याता होकर तथा ओरियण्टल कालेज, बनारस में प्रिंसिपल होकर भी रहे। पी-एच० डी० की परीक्षाओं के सर्वमान्य परीक्षक ये ही रहते थे। शर्माजी ने सन् १६२५ तक अनेक ग्रन्थ-रत्नों की रचना की।

वे नम्रता और शिष्टता के अवतार थे। चाटुकारिता से बहुत दूर रहते थे। वे स्वयं अपने मुंह से कोई ऐसी बात न कहते कि जिससे उनकी आत्मस्तुति ज्ञात हो अथवा दूसरों के सम्मान को आघात पहुंचे। यही कारण है कि उनकी भाषा ठेठ हृदय का स्पर्श करती है।

उच्चकोटि के समाज-सुधारक तथा क्रान्तिकारी विचारक के रूप में भी वे उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र में उनकी रुचि, योग्यता आदि की स्वीकृति इसी तथ्य से हो जाती है कि उन्हें १६१२ में अखिल भारतीय समाज-सुधार सम्मेलन का सभापति बनाया

गया। उनके लेखों और अभिभाषाणों में उनकी सुधारवादी वृत्ति यथा-स्थान दृष्टिगोचर होती है।

शर्माजी बिहार प्रान्त की ही विभूति नहीं थे, वरन् वे अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के लिए भारतवर्ष में विख्यात थे। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उनकी तार्किक बुद्धि में थी। उनकी भाषा-शैली में उनका यह तार्किक व्यक्तित्व स्पष्टत: निखर उठा है। वे कोरे सूची-पण्डित नहीं थे। अंधविश्वास से किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते थे। उनका अध्ययन अगाध तथा बहुक्षेत्रीय था। साहित्य, व्याकरण, इतिहास, पुराण, पुरातत्त्व, शिक्षा, धर्म, संस्कृत, भाषा-विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान तथा भूगोल आदि विषयों के अच्छे ज्ञाता थे तथा संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे।

प्रकाण्ड पाण्डित्य और अगाध अध्ययन के साथ जीवन में सात्विकता और सरलता का सामंजस्य उनके व्यक्तित्व को विशेष गौरव प्रदान करता है। उनकी शैली में भी उनके व्यक्तित्व की उपरोक्त चारों विशेषताओं का सुन्दर समाहार हुआ है।

इनकी रचनाओं में विशेषत: कविताओं में देशानुराग की भावना की प्रमुखता मिलती है। हिन्दी के भी वे कट्टर समर्थक थे। इसे शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न किये। ये हिन्दी को केवल राष्ट्रभाषा के पद पर सम्मानित होते देखकर सन्तुष्ट न थे। उसे वे दीपदीपांतरों में प्रतिष्ठित देखना चाहते थे।[1] संस्कृत के प्रति अगाध श्रद्धा थी और वे संस्कृत-साहित्य को विश्व का श्रेष्ठतम साहित्य मानते थे। इसीसे उन्होंने अपने निबन्धों में विश्व के सभी क्षेत्रों के नामों तक का संस्कृतीकरण कर दिया है।

शर्माजी को सैकड़ों ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। वे युग-वृहस्पति, जंगम शब्दकोष, सजीव पुस्तकालय, मूर्तिमन्त विश्वविद्यालय तथा दर्शन-शास्त्र के प्रतिमान थे। उनके निधन के समय एक लेखक के उनके व्यक्तित्व सम्बन्धी उद्गार थे—"आप साहित्य में पण्डितराज जगन्नाथ के समान, व्याकरण में बालशास्त्री के समान, न्याय में गदाधर के समान, ज्योतिष में भृगु मुनि के समान, वाद-विवाद की तर्क-पद्धति में डाक्टर जानसन के समान, सूक्ति कथन में शुकदेव के समान, स्मरणशक्ति की प्रबलता में मैकाले के समान, विज्ञान महत्ता प्रतिपादन में बेकन के समान, कविता में कालिदास के समान, वेदार्थ-तत्त्व-विवेचन में यास्क और सायणाचार्य के समान, जात्याभिमान में लोकमान्य तिलक के समान, सामाजिक क्रान्ति में लूथर के समान, पुर्जन्म खण्डन में चारवाक के समान, मानस्विता में शिवाजी के समान और दयालुता में गोखले के समान थे।"[2]

---

१. "पच्चीस-तीस वर्ष पहले अंग्रेजी फिस्फाटवाले बाबू तथा संस्कृत के प्रचंड पण्डित दोनों ही हिन्दी-भाषा की ओर संकुचित दृष्टि से देखते थे। किन्तु, अपने गुणों से तथा सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र आदि महाकवियों की अपूर्व प्रतिभा से, हिन्दी केवल भारत में ही नहीं, द्वीपान्तरों में भी माननीय हो रही है। राष्ट्रभाषा तो हिन्दी हो ही रही है, थोड़े दिनों में महोत्साह मारवाड़ी भाइयों के भू-व्यापक वाणिज्य आदि से 'संवीय', 'नन्दन', और नवार्क में भी इसका प्रचार होना दुर्घट नहीं दीख पड़ता।"—रामावतार शर्मा : निबन्धावली :(दो शब्द): पृ० ६।

२. रामावतार शर्मा : निबन्धावली : (परिचय) : पृ० ९।

हिन्दी-सेवा कार्य

सन् १९०५ में काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा 'यूरोपीय-दर्शन' प्रकाशित, हुआ। उसी वर्ष 'सभा' के तत्वावधान में हिन्दी में भाषा-विज्ञान पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये तथा १९०७ में भाषा-विज्ञान के आधार पर 'अभिनव-व्याकरण' की रचना की। सन् १९११ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी के अभाव-सूचक १०० विषयों की सूची प्रस्तुत की। १९१६ में 'सम्मेलन' के जबलपुर अधिवेशन पर सभापति रहे। १९२० में काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा ने पं० कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण को प्रमाणित करने को जो समिति निश्चित की थी, शर्माजी तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके प्रमुख सदस्य थे।

शैलियां—शर्माजी कट्टर प्रकृति के भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक एवं प्रौढ़ विद्वान् थे, इसलिए उनकी भाषा-शैली पर तात्कालिक हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी आदि की खिचड़ी भाषा का प्रभाव नहीं पड़ा। वे हिन्दी के लिए संस्कृत के अक्षय कोष को ही, उसको उत्तराधिकार में प्राप्त मानते थे। संस्कृत-दुहिता हिन्दी इतनी गौरवपूर्ण परम्परा को प्राप्त करके भी विदेशी भाषाओं के शब्द ग्रहण करे, यह उन्हें कदापि रुचिकर न था। इस हेतु उन्होंने विशुद्ध अंग्रेजी आदि के शब्दों का भी संस्कृत की प्रक्रिया से शुद्धीकरण किया। जैसे—

नन्दन (लंदन), नवार्क (न्यूयार्क), अक्षप्रत्तर (आक्सफोर्ड), कामसेतु (कैम्ब्रिज), अलीकचन्द्र (अलक्जेडर), नवतन (न्यूटन), कुपर्णिक (कोपर्निकस), रुष्य (रूस), इष्टालय (इटली), बरांगबहु (बेहरिंग प्रायद्वीप), पर्णामय कुल्य (पनामा नहर), पर्णामय ग्रीवा (पनामा डमरू मध्य) इत्यादि। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उनकी संस्कृति के आधार पर शब्द-सर्जन-प्रवृत्ति बहुत बलवती थी। इसमें भी सन्देह नहीं कि नामों का संस्कृतिकरण करके उन्होंने अति का सीमोलंघन कर दिया है।

इन नामों के परिवर्तन में कोई एक निश्चित नियम का पालन नहीं किया गया है। जैसे 'आइसलेंड' को 'हिमभूमि' कहकर शब्दानुवाद किया वहां उत्तर-सागर को 'तुंग सागर' और प्राय.दीप को जिह्वा कहा है। 'ग्रीनलेंड' का शब्दानुवाद 'हरितभूमि' किया है, वहां व्यर्थ तथा वस्तुवैपर्यय दोष आ गये हैं। हरितभूमि शब्द मरूस्थलों में मरू-उद्यानों के लिए प्रसिद्ध है। साथ ही हिमभूमि है, हरितभूमि नहीं। वास्कोडिगामा को क्लिष्ट कल्पना के द्वारा 'वस्क' के नाम से चाहे कोई इतिहास ज्ञाता प्रसंग से जान सके, पर कौन से 'मृद्य हर्ष' महाशय किस 'वेशवार' द्वीप की खोज में कहां के 'पत्र गोंणिका' होते हुए गये यह सब पहेली बनकर रह गये हैं। शर्माजी के इस प्रकार से शब्द-परिष्करण एवं नवशब्द-निर्माण ने अनेक शास्त्रीय विषयों को अति क्लिष्ट, परन्तु आर्य-संस्कृतिमय बना दिया है। उस समय बीसवीं शताब्दी में, जबकि आर्यवर्त्त के प्राचीन सांस्कृतिक नामों में भी पाश्चात्य संस्कृति की दुर्गन्ध आने लगी और भारत का पश्चिमीकरण हो रहा था, शर्माजी द्वारा अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों के देश-वासियों को हयपाल, सुबेर, मृगहर्ष, शूलमणि, चन्चलार्य, षड्वक्त्र शक्रतनु, अमन्दसेन तथा वहां के नगरों और राज्यों को वेणीस (वेनिस), कुल्यपुरी, क्षीर-सागर, मुष्कपुर, (मास्को),

नवजीवन भूमि (न्यूजीलेंड) आदि नाम देकर भारतीयों के हृदयों में एकबार गुदगुदी अवश्य उत्पन्न करती है।

भारतवर्ष के प्रचलित नामों तथा शब्दों का भी उन्होंने बड़े भयंकर रूप से परिष्कार किया है, यथा—चिक्षुरासुर (गिलहरी), आभाणक (कहावत) इत्यादि।

शर्माजी की संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति के प्रति इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा के दर्शन कर लेने के पश्चात् उनकी सामान्य हिन्दी-गद्य-शैलियों का विवेचन करते समय हमें अवश्य आश्चर्य होता है कि उनकी भाषा में न तो संस्कृत की दीर्घ सामासिक पदावलियां हैं और न संस्कृत की स्वाभाविक आलंकारिक प्रवृत्ति। यह उनके व्यक्तित्व की सरलता का परिचायक है। रामावतारजी की रचनाओं में विवेचनात्मक शैली की प्रधानता है। इसी के अन्तर्गत उनकी व्यंग्यात्मक, अभिभाषण तथा प्रश्नोत्तर शैलियां पनपी हैं।

शर्माजी के व्यंग्य अत्यन्त गम्भीर और तीखे होते हैं। यत्र-तत्र के व्यावहारिक उदाहरणों के द्वारा उन व्यंग्यों को पुष्ट किया है। सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण ही वे व्यंग्यों के कुशल प्रयोग में सिद्ध-हस्त हो सके हैं। उनके पाण्डित्य तथा व्यक्तित्व की प्रौढ़ता ने व्यंग्यों में हल्कापन नहीं आने दिया है। वे उनके महान् व्यक्तित्व के अनुरूप ही गहन और गम्भीर हैं। यथा—

"अविद्या का कुछ ऐसा स्वभाव होता है कि जिन पर इसका बोझ रहता है वे इसे बड़ी प्रसन्नता से ढोते हैं और इसे महाविद्या के सदृश देवी समझकर पूजते हैं। कुछ तो ऐसा ही सभी बोझ ढोनेवालों का स्वभाव होता है। काल पाकर भारी से भारी बोझ भी हल्का ही जान पड़ता है। शरीर पर हजारों मन की वायु का बोझ इसी अभ्यास के कारण कुछ नहीं मालूम पड़ता। ऐसे ही अविद्या का बोझ भी अविद्या के भक्तों को कभी नहीं सताता। इस बोझ का एक और भी बड़ा भारी गुण है कि इसके भक्त इसकी गुरुता को नहीं समझते। इतना ही नहीं, कुछ दिनों में इससे बड़ा प्रेम करने लगते हैं। सुनने में आया है कि बेतिआ के पास कुछ ऐसी भूमि है जहां लोगों का गला बहुत फूल आता है। इस व्याधि को घेघा कहते हैं। उस अद्भुत भूमि के लोग बिना घेघा के मनुष्य को देखकर बहुत ही हँसते हैं और कहते हैं कि यह कैसे मनुष्य हैं जिनके गले में उठगनी नहीं है। ऐसे ही अविद्या के बोझ वाले वस्तुत: विद्या को ही व्यर्थ का बोझ समझते हैं और बिना अविद्या के पुरुषों को नास्तिकता आदि में पचते हुए समझते हैं। जिस भूमि के अधिकांश मनुष्य ऐसी अविद्या-व्याधि से पीड़ित हों उस भूमि का सुधार सहज में नहीं हो सकता।"[1]

एक अन्य प्रश्नोत्तर सहित व्यंग का उदाहरण—"बड़े-बड़े पण्डितों और वकील बैरिस्टरों को यात्रा पर काना तेली देखने से घबराते हुए हमने पाया है। क्या इन लोगों ने अपने लाजिक का प्राइमर या मुक्तावली बेचारे तेली पर कभी लगाई है? कभी सोचा है कि शकुन नहीं माननेवाले भी कितने ही लोग अच्छी दशा में हैं?"[2]

१. रामावतार शर्मा : रामावतार-निबन्धावली : (हिन्दी की वर्त्तमान दशा) : पृ० ४४।
२. रामावतार शर्मा : रामावतार-निबन्धावली : (धर्म और शिक्षा) : पृ० २०४-५।

आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३२ ई०)

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा शैली के प्रवर्त्तक पद्मसिंह शर्मा का जन्म पश्चिम उत्तर-प्रदेश के नायक नगला ग्राम में जिला बिजनौर उत्तर-प्रदेश में उमरावसिंहजी के यहां हुआ था। इनके पिताजी गांव के सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा मुखिया थे। घर में आर्य-समाजी वातावरण था। अतएव अच्छे संस्कृत के पण्डितों के द्वारा शिक्षा का प्रबंध किया गया। बनारस, मुरादाबाद, लाहौर, जालंधर में रहकर संस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया। युग की आबहवा के अनुसार घर पर ही उर्दू-फारसी भी एक मुंशी तथा दूसरे मौलवी के द्वारा सीखी। हिन्दी-क्षेत्र तथा आर्य-समाजी विचार-धारा के अनुसार हिन्दी, मातृ-भाषा तथा प्रचार-भाषा थी ही, अतः, हिन्दी की ओर स्वाभाविक रुचि थी।

सक्रिय हिन्दी की सेवा के क्षेत्र में इन्होंने सन् १९०४ में 'सत्यवादी' साप्ताहिक-पत्र के सम्पादकीय-विभाग के माध्यम से प्रवेश किया। १९०८ में 'परोपकारी' मासिक अजमेर के सम्पादक हुए। इसके कुछ वर्ष पश्चात् 'अनाथ-रक्षक' पत्र के सम्पादक हुए। इस प्रकार पत्र-सम्पादन के द्वारा इन्होंने साहित्यिक-सेवा प्रारम्भ की। आर्य-समाज द्वारा संचलित ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापन का कार्य किया तथा वहां 'भारतोदय' पत्र का सम्पादन भी किया।

"पं० पद्मसिंह शर्मा संस्कृत साहित्य के धुरन्धर विद्वान्, उर्दू-फारसी के ऊंचे आलिम और हिन्दी के नवयुग निर्माता थे। उनकी संस्कृतज्ञता के सम्बन्ध में काशी के महान् पण्डितों से पूछिए। फारसी-उर्दू की जानकारी का हाल 'हाली', 'अकबर', 'चकबस्त' और इकबाल बतायेंगे जो उनकी इल्मियत से अवाक् रह गये थे। उर्दू-साहित्य को नये सांचे में ढालने वाले प्रोफेसर मुहम्मद हुसैन आज़ाद भी उनकी लियाक़त के कायल थे। शर्माजी अपनी एक अद्भुत लेखन-शैली लेकर अवतरित हुए थे, जो उन्हीं के साथ चली गई।"[१]

प्रसिद्ध ग्रन्थ तथा रचनाएं—'बिहारी-सतसई' पर 'संजीवनी भाष्य' के अतिरिक्त अनेक स्फुट निबन्धों को प्रस्तुत किया। 'बिहारी-सतसई' की टीका पर तो उन्हें हिन्दी-संसार का सबसे बड़ा पुरस्कार 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हुआ। (पद्म-पराग १९२९)

"जितने लेखक उर्दू-साहित्य की ओर से हिन्दी को प्राप्त हुए उनमें हम सदा एक विशेषता पाते हैं। वृद्धों की सी गम्भीरता अथवा निराशावादियों की सी निर्जीव शान्ति उनकी भाषा में नहीं मिलती। वे जीवन को महत्त्व देते हैं जीवन की रमणीयता पर मुग्ध होते हैं। फलतः उनकी भाषा में एक स्निग्ध सजीवता किशोरावस्था की सी अस्फुट मुस्कान तथा चंचल मार्मिकता मिलती है। शर्माजी की भाषा की ये ही विशेषताएं। वे स्वयं हँसते हैं और पाठकों को भी हँसाते हैं। पर यह हँसी दूसरों के दुःखों की उपेक्षा करनेवाली हँसी नहीं है।"[२] पद्मसिंहजी स्वभावतः अत्यन्त सहृदय व्यक्ति

१. पद्मसिंह शर्मा के पत्र : परिशिष्ट (श्रीराम शर्मा) : पृ० २४६।
२. कृष्णाशंकर शुक्ल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० २०९।

थे। उनके लेखों, निबन्धों तथा जीवनियों में उनकी यह सहृदयता एवं लोक-संवेदनशीलता, भाषा-शैली के रूप में फूट पड़ी है। उनकी लोक-प्रियता का रहस्य भी इसी में है। वे सदैव आनन्दित रहते थे और अपने शब्द-कौशल से अपने पाठकों को भी हँसा-खिलाकर प्रसन्न रखना चाहते थे।

शर्माजी का दृष्टिकोण जीवन के प्रति उदार, आशावादी तथा विशद है। उनकी भाषा के स्वरूप में यह दृष्टिकोण शब्द-चयन, शब्द-विन्यास तथा वाक्य-विन्यास के द्वारा प्रगट हुआ है। उनकी भाषा में सौकुमार्य, चपलता और प्रवाह भी उनके जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप हैं। दुःख में, सुख में, हानि में, लाभ में, पराजय में, जय में उनकी हास्य, व्यंग्य की चटपटी प्रकृति न्यूनाधिक मात्रा में बनी ही रहती थी। सच तो यह है कि वे जीवन के, आशा के और आनन्द के ही चित्रकार थे।

शैली में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इस कसौटी पर कसने पर पद्मसिंह शर्मा की शैलियां अत्यधिक सक्षम एवं प्रामाणिक सिद्ध होती हैं। उनकी रचनाओं में आलोचनात्मक, व्यंग्यात्मक, वर्णनात्मक तथा भावात्मक शैलियां उपलब्ध होती हैं। फिर भी बहुधा उनकी आलोचनात्मक शैली के साथ व्यंग्यात्मक शैली एक ही स्थल पर समन्वित मिलती हैं। उनकी आलोचनात्मक शैली में आर्य-समाजी वृत्ति के अनुसार चुनौती, तर्क, प्रमाण और कटाक्ष का संगम रहता है। विद्वता और पाण्डित्य के कारण एक ही विचार या भाव पर विस्तारपूर्वक समीक्षा होने से प्रघट्टक भी लंबे हो गये हैं। भाषा का मिश्रित रूप तो प्रायः न्यूनाधिक मात्रा में सब शैलियों में एक-सा रहता है। सरलता और स्पष्टता उनके जीवन की आनबान होने के कारण शैली में सर्वत्र प्रसाद गुण व्याप्त है। भाषाओं के जो व्यावहारिक शब्द आ गये हैं, उन्होंने उनका स्वागत किया है। सप्रयास बैठकर भाषा घड़ने की चेष्टा उन्होंने कहीं भी नहीं की है। जैसे—

व्यंग्यपूर्ण आलोचनात्मक शैली

"इस प्रकार रात-दिन राज-सेवा में संलग्न रहते हुए जितनी साहित्य सेवा खुसरो ने की, उसे देखकर आश्चर्य होता है। बड़े-बड़े एकान्त सेवी साहित्य सेवा भी इतना न कर सके होंगे। बाईस-तेईस ग्रंथों के अतिरिक्त हजारों फुटकर पद्य भी उनके प्रसिद्ध हैं। उनके पद्यों की संख्या कई लाख लिखी है। 'तज़करर-हरफ़ात' में लिखा है—'अमीर साहब का कलाम (कविता) जिस कदर फारसी में है, उसी कदर ब्रज-भाषा में।' पर दुर्भाग्य से अमीर खुसरो की हिन्दी कविता कुछ फुटकर पद्यों को छोड़कर इस समय नहीं मिलती, यद्यपि खुसरो हिंदी कविता के नाते ही सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं। खुसरो की हिंदी-कविता के विनाश का 'श्रेय' मुसलमानों की हिंदी विषयक उपेक्षा को ही है। इस दुर्घटना के लिये मौलाना मुहम्मद अमीन चिड़िया कोटी ने मुसलमानों को उपालंभ दिया और हिन्दुओं की गुण ग्राहिता को सराहा है कि खुसरो और दूसरे मुसलमान हिन्दी कवियों की जो थोड़ी बहुत हिन्दी कविता अब तक नष्ट होने से बची हुई है, यह हिन्दुओं ही की कृपा का फल है। मुसलमानों ने हिंदी और हिन्दुओं को मिटाने की

कमी कभी नहीं की। अरब और तुर्किस्तान की मामूली-मामूली बातों की मुसलमानों को जितनी चिंता है—अरब का ऊंट किस तरह जुगालता है और हुदी रब्बा (ऊंट हांकने वाला) किस तरह बल बलाता है, गाता है इसका जितना महत्त्व उनकी दृष्टि में है, उसका सहस्रांश भी यदि खुसरो की हिंदी-कविता का मान या अभिमान उन्हें होता तो यह अनर्थ न होने पाता।"[१]

पद्मसिंह शर्मा की 'चटुल-चपल'[२] भाषा-शैली में व्यंग्य और कटाक्ष की वृत्ति स्वभावतः रहती है, फिर भी वे अपने व्यंग्यों को प्रखर करने के लिए विशिष्ट प्रयोगों का आश्रय ग्रहण करते हैं। कहीं अंग्रेजी के शब्दों से वक्रता उत्पन्न करते हैं, कहीं समाज की प्रचलित उक्तियों को प्रस्तुत करते हैं, कहीं विदग्ध प्रयोगों का उपयोग करते हैं और कहीं संस्कृत के उपयुक्त वाक्यों या श्लोक अंशों को उद्धृत करते हैं। जैसे—

(क) जरा किसी को बुखार दिखा कि डाक्टर साहब ने क्वारन्टीन (quarantine) पहुँचाया और फिर वहां से कोई सौभाग्यशाली महाप्राण ही सही सलामत बचकर घर तक पहुँचता था, नहीं तो 'महोच्छब' की मोत दुर्लभ न थी :—

मरना भला विदेस का जहां न अपना कोय।
माटी खाय जिनावरा महामहोच्छब होय॥[३]

(ख) लेक्चर देना और तहकीकात के लिये पहुँच जाना, लीडरी के लिये इतना ही काफी है। "गोली बीस कदम तो बन्दा तीस कदम।"[४]

(ग) धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदाहि धर्मस्य गलानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञा भंग की 'नालिश' कर रहा है।[५]

पद्मसिंहजी की विवेचनात्मक शैली में सफल वक्ता तथा तर्क-शास्त्री की प्रामाणिक पुष्टियों का बल रहता है। एक के पश्चात् दूसरा वाक्य बड़ी गति से सिनेमा के चित्रों की भांति आंखों के सामने आता जाता है और एक पूर्णतः सजीव दृश्य उपस्थित हो जाता है। उनके इस प्रयास में छोटे-छोटे उप-वाक्यों की शृंखला गुंथकर बड़े-बड़े वाक्य बना देती है। ये वाक्य फिर भी पूर्णतः सरल एवं सुबोध होते हैं। उदाहरणों के द्वारा उनके प्रसाद और कान्तिगुण की अभिवृद्धि होती है। जैसे—

"अपनी असलियत और पूर्वजों के गौरव को भूल चुके थे, गन्तव्य पथ से भटककर गलत रास्ते पर पड़ लिये थे, जितने आगे बढ़ते जाते थे उतने ही सत्य मार्ग से हटते जाते थे, चलते-चलते दूर जा पहुंचे, घर छूट गया, देखा तो नई दुनियां सामने है। भौचक्के खड़े रह गये, सावन में आंखें बनी थीं, चारों ओर हरा ही हरा नजर आता था। सीसमहल में पहुंचकर कुत्ते की जो दशा हो जाती है, बंबई के बाजार में जंगली आदमी की जो हालत होती है, नई चमक-दमक और प्रकृति के बाह्य आडम्बर

१. माधुरी : (खुसरो की हिंदी कविता) वर्ष ५, खंड-१, संख्या-१ : पृ० २९।
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी-साहित्य : पृ० ४३९।
३. भीमसेन शर्मा : पदमपराग (भाग-१) : पृ० ८१-८२।
४. पद्मपराग (भाग-१) : भगवान श्रीकृष्ण : पृ० ८।
५. —वही— —वही— : पृ० १।

को देखकर हमारे नव-शिक्षितों की भी वही दशा हुई। पूर्वजों को भूल चुके थे, घर छोड़ चुके थे, जीवन उद्देश्यहीन था बिकाऊ बैल की तरह खरीददार की तलाश में खड़े थे, कि दया करके पादरियों ने इन भटकी भेड़ों को प्रभु ईसा मसीह के रेवड़ में धड़ाधड़ मिलाना प्रारम्भ कर दिया, बेठिकाने को ठिकाने लगा दिया।"[1]

भावात्मक गद्य-शैली में प्रसंग उपस्थित हो जाने पर उन्होंने अपनी व्यावहारिक, उर्दू-फारसी, आदि से बनी हुई मिश्रित भाषा-शैली को बदलकर शुद्ध संस्कृत प्रधान रूपकों से जटित कलात्मकता पूर्ण भाषा का सृजन किया है। भावों के प्रखर प्रवाह में भी उनकी कलात्मक बुद्धि के पैर उखड़े नहीं हैं। इसमें भाषा का प्रौढ़ रूप सामने आया है। यथा—

"हां! पंडित गणपति शर्माजी हमको व्याकुल छोड़ गये। हाय! हाय!! क्या हो गया। यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएं प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर, हृदय-मंदिर सूना कर दिया! हा हन्त! अपने यशः सौरभ और अपने पाण्डित्य-परिमल से सज्जन-मधुकरों को तृप्त करने वाले किस अपूर्व पुरुष की जीवन-नलिनी को मृत्यु-मत्त-मातंग ने उखाड़कर अपनी दुरन्तपूरा उदरदरी में धर लिया। हा दुर्दैव निदाघ! तूने इस मूर्ख बहुल मरुभूमि के एकमात्र विदत् सरोवर को सहसा सुखाकर कितने अनन्य गति के जिज्ञासु-मीनों को जीवनहीन बना दिया।"[2]

आचार्य पद्मसिंह शर्मा शब्द-चित्र अंकित करने में भी सिद्धहस्त थे। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार होने से उनकी चित्र-शैली में पाठकों के समक्ष चित्र उपस्थित हो जाता है। सम्पूर्ण विवरण वर्त्तमान कालिक क्रिया में प्रस्तुत किये जाने के कारण, पाठक दर्शक बनकर वर्ण्य-विषय को प्रत्यक्ष देखने लगता है। जैसे—

"शेष श्रोतृ-मण्डल फर्श पर परा बांधे डटा हुआ है, कोई नोट लेने के लिये चाकू निकाले पैंसिल गढ़ रहा है, कोई कागज के दस्ते सम्भाल रहा है, कोई पाकट बुक के पन्ने पलट रहा है, कोई किसी से कागज पैंसिल मांग रहा है, कोई बार-बार घड़ी निकालकर देख रहा है। कोई वक्त पूछ रहा है। शास्त्रार्थ शुरू होने में अभी कुछ देर है पर श्रोता अभी से उतावले-बेसब्र हो रहे हैं, उन्हें एक-एक मिनट भारी हो रहा है, बैठे-बैठे गर्दन उठा-उठाकर देख रहे हैं कि पंडितजी और स्वामीजी आते तो नहीं।"[3]

विशदज्ञान के आगार शर्माजी विचारों के प्रवाह तथा मन की उमंग में उर्दू-फारसी के शयर, रुबाइयां तथा संस्कृत, हिन्दी के श्लोक-उद्धरण भी गूंथते जाते हैं। उनका यह क्रम बहुधा परिस्थिति के अनुकूल होता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के

१. पद्मपराग (भाग-१) : (श्री दयानन्द स्वामी) : पृ० १३।
२. पद्मपराग (भाग-१) : (श्री पंडित गणपति शर्मा) : पृ० ३२।
३. —वही— —वही— : पृ० ४८-४९

सभापति के अवसर पर जो लिखित भाषण प्रस्तुत हुआ उसमें अधिकांश उद्धरण संस्कृत के हैं[1] तथा 'सरमद शहीद' के लेख में उर्दू-फारसी के वातावरण के अनुसार एक के पश्चात् दूसरी रुबाइयां दी हैं। जैसे—

'सरमद तिजारत के सौदे को आया था, वह तो न हुआ, प्रेम की हाट में अपने-आप ही को बेच बैठा—

दल्लाले-इश्क़ बूद ख़रीदारे-जासितां,
ख़ुखरा फ़रोख्तेम् चें सौदा बमा रसदं ॥

प्रेम का दल्लाल, किसी चित-चोर का गाहक बनकर चला था, पर मैंने अपने ही को बेच डाला, यह मेरा सौदा क्या अच्छा रहा। खुद खरीददार ही बिक गया।

सौदे के लिये बरसरे बाजार हुये हम,
हाथ उसके बिके जिसके खरीदार हुए हम।[2]

शर्माजी अपने उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग के कायल, भी कई स्थानों पर दिखाई देते हैं, इससे उन्हें विचारों के स्पष्टीकरण के लिये हिन्दी के सरल व्यावहारिक शब्दों को कहीं कोष्टक के भीतर रखना आवश्यक हुआ है और एक शब्द पर भरोसा न होने पर दो-दो पर्यायवाची शब्दों को भी रख दिया है—कयामत (प्रलय) तीमारदारी (सेवा शुश्रूषा), तुगरा (चित्र बन्ध), बोसा (बाबी, मच्छी), हस्व मौका मजाक (समयोचित विनोद), तीतरिया (तितलियां)।

इसके विपरीत ऐसे स्थल भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जहां उन्होंने अपेक्षाकृत सरल शब्दों को बाहर रखकर उनकी ठीक भावाभिव्यक्ति के लिये कठिन शब्दों को कोष्टकों में रखा है; जैसे—काना फूंसी (सरगोशियां), नाश्ता (प्रातराश), ब्लाटिंग पेपर (जाज़ब) आदि।

पर्यायवाची शब्दों की सहायता से सुबोधता उत्पन्न करने के साथ ही दीर्घ निर्देशक चिह्न (—) लगाकर दूसरे शब्दों में भी अपने आशय का स्पष्टीकरण किया है। इससे उनकी भाषा का सौष्ठव भी बढ़ गया है और शैली में प्रसाद गुण की प्रतिष्ठा भी हो गई है। जैसे—

"एक दिन एक स्वच्छ सफेद चिट्टा कबूतर मेरे हाथ में आ गया, मैं प्रेमातिरेक—फर्ते मुहब्बत—से उसे भींजता था, उसे चूमता था, पर वह फड़फड़ाके और मेरे हाथ से अपने तईं छुड़ाके उड़ गया। सौंदर्य गुणग्राही नहीं है—हुस्न कदर-ना-शनास है।"[3]

शर्माजी की शैलियों के पर्यावलोकन से उनके शब्द-चयन की विशुद्धता का पूर्णाभास हो जाता है। उनकी भाषा में स्वतंत्रतापूर्वक उर्दू-फारसी, अरबी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनेक भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण इन शब्दों का प्रयोग बहुत मार्के का और हृदय-स्पर्शी है। इन

१. लिखित भाषण, सभापति हि० सा० स० १८वां अधिवेशन, मुजफ्फरपुर सं० १९७७।
२. पद्मपराग (भाग-१) : (सरमद शहीद) : पृ० २२७-२२८।
३. पद्मपराग (भाग-१) : (हृदय की जीवनी) : पृ० ३९६।

विशेषताओं के ही कारण "हिन्दी में आप खास शैली के जन्मदाता हैं—जिसमें चुलबुलापन है, शोखी है, प्रवाह है और उसके साथ ही गाम्भीर्य भी। उनका पाण्डित्य उनके काबू में है। वह उस पर सह सवार की भांति सवार होते हैं।"[१] पांडित्य प्रदर्शन का आग्रह न होने के कारण हिन्दी-उर्दू का अभिन्न और रुचिकर मिश्रण हिंदी में पहले-पहल देखा गया। इसके साथ उर्दू-समाज का 'वल्लाह' 'वल्लाह', 'क्या खूब' 'क्या खूब' का आनन्द भी हिन्दी में आ गया।[२] और उसकी अभद्र दुर्गन्ध भी दूर रही। उनका मत था कि शब्दों के प्रयोग में जब तक मध्यम मार्ग का अवलम्बन न किया जायेगा, तब तक हिन्दी-उर्दू का भयानक रूप से बढ़ता हुआ यह भेद-भाव कभी दूर न होगा।[३]

शर्माजी की भाषा-शैली की लोकप्रियता का मूल उनके लोक-व्यवहार की महत्ता को है। वे कोश की अपेक्षा व्यवहार को अधिक महत्त्व देते थे। वे स्वयं विनोद में कहते रहते कि 'राय मेरी है वही जो हो सरकार की या जो पंचों की राय।'[४] वे सिद्धान्तों के एकान्त भक्त नहीं थे। उनका कहना था 'गयी', गई इनमें से जो आप पसन्द करें। ऐसी बातों में मैं 'टालरेशन' से काम लेता हूं। सिद्धान्त रूप से तो 'गयी' ही ठीक है। पर मैं लिखता अक्सर 'गई' ही हूं।"[५]

मुहावरों के उचित प्रयोग ने उनकी स्वाभाविक गतिशील भाषा को और भी द्रुतगति एवं शक्ति प्रदान की है। इन उपकरणों से सज्जित होकर उनकी भाषा हृदय को स्पर्श करने, गुदगुदाने और आह्लादित करने में निपुण है। भाषा की अत्यधिक व्यावहारिता गम्भीर गवेषणात्मक विषयों के उपयुक्त नहीं रही है। फिर भी यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में एक महान् एवं महाप्राण शैलीकार के रूप में आचार्य पद्मसिंह शर्मा का शीर्ष स्थान है। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक एवं उसके अनुयायियों की शैलियों का प्रायः सभी विशेषताओं का सम्मिलित, परिष्कृत तथा प्रौढ़ स्वरूप आचार्य पद्मसिंह की व्यंग्यात्मक शैली में मिलता है।"[६]

मिश्रबन्धु (जन्म जेष्ठ बन्धु-१८७३ ई० कनिष्ठ-१८७६ ई०)

आलोच्य-युग में बहुमुखी प्रतिभा के पुंज मिश्रबन्धुओं का हिन्दी-साहित्य को योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय है। लखनऊ जिले के इटौजा ग्राम के समृद्धशाली मिश्र परिवार में पं० बालदत्त के यहाँ मिश्रबन्धुओं की त्रिमूर्ति—पं० गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र तथा शुकदेवबिहारी मिश्र ने १८७३ से १८७६ ई० में जन्म ग्रहण किया। जन्म से ही अनुकूल वातावरण ने आगे जाकर इनकी प्रतिभा को चार चांद लगा दिये। सरस्वती और लक्ष्मी का अनूठा गठ-बन्धन उन्हें इस परिवार में

१. सं० बनारसीदास चतुर्वेदी : पद्मसिंह शर्मा के पत्र : परिशिष्ट में प्रेमचन्द : पृ० २४६।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिंदी की गद्य-शैली का विकास : पृ० १६५।
३. हिंदी, उर्दू और हिन्दुस्थानी : पद्मपराग (भाग-१) : (भाषा की कसौटी) : पृ० १३६।
४. पद्मसिंह शर्मा के पत्र : सं० बनारसीदास चतुर्वेदी : (पत्र-१८४) : पृ० १७५।
५. —वही— —वही— : (पत्र-१६) : पृ० १६-१७।
६. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० १५५।

उपलब्ध हुआ। अतएव 'बन्धुओं' को अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त हुई। तीनों ही 'बन्धु' बहुज्ञ तथा विद्वान् थे।

गणेशबिहारी अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर जमींदारी का प्रबन्ध करने लगे, श्यामबिहारी मिश्र ने प्रयाग विश्वविद्यालय से सम्मानित एम० ए० (अंग्रेजी-साहित्य) की उपाधि प्राप्त की और डिप्टी कलेक्टर बन गये तथा शुकदेवबिहारी उच्च शिक्षा के साथ कानून की परीक्षा उत्तीर्ण करके मुंसिफ हो गये। इस प्रकार अंग्रेजी-साहित्य और अंग्रेजी-सभ्यता का गहरा प्रभाव उन पर पड़ा।

इसी मिश्र परिवार में हिन्दी तथा संस्कृत-साहित्य का सम्मान और अध्ययन की भी स्वस्थ परम्परा थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० चिन्तामणि मिश्र व सांवलेकृष्ण मिश्र इसी वंश में हुए थे। पिताजी भी कविता करते थे। घर में ही अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित तथा मुद्रित हिन्दी और संस्कृत के ग्रन्थ रत्नों का भव्य कोश भी था। उच्च साहित्यिक परम्परा एवं निष्ठा के उत्तराधिकारी मिश्रबन्धुओं ने अंग्रेजी के गहन अध्ययन से पाश्चात्य दृष्टिकोण ग्रहण कर सन् १९०८ में हिन्दी-सेवा-क्षेत्र में पदार्पण किया। हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास का उद्घाटन करते 'मिश्रबन्धु-विनोद' के रूप में इन्होंने हिन्दी को प्रथम भेंट प्रदान की। 'विनोद' ने उन्हें साहित्यिक क्षेत्र में नई दिशा और नव उत्साह प्रदान किया। उन्हें हिन्दी के क्षेत्र में पेठते ही उसकी आवश्यकताएं ज्ञात हुईं, जिनकी कि पूर्ति के लिए वे परिकर-बद्ध हुए। मिश्रबंधुओं का यह 'विनोद' मय प्रयास भले ही आज विनोद की वस्तु हो सकती है; परन्तु उनके द्वारा किया गया वह इतिहास-विभाजन और नामकरण हिन्दी को महत्त्वपूर्ण उपहार है। इसी प्रकार से 'हिन्दी-नवरत्न' के द्वारा मिश्रबंधुओं ने पश्चिम की तुलनात्मक व सैद्धान्कि समीक्षा का हिन्दी में सूत्रपात किया।

मिश्रबन्धुओं ने लगभग अर्द्ध-शताब्दी तक सतत हिन्दी-साहित्य की सेवा की है। पश्चिमी साहित्य के अध्ययन से उनका दृष्टिकोण विशाल तथा विस्तृत हुआ, साथ ही अंग्रेजी के सम्पर्क में उनका वाक्य-विन्यास और अभिव्यंजना शक्ति का निखार हुआ। इससे वे भारतीय संस्कृति और साहित्य को वैज्ञानिक समीक्षा की तुला पर रखकर तदनुसार अपनी भाषा-शैली का निर्वाह भी कर सके। इस त्रिमूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन त्रिदेवों की शक्तियां मिलती हैं। इन्होंने 'मिश्रबंधु हिन्दी नवरत्न' के अतिरिक्त लगभग १००० पृष्ठों की काव्य रचना तथा साहित्य-पारिजात (अलंकार-ग्रन्थ) का सृजन कर ब्रह्मा—लगभग ३२०० लुप्त कवियों तथा १२००० हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगाकर हिन्दी-साहित्य का पोषण कर विष्णु और कठोर आलोचनाओं के द्वारा हिन्दी की अस्थिरता, व्याकरण दोष आदि का विनाश कर महेश का स्वरूप प्रस्तुत किया।[1]

प्रमुख रचनाएं

लवकुश चरित्र १८९९, व्यय १९०१, रूस का इतिहास ०९, देव ग्रन्थावली

१. चतुरसेन शास्त्री : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास : पृ० ५१८

'१०, हिन्दी नवरत्न'११, भूषण ग्रन्थावली '१२, जापान का इतिहास '११, मिश्रबन्धु विनोद (भाग १,२,३) '१४, नेत्रोन्मीलन '१५, पुष्पांजलि '१६, भारत विनय '१६, पूर्व भारत '१६, वीर मणि '१७, आत्म शिक्षण '१८, भारतवर्ष का इतिहास (भाग '१, २) '१६, सुमनांजलि '२७।

मिश्रबन्धुओं के निबन्धों में सम्भाषण शैली या नाटकत्व की प्रधानता बहुधा देखी जाती है। विचारों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति तथा कथन को सशक्त करने के लिए वे बीच-बीच में प्रश्न करते जाते हैं, तथा भाषणकर्त्ता की भांति किसी एक ही तथ्य पर बल देने के लिए एक ढंग के बहुत से वाक्यों को जोड़ देते हैं। बीच-बीच में सामान्य जीवन से चुनकर उदाहरणों के द्वारा अपने कथन की पुष्टि भी करते हैं। जिस तथ्य का प्रतिपादन वे अपने परिच्छेद के पूर्वांश में करते हैं, उसी के समर्थन की परिच्छेद के अन्त में वे पाठक से भी आशा करते हैं। उनके इस स्वकथोपकथनपूर्ण शैली में सजीवता और सप्राणता का प्रादुर्भाव हो जाता है और पाठक पर अभीष्ट प्रभाव भी पड़ जाता है।

"लंप अच्छी तरह नहीं जलता और कई बार सुधारने पर भी ठीक नहीं होता, उसे पटक दो; इस कपड़े का दाग बहुत छुड़ाने पर भी न गया, बस कपड़े को फाड़कर फेंक दो, छाता बार-बार ठीक रखने पर उलट कर गिर पड़ता है, तो उसे तोड़ डालो; घड़ी बार बार सुधारने पर भी ठीक समय नहीं बतलाती, उसे पटक दो, यह पुस्तक बहुत अशुद्ध छपी, इसे फूंक दो; इस प्रकार के काम क्रोधियों के लिए कोई असम्भव नहीं है। ऐसे ही लोग जानवरों पर क्रोध करने लगते हैं और उन्हें बिना कारण ही दंड दे डालते हैं। यदि कोई घोड़ा ठोकर ले ले अथवा लात मार दे तो उसे इसके बदले में पीटने से क्या लाभ? क्या वह घोड़ा जान जायेगा कि मैं इस कारण पीटा गया? क्रोधी लोग ईश्वर तक पर ऐसे ऐसे कारणों से कुपित हो जाते हैं कि उसने वर्षा अच्छी नहीं की! अथवा जाड़ा बहुत कर दिया!! अथवा उन्हें रुपया वाला न बनाया!!! + + + ऐसी दशा में मनुष्य का ईश्वर पर क्रोध करना वैसा ही है जैसे चीऊंटे उस पर इस कारण बिगड़ जायं कि उसने संसार भर में गुड़ ही गुड़ न रख दिया, अथवा हलवाइयों की मठोरों में उसने छिद्र न बना दिए।"[1]

मिश्रबंधुओं के निबन्धों की शैली मूलतः विवेचनात्मक है। इसमें भाषागत गम्भीरता तथा प्रौढ़ता अधिक होती है। भाषा की विशुद्धता उनकी टेक है। अतः, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी के व्यावहारिक शब्दों का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। अलंकार तथा मुहावरों के प्रति भी उनकी कोई रुचि प्रतीत नहीं होती। प्रौढ़ शैलीकार की गम्भीरता समयोचित ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं, आख्यायिकायों, उक्तियों, उद्धरणों अथवा मतों के संयोग से अधिक बढ़ गई है। वे अपने अभीष्ट अर्थ की शीघ्र प्रतीति और विचार पुष्टि के लिए विशेष सजग और सचेष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, इसी से उनके प्रत्येक कथन के पीछे एक-दो उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। जैसे—

"उपरोक्त कथन हमने अपने अनुभव के अनुसार किया है। संभव है कि अन्य

१. आत्म-शिक्षण : मिश्रबन्धु : (क्रोध शान्ति) : पृ० १६३-४।

लोग इसे न मानें; किन्तु हमारे देखने में जितनी भिन्नताएं आईं उनमें हमने यही पाया कि जिनके अधिक मित्र हैं उनमें प्रगाढ़ मैत्री नहीं है। और जिनके थोड़े मित्र हैं उनकी मित्रता का संबंध विशेष तथा घनिष्ठ देखा गया है। साढ़े तीन तथा सौ मित्रों वाली कहावत भी इसी विचार की पुष्टि करती है। कहते हैं कि एक वृद्ध के साढ़े तीन मित्र थे और उसका पुत्र समझता था कि मेरे सौ मित्र हैं, किन्तु जब परीक्षा ली गई तब पिता वाले आधे मित्र ने शतांश भी पुत्र के सौ मित्रों में से एक भी न निकला।"[1]

वर्णनात्मक-शैली में भी मिश्रबंधुओं के कुछ निबंध और रचनाएं उपलब्ध होती हैं। इसमें भाषा का सौम्य तथा शान्त रूप मिलता है। अलंकारों, उक्तियों और मुहावरों का दुष्काल तो पहले ही से पड़ा रहता है, उद्धरण आदि का भी अभाव वर्णनात्मक शैली में हो जाता है। सीधे, सरल ढंग के सुबोध और छोटे वाक्यों में वे स्थान, घटना या वस्तु का वर्णन करते हैं। जैसे—

"अब हम खजराहो का हाल उठाते हैं।

रियासत छतरपूर बुंदेलखंड के प्रायः मध्य भाग में है और खजराहो इस रियासत का मध्य भाग है। इसी स्थान पर बैठकर हम यह लेख लिख रहे हैं; जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह बहुत काल तक बुंदेलों की राजधानी रहा। उस समय में यहां बहुत से परमात्माकृष्ट पाषाण मंदिर बने जिनमें से २५ अब भी प्रस्तुत है। यह बड़ा अच्छा स्थान है और इसमें रहकर जो कभी नहीं ऊबता। समझ पड़ता है कि इसके पुण्य स्थल होने के कारण ही ऐसा है। खजराहो के इधर-उधर, राजनगर, जवारो, बमनौरा, जटकरा आदि स्थान हैं। समझ पड़ता है ये सब स्थान किसी समय खजराहो के ही अंग थे। राजनगर में राजा रहते होंगे। जवारा शब्द ज्वर से संबंध रखने से वैद्यों का स्थान समझ पड़ता है।"[2]

मिश्रबंधुओं में भाषा की विशुद्धता का आग्रह कहीं-कहीं इतना विषम हो गया है कि वह शब्द-कौशल और पाण्डित्य-प्रदर्शन की सूचना देने लगता है। इसमें वे संस्कृत के तत्सम तथा सामासिक शब्दों के प्रयोग की ओर लालायित-से दिखाई देते हैं, यहां तक कि शुद्ध हिन्दी के व्यावहारिक शब्दों की भी उपेक्षा करते हैं; यथा शर्कय, चौरकर्म, व्यक्ताचार, विवर्धिनी, काठुर्य, स्वसमीक्षा-करण, प्रशंसास्वद इत्यादि। अथवा—

"यदि हनुमानजी समुद्र न फलांग गये होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं, किन्तु उनके वीरत्व को चमकाने वाले उदधि उल्लंघन और द्रोणाचल-आनयन के ही कार्य हुए।"[3]

एक ओर उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा विशुद्धता का प्रतिपादन मिलता है तो दूसरी ओर उसकी स्वीकृति एवं तदनुकूल स्पष्टीकरण का प्रयत्न भी दिखाई देता है। इससे ज्ञात होता है कि वे अपने उन संस्कृतनिष्ठ शब्दों के प्रयोग के लिए कटिबद्ध हैं,

१. आत्म-शिक्षण : मिश्रबंधु : (मित्रता) : पृ० ६१।
२. माधुरी (बुंदेलखंड और खजराहो) मिश्रबंधु : वर्ष ५, खंड-२, संख्या-३ : पृ० ३५७।
३. आत्म-शिक्षण : मिश्रबंधु : (वीरता) : पृ० १३६

भले ही उन्हें स्वयं उनके सरल पर्यायवाची शब्दों को प्रस्तुत करना पड़े। जैसे—

(क) "बिना धी (बुद्धि) के कोई सदाचारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके बिना उसे आचार-शास्त्र का समुचित ज्ञान हो ही नहीं सकता।"[1]

(ख) "मित्रता की योग्यता के लिये, गुण-ग्राहकता और वैविध्य बहुत बड़े गुण हैं, तथा आनिर्वृत्य (एकांगीपन) बहुत बड़ा दोष है।"[2]

मिश्रबंधुओं की विशुद्ध भाषा के राज्य में केवल संस्कृत के उद्धरण, पदावलियां तथा विन्यास का ही सम्मान होता है। इन्हीं के द्वारा उनका सम्पूर्ण भाव-व्यापार चलता है, फिर भी उर्दू-फारसी के कुछ व्यावहारिक शब्द संकुचित मार्ग से प्रविष्ट हो ही गये हैं। इनसे अपने अभीष्ट प्रभाव का अनिष्ट न होते देखकर मिश्रबंधुओं ने अपने काठुर्य का प्रहार इन पर नहीं किया है, और वे कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो जाते हैं—जैसे, खुशामदी, लापरवाही, बेहया, दगाबाज, असलियत, दिल, शरारत, वाहियात, नाराज इत्यादि।

मिश्रबन्धुओं ने सरलता के विचार से संयुक्ताक्षरों का यथासम्भव प्रयोग न करके अनुस्वारों से काम चलाया है जैसे व्यङ्ग, चञ्चल, सम्बन्ध, क्रोधान्ध के स्थान पर व्यंग, चंचल, संबंध और क्रोधांध।

यद्यपि मिश्रबंधुओं ने स्वयं भी व्याकरण-सम्मत शुद्ध लिखने का आग्रह किया है; परन्तु उनके निबन्धों में व्याकरण की सामान्य त्रुटियां भी मिलती हैं तथा कई अशुद्ध ग्राम्य-शब्दों का प्रयोग किया है। 'ए' और 'ये' का भेद न करके कभी 'चाहिये' और कभी 'चाहिए' लिखा है।

(क) "प्रसिद्ध कवि मलिक मोहम्मद जायसी काने और कुरूप थे। एक बेर एक राजा उन्हें देखकर मुस्कराया।"[3]

(ख) "बहुत लोगों में बांटने पर उसकी मात्रा प्रति स्थान में बहुत ही स्वल्प रह जाती है। शर्करा पास उतनी है। मनुष्य को अधिकार है कि उससे चाहे जितना मीठा अथवा फिका शर्बत बना ले।"[4]

हास्य-मूर्ति : पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (१८७५-१९३९ ई०)

चतुर्वेदीजी का जन्म नदिया जिले के छिटका ग्राम में श्री कालीप्रसाद के यहां हुआ था। डेढ़ वर्ष में पितृहीन हो जाने पर इनका शिक्षण मामा के यहां हुआ। वस्तुतः उनकी जन्म-भूमि नदिया, पितृ-भूमि मथुरा, मातृ-भूमि बिहार तथा कर्म-भूमि कलकत्ता रही।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त के साहित्यिक-शिष्य एवं परम्परानुयायी चतुर्वेदी जी का

१. आत्म-शिक्षण : मिश्रबंधु : (वीरता) : पृ० १२७।
२. —वही— —वही— : पृ० ५४।
३. —वही— (क्रोध-शान्ति) : पृ० १६०।
४. —वही— (मित्रता) : पृ० ६१।

व्यक्तित्व बहुमुखी तथा विशाल था। वे ब्रज-भाषा के कवि, खड़ी बोली गद्य के लेखक, पत्र-पत्रिकाओं के प्रमुखतः 'भारत-मित्र' सम्पादक और समालोचक भी थे। संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त बंगला भाषा के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने बंगला भाषा के कुछ अच्छे ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद भी किया था। व्याकरण इनका प्रिय विषय था।

वे हास्य एवं आनन्द की मूर्ति थे। इनका स्वभाव बड़ा सौम्य एवं विनोदी था। सहृदयता, मिलनसारता और मिष्ट-भाषण इनके व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग थे। स्वभाषा और संस्कृति का अभिमान नस-नस में भरा था। इनके विरुद्ध वे किसी का कोई आक्षेप सुनने को तैयार न थे। चतुर्वेदीजी की भाषा-शैली को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व भी उनका यह स्वाभाषाभिमान है। एक बार कलकत्ता यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट की सभा में आचार्य ललितकुमार बंद्योपाध्याय ने 'अनुप्रासेर अट्टहास' बंगला-प्रबन्ध का पाठ किया और 'बंगला बंगवासी' पत्रिका के सम्पादक बाबू बिहारीलाल सरकार ने उसका प्रसंग लेकर बंगला भाषा को अनुप्रास बहुला कहा और उसे कविता की भाषा घोषित किया। हिन्दी के इस अनन्य उपासक को बूढ़े बिहारी बाबू की बात बड़ी बुरी लगी क्योंकि वे तो भारत के भव्य-भाल की बिन्दी हिन्दी को ही कविता की भाषा जानते और मानते थे। प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने फिर १६१५ ई० के पश्चात् धुंआधार रूप से अनुप्रास की धूम मचा दी। उनका इस क्षेत्र में प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण २१ पृष्ठों में लेख 'अनुप्रास का अन्वेषण' है। इस लेख की ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्ता है। प्रतिक्रिया-स्वरूप अनुप्रास के आग्रह की अति उनकी भाषा में हो गई है जिससे कहीं-कहीं भाषा और भावों की उठा-पटक भी हो गई है।

रचनाएं—साहित्यिक दृष्टि से उनके मुख्य निबन्ध—'हिंदी लिंग विचार', 'हिन्दी की वर्तमान अवस्था', 'अनुप्रास का अन्वेषण', १६१८ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ—संसार चक्र १६१६, 'बसन्त मालती', भारत की वर्तमान दशा '०६, स्वदेशी आन्दोलन '०८, गद्य-माला '०६, निरंकुशता निदर्शन '११, बिहार का साहित्य '२६ तथा निबन्ध-निचय '२६ है।

चतुर्वेदी का अधिकांश उपलब्ध साहित्य उनके भाषणों के रूप में प्रस्तुत हुआ है। ऐसी स्थिति में उनकी भाषा-शैली में वक्तृत्व कला की सजीवता और चमत्कार रहते हैं। बहुज्ञता एवं विस्तृत अध्ययन के कारण उन्होंने देशी-विदेशी-विभिन्न साहित्यों से स्थान-स्थान पर उद्धरण और प्रमाण दिये हैं। इस प्रकार क्रमशः अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए प्रमाण और व्याख्या के साथ वे आगे बढ़ते हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी शैली विवेचनात्मक तथा गम्भीर है। उसमें शालीनता है और ओज भी। जैसे—

"प्रतिभा के विकाश पर कुछ लिखने के पहले प्रतिभा क्या है, यह बतलाना आवश्यक है, पर इसके लिये जगड्वाल की आवश्यकता नहीं। रुद्र कवि की उक्ति ही अलम् होगी। वह कहते हैं—'प्रज्ञा नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा अर्थात् जिस बुद्ध से अथवा शक्ति से मनुष्यों को नये-नये विचार सूझते हैं उसका नाम प्रतिभा है। इसी प्रतिभा के विकाश का वर्णन यहां करना है।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि A poet is born, not made अर्थात् मनुष्य जन्म से ही कवि होता है, बनता नहीं। कवि अपनी प्रतिभा के साथ जन्म लेता है। उसके सिवा और सच्चे कवि के गौरवयुक्त पदवी को ग्रहण नहीं करता है। पर Not made से यह भी ध्वनि निकलती है कि शिक्षा या और कोई अमानवीय अनुकूल अवस्था भी मनुष्य को कवि नहीं बना सकती है। कवित्व शक्ति वास्तव में दुर्लभ है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। पर इस शक्ति का विकाश क्या अनुकूल अवस्था पाकर नहीं होता है?"[1]

हृदय की टीस मन को कितना आन्दोलित कर सकती है, इसका बहुत सुन्दर उदाहरण चतुर्वेदीजी की गद्य-शैली में मिलता है। बंग-साहित्यकार बिहारी बाबू की गर्वोक्ति से मर्माहित होने के पश्चात् उनकी भाषा सदा सर्वदा के लिए अनुप्रासमय हो गई। उनकी सभी रचनाओं में तथा भाषणों में आनुप्रासिकता एवं लयात्मकता का प्रवाह उमड़ आया। इसमें भी विशेषता यह है कि उन्होंने हिन्दी, संस्कृत तथा ब्रज-भाषा के अतिरिक्त, अन्य विजातीय भाषाओं का सहारा नहीं लिया है। लम्बे-लम्बे अनुप्रासों के साथ दीर्घ-सामासिक शब्दों का योग भाषा में माधुर्य और ओज गुण का सामंजस्य उपस्थित करता है। लम्बे वाक्यों में एक-सी दीर्घ सूत्री पदावली कहीं-कहीं दुरूहता और ऊब उत्पन्न कर देती है। जैसे—

"साहित्य-अर्जन उपार्जन के उपरान्त साहित्य-सेवा है। संस्कृत साहित्य की कौन कहे राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी साहित्य-संसार में भी अनुप्रास की आंधी आ गई है। दिव्य-दृष्टि से नहीं, चर्म-चक्षुओं से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कवि-कुल कुमुद कलाधर, काव्य-कानन-केशरी और कविता कुंज-कोकिल कालिदास भी काव्य-कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं-कहीं तो कष्ट कल्पना से काव्य का कलेवर कलुषित हो जाता है। यह कपोल-कल्पना नहीं, कवि कोविदों का कहना है। खैर, वंशी-वट, यमुना-निकट, मोर-मुकुट पीत-पट, कालिंदी-कूल, राधामाधव, ब्रज वनिता, ललिता विधुवदनी, कुंवर-कन्हैया, नन्द-यशोदा, वसुदेव देवकी, वृन्दावन, गिरि-गोवर्द्धन, ग्वाल-बाल गो-गोप-गोपी, ताल, तमा, रसाल-साल, लवंग लता, विपिन-बिहारी, नन्द नन्दन, विरह व्यय, वियोग-व्यथा, संयोग-वियोग, मधुर-मिलन, मदन महोत्सव, और मलयानिल ही नहीं झिल्लियों की झंकार, वीर बादर, घन गर्जन वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, बादल की गरज, शीतल सुगन्ध-मन्द-मारुत, कुसुम कलिका, मदन मंजरी, वीर बहूटी, चोआ-चंदन, अतर अरगजा, तेल-फुलेल, मेंहदी-महावर, सोलह-शृंगार, मृग-मद, राहुरद, कुमुद कमल कलहार, स्थल-कमल, सरसिज, सरोरुह, पद्म पत्र, एलालता, लज्जावती-लता, छुई-मुई की पत्ती, कोयल की कुहुक, कूजित कुंज कुटीर, शशि वसंती वायु, मलय-मारुत, मधुमास, युवक-युवती, नव-योजन, षोडशी, स्मर-शर, पवित्र-प्रेम, प्रेम-पाश, प्रेमपिपासा, यामिनी-यामन, रमणी-रत्न, सुख-सागर, रस-सागर, दुःख-दावानल, अंध-अनुराग, मुग्ध-मध्या, प्रोषित पातिका,

१. मर्यादा : ६।३ : पृ० १३३ (कलकत्ता साहित्य-परिषद् में पढ़ा गया निबंध-प्रतिभा का विकाश)।

वारुक सज्जा, अधवा-विधवा-सधवा, चिर चोर, मदनमोहन, दिलदार यार, प्राणनाथ, प्राणप्रिय, पीन पयोधर, प्रेमपत्र, प्रेम पताका, प्राणदान सुख स्वप्न, आलिंगन-चुंबन, चूमा-चाटी, पाद-पद्म, कृत्रिम-कोप, भ्रू-भंग, भृकुटी-भंगी, मान मर्दन, और मान भंजन भी अनुप्रास के आधीन है।"[1]

अनुप्रास की आदत अंगीकृत करने के उपरान्त चतुर्वेदीजी ने अपने भाषण और लेखन दोनों में ही अनुप्रास की वर्षा कर दी है। ऊपर के उदाहरणों में जहां उन्होंने प्रमुखतः जोड़ी के तथा सामासिक शब्दों को प्रस्तुत किया है, वहां उन्होंने वर्णनात्मक और विवरणात्मक शैली में भी अनुप्रास अलंकार के भेद-उपभेद-छेक, वृत, लाट, अन्त्यानुप्रास आदि के द्वारा भी भाषा की साज-सज्जा की है। भाषा में भाषानुकूल चढ़ाव-उतार और ध्वनि का भी ध्यान रखा है। अनुप्रास से उनकी भाषा हृदयस्पर्शी एवं सबल हो गई है।

आवेशपूर्ण उद्विग्न भाषा-शैली में वाक्य अपेक्षाकृत छोटे और सरल रहते हैं। उनमें व्यंग्य के साथ विनोद का भी पुट रहता है। बीच-बीच में मुहावरों के प्रयोग से भाषा में तीव्रता और प्रखरता आ गई है। अनुप्रास के आग्रह ने भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों को भी स्थान देने के लिए कहीं-कहीं बाध्य कर दिया है। अन्यथा उनकी भाषा में हिन्दी और संस्कृत के तत्सम शब्दों को ही स्थान है। परिच्छेद के अन्त में "मतलब यह है कि"—के द्वारा एक वाक्य में पूर्व प्रस्तुत विचारों की पुनरावृत्ति कर मुहावरे के साथ एक जोरदार छाप लगा दी है। यथा—

"इसके बाद भीतरी दशा पर दृष्टि जाती है। इसे देखते ही आंखें लाल हो जाती हैं। क्रोध से शरीर कांपने लगता है। जी यही चाहता है कि हिन्दी-साहित्य के संहार करने वालों के सिर पंजों से गंजे कर दिए जायं, पर मसोस कर रह जाना पड़ता है; क्योंकि सिंह को केवल अवलोकन करने का ही अधिकार मिला है और कुछ करने का नहीं। इसलिये अवलोकन ही करता हूं। बाहरी दशा जैसी अच्छी है, भीतरी दशा वैसी ही बुरी। यहां ईर्ष्या, द्वेष हठ-दुराग्रह और पक्षपात के कारण लोग अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पका रहे हैं। कोई तीर घाट जाता है, तो कोई मीर घाट। कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है तो कोई कोष का काया कल्प। कोई हिन्दी की चिन्दी निकालता है, तो कोई काव्य कलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्ण विन्यास का विपर्यय करता है, तो कोई शैली का सत्यानाश करता है। उल्था करने में भी उलट-पुलट का चर्खा चलता है। बंगला की बू, मराठी की महक, और गुजराती की गंध से हिन्दी के होश हवाश गुम हैं। अंग्रेजी के अंधड़ ने तो और भी आफत ढाई है।

+++मतलब यह है कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बरात में सभी ठाकुर ।"[2]

१. निबन्ध-निचय : (अनुप्रास का अन्वेषण) : पृ० २४।

२ "हिन्दी की वर्तमान अवस्था" : निबन्ध : पृ० ८३ पठित ८वें अधिवेशन हि० सा० स० इन्दौर सं० १९७४।

चतुर्वेदीजी भाषा-सुधार के लिये बहुत प्रयत्नशील रहते थे। अशुद्ध भाषा तथा भाषा की अस्थिरता से उन्हें स्वाभाविक घृणा थी। यह उनके बालमुकुंद गुप्त के सम्पर्क के कारण विशेष हुआ। इससे जब उन्होंने अपने सम्बद्ध विषय पर आलोचना की है तो वे अधिक प्रखर हुई हैं। ऐसे समय कुछ नये या विचित्र शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—

"पर अंग्रेजी (Anglo-sexton) के जो विशुद्ध शब्द हैं, उनके बारे में कुछ मत पूछिए। उनकी बनावट में बड़ा गड़बड़ाध्याय है। नियम का तो वहां नियम ही नहीं है और न व्युत्पत्ति का कोई ठिकाना। मनमानी घर जानी है। अंग्रेजी भाषा के विशुद्ध शब्द बलवान (strong) कहलाते हैं; उनका नाम है दुर्बल (weak)। नियम विरुद्धता के मानी बलबत्ता और नियम-बद्धता के मानी दुर्बलता है। भाव प्रकाश करने का कैसा अच्छा ढंग है।"[1]

शब्द-चयन एवं शब्द-विन्यास की दृष्टि से चतुर्वेदीजी उदार प्रकृति के कहे जा सकते हैं। प्रभावपूर्ण भावाभिव्यक्ति के लिए उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों से शब्द ग्रहण किये हैं। वे सरल और क्लिष्ट भाषा को देश-काल-पात्र सापेक्ष रखने के पक्ष में हैं। उनका अभिमत स्पष्ट है कि "सब जगह गाय-बैल और भेड़ बकरियों से काम न चलेगा। मौका-महल देखकर धेनु और भेष से भी काम करना होगा। पर याद रहे मुसकिराना छोड़ सदा ईषत् हास्य ठीक नहीं। डकार लेने में जो मजा है वह उद्गार में नहीं। काली-कलूटी में जो आनन्द है, वह कृष्ण-कलेवरा में नहीं। यही हाल जमहाई और जृम्मन का है। + + + अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द हिन्दी में घुल मिल गए हैं, उन्हें निकाल देना हिन्दी का अंगच्छेद करना है।"[2]

अतएव यह स्पष्ट है कि शब्द-ग्रहण करने में कोई हठ-धर्मी या दृढ़ आग्रह न था। बोलचाल की भाषा से काम निकलने पर क्लिष्ट-भाषा उन्हें पसन्द न थी और जहां आवश्यक हो वहां क्लिष्ट और कठिन शब्दों का प्रयोग भी उन्हें अभीष्ट था। हिन्दी में उन्होंने जहां अनुस्वार से काम चलता देखा तो संयुक्ताक्षरों का प्रयोग नहीं किया, और उर्दू-फारसी के शब्दों की मूल प्रकृति का समादर कर उनके वर्णों के नुक्तों को भी लगाया है।

चतुर्वेदीजी ने अपनी भाषा में मुहावरों और कहावतों का प्रयोग जगह-जगह और पर्याप्त मात्रा में किया है। यह उनकी व्यंग्य एवं विनोदमयी शैली के सर्वथा अनुकूल है। इनके द्वारा भाषा में अधिक रोचकता, गति एवं शक्ति का प्रणयन हुआ है। जैसे—

"पद्य की दशा पहले जैसे अच्छी थी, आजकल वैसी ही शोचनीय है। वह दो मुर्गों में मुर्गी हराम की कहावत को चरितार्थ कर रहा है।"[3]

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सप्तम अधिवेशन, जबलपुर : सं० १६७३ : पृ० ४६।
२. "भाषण सभापति" हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, १२वां अधिवेशन : उद्धृत—निबन्ध-निचय : पृ० १६४-१६५।
३. "हिन्दी की वर्तमान अवस्था" निबन्ध-उद्धृत गद्य-प्रकाशिका : पृ० ११२।

"हिन्दी में आजकल व्याकरण की मिट्टी पलीद हो रही है। लोग हिन्दी लिखते समय व्याकरण को ताक पर रख देते हैं।"[1]

व्याकरण के अच्छे ज्ञाता तथा भाषा-सुधारक होने पर भी व्याकरण की कुछ त्रुटियां उनकी रचना में यत्र-तत्र हुई हैं। यह आश्चर्य की वस्तु अवश्य है, परन्तु युग की परिस्थितियों के अनुरूप हैं और उपेक्षित हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह (१८८१-१९३१ ई०)

द्विवेदी-युग में हिन्दी के अद्वितीय भावात्मक निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह का जन्म पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के सबोटाबाद (आजकल पाकिस्तान) के समीप सल्हड़ नामक ग्राम में १७ फरवरी, १८८१ में सरदार करतारसिंह भागर, कानूनगो के यहां हुआ था। आस-पास ही प्रकृति की क्रीड़ा-स्थली, ज्ञान तीर्थ तक्षशिला विश्वविद्यालय के अवशेष, बुद्ध के प्रेम और शान्ति की सुरभि विकीर्ण करने वाली, पवित्र रज एवं सौंदर्य की संदेशवाहक पुण्यभूमि का प्रभाव उनके जीवन पर पूर्णतः पड़ा। पिताजी के सरकारी दौरों पर अधिकांश समय बाहर रहने के कारण मां के ही अधिक सम्पर्क लाभ से, माताजी से सहृदयता, कोमलता, उदारता और भावात्मकता धरोहरस्वरूप प्राप्त हुई और पिताजी से दूर रहने के कारण इनके जीवन में स्वच्छन्द वृत्ति जागृत हुई।

पांच वर्ष की उम्र से ही हवेलियन की एक मसजिद में उर्दू तथा एक धर्मशाला में गुरुमुखी का अध्ययन प्रारम्भ किया। हरीपुरा स्कूल से १८९५ में फारसी-भाषा के साथ मिडिल पास कर रावलपिंडी हाई स्कूल में प्रवेश किया। वहां से मैट्रिक पास कर डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में १८९७-९९ तक अध्ययन किया। यहां उन्हें संस्कृत पढ़ने का भी अवसर मिला। इस प्रकार ये उर्दू, पंजाबी, फारसी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर सके। इनकी बौद्धिक विलक्षणता की विभा कालेज जीवन में ही स्पष्टतः प्रगट हो गई थी। तीसरे वर्ष में ही इनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर भगत गोकलचन्द ने कांच बनाना सीखने के लिए जापान सन् १९०० के प्रारम्भ में ही भिजवाया। वहां इन्होंने जर्मन तथा जापानी भाषाएं सीखीं। स्वामी रामतीर्थ और जापान के सौंदर्य ने उनके जीवन को बदल दिया और वे संन्यासी हो गये। वस्तुतः अध्यापक पूर्णसिंह की भाषा-शैली में जन्मभूमि का सौंदर्य प्रेम, मां की सहृदयता, स्वामीराम की मस्ती, जापान की कलात्मक कमनीयता का अद्भुत योग है। उनका साहित्यिक जीवन भी जापान में, इसी प्रेम, सौंदर्य, वेदान्त की आह्लादावस्था में एक अंग्रेजी उपन्यास और अंग्रेजी के The Thundering Dawn पत्र के सम्पादन से प्रारम्भ हुआ।

जापान से लौटकर कुछ समय पश्चात् परिस्थिति-वश गृहस्थ-जीवन में प्रवेश किया। तत्पश्चात् सार्वजनिक तथा साहित्यिक जीवन नौकरी के साथ चलता गया। इसी अवधि में आचार्य द्विवेदीजी के आह्वान और युग की प्रेरणा से 'सरस्वती' में

---

१. "हिन्दी की वर्तमान अवस्था" निबन्ध-उद्धृ—गद्य-प्रकाशिका : पृ० १०८।

इनका प्रथम निबन्ध 'सच्ची वीरता' जनवरी १६०६ में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् 'कन्यादान', 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'अमेरिका का मस्त योगी', 'वाल्ट ह्विटमेन' तथा 'पवित्रता' सन् १६१३ तक प्रकाशित हुए। ये छः निबन्ध ही अध्यापकजी की हिन्दी को महान् देन हैं। शैली की दृष्टि से विशेषतः उनके निबन्ध अभी तक बेजोड़ हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी में ३० तथा पंजाबी में ११ पुस्तकें भी लिखी हैं। इन समस्त प्रकाशित और अधिकांश अप्रकाशित रचनाओं में उनकी अत्यधिक भावुकता ही व्याप्त रहती है।

आंखों में प्रेम, चेहरे पर तेज और हृदय में अगाध भावुकता का पुंज समेटे हुए पूर्णसिंहजी का व्यक्तित्व बड़ा मोहक और कमनीय था। प्रथम दर्शन में ही उनकी बाल-सुलभ पवित्र प्रेम की प्रतीक मुद्रा हृदय पर प्रभाव डालती थी। उनके व्यक्तित्व में चुंबकीय आकर्षण था। पंजाब केशरी महाराज रणजीतसिंह के समान लम्बी नुकीली दाढ़ी और लम्बी नासिका उनकी मर्मभेदनी शक्ति का संकेत करते थे। सिर पर पगड़ी रहती साफा नहीं, वरन् वह पगड़ी और साफे का मिश्रित रूप है। शरीर पर अस्त-व्यस्त वस्त्र उनकी मस्त प्रकृति की बात कहते। वे मूलतः और पूर्णतः कवि थे। वे जीवन को किसी कारा में आबद्ध नहीं करना चाहते थे। स्वच्छन्द और उन्मुक्त पक्षी की भाँति वे सदा ही भावों के अनन्त आकाश में विचरण करते रहते थे। विश्वबन्धुत्व उनका ध्येय था और सर्वत्र विश्वात्मादर्शन था उनका अभीष्ट। जब वे अपने आत्मीय जनों से मिलते थे तो गले-गले लग और बाहु पसार कर मिलते थे।

वे प्यार सबसे करते, घृणा किसी से नहीं। समाज में फैले हुए दम्भ, मिथ्या-डम्बर, पाखण्ड तथा असुन्दर भावनाओं से उनके हृदय में बहुत क्षोभ होता था। अतः, उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने कटाक्ष और व्यंग्य किये हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरं को ग्रहण करने के लिए उनका विनम्र आग्रह 'पवित्रता' और 'मस्त योगी', 'वाल्ट ह्विटमेन' में; किसानों और मजदूरों के प्रति अगाध सहानुभूति और आत्मीयता 'मजदूरी और प्रेम' में; मिथ्याडम्बर, दम्भ, बनावट सजावट आदि अनुदात्त भावों के विनाश तथा जीवन में उदात्त भावों एवं चरित्र की प्रतिष्ठा 'सच्ची वीरता' और 'आचरण की सभ्यता' में अभिव्यक्त हुई है।

निबन्धों की पश्चिमी कसौटी पर अध्यापकजी के निबन्ध सोलह आने ठीक उतरते हैं। उन पर व्यक्तित्व का मुलम्मा बहुत मोटा चढ़ा है। उनके लेखों में गद्य-काव्य का-सा आनन्द आता है। विदग्धकारी लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा इन्होंने हिन्दी में एक नई शैली का सूत्रपात किया।

स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व होने के कारण पूर्णसिंहजी के निबन्धों को किसी या किन्हीं स्पष्टतः निश्चित शैलियों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। वैसे उनके प्रायः सभी निबन्ध भावात्मक हैं, जिनमें विचारों और भावों का ताना-बाना है। उनके मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की महाप्राणता के कारण भावुकता का रंग दूर से दृष्टि-गोचर होता है। सहृदयता उनकी प्रेरक शक्ति होने से, वे पाठकों के सामने प्रत्यक्षतः बिना किसी हिचक, संकोच या दुराव-छिपाव के अपने हृदय को खोलकर रख देते हैं।

अतएव उनकी शैली का एक रूप सम्भाषण शैली है। स्व-साक्षात्कार का अनुभव करता हुआ लेखक चिर-परिचित बंधु की भांति सीधे शब्दों में प्रश्नों की झड़ी लगा देता है और ऐसे चुभते हुए तर्कपूर्ण विचार रखता है कि प्रतिकूल विचारधारा वाला पाठक भी निष्प्रभ हो जाता है। जैसे—

"आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—'यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।' वाह क्या दिल्लगी है? हाथ, पांव, सिर, आंखें, इत्यादि सबके सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम सेवा से चुकता होता है। अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है।"[1]

भावना की चरम स्थिति में पूर्णसिंहजी की शैली प्रलाप शैली के निकट पहुँच जाती है जिसमें क्रिया, विशेषण आदि अनेक पदों की आवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उस समय वाक्य-विन्यास के क्रम में परिवर्तन आ जाता है। छोटे-छोटे वाक्य परस्पर बाहु पसार कर मिलते जाते हैं, और एक पूर्ण समा बंध जाता है। पूर्णसिंहजी का जीवन और प्रेम उसमें झांकने लगता है। भाव की वेगवती धारा में पाठक भी लेखक के ही साथ बह चलते हैं। जैसे—

"जो पृथ्वी है सो हम हैं, जो तारे हैं सो हम हैं; ओः हो! कितनी देर हमने उल्लुओं के स्वर्ग में काट दी। हम शिला हैं, पृथ्वी में धंसे हैं; हम खुले मैदान हैं, साथ साथ पड़े हैं; हम हैं दो समुद्र, जो आन मिले हैं। पुरुष का शरीर पवित्र है, स्त्री का शरीर पवित्र है, फूलों का शरीर पवित्र है, वायु का शरीर पवित्र है, जल पवित्र है, धरती पवित्र है, आकाश पवित्र है, गोबर और तृण की झोपड़ी पवित्र है, सेवा पवित्र है, अर्पण पवित्र है। लो सब अपने आपको तुम्हारे हवाले करता हूं। कोई भी हो तुम सारी दुनियां के सामने मेरे ही रहो।"[2]

हिन्दी में अनोखी लाक्षणिक शैली की छटा भी सरदार साहब की रचनाओं में पूर्ण वैभव के बीच में दृष्टिगोचर होती है। भावातिशयता के कारण उनकी शैली में सालंकारिता तथा वक्रता की निराली छटा दिखाई पड़ती है। जैसे—

"हल चलाता चलाता किसान रह गया। बकरी भैंस चराता चराता वह और कोई भी उसी तरह लीन हुआ। जूते गांठता गांठता गांठता एक और कोई दे मरा। भोग विलास की चीजें पास पड़ी हैं। ऊंचे महलों से निकल, सुनहले पलंगों से गिर वह रेत में कौन लोट गया। सिर से ताज उतार नंगे सिर नंगे पांव वह अलख कौन जगाता फिरता है? मोर-मुकुट उतार सिर पर कांटे धरे शूली की नंगी धार पर, वह मीठी नींद कौन सा राम का लाड़ला सोता है? तारों की तरह कभी मैं टूटा कभी तू टूटा। कभी

---

१. सरस्वती : (मजदूरी और प्रेम) सितम्बर, १९१२ : पृ० ४७०।
२. सरस्वती : (अमेरिका का मस्त योगी वाल्ट ह्विटमेन) मई, १९१३ : पृ० २७४।

इसकी बारी, कभी उसकी बारी आई। मीराबाई ब्रह्मकान्ति का अमूल्य चिह्न हो गई।"[१]

पूर्णसिंहजी के हृदय में सत्यं, शिवं और सुन्दरं की त्रिमूर्ति की प्रतिष्ठा सदा सर्वदा रहने के कारण, मानव-समाज के दोषों और दूषणों से उन्हें क्षोभ होता है। वे उन्हें समाप्त करने के लिए व्यंग्य और परिहास का सहारा अवश्य लेते हैं। इस समय भी वे सदा यह ध्यान रखते हैं कि कोई ऐसी बात न कह दी जावे या इस ढंग से न प्रस्तुत की जावे कि दूसरे के हृदय को आघात पहुंचे। जैसे—

"आजकल पश्चिमी देशों में झूठी और जाहिरी शारीरिक आज़ादी के ख्याल ने कन्यादान की आध्यात्मिक बुनियाद को तोड़ दिया है। कन्यादान की रीति जरूर प्रचलित है; परन्तु वास्तव में उस रीति में मानो प्राण ही नहीं। कोई अखबार खोल कर देखो उन देशों में पति और पत्नी के झगड़े वकीलों द्वारा जजों के सामने तै होते हैं और जज की मेज़ पर विवाह की सोने की अंगूठियां कांच के छल्लों की तरह द्वेष के पत्थरों से टूटती हैं। गिरजे में कल के बने हुए जोड़े आज टूटे और आज के बने जोड़े कल टूटे।"[२]

विशिष्ट भावोद्वेग के साथ विशिष्ट शब्द-बल, विशिष्ट शब्द-चयन एवं महत्त्वपूर्ण शब्दों की आवृत्ति के द्वारा उनकी शैली में ओज की सृष्टि हुई है। पूर्णसिंहजी की शैली में इस प्रकार से अनेक स्थलों पर ओज गुण की अवतारणा हुई है। जैसे—

"प्रेम की भाषा शब्द रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की, भाषा भी शब्द रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे हैं। सच्चा आचरण प्रभावशील, अचल स्थिति, संयुक्त आचरण न तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गढ़ा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से, न धर्म चर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।"[३]

पूर्णसिंहजी का वाक्य-विन्यास सरल तथा शब्द-चयन उदार है। वस्तुतः उनके वाक्य छोटे होते हैं; परन्तु भावातिरेक के कारण पूर्णविराम बिना लगाये लेखक भावों में बह जाता है इससे वे शृंखलाबद्ध होकर दीर्घकाय-से प्रतीत होने लगते हैं। यह अवश्य है कि इन छोटे-छोटे वाक्यों में परस्पर जोड़ लगाने की प्रक्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं। कहीं एक ही जोड़ और प्रकार के वाक्यांशों को गूंथा गया है, कहीं एक ही शब्द पर जोर देकर विभिन्न वाक्यों की योजना की है और कहीं कार्य-कारण का विवेचन करते हुए वाक्य दीर्घकाय हो गये हैं। जैसे—

(क) "मेरे खेत में अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिए एक कमली काफी है, कमर के लिए एक लंगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पांव, मेरे बलवान हैं, शरीर मेरा नीरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और

१. उद्धृत—निबन्ध-निचय : सं० नन्ददुलारे वाजपेयी एवं रामलालसिंह : (पवित्रता) : पृ० १० ।
२. सरस्वती : (कन्यादान) अक्तूबर, १६०६ : पृ० ४४४ ।
३. सरस्वती : (आचरण की सभ्यता) फरवरी, १६१२ : पृ० १०२ ।

मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों को मिल जाता है।"[१]

(ख) "पुष्प की कोमल पंखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतल से क्रोध और विषय वासना शान्त हो जाय; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जाएं—परन्तु अंग्रेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए राम रौला ही है।"[२]

शब्दों का चयन करने में उन्होंने कभी प्रयास और श्रम नहीं किया। उर्दू, फारसी, पंजाबी, अंग्रेजी और हिन्दी का ज्ञान होने तथा उपर्युक्त प्रायः सभी भाषाओं में रचनाएं करने से उनकी भाषा में इन सभी भाषाओं के शब्द और मुहावरे आ गए हैं, उनके भाव किसी शब्द विशेष के लिए ठहरते न थे। अतः, उन्होंने उदारतापूर्वक दूसरी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण किया है। विशुद्धता की छलनी में छानकर शब्दों का प्रयोग करने के वे कायल न थे।

मुहावरे और उर्दू शायरी को भी सम्मानित स्थान उनकी रचनाओं में प्राप्त है। इससे उनकी भाषा-शैली को अधिक जीवन और ताजगी मिली है। मुहावरे और शेर सरल तथा व्यावहारिक जीवन के ही हैं। जैसे—खाक छानना, आंखों में धूल झोंकना, मैदान हाथ में आना, मुंह तोड़ना इत्यादि। तथा—

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फानी में।
ठिकाना बे ठिकाना और मका बरला-मकां रखना॥[३]

× × ×

हुए थे आंखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥[४]

पूर्णसिंहजी की भाषा में अति भावुकता तथा मातृ-भाषा पंजाबी होने के कारण कहीं-कहीं शब्दों का अशुद्ध रूप, व्याकरण की त्रुटियां तथा अस्पष्टता का दोष आ गया है। भावातिरेक में वे अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भावात्मकता ही उनकी शैली का प्रमुख गुण है और दोष का भी कारण बहुत कुछ वही है। जैसे—

(१) "आचरण के विकाश के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार सम्भूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है उन सबकी क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकाश के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा।"[५]

(२) "इसकी उपस्थिति से मन और हृदय के ऋतु बदल जाते हैं।"[६]

---

१. सरस्वती : (आचरण की सभ्यता) : मार्च, १९१२ : पृ० १४२।
२. —वही— —वही— फरवरी, १९१२ : पृ० १०२-३।
३. —वही— (मजदूरी और प्रेम) सितम्बर, १९१२ : पृ० ४७०।
४. —वही— —वही— —वही— : पृ० ४७०।
५. —वही— (आचरण की सभ्यता) : मार्च, १९१२ : पृ० १४१।
६. —वही— (आचरण की सभ्यता) : फरवरी, १९१२ : पृ० १०१।

निःसन्देह पूर्णसिंहजी ने हिन्दी में बहुत कम लिखा है, पर जो लिखा है वह कमाल का लिखा है। वे थोड़ा बोले हैं, पर जोर से बोले हैं और पते की बोले हैं। साज-सज्जा उनका इष्ट न था, स्वाभाविकता ही उनका ध्येय था। उनकी भाषा हृदय का उद्घोष है और उसे हृदय को ही लक्ष्य करके लिखा गया है। अतः, उन्होंने व्याकरण तथा कोश की कारा से अपनी भाषा को मुक्त रखा है। द्विवेदी-युग में लयात्मक गद्य का सर्वाधिक सफल प्रयोग इनके निबन्धों में हुआ है।

आचार्य डॉ० श्यामसुन्दर दास (१८७५-१९४५ ई०)

हिन्दी के राज-पथ को प्रशस्त कर अहर्निश हिन्दी की सेवा करने वाले बाबू श्यामसुन्दर दास का जन्म असाढ़ शुक्ल ११ सं० १९३२ को काशी में हुआ था। उनके पिता आत्माराम प्रतिष्ठित पंजाबी खत्री और प्रसिद्ध टकसाली थे। इससे इनका बाल्य-काल आनन्द और दुलार में ही व्यतीत हुआ; अभाव, आर्थिक कष्ट या आपदाओं का मुंह उन्हें नहीं देखना पड़ा। इनकी शिक्षा-व्यवस्था भी सुचारु ढंग से हुई और संस्कृत तथा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से उसका श्रीगणेश हुआ। सन् १८९० में मिडिल तथा दो वर्ष बाद क्वीन्स कालेजियट स्कूल से मेट्रिक परीक्षा पास कर १८९४ में इण्टर तथा १८९७ में बी० ए० उत्तीर्ण हो गये। और काशी के ही 'चन्द्र-प्रभा प्रेस' में कार्यारम्भ कर जीवन में प्रविष्ट हुए। इसके कुछ ही समय बाद वे काशी-हिन्दू स्कूल में शिक्षक हो गये। पिताजी की मृत्यु से आर्थिक परिस्थितियों के कारण, वे एक स्थान पर नहीं जम सके और उन्हें कई स्थान बदलने पड़े।

हिन्दी के प्रति बाबू साहब की लगन और निष्ठा अपूर्व थी। यथार्थ में उन्हीं के सत्प्रयत्नों से काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, हिन्दी-विभाग और काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना (१६ जुलाई, १८९३) हुई थी। सभा की स्थापना तो उन्होंने 'इण्टर' के छात्र के रूप में की थी। इन्हीं के प्रयत्नों से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की भी स्थापना हुई। न्यायालयों में हिन्दी-प्रवेश के लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया। निःसंदेह वे हिन्दी के महान् सेवक और सुदृढ़ स्तम्भ थे।

वस्तुतः, इनकी हिन्दी-साहित्य सेवा के क्षेत्र में प्रवेश 'सरस्वती' के सम्पादन से १ जनवरी, १९०० से हुआ है। 'सरस्वती-सम्पादन-मण्डल' में पांच विद्वान् थे, परन्तु बाबू साहब में जो लगन और कार्य-क्षमता थी, वह दूसरों में नहीं थी। धीरे से सब लोग श्यामसुन्दर दासजी पर ही सम्पूर्ण भार छोड़कर एक वर्ष में ही किनारा कर गये। सन् १९०३ तक, द्विवेदीजी के सम्पादन-सूत्र सम्भालने के पूर्व, वे सरस्वती-सम्पादक रहे।

सन् १९१३-२१ तक वे कालीचरण हाई स्कूल, लखनऊ में प्रधानाध्यापक रहे, इसके पश्चात् काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग प्रारम्भ होते ही वे उसके अध्यक्ष नियुक्त हुए। सोलह वर्ष तक इन्होंने इस अपूर्व गौरवशाली पद पर रहकर हिंदी की महत्वपूर्ण सेवाएं की। हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की खोज के कार्य द्वारा अनुसंधान का आदर्श प्रस्तुत किया। वे हिन्दी को पुष्पित और फलित देखने के लिए बहुत प्रयत्नशील

थे, इसके लिए उनमें अदम्य उत्साह था। उन्होंने उसके कोष की पूर्ति के लिए, बहुत से मौलिक, अनूदित एवं सम्पादित ग्रन्थ प्रस्तुत किये। अन्य सार्वजनिक कार्यों में भी सोत्साह भाग लेने के कारण सरकार द्वारा १९२७ तथा १९३३ में रायसाहब और रायबहादुर की उपाधियों से विभूषित किए गए। साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें साहित्य-वाचस्पति तथा काशी-विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया।

अनूदित तथा सम्पादित रचनाएं

पृथ्वीराज रासो, नासिकेतोपाख्यान, छत्र-प्रकाश, वनिता-विनोद, इन्द्रावती भाग, १, शकुन्तला नाटक, रामचरित मानस, दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, मेघदूत, परिमाल रासो तथा हिन्दी-शब्दसागर। अन्तिम ग्रन्थ तो बाबू साहब के जीवन का सारभूत स्तम्भ है।[1]

मौलिक—हिन्दी कोविद रत्नमाला, भाग-१,२,३, साहित्यालोचन, हिन्दी-भाषा का विकास, भाषा-विज्ञान, हिन्दी-भाषा और साहित्य, भाषा-रहस्य, ३ भाग, गद्य कुसुमावली, गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

इनके अतिरिक्त उन्होंने विविध विषयों पर बहुत से उत्कृष्ट निबन्ध और लेख भी लिखे हैं। इनमें प्रमुख—भारतीय साहित्य की विशेषताएं, समाज और साहित्य, कर्त्तव्य और सभ्यता, रासो शब्द, हमारी भाषा, तुलसीदास, सूरदास कला का विवेचन, नागरी अक्षर और हिन्दी भाषा हैं।

बाबू साहब स्वभाव से निर्भीक तथा स्पष्टतावादी थे। उनका व्यक्तित्व विशाल, गम्भीर एवं कृती था। अध्यवसाय उनकी प्रमुख चेष्टा थी। उनका व्यक्तित्व दूसरों के समक्ष उपस्थित होकर निष्प्रभ नहीं होता था, वरन् स्वयं अपनी विभा में दूसरों को आलोकित करने में समर्थ था। उन्हें दूसरे के शासन का जुआ भी पसंद न था। जैसे ही उन्हें अपने ऊपर शासन का संकेत मिलता कि वे कूदकर अलग हो जाते। "वे अध्यापक के धरातल से ऊपर-नीचे कभी नहीं गए। वे एक रस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याता ही रहे और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमें वर्त्तमान थे। ग्रहण में विवेक, व्याख्यान में हठधर्मी का अभाव और अभिव्यक्ति में स्वच्छता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था। और इस पर उनकी सफलता एवं महत्ता असन्दिग्ध है।"[2] उनकी भाषा-शैली में प्रायः सर्वत्र ही, उनका अध्यापक व्यक्तित्व अधिक सजग और सप्राण है।

साहित्यिक कृती की दृष्टि से उनका मूल व्यक्तित्व गम्भीर निबन्धकार का ही है, इसीलिए उनकी शैली में परिवर्तन बहुत कम हुए हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित गम्भीर विषय-वस्तु का सम्बन्ध जन-साधारण से न होने के कारण तथा उनकी स्वयं की गम्भीर प्रकृति होने से हास्य, विनोद या भावुकता को भी स्थान नहीं मिल सका है। अतः, उन

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता : पृ० ५८।
२. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी के आलोचक : पृ० ६७।

की शैली में उनका अनुशासन-प्रिय अध्यापक अध्ययन कक्ष के बाहर साहित्यिक क्षेत्र में भी सजग और सचेष्ट मिलता है। उसमें सीधी-सादी, तथ्य-प्रधान, प्रश्नात्मक शैली मिलती है। उनका वह अध्यापक उनकी शैली में पाठकों से आत्मीयता स्थापित कर लेता है और बीच-बीच में सम्बोधित एवं सचेत करता हुआ गम्भीर विषय को हृदयंगम कराने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इस प्रकार उनकी शैली मुख्यतः विवेचनात्मक है, जिसमें प्रथम कोटि के वक्ता या व्याख्याता के गुणों का संनिवेश है। आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस सामान्य हिन्दी की गद्य-शैली का प्रवर्त्तन किया था, उसी शैली का प्रौढ़ एवं विकसित रूप बाबू साहब की इस विवेचनात्मक शैली में उपलब्ध होता है।[1] जैसे—

"अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता। क्या हमारे देश की उन्नित करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें; उसे पीछे न छूटने दें।"[2]

"मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूं।"[3]

अधिक गम्भीर विवेचनात्मक व्यासप्रधान शैली में वाक्य लंबे तथा वाक्य-विन्यास विषम हो जाता है। विभिन्न समुच्चय-बोधकों की सहायता से वाक्य बहुधा संयुक्त हो जाते हैं। तत्सम शब्दों की भी अधिकता हो जाती है और उसी के अनुरूप उनके प्रघट्टक भी दीर्घ; परन्तु ठोस होते हैं। इसमें विद्वानों तथा शिक्षितों के लिए पौष्टिक सामग्री रहती है। इससे हल्के-फुलके मुहावरे, घिसे-पिसे शब्द आदि स्थान नहीं पा सके हैं। जैसे—

"भारत की शस्य श्यामला भूमि में जो निसर्ग सिद्ध सुषमा है उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएं भी मनुष्य मात्र के लिए आकर्षक होती हैं; परन्तु इसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियां विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ से लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊंटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना करते हैं, परन्तु उन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैल-माला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्तश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहां के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हां उल्टे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद

१. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० २०१।
२. उद्धृत—गद्य-प्रवेशिका (विश्वनाथप्रसाद मिश्र) : समाज और साहित्य : पृ० ६६।
३. —वही— —वही— : पृ० ७१।

में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण कर तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति से संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा, उत्प्रेक्षा के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रुखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत की ही विशेषता है कि यहां के कवियों का प्रकृति वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्य ज्ञान उच्चकोटि का होता है।"[1]

हिन्दी-साहित्य के आचार्य होने के कारण उन्हें अपने निबन्धों में भी अनेक स्थलों पर गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना पड़ा है। इस स्थिति में उनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर एवं दुरूह हो जाती है, जो स्वाभाविक है। फिर भी उन्होंने सरलता बनाये रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

बाबू साहब कहीं-कहीं अपने कथन को प्रभावशील बनाने तथा पाठक अथवा श्रोताओं की जिज्ञासा-वृत्ति को जाग्रत रखने के लिए, साथ ही उन्हें अपने अभीष्ट की ओर आकर्षित करने के लिए, प्रमुख शब्द या पद को वाक्य अथवा परिच्छेद के अन्त में रख देते हैं। इस प्रणाली से अन्तिम विचार को शीघ्र स्पर्श करने की लालसा से भाषा को गति भी प्राप्त हुई है और आकर्षण की भी उद्‌भावना हुई है। यथा—

"संसार में बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपाकर धोखा देने या झूठ बोलकर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट बोलने से अधिक निन्दित और कुत्सित कर्म है।"[2]

बाबू साहब का अध्यापक अपने प्रस्तुत विषय को पूर्णतः हृदयंगम कराने को उत्सुक रहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें अपने विचारों या भावों की विभिन्न शब्दों में आवृत्ति करनी पड़ी है। व्यास शैली को अंगीकृत करने का मूल कारण ये ही है।

व्यास शैली के सफल लेखक होने ही से उन्होंने प्रतिपादित विचारों अथवा भावों को बल देने एवं उन्हें अधिक स्पष्ट करने के लिए परिच्छेदों के बीच-बीच में और विशेषतः अन्त में—अतः, अस्तु, अतएव, अर्थात्, इसलिए, इस प्रकार से, सारांश यह है कि, इत्यादि पदों के प्रयोगों की सहायता भी ली है। जैसे—

(क) "अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक उन्नति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।"[3]

(ख) "अस्तु इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।"[4]

१. आदर्श निबंध : (हमारे साहित्य की विशेषताएं) : पृ० ४६-४७।
२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : गद्य-प्रवेशिका : (कर्त्तव्य और सत्यता) : पृ० ७८-७९।
३. —वही— (समाज और साहित्य) : पृ० ६९।
४. —वही— —वही— : पृ० ६८।

(ग) "जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंच भूतों के कार्य रूप-प्रकाश, वायु, जलवायु की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।"[1]

महामना मालवीयजी के निकट सम्पर्क एवं नैसर्गिक रूप से भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट आस्था होने के कारण बाबू साहब का संस्कृत-भाषा के प्रति उत्कट प्रेम था। साथ ही वे हिन्दी के अनन्य भक्त और प्रचारक भी थे। अतएव, उन्होंने अपनी भाषा में विशुद्धता का आग्रह करके विदेशी तथा हिन्दी-द्रोही शब्दों का बहिष्कार किया है। उनकी विशुद्धता के आतंक से प्रथमतः भाषा के प्रवाह में भी उर्दू-फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों ने घुसने का प्रयत्न ही नहीं किया है और यदि साहस करके कतिपय हिन्दी जगत के अति परिचित शब्द जैसे—कैद, गलत, मालूम, रिपार्ट आदि आ भी गये हैं तो प्रथम अपनी शुद्धि और हिन्दीकरण करके। अरबी-फारसी के शब्दों को अपने 'नुक्तों' का मोह छोड़ना पड़ा है।

फिर भी आवश्यकता होने पर उन्होंने अपने शब्द-चयन के लिए संस्कृत का 'अपना' कोष का द्वार ही खटखटाया है। यहां यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने हिन्दी की व्यापकता बनाये रखने के लिए संस्कृत के कठिन शब्दों तथा दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने संस्कृत के कई तत्सम रूपों में परिवर्तन करके हिन्दी में ग्रहण किया है। जैसे—मर्यादा, मौ र्य, का र्य आदि के स्थान में मर्यादा, मौर्य और कार्य लिखना पसंद किया है। इसी प्रकार सरलता को सर्वोपरिता मानकर यथासंभव संयुक्ताक्षरों तथा पंचमवर्णों के स्थान पर अनुस्वार से भी काम निकाला है। यथा—सम्बन्ध, अञ्जन, गङ्गा, भयङ्कर इत्यादि शब्दों के स्थान पर संबंध, अंजन, गंगा, भयंकर ही बहुलांश में प्रयुक्त किये हैं।

वाक्य-विन्यास की दृष्टि से बाबू साहब की शैली पर अंग्रेजी भाषा का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। उन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक किया था। ऐसे समृद्धिशाली साहित्य से हिन्दी को लाभान्वित करने के उद्देश्य से विशेषतः हिन्दी-गद्य की शक्ति-संवर्द्धन के लिए अंग्रेजी वाक्य-विन्यास और शब्द-योजना को हिन्दी में स्थान देना भी उन्होंने समीचीन समझा है। हिन्दी की पाचन-शक्ति एवं तात्कालिक दुर्बलता दोनों ही की उन्हें पूर्ण अनुभूति थी। अतः, स्थिति को ठीक से परख कर अनुकूल और उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर लिया। इसी से उन्होंने अंग्रेजी के वाक्य-विन्यास का अन्धानुकरण नहीं कर उसमें हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप परिवर्तन करके फिर स्वीकार किया। जैसे—अंग्रेजी के विन्यास में So...that, If...so, As...so, When...then इत्यादि के अनुसार—इसलिए कि, यदि तो, इस प्रकार से कि, जब···तब, यद्यपि···तथापि सम्बन्धी पद हिन्दी में जहां आवश्यक रहते हैं, वहां अंग्रेजी में नहीं रहते। बाबू साहब ने अपने कुछ समवर्ती अंग्रेजी दां लेखकों के न्यून-पदत्व दोष से बचकर

[1] विश्वनाथप्रसाद मिश्र : गद्य-प्रवेशिका : (समाज और साहित्य) : पृ० ६६

ध्यानपूर्वक अंग्रेजी का विन्यास स्वीकृत किया है। जैसे—

"कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से सन्तप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुंच चुका था और उसके अवलंबों की इति श्री हो चुकी थी; पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते।"[१]

"यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियां हैं तो साईबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं।"[२]

सम्यक् दृष्टि से बाबू साहब की भाषा जन-व्यावहारिक न होकर विशुद्ध साहित्यिक हिन्दी होती है। उसमें व्याकरण व हिज्जे की त्रुटियों का प्रायः[३] अभाव है। भाषा में भावाभिव्यंजन की अतीव क्षमता तथा प्रभाव-द्योतन का अद्भुत् सामर्थ्य है। इसी से वे हिन्दी-गद्य-निर्माता ही नहीं एक यशस्वी शैलीकार के रूप में मान्य हैं। उन्होंने अपनी गद्य-शैली के द्वारा हिन्दी को उपकृत किया है। उसे व्यापकता और समृद्धि प्रदान की है। आपकी गद्य-शैली की विशेषता यह है कि उसमें प्रौढ़ लेखनी की कला दृष्टिगत होती है। हां, उसमें मस्तिष्क मिलता है, हृदय नहीं। रुक्षता मिलती है, सरसता नहीं।[४] और यह उनके उद्देश्य एवं परिस्थिति के अनुकूल भी था। उनके समक्ष भाषा, समाज तथा देश की चिन्ता थी, जिनके लिए वे आजीवन प्रयत्नशील रहे। इससे उनके कठोर और संयमी जीवन में हास्य, व्यंग्य, कटाक्ष मुहावरे, अलंकार जैसे तत्त्व पनप न सके। इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि वे चमत्कार और प्रदर्शन के पक्षपाती नहीं थे। बाबू साहब की इस प्रौढ़ गम्भीर विवेचनात्मक शैली की परम्परा में अपने-अपने व्यक्तित्व का योग देकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, राम कृष्ण शुक्ल, शिलीमुख इत्यादि शैलीकारों का जन्म हुआ है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१ ई०)

हिन्दी-गद्य की नवीन एवं सर्वाधिक प्रौढ़ साहित्यिक शैली के प्रवर्त्तक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म, पुन्य-भूमि अयोध्या के समीप ३२ मील की दूरी पर स्थित अगोना ग्राम में, आश्वन पूर्णिमा १९४० वि० को पं० चन्द्रवली शुक्ल के यहां हुआ था। इनके पिताजी सुपरवाइजर कानूनगो थे। जब वे राठ जिला हमीरपुर में थे, तब बालक रामचन्द्र की शिक्षा का श्रीगणेश उर्दू-फारसी से हुआ। तात्कालिक राजनीतिक एवं शैक्षणिक परिस्थितियों में सरकारी कर्मचारी पिता से अधिक आशा भी नहीं की जा सकती थी। ब्राह्मण बालक को संस्कृत अध्ययन भी आवश्यक था। इससे उसे घर पर ही संस्कृत का ज्ञान दिया गया। इन्हें बाल-काल से ही असाधारण पुस्तक-प्रेम था। वह

१. आदर्श निबन्ध : (हमारे साहित्य की विशेषताएं) : पृ० ४३।
२. —वही— —वही— पृ० ४६।
३. "जिधर देखो उधर कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य देख पड़ते हैं" कर्त्तव्य और सत्यता : पृ० : ७४।
४. अयोध्यासिंह उपाध्याय : हिंदी-भाषा और उसके साहित्य का विकास : पृ० ६९०।

कालान्तर में इस सीमा तक बढ़ा कि साथी तक उनका उपहास करने लगे; परन्तु वे धुन के पक्के थे। काव्य, शास्त्र तथा भाषा तीनों ही क्षेत्रों में उनकी रुचि थी। मिर्जापुर में रहकर उन पर प्रकृति और भारतीय संस्कृति के संस्कार बहुत दृढ़ हुए।

शुक्लजी के प्रारम्भिक जीवन पर उनकी दादी तथा मां का विशेष प्रभाव पड़ा। इनकी मां तो महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के वंश की थीं। दादीजी भी पढ़ी-लिखी थीं और रामायण तथा सूरसागर सुनाया करती थीं। पिताजी से इन्हें 'रामचन्द्रिका' तथा भारतेन्दु के नाटक सुनने के अवसर मिले थे। इन संस्कारों का ही सुफल शुक्लजी की विद्याध्ययन की ओर विशेष रुचि थी। सन् १८९७ में 'हास्य-विनोद' नाटक लिखा और १६ वर्ष की आयु में (सन् १९०० में) 'मनोहर छटा' कविता प्रकाशित हुई। ये उनकी प्रारंभिक रचनाएं हैं। सन् १९०१ में एंट्रेंस तथा १९०४ में इंटर पास करके तहसीलदारी की प्रतियोगिता परीक्षा में बैठे और उसमें उत्तीर्ण हुए। तत्पश्चात् इनकी नियुक्ति एक अंग्रेजी कार्यालय में हो गई। शुक्लजी प्रारंभ से ही स्वाभिमानी थे, और प्रकृति से उन्हें अधिक प्रेम था। अतः, वे इस अंग्रेजों की चाटुकारितापूर्ण नौकरी में अधिक नहीं टिक सके। उन्हें पिताजी के उस जीवन से भी सन्तोष न था, इसलिए पिताजी के विरोध करने और उनके कोप-भाजन बनकर भी वह नौकरी छोड़ दी। पिताजी ने उन्हें आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया। इससे पुनः नौकरी की चिन्ता करनी पड़ी और मिर्जापुर मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर हो गये। सौभाग्य से वे वहां भी अधिक न रहे और इनकी योग्यता का संकेत पाकर नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी की ओर से हिन्दी-शब्द-सागर के सहायक-सम्पादक, के पद पर इन्हें आमंत्रित किया गया। इसी कार्य ने उन्हें स्थायी रूप से हिन्दी-सेवा के मार्ग में प्रवृत्त किया। वहां उन्हें धन, यश और उत्साह प्राप्त हुए। कोश-कार्य के समाप्त होते ही काशी-विश्वविद्यालय में इनकी नियुक्ति हो गई। शुक्लजी का सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन विद्या के केन्द्र-स्थल काशी में ही व्यतीत हुआ।

रचनाएं—अनुवाद—मैगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, राज्य-प्रबन्ध, शिक्षा, आदर्श-जीवन, विश्व-प्रपंच, कल्पना का आनन्द, शशांक।

सम्पादन—हिन्दी-शब्द-सागर, भ्रमरगीत-सार, तुलसी और जायसी ग्रन्थावलियां।

मौलिक—चिन्तामणि, भाग—१ २, ३; त्रिवेणी (सूर, तुलसी, जायसी की तुलनात्मक आलोचना), रस-मीमांसा, हिन्दी-साहित्य का इतिहास।

इस अत्यन्त जाज्वल्यमान बहुमुखी प्रतिभा ने उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त नाटक, कहानी, ब्रज तथा खड़ी बोली की कविताएं भी लिखी हैं। फिर भी शुक्लजी का, आलोचक और निबन्धकार के रूप में तो हिन्दी में सर्वोपरि स्थान ही है।

शुक्लजी का व्यक्तित्व अद्वितीयतः महान् था। उनकी-सी मेधा-शक्ति एवं विलक्षण प्रतिभा हिन्दी-गद्य-शैली के क्षेत्र में उनके पूर्व और पश्चात् आज तक नहीं देखी गई। अध्ययन की अधिकता और चिन्तन की प्रधानता के कारण उनकी प्रकृति गम्भीर हो गई थी। अध्यापक का उच्छृंखलता पर पूर्ण अंकुश और संयमशीलता का आग्रह,

साथ ही आलोचक के कठोर कर्त्तव्य ने उनके व्यक्तित्व में विशेष गम्भीरता को बढ़ावा दिया। मिर्जापुर की सुरम्य प्रकृति ने बाल-हृदय में ही अडिग स्थान बना लिया था और वह आजन्म बना रहा। इतने बड़े तथा गम्भीर व्यक्तित्व को आलोड़ित करने की क्षमता भी प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किस में हो सकती है ? प्रकृति के बीच में ही उनकी मौज, घुमक्कड़ी प्रकृति और विनोद का स्फुरण होता था। दुर्गाकुंड काशी में, मैदान के बीच एकान्त भाव से खड़ा उनका नया मकान उनके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताओं का प्रतीक है।

तुलसी के राम की मर्यादा और लोक-धर्म पर मुग्ध आचार्य शुक्ल में चरित्र की दृढ़ता, अटल आत्म-विश्वास और निर्भीकता—ये तीनों गुणों का विकास भी उनके व्यक्तित्व में बहुत उल्लेखनीय है।

अंग्रेज मनोवैज्ञानिक शैंड की Foundation of Chraracter पुस्तक ने भी उन्हें विचार एवं अभिव्यक्ति के क्षेत्रों में विशेषत: प्रभावित किया था। शैंड के ही समान शुक्लजी ने अपने विवेचन और व्याख्या में परिभाषा, उदाहरण, विशेषताएं, तुलना और सिद्धान्त-निरूपण का क्रम यथा-सम्भव रखा है।

शुक्लजी की क्षीर-नीर विवेकी अन्वेषक प्रज्ञा-शक्ति बहुत प्रबल थी। उसने जहां उन्हें मनोभावों के मर्मों को समझने में सहायता दी वहां शब्दों की शक्तियों को परख कर उपयुक्त शब्द-चयन करने की क्षमता भी प्रदान की। श्रद्धा-भक्ति, वैर-क्रोध, लोभ-मोह इत्यादि के बीच इतनी स्पष्ट निर्णायक-रेखाएं वे इसी शक्ति के द्वारा खींच सके।

सत्य का दृढ़ आग्रह एवं गुण-ग्राहकता शुक्लजी के व्यक्तित्व के उपादान थे। देश और विदेश के साहित्य और समाज में उन्हें जो सत्यं, शिवं एवं सुन्दरमं दीखा उसे उन्होंने नि:संकोच भाव से ग्रहण किया। शुक्लजी का मस्तिष्क-पक्ष हृदय से अधिक प्रबल था। अतः, मस्तिष्क ने जिस तत्त्व की संस्तुति की, उसे ग्रहण किया और जिसमें दोष देखे उसकी अवहेलना की। शुक्लजी के व्यक्तित्व में आलोचक का मस्तिष्क, अध्यापक का जीवन तथा कवि का हृदय समन्वित है। आगे चलकर उनकी गम्भीर आलोचनाओं के ताप में कविता की धारा शुष्क प्राय: हो गई थी।

शुक्लजी का महाप्राण व्यक्तित्व उनकी शैली में स्पष्टतः लक्षित होता है। 'शैली ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है'—बफन की यह उक्ति शुक्लजी के सम्बन्ध में पूरी उतरती है। उनके निबन्धों में विचारों का घनत्व एवं गठन रहता है। ऐसे गूढ़-गम्भीर विचारात्मक निबन्धों की विवेचनात्मक शैली में साधारणतः व्यक्तित्व उभर नहीं पाता; परन्तु शुक्लजी के व्यक्तित्व की प्रखरता इस शैली पर इतनी अधिक छा गई है कि विषय-वस्तु एवं व्यक्ति तत्त्वों का अपूर्व सामंजस्य प्रस्तुत हुआ है। हृदय तथा बुद्धि के पूर्ण योग से, गहन अनुभूति की आंच पर रखने के पश्चात् ही उन्होंने अपनी शैली का जो पाक तैयार किया है, उसमें कोई विकार और गन्ध दीर्घकाल तक नहीं आ सकी है। एक-एक वाक्य ही नहीं, एक-एक शब्द तक अपने स्थान पर इस प्रकार से जमा हुआ है कि उसके स्थानापन्न किसी अन्य को बैठाने से उसका सौंदर्य फीका पड़ जाता है। आलोच्य

युग में गद्य-शैली का पूर्ण परिपाक शुक्लजी के निबन्धों में ही हुआ है। इससे हिन्दी के गौरव की अभिवृद्धि हुई है। इस क्षेत्र में उनका कोई भी प्रतियोगी दृष्टिगोचर नहीं होता।

शुक्लजी के निबन्धों में अत्यधिक प्रौढ़, प्रांजल एवं परिष्कृत भाषा-शैली के प्रादुर्भाव का रहस्य कदाचित इस तथ्य में है कि उन्होंने अपना प्रारंभिक लेखन-अभ्यास अनुवादों से किया और उनमें अपनी शैलियों के विशिष्ट स्वरूपों पर हाथ मांजे। उन अनुवादों के द्वारा शुक्लजी के विचारों में परिपक्वता और प्रौढ़ता आई, साथ ही उनकी शैली सशक्त, समृद्ध एवं प्राणवान हो गई। उन्हें शब्दों की आत्मा का भी साक्षात्कार हो गया था। इससे वे कम शब्दों में व्यापक भाव भर देने की कला जान सके थे। गागर में सागर भरने तथा विचारों को ठूंस-ठूंसकर कलाकारी के साथ सजा देने में वे निपुण थे। उनकी शैली में वक्रता और चमत्कार दोनों ही का सन्निवेश हो सका है। इतना ही नहीं, भाषा को विचारों एवं भावों के अनुकूल प्रस्तुत करने में भी उन्हें अद्वितीय कमाल हासिल था। जहां उन्हें कोई कथा या इतिवृत्त प्रस्तुत करना पड़ता, वहां वे उसके अनुरूप अत्यन्त सरल, सुबोध और हृदय-गम्य भाषा का प्रयोग करते थे। इस समय वे न तो तत्सम शब्दों का ही प्रयोग करते और न सामासिक पदावली ही, वरन् सरल शब्दों में सरल वस्तु को रखना वे जानते थे। इस समय उन्होंने वाक्य भी लंबे नहीं होने दिये। उनकी सरल विवेचनात्मक शैली में पाठकों के प्रति अपनत्व और सहृदयता प्रगट होती है। जैसे—

"एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दुकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं—इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दुकानदारजी को ब्रह्म-ज्ञानियों के वाक्य याद आ गए और उन्होंने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।" सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य-क्षेत्र ! यहां न माया छोड़ी जायेगी तो कहां छोड़ी जायेगी। थोड़े दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं, पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल चूक से कुछ समझदारी की बातें मुंह से निकल ही जाती हैं।"[1]

शुक्लजी की प्रारम्भिक रचनाओं की विवेचनात्मक शैली बाद की शैली की अपेक्षा शिथिल है। इसमें न इतनी भावोद्भावनी शक्ति है और न गाम्भीर्य। वाक्यों का गाढ़ बन्धत्व भी उनमें अधिक नहीं है। उनकी इस शैली के प्रकाश में प्रौढ़, प्रांजल एवं परिष्कृत गद्य-शैली की महत्ता आंकी जा सकती है।

प्रारम्भिक भाषा

"साहित्य केवल लेखन-प्रणाली ही का नाम है; वाचालता का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली में, उसके सर्वांगपूर्ण और दिगन्त व्यापी होने में है। जो बात कही जाती

१. चिन्तामणि (भाग-१) : (साहित्य)—श्रद्धा-भक्ति : पृ० २८

है वह बोलनेवाले के पास से बहुत दूर नहीं जा सकती; वायु में उसका नाश हो जाता है। जब शब्दों को सारगभित और उन्नत भावों को प्रगट करने के लिए, प्रयोग करना होता है; जब उन्हें सृष्टि के अन्त तक स्थायी रखना आवश्यक होता है; और जब उनके द्वारा भावी सन्तति का उपकार वांछित होता है, तब उन्हें लिखना पड़ता है, अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यह हाथ की किसी प्रकार की कारीगिरी है, नहीं—यह गुण वाणी ही का है। यह कानों को सम्बोधित करता है, न कि नेत्रों को। इसको हम वाणी की शक्ति कहते हैं।"[१]

परवर्ती प्रौढ़ भाषा

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य-भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की वृद्धि हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन ध्यान आदि में आनन्द का अनुभव होने लगे, जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति रस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे, तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन क्रम का थोड़ा या बहुत अंश उसे अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और उसके जीवन क्रम पर भी अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं और कभी याचना करते हैं। सारांश यह कि भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं—उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं।"[२]

शुक्लजी की बुद्धि अपनी यात्रा पर निकलते समय हृदय को भी साथ में रख लेती है। इससे उसे जहां भी कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थल मिले हैं, वहां हृदय रमकर कुछ कहता गया है।[३] इसी से उनकी गम्भीर बुद्धि-प्रधान रचनाओं के बीच में जहां भी मार्मिक स्थल हैं, वहां उनके प्रति न्याय करने के लिए, उन्होंने अपनी शैली के प्रवाह को तदनुसार मोड़ दिया है। इस प्रकार उनकी शैली में जो परिवर्तन हुआ है, वह जहां उनकी विषय के प्रति सहृदयता का परिचायक है, वहां उनकी नव शैली की उद्भावना करने की योग्यता का भी। अतएव उनकी विचारात्मक गम्भीर शैली के बीच में मार्मिक स्थलों पर भावात्मक शैली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। उनकी यह भावात्मक शैली भी दो रूपों में प्रस्तुत हुई है। एक में तरलता और हल्कापन, दूसरी की अपेक्षा अधिक है।

भावुकता का गम्भीरता के साथ जैसा सुन्दर समन्वय शुक्लजी की शैली में उपलब्ध हुआ है वैसा अन्यत्र बहुत कम शैलीकारों की रचनाओं में उपलब्ध होता है।

---

१. सरस्वति : (साहित्य) : मई, १९०४ : पृ० १५४ ।
२. चिन्तामणि (भाग-१)—श्रद्धा-भक्ति : पृ० ४४-४५ ।
३. चिन्तामणि (भाग-१)—निवेदन ।

उनकी शैली में एक विचित्र भव्यता तथा प्रौढ़ता है। वैसे उनकी शैली काव्यात्मक आलंकारिकता से भी दूर रहती है; परन्तु कहीं-कहीं चण्डीप्रसाद हृदयेश की भांति आलंकारिकता एवं सामासिकता भी उनकी भाषा में आ गई है। उनकी शैली का यह परिवर्तन रसौचित्य एवं विषयौचित्य के आग्रह पर हुआ है। इन प्रसंगों में भी उनकी शैली का प्रसाद गुण बना रहता है, क्योंकि उनकी यह अलंकार-योजना, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक तक ही प्रायः सीमित रहती है और सामासिक शब्द भी ३-४ से अधिक नहीं हैं।

भावों के उद्रेक में कहीं-कहीं एक वाक्य में एक तथ्य की प्रतिष्ठा करके उसके अन्तर्गत अनेक उप-वाक्यों में विरोधी तथ्यों का निषेध करके, प्रथम का समर्थन किया गया है। फिर अन्त में प्रबलता से अपने मत को प्रस्तुत किया है। यथा—

"यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का नैराश्य है, कहां तक कहें ? घोर साहित्यिक गुलामी है।"[1]

हल्की भावात्मक शैली में शैलीकार शब्दों के रूप में ही अपनी आत्मविभोरता तथा भावुकता का संकेत दे देता है, उसमें गहराई के स्थान पर उथलापन रहता है। इससे मार्मिक प्रसंग उपस्थित होने पर 'धन्य'-'धन्य' या अन्य भावात्मक चिन्हों (!) तक अपने को सीमित कर लेता है। यथा—

"धन्य है गार्हस्थ्य जीवन में धर्मालोक स्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर-घर पहुंचाने वाले तुलसीदास।"[2]

"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उनके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप-मधुप-गुंजार, कोकिल कूजित निकुंज शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिम-बिन्दु-मण्डित मरकताम-शाद्वल-जल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल प्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-हारिका के बीच विविध वर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"[3]

शुक्लजी के गम्भीर आलोचक जीवन की विस्तृत मरुभूमि में हास्य, विनोद की सुषमायुत हरित भूमियां यत्र-तत्र अधिक हृदयहारी और मन-मोहक हो गई हैं। वे

१. काव्य में रहस्यवाद : पृ० १४६-१५० ।
२. गोस्वामी तुलसीदास : (लोकधर्म) : पृ० ३० ।
३. चिन्तामणि (भाग-१) : कविता क्या है : पृ० २०३-२०४

क्लान्त-श्रान्त पाठकों का श्रम-निवारण कर शीतलता भी प्रदान करती हैं। उनके व्यंग्य, विनोद, हास्य भी उनके व्यक्तित्व के अनुकूल ही रहते हैं। उनमें हल्कापन और अशोभनीय दृष्टान्तों का प्राय: अभाव है। उनके व्यंग्य और विनोद भी उनके व्यक्तित्व रस में बुझे हुए गम्भीर होते हैं। उनमें शब्दों का अपव्यय नहीं होता। लाघव के साथ प्रखरता रहती है। हास्य-विनोद के चक्कर में पड़कर भी उनकी गम्भीरता केवल मुस्करा सकती है, अट्टहास नहीं कर पाती। उसमें स्मित रेखा खींचने और हृदय पर चुटकी लेने की क्षमता भर होती है। उनके व्यंग्य का दुधारा दुहरी चोट करता है। उसका एक पक्ष सुधारात्मक होता है और दूसरा विनोदात्मक। विनोद की अपेक्षा व्यंग्य में तीक्षणता अधिक रहती है, तथा व्यंग में विनोद की अपेक्षा मधुरता कम। शुक्लजी ने अस्थानरत विनोद कभी नहीं किया।[1]

शुक्लजी ने हास्य और विनोद की अवतारणा के लिए अरबी-फारसी के 'पेटेण्ट ट्रेजर' का उपयोग किया है तथा व्यंग्यों के लिए अंग्रेजी के प्रति व्यवहृत शब्दों का विशेष प्रयोग किया है। इस प्रकार से शुक्लजी ने अपने गम्भीर, प्रौढ़ तथा विवेचनात्मक विषयों को विशुद्ध तत्सम और तद्भव हिन्दी शब्दों से सजित किया है और बहुधा हास्य, विनोद और व्यंग्य के लिए अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी, देशज आदि शब्दों का उपयोग किया है। जैसे—

"+ + + लोग अपना रुपया मांगने में संकोच करते हैं, साफ-साफ बात करने में संकोच करते हैं, उठने-बैठने में संकोच करते हैं, लेटने में संकोच करते हैं, खाने-पीने में संकोच करते हैं, यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्य विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह है कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं। इससे उतना हर्ज भी नहीं क्योंकि बिना बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्राय: नहीं मानते।"[2]

"इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायेगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।"[3]

यहां तक तो इन विनोद, परिहास तथा व्यंग्य वाक्यों का सम्बन्ध है, ये नि:सन्देह शुष्कता में सान्तवना प्रदान करनेवाले विश्राम स्थल हैं और उचित हैं, परन्तु कहीं-कहीं व्यंग्यों के साथ कटुक्तियों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। इन तीखी और कटु उक्तियों में उनका दृढ़ आत्म-विश्वास और अपने मत के प्रति अगाध-आस्था प्रगट होती है, साथ ही विरोधी विचारों को निष्प्रभ करने की उत्कट इच्छा भी।

"संगीत के पेंच-पांच देखकर भी हठ योग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र हिन्दी का सामयिक-साहित्य : पृ० ४५।
२. चिन्तामणि (भाग-१) : लज्जा और ग्लानि : पृ० ८९।
३. —वही— उत्साह : पृ० १४।

पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुंह फैलाता है और 'आ' 'आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है। + + श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर स्वान के गले से भी इस लम्बी कवायत को ठीक उतरते देख उनके मुंह से 'वाह' 'वाह' 'ओ हो' निकलने लगी।"[1]

"लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप, अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय, विगर्हणीय है। तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है!![2]

शुक्लजी की भाषा बड़ी समृद्ध, सशक्त और प्रांजल है। साथ ही वह नदी के शान्त प्रवाह की तरह गतिवान भी है। वह जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, एक मूर्त्त प्रभाव अपने पीछे छोड़ती जाती है। उनकी यह शक्ति बहुलांश में उनके वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन में निहित है; क्योंकि लोकोक्ति, मुहावरे, उद्धरण, अलंकार, ध्वनि आदि की ओर वस्तुतः उनकी रुचि नहीं है। वे भाषा का कार्य समुचित ढंग से भावों और विचारों का प्रेषण मानते थे, न कि ध्वनि, माधुर्य से रिझाना। इससे उन्होंने अन्य उपकरणों का आश्रय न लेकर वाक्य-विन्यास एवं शब्द-चयन में ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को केन्द्रीभूत कर दिया है और वे अपने उद्देश्य में पूर्णतः कृतकार्य हुए हैं।

अपने वाक्यों को सबल एवं सक्षम बनाने के लिए उन्होंने कई उपायों का अवलम्बन किया है। कहीं-कहीं एक ही वाक्य के अन्तर्गत अनेक वाक्यांशों अथवा उपवाक्यों को प्रस्तुत कर प्रभाव की उद्भावना की है। इससे भाषा को गति और शक्ति दोनों मिले हैं। विचारों की संगठित परम्परा तथा परस्पर सामंजस्य होने के कारण उनके वाक्यों में बहुत कसावट है। उनके ये वाक्य निश्चित ही उनके व्यक्तित्व की गम्भीरता एवं कसावट के प्रतीक हैं। यथा—

"उनकी वाणी की प्रेरणा से आज भी हिन्दू भक्त अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होता है, महत्त्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलम्बन करता है और मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करता है।[3]

कहीं वाक्यों को प्रभावी बनाने के लिए कार्य-कारण एक ही वाक्य में गूंथते हुए एक शृंखला खड़ी कर दी है। यह 'यदि तो' की नियोजना शैलीकार की रचना पटुता का प्रतीक है। उन्होंने प्रथम वाक्य के अतिरिक्त 'यदि' का लोप करके 'तथा', 'तो' की पुनरावृत्ति से कलात्मक लाघव उत्पन्न कर दिया है। यथा—

"यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय,

१. चिन्तामणि (भाग १) : श्रद्धा-भक्ति : पृ० २३।
२. —वही— लोभ और प्रीति : पृ० ८५।
३. गोस्वामी तुलसीदास (तुलसी की भक्ति पद्धति) : पृ० ३-४

आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता—तुलसीदास जी के हृदय में बिंब प्रतिबिंब भाव से विद्यमान हैं।"[१]

विवेचन के बीच-बीच में प्रश्न करके अथवा प्रबल तर्कों को उपस्थित करके भी भाषा में प्राणत्व एवं दीप्ति की प्रतिष्ठा की है। शुक्लजी के प्रबल तर्कों तथा प्रश्नों के पीछे उनका अगाध आत्म-विश्वास, पाण्डित्व एवं अध्ययन का बल रहता है। इन्हें सुनते या पढ़ते ही श्रोता या पाठक निष्प्रभ एवं स्तम्भित होकर रह जाता है और एक क्षण के लिए तो अवश्य उसका मस्तिष्क मथ जाता है, इसके दूसरे ही क्षण शुक्लजी स्वयं उत्तर प्रस्तुत करके अशान्त मस्तिष्क को शान्त कर देते हैं। जैसे

"पद्मिनी क्या सिंहल की थी? पद्मिनी सिंहल की हो नहीं सकती। ** दुनिया जानती है कि सिंहल द्वीप के लोग (तामिल और सिंहली दोनों) कैसे काले-कलूटे होते हैं।"[२]

"यदि हमें कोई कष्ट है तो क्या दूसरों को भी उसी कष्ट में देखकर थोड़ी देर के लिए हमारा वह कष्ट सचमुच कुछ घट जाता है? यदि नहीं घटता तो यह हँसी कैसी, यह धैर्य कैसा? यह हँसी केवल स्थिति के मिलान पर निर्भर है, जिससे अपनी स्थिति के विशेषत्व का परिहार होता है। यह लोक-संश्रय का एक गुण है कि कभी-कभी स्थिति के बने रहने पर भी उसके विशेषत्व के परिहार से तत्सम्बन्धी भावना में अन्तर पड़ जाता है।"[३]

तुकबन्दी की भी लहर उनके मन में कभी-कभी उठ आने से अनुप्रास तथा तुकान्त योजना भी कहीं-कहीं कर दी गई है, परन्तु विशेषता यह है कि उसमें हल्के लेखकों की छिछली वृत्ति नहीं है।

"बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध में पाप का बाप ही कहेगा।"[४]

वाक्य-विन्यास की दृष्टि से शुक्लजी की सूत्र-वाक्यों वाली समास शैली अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। परिच्छेद के प्रारम्भ में ही सुगठित सूत्रमय वाक्य प्रस्तुत कर दिया जाता है, इसके पश्चात् व्याख्या, उदारहण आदि की सहायता से उसका स्पष्टीकरण किया है। इस ढंग की वाक्य-रचना को निगमन शैली भी कह सकते हैं। शुक्लजी की शैली में हमें निगमन शैली का चरम उत्कर्ष उपलब्ध होता है। यह शैली उनके अध्ययन की गहनता के साथ भाषा पर अधिकार का निर्देश करती है। एक-एक वाक्य अपने में इतना विस्तार समेटे रखता है कि उसकी व्याख्या के लिए एक-एक पृष्ठ भी पर्याप्त नहीं हो पाता और न उसमें उस वाक्य का सौष्ठव एवं लाघव आता है। ऐसे सूत्र-वाक्य उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में बहुत मिलते हैं। यथा—

---

१. गोस्वामी तुलसीदास : तुलसी की भावुकता : पृ० ८५।
२. जायसी ग्रन्थावली : चिन्तामणि (१) : पृ० १५१।
३. —वही— —वही— पृ० १११।
४. जायसी ग्रन्थावली : चिन्तामणि (१) : क्रोध : पृ० १८६।

"बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।"[१] धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है[२], श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि का संचार है,[३] श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है[४], श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।[५]

अंग्रेजी की गद्य-शैली के अनुकरण पर उन्होंने वाक्य-खण्डों को कोष्टक अथवा निर्देशक-चिह्नों के बीच में रखकर स्पष्टता लाने का प्रयत्न भी किया है। इस अंग्रेजी ढंग के वाक्य-विन्यास के द्वारा उनकी मूल विवेचनात्मक शैली को भी शक्ति प्राप्त हुई है।

शुक्लजी का शब्द-चयन भी उनकी शैली को गौरवान्वित करने में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उन्हें शब्द की आत्मा का पूर्ण ज्ञान रहता था, इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर सर्वाधिक उपयुक्त लगता है। दूसरे पर्यायवाची शब्दों से वह भावाभिव्यंजना संभव नहीं जो उनके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों से होती थी। इस उपयुक्त शब्द-चयन की विशेषता यही है कि एक भी शब्द अधिक या कम नहीं किया जा सकता। इनकी भाषा में सामासिक शब्दों की अधिकता रहती है जिसके कारण भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य आ जाता है।

शुक्लजी ने अपनी आलोचनाओं की अपेक्षा निबन्धों में तत्सम शब्दों का कम प्रयोग किया है। वैसे तो उनकी भाषा संस्कृतोन्मुखी विशुद्ध खड़ी बोली है। कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के शिष्ट और प्रचलित प्रयोग भी मिलते हैं और आवश्यकतानुसार अंग्रेजी के मूल शब्द या उनके द्वारा नव-निर्मित शब्दों की भी सहायता ली गई है। वे हिन्दी-गद्य के स्वाभाविक विकास के पक्षपाती थे। उन्हें जीवन, जगत और साहित्य में कृत्रिमता से चिढ़ थी। यही कारण है कि उन्होंने देववाणी संस्कृत के अव्यावहारिक एवं दीर्घ सामासिक शब्दों का प्रयोग भी उतना ही अनुचित माना है जितना अरबी, फारसी के कठिन शब्दों का। उन्होंने कुछ देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे संगत, कठ हुज्जती, अटकल पच्चू, ऊटक नाटक, सेंतमेंत, तल, भगति, ढव, झाला इत्यादि।[६] अतएव भाषा प्रयोग की दृष्टि से शुक्लजी को उदार कहा जा सकता है।[७]

शुक्लजी का नव शब्द-निर्माण भी द्रष्टव्य है। विशेषत: अंग्रेजी के पारिभाषिक-शब्दों की पूर्ति के लिए, हिन्दी के पर्यायवाची शब्दों के अभाव में इन शब्दों को बनाना पड़ा है। यथा—

शिक्षावाद (Didacticism), प्रतिवर्त्तन (Reaction), प्रेषणीयता

१. चिन्तामणि : (क्रोध) : पृ० १८९।
२. —वही— (मानस की धर्म-भूमि) : पृ० २८२।
३. —वही—(श्रद्धा-भक्ति) : पृ० २३।
४. —वही—(श्रद्धा-भक्ति) : पृ० ३१।
५. —वही—(श्रद्धा-भक्ति) : पृ० ४४।
६. हिन्दुस्थानी का उद्गम : पृ० १५।
७. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी गद्य शैली का विकास : पृ० १४४।

(Communicability), चित्रों (Imagery), अन्तर रसज्ञा (Sub-conscious), स्वच्छन्दतावाद (Romanticism), इतिवृत्तात्मक (Matter of fact), भावों का व्यायाम (Exercise of emotions), इत्यादि।

साधारणतः शुक्लजी ने दीर्घ सामासिक शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है, फिर भी कुछ बड़े और उल्लेखनीय शब्द उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मिल ही जाते हैं। जैसे—मरकताम-शाद्वल-जल, बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध, अनन्त-शक्ति-सौंदर्य-समन्वित, कर्म-रुचि-शून्य, कर्म-भावना-प्रसूत, शास्त्र-स्थिति-सम्पादन, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व, मुक्ताभास-हिम-बिन्दु-मंडित, इत्यादि।

शुक्लजी ने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग प्रायः नहीं किया है। जो मुहावरे मिलते हैं वे गड़े मुरदे उखाड़ना, आगा पीछा करना, नादिरशाही मचाना, दूर की कौड़ी लाना, इज्जत लेने पर उतारू होना, नो दिन चले अढ़ाई कोस, इस ढंग के हैं।

संस्कृत के वाक्यांश अवश्य ही कहीं-कहीं उद्धरणों के रूप में मिल जाते हैं। ये नगीने की भांति उनकी भाषा को सौंदर्य प्रदान करते हैं—जैसे धर्मोरक्षति रक्षतः, स्वान्तः सुखाय, वज्रादपि कठोर कुसुमादि मृदु इत्यादि।

हिन्दी-गद्य के शैलीकारों में शुक्लजी ने ही प्रथमतः शैली की अन्तःशक्ति का रहस्य समझा और उसकी प्रौढ़ उद्‌भावना की। "हिन्दी-साहित्य में नवीन और प्रौढ़ साहित्य-शैलियों का प्रवर्तन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया था और समय-समय पर अपने लेखों, प्रबन्धों और निबन्धों के द्वारा उन्होंने शैली के राजमार्गों का निर्माण किया। यों गिनती गिनाने के लिये हम भले ही दस-बीस नाम गिनाकर अपनी आत्म-तुष्टि कर लें किन्तु सच पूछा जाय तो हिन्दी-साहित्य-संसार में शुक्लजी को छोड़कर और कोई भी न तो शैली का मर्म ही समझ सका और न कोई विशिष्ट शैली का निर्माण ही कर सका।"[१] शुक्लजी ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं डॉ० श्याम-सुन्दरदास की शैली का सफल उन्नयन किया। गम्भीर तथा उच्च स्तर के विषय को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने इस शैली का चयन किया और उसे मस्तिष्क एवं हृदय के योग से पुष्ट, परिष्कृत एवं प्रांजल किया। उनकी शैली की सफलता का रहस्य इस तथ्य में निहित है कि वे प्रतिपादित विषय को अपने मस्तिष्क और हृदय के योग से अनुभूति की आंच पर पका कर आत्मभूत कर लेते थे, फिर उसे लिपिबद्ध करते थे। उनके इसी निर्भ्रान्ति विचार परिष्कार का सीधा प्रभाव उनकी भाषा शैली पर लक्षित होता है। विषय जितना स्पष्ट उनके अन्तःकरण में रहता था उतना ही उनकी लेखनी से निकल कर भी दिखाई पड़ता था। ठीक इसी अर्थ में भाषा शैली अन्तःकरण की प्रतिच्छाया कही जाती है।[२]

शुक्लजी की गम्भीर, तथ्य-प्रधान, मुहावरेविहीन इस शैली में शुष्कता तथा नीरसता का अनुभव साधारण पाठकों को हो सकता है; परन्तु अध्ययनशील एवं

१. शैली : (कमलापति त्रिपाठी) संस्तव—सीताराम चतुर्वेदी : पृ० ४।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता : पृ० ८२।

प्रज्ञावान् व्यक्तियों को उस शैली में भी संमोहक शक्ति के दर्शन होते हैं।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (१८८६ ई०-वर्तमान)

जन्म-घुट्टी के साथ राष्ट्रीय स्वतंत्रता एवं स्वदेशभिमान की भावनाओं का पान करके, पलनेवाले सत्यदेव के हृदय में बचपन से ही देश-प्रेम जाग्रत हो गया था। तात्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों ने उनमें उदात्त वृत्तियों का पोषण किया था। इससे जब वे विदेश गये तो वहां के स्वतंत्र वातावरण ने उनकी भावनाओं को बल दिया। देश के प्रति अत्यन्त प्रखर अनुराग ने, उन्हें धन-कुबेर अमेरिका की वैभवमयी गोद में बैठकर भी निश्चिन्त नहीं रहने दिया। वहीं से आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा एवं आवाहन से उन्होंने हिन्दी में अपनी यात्राओं के अनुभव, विदेशों में स्वतंत्र जीवन, भौतिक उत्कर्ष आदि का सजीव वर्णन भारत में प्रकाशनार्थ भेजा। उन्होंने अनेक नवयुवकों को विदेशों की यात्रा करके ज्ञानार्जन कर देश को उन्नत करने के लिए प्रोत्साहित किया। स्वत्व की प्रखर भावना एवं अदम्य उत्साह के कारण उनकी वाणी में ओज और कलम में शक्ति है। अतः, उनकी शैली में जो प्रवाह और प्रभाव है वह उस ओज का मूर्त रूप है। अंग्रेजी भाषा का अच्छा अध्ययन होने के कारण, भाषा में अंग्रेजी की सरलता और स्पष्टता, संन्यासी की मस्ती और अटपटापन तथा स्वदेशाभिमानी की प्रखरता तथा ओज है। मुहावरों ने भी उनकी भाषा को गति दी है।

रचनाएं—अमेरिका पथ-प्रदर्शक १९११, अमेरिका के निर्धन विद्यार्थियों के परिश्रम '१२, मनुष्य के अधिकार '१२, जातीय शिक्षा '१२, अमेरिका दिग्दर्शन '१२, अमेरिका भ्रमण '१३, सत्य निबन्धावली '१३, मेरी कैलाश यात्रा '१५, लेखन कला '१७, असहयोग '२१, हमारी सदियों की गुलामी के कारण '२३, मेरी जर्मन यात्रा '२६।

परिव्राजकजी की सामान्य भाषा-शैली में मस्तिष्क से अधिक प्रखर भावात्मक शक्ति का योग रहता है। इसलिए उनकी विवेचनात्मक शैली में भी कहीं शिथिलता नहीं रहती। भावाभिव्यक्ति को शीघ्रगामी तथा सुबोध करने के लिए, सरल-वाक्य-विन्यास में सरल शब्दों की सुन्दर योजना की है। जैसे—

"इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि सरस्वती 'हिन्दुस्तान रिव्यु' से टक्कर नहीं मार सकती। मार भी कैसे सके जबकि वे देश-हितैषी जिनका धर्म मातृ-भाषा की सेवा करना था, अपनी माता का निरादर कर एक विदेशी भाषा के गुण गाते और उसका भाण्डार भरने में अपना गौरव समझते हैं। इस दशा में हिन्दी की पत्रिकाओं से आधुनिक गति की आशा करना अपने दोष को आप स्वीकार करना है। हम अखबारों में पढ़ते हैं कि भारतीय नौजवानों को देश-सेवा की धुन समाई हुई है, मगर हम हैरान होकर पूछते हैं कि वे नवयुवक कहां हैं जो मातृभाषा पर होते हुए इस अन्याय को देखकर इसका कुछ उपाय करते हों? केवल एक वीर हरदयाल एम० ए० है जिसने अपनी आवाज़ इस अन्याय के विरुद्ध उठाई है, मगर हमारे नेता, जिनके हाथ में बदकिस्मती से हमारे नौजवानों की बागडोर है, हरदयाल जैसे आदमी को दीवाना, खबती

कहकर हँस देते हैं। वे कहते हैं कि अंग्रेजी में लेख लिखकर हम पश्चिमी दुनिया को अपना रोना सुनाते हैं, उनसे सहानुभूति लाभ करने की आशा करते हैं। हत भागे! तुम यह नहीं जानते कि भारत का दुःख भारत के करोड़ों देहाती दरिद्रियों की सहानुभूति लाभ करने से दूर होगा। बाहरवाले तो तुम्हारे रोने चिल्लाने पर दिल्लगी उड़ाते हैं। हमारी उन्नति और अवनति हमारे हाथों में है। शिक्षित लोगों का धर्म अपने अशिक्षित भाइयों को शिक्षित करना है, उनको दुःख दूर करने के उपाय समझाना है। यह काम अंग्रेजी की मैगज़ीनें नहीं दे सकतीं। यह काम पवित्र मातृभाषा द्वारा ही हो सकता है।"[1]

जहां भावों का आवेग बढ़ जाता है वहां भाषा की गति तीव्र हो जाती है, और वाक्य छोटे परन्तु प्रभावशाली हो जाते हैं। पग-पग पर भावातुरता में एकाकी प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। उन्होंने डायरी भी लेखों के ढंग से लिखी है, और उसमें उनकी भावात्मक ओजपूर्ण भाषा-शैली अधिक मुखरित हुई है।

निःसन्देह सत्यदेवजी की भाषा में उनका प्रखर देश-प्रेम, मातृभाषा-प्रेम एवं स्वत्व-प्रेम अधिक स्पष्ट लक्षित होता है। उनके निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व में हिचक, संकोच या किसी प्रकार का ऊहापोह नहीं है। यही कारण है कि उनकी भाषा में स्पष्टता के साथ सरलता और सुबोधता भी है। इसी से भावों और विचारों को छुपाकर लक्षणा, व्यंजना अथवा अन्योक्ति का आश्रय उन्होंने कहीं नहीं लिया। उनके व्यंग्य और आक्षेप ठेठ और सीधे हुए हैं। भाषा को अलंकृत करके बनावट-सजावट के लिए कहीं प्रयत्न नहीं किया। जैसे—

"अच्छा उपन्यास साहित्य की जड़ बांध देता है। मगर उपन्यास लिखना सबका काम नहीं है। मन्दिरों में बैठकर सारे दिन कथा बांचनेवाले उपन्यास नहीं लिख सकते। हां, मदारी के थैले खोल सकते हैं, या शृंगार रस के और बेसिर-पैर के पोथे लिख सकते हैं, या टके बटोरने के लिये किसी अण्ड-बण्ड किताब का अनुवाद कर सकते हैं।"[2]

यद्यपि परिव्राजकजी की भाषा में उर्दू-फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग काफी हुआ है, फिर भी वह बड़ी साफ, सुथरी और स्पष्ट है। उसका अंग्रेजी ढंग का वाक्य-विन्यास है। इस कारण उन्होंने लम्बे-लम्बे वाक्यों का भी सफल निर्वाह किया है और विराम-चिह्नों के शुद्ध प्रयोग ने बहुत सहायता की है। कहीं-कहीं तो उनके वाक्य बहुत दीर्घ और संयुक्त हो गये हैं, परन्तु उनमें दुरूहता अथवा अस्पष्टता कहीं भी नहीं आ सकी है।

बाबू गुलाबराय (१८८८ ई०-वर्तमान)

द्विवेदी एवं उनके परवर्ती-युग के यशस्वी गद्य-शैलीकार बाबू गुलाबराय का जन्म माघ शुक्ल ४, संवत् १९४४ वि० को इटावा नगर में भवानीप्रसादराय के यहां

१. हिन्दी-साहित्य और हमारा काम : सरस्वती-भाग १०, संख्या १० : पृ० ४६० ।
२. हिन्दी-साहित्य और हमारा काम : सरस्वती-भाग १०, संख्या १० : पृ० ४६३ ।

हुआ था। इनके पिता सरकारी कर्मचारी थे। घर का वातावरण अत्यन्त धार्मिक और शान्तिमय था। माता-पिता दोनों ही धार्मिक वृत्ति के होने के कारण इन पर धार्मिक संस्कार प्रारंभ से पड़े। पिताजी वेदान्ती थे, और माँ थी अनन्य कृष्ण भक्त। अतः, वर्तमान में हम बाबू साहब की दर्शन के प्रति जो गहन रुचि देखते हैं, वह उन्हें पैतृक सम्पत्ति के साथ प्राप्त हुई।

जब इनके पिता का स्थानान्तर इटावा से मैनपुरी का हो गया, तो वहीं इनका विद्यारम्भ किया गया। यहीं इन्होंने विभिन्न शालाओं में शिक्षा प्राप्त की और सन् १६०५ में मिशन हाई स्कूल से एंट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १६११ में आगरा कालेज से बी० ए० पास करके वहीं सेंट जान्स कालेज में अध्यापक हो गये और एम० ए० परीक्षा भी दी। एम० ए० पास करके छतरपुर राज्य में नौकर हो गये। वहीं से कानून की परीक्षा, १६१७ में पास कर महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। अपनी कार्यकुशलता एवं प्रतिभा के कारण ये राज्य के दीवान तथा कालान्तर में प्रमुख न्यायाधीश नियुक्त हुए। सन् १६२२ में इन्होंने राज्य की सेवाओं से अवकाश ग्रहण कर लिया।

बाबू साहब ने सन् १६१५ के लगभग ही हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। सरकारी सेवाओं के साथ साहित्य-साधना भी निरन्तर चलती गई। दर्शन-शास्त्र में इनकी विशेष रुचि एवं दक्षता रही। फलतः इंदौर और पूना के साहित्य-सम्मेलनों के अवसर पर ये दर्शन-परिषद् के सभापति बनाये गए थे।

इनकी साहित्य-सेवाओं का सतत स्रोत प्रायः आगरा से ही प्रवाहित हुआ है। आगरा में सेंट जान्स कालेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप में वे अवैतनिक प्राध्यापक रहे। वहां उन्हें हिन्दी साहित्य की सेवाओं का अधिक अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने 'साहित्य-संदेश' पत्र का सम्पादन भी किया और अनेक निबन्ध और आलोचनाएं लिखीं। 'हिन्दुस्थानी एकेडेमी' ने उनके 'तर्क शास्त्र खण्ड-३' को पुरस्कृत किया है।

रचनाएं—सम्पादित—सत्य हरिश्चन्द्र, भाषा-भूषण, युग-धारा, कादम्बरी कथा-सार।

मौलिक—शान्ति-धर्म, फिर निराश क्यों? मैत्री-धर्म, नव-रस, कर्त्तव्य-शास्त्र, तर्क-शास्त्र (भाग-३), पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, बौद्ध धर्म, मेरी असफलताएं (आत्मक कथात्मक साहित्यिक हास्यपूर्ण निबन्ध), ठलुआ क्लब।

निबन्ध संग्रह—प्रबन्ध-प्रभाकर, निबन्ध-रत्नाकार।

आलोचनात्मक रचनाएं—हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास, हिन्दी-नाट्य-विमर्श, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, प्रसाद की कला, साहित्य और समीक्षा।

बाल-साहित्य—विज्ञान-विनोद, बाल-प्रबोध।

निबन्धकार के रूप में बाबू साहब का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनकी हास्य, व्यंग्य और विनोद की प्रकृति उनकी शैली में सर्वत्र स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। उनके निबन्धों की महत्ता का श्रेय उनकी शैली को जितना अधिक प्राप्त है उतना उनकी वस्तु को नहीं। गम्भीर आलोचनात्मक निबन्धों की कठोर भूमि से भी हास्य-विनोद के

फव्वारे फूटते रहते हैं। फिर भी सम्यक् रूप से उनकी प्रधान शैली विवेचनात्मक है। यही विषय-वस्तु के साथ में न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्तित हुई है।

बाबू साहब की विवेचनात्मक शैली उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में अवश्य ही अधिक गठित, शुद्ध और परिष्कृत नहीं है। उसमें न तो वैसा गठन है और न गति, और न प्रभाव है और न परिष्कृति ही। एक ही परिच्छेद में विवेचनात्मक और वर्णनात्मक शैली का वैसा ही मिश्रण है जैसा अंग्रेजी, उर्दू और संस्कृत के शब्दों का। यद्यपि अंग्रेजी के नये शब्दों के हिन्दी पर्याय गढ़ कर प्रारम्भ में अंग्रेजी के मूल शब्दों को कोष्टक में रखकर, उन्हें उनके सहारे चलना सिखाया है और दूसरे ही वाक्य में उन्हें स्वतन्त्र व्यवहार को छोड़ दिया है; तथापि कुछ सरल अंग्रेजी शब्द बिना हिन्दी-पर्यायवाची के ही प्रयोग किये हैं। परिच्छेद लंबे हैं और सुगठित नहीं हैं। जैसे—

"दो प्रतिकूल सिद्धान्तों का भी कभी-कभी एक ही परिणाम होता है, हेगिल (Hegel) और हैकर (Hackel) के सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। एक महाशय यूरोप में आत्मैकवादियों के शिरोमणि गिने जाते हैं, तो दूसरे महाशय आधुनिक प्रकृतिवादियों में अग्रगण्य हैं, किन्तु दोनों ही की फिलासफी अन्त में हमको नियतवाद (Deteriminism) में ले जाती है। दोनों ही के मत से संसार कार्यकारण की शृंखला में बंधा हुआ है। मनुष्य को संसार में किसी नई बात की गुंजाइश नहीं है। यदि हेगिल के मत से व्यक्ति का समष्टि में लोप हो जाता है तो हैकल के अनुयायियों के लिए मनुष्य, बन्दरों का सकुटुम्बी है। प्रकृतिवाद (Materialism) और आत्मवाद (Spiritualism) दोनों ही मनुष्य का गौरव घटाते हैं। दोनों ही बुद्धि की प्रधानता मानते हुए हमारे भावों को सत्य का निर्णय करने में कोई स्थान नहीं देते। संसार की उन्नति में भावों की प्रधानता एवं मनुष्य की स्वतन्त्रता और गौरव स्थापन करने के लिये कृत साधनवाद (Pragmatism) का उदय हुआ। जेम्स, शिलर और ड्यूई ये तीन महाशय कृत्य साधनवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। जेम्स साहब इस मत के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। आप अमेरिका के सबसे बड़े फिलासफर समझे जाते हैं।"[1]

रायजी की उपर्युक्त भाषा में कुछ ही वर्षों में जो निखार और परिष्कार हुआ है, वह महत्त्वपूर्ण है। भाषा का न केवल लचरपन ही तिरोहित हो गया वरन् उसमें शक्ति और गति उत्पन्न हो गई। उनमें आचार्य शुक्लजी की निगमन शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न भी प्रतीत होता है। प्रारम्भ में मूल बात कहकर बाद में उसी की पुष्टि और स्पष्टीकरण में असंख्य उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। फिर भी शुक्लजी की शैली की गम्भीरता और गाढ़ बन्धत्व उसमें नहीं है। न तो परिच्छेद के प्रारम्भ में वैसे सशक्त, संश्लिष्ट सूत्र-वाक्य हैं और न उनकी व्याख्या और विवेचना। रायजी इसके स्थान पर एक के पश्चात् दूसरा उदाहरण या उपमाएं देते चले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो ये उपमाएं एक-दूसरे का हाथ पकड़कर खींचती चली जा रही हो। थोड़ी ही देर में एक सुन्दर, प्रभावी शृंखलाबद्ध प्रघट्टक उपस्थित हो जाता है। यह

---

१. मर्यादा : मार्च १९१७, भाग १३।३ : पृ० ११८-११९।

भी उनकी विवेचनात्मक शैली का ही एक ढंग है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं एक में, सम्पूर्ण प्रघट्टक एक ही अति दीर्घ वाक्य में अनेक उदाहरणों के साथ गूंथा जात है जो भारतेन्दु की 'सूर्योदय' निबन्ध-शैली के अनुरूप है। दूसरी शैली में, समान धर्म अनेक छोटे-छोटे वाक्यों में उदाहरणों को संजोया गया है।

(१) "सौंदर्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। जब हम कोकिल के कल कूजने में, भ्रमरावली के मधुर गुंजार में, मछली के स्वच्छ गम्भीर जल में उछलकर विद्युत् की सी चपलता दिखाने में, मदोन्मत्त गजराज की मदभरी चाल में, कंमल और शिरीष पुष्पों की कोमलता और सुस्निग्धता में, रंभा स्तंभों की श्लक्षणता में, हिम और कपूर की दिव्य धवलता में, पूर्ण शरदिंदु की सुधा-सनी शीतल में, आकाश की निष्कलंक नीलिमा में, उषाकालीन नवीन मेघों की नेत्र रंजक लालिमा में, कबूतर की लालायित ग्रीवा में, राजहंसों की मन्द गति में, तिल कुसुम और शुक तुंड में, उज्ज्वल और सरस मोती के से दानों से भरे हुए अनार में, पक्कबिंब और विद्रुम की विचित्र अरुणाई में, फल-भार-नम्रा-रसाल शाखाओं की विनीत नम्रता में, कल-कलभ के शुभ्र-शुंड में त्रिविध समीर और रजतमयी शरच्चंद्रिका की मुदुत्व मंद मुसकान में, सभी स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुंदरता का आदर्श-उपमान उपमेय रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं, उस समय हम अपनी सौंदर्योपासना में सारे संसार की एकता का परिचय देने लग जाते ।"[१]

(२) "कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है। रूपहीन वस्तु ही रूपवान वस्तु का आधार-भूत और पालक पोषक है। कीचड़ से ही कमल की स्थिति है। गुलाब भी कटीले वृक्ष में उगता है। मोती सीप से पैदा होता है। रत्न क्षार-समुद्र से निकलता है। मणि खानि से निकलती है। गज मोक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलांबर में चन्द्रोदय होता है। दुरूह पर्वतों के अंधकारमय गहरों में भांति-भांति की जड़ी-बूटियां विद्यमान रहती हैं। बड़े-बड़े बीहड़ जंगलों में सहज सलौने मृग छोने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से और सघन सुंदर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थिति रूखी और मोटी मोटी जड़ से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियों पर और हरी-भरी लहराती वनस्पतियों की स्थिति, जल, वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है।"[२]

बाबू गुलाबराय का व्यक्तित्व उनकी सम्भाषण शैली में अधिक स्पष्ट हुआ है। उनके अध्यापक का रूप उनकी अन्य सेवाओं के रूपों में अधिक व्यापक और प्रधान है। इससे उनके निबन्धों और लेखों में सम्भाषण शैली की प्रमुखता मिलती है। अपने विषय को बोध-गम्य एवं अभिव्यक्ति को सप्राण बनाने के लिए वे बीच-बीच में प्रश्न करके पाठकों को सचेत करते जाते हैं। विवेचनात्मक शैली का इस शैली के साथ बहुत सुन्दर

१. हिन्दी निबंध-माला (भाग-२) : सौंदर्योपासना : पृ० ७२।
२. —वही— कुरूपता : पृ० १४५-१४६

निर्वाह हुआ है। जैसे—

"दोष शुद्धि के लिए दूसरा उपाय प्रायश्चित बतलाया गया है। प्रायश्चित प्रायः उन्हीं अपराधों का होता है, जो विशेष कर धर्म के उस अंग से, जिसे आचार कहते हैं, संबंध रखते हैं। यह एक प्रकार का दंड तथा मानसिक पश्चाताप है। पश्चाताप भी दोष शुद्धि का मुख्य उपाय माना गया है। इससे दोषों को क्षमा मिल जाती है। पाप का दंड देना जब न्याय माना गया है, तब क्षमा कैसी? दंड तो केवल इसलिए दिया जाता है, कि अपराधी का सुधार हो जाय और वह फिर आगे अपराध न करे। यदि वही आशय बिना दंड के ही सिद्ध हो जाय तो दंड की क्या आवश्यकता? कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि क्षमा से अपराध की जो शुद्धि होती है वह दंड से नहीं।"[1]

बाबू श्यामसुन्दर दास के अध्यापक के विपरीत, बाबू गुलाबराय का अध्यापक गम्भीर और कठोर अनुशासन का आदी नहीं है। स्वभाव तथा छात्रों के नवरक्त के सम्पर्क ने उन्हें कभी 'मुहर्रमी' नहीं रहने दिया। वे प्रकृति से विनोद-प्रिय और हंसोड़ हैं, अतः, उनकी शैली में विनोद, परिहास और व्यंग्य का बहुत सुन्दर परिपाक उपस्थित हुआ हैं। विशेषतः उन्होंने सामाजिक और नैतिक निबन्धों में मार्मिक ढंग से विनोद और व्यंग्यों की उद्भावना की है। उनके व्यंग्यों में क्षार रहता है जो हृदय को स्पर्श करते ही अपनी प्रतिक्रिया करने लगता है। लोकोक्तियों तथा मुहावरों ने उनमें जीवन और शक्ति का संचार कर दिया है। 'मेरा मकान मेरी मूर्खता की साकार मूर्ति' शीर्षक से लिखा गया निबंध इस शैली की प्रतिनिधि रचना है। यथा—

"पक्की जमीन से दीवारें सात फीट ऊपर आ गई हैं। हाथी डुबान नहीं, मेरे ऐसे शर्मदार, पस्तः कद और पस्त हिम्मत मनुष्य डुबान तो नींव गहरी हो गई है। मैं अशरफुल मखलूक़ात हाथी से किस बात में कम हूं? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भांति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली दरवाज़े मकान बनवाने का प्रभाव हो। जिस बात को मैंने दिल-बहलाव की चीज समझा था, वह अब वबाल-जान बन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते हैं, 'देर आयद दुरुस्त आयद' जली तो जली पर सिकी अच्छी। + + + रुपया खर्च करने पर इतना ही सन्तोष मिला है कि एक दिन की वर्षा से गढे भर जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारों ओर से सुनाई पड़ती है और बाबा तुलसीदास की निम्नलिखित चौपाई याद आ जाती है—

दादुर ध्वनि चहुं ओर सुहाई,
वेद पढ़हिं जिमि बटु समुदाई।"[2]

शब्द-चयन

गुलाबरायजी का प्रबल आग्रह भावों की प्रभावीपूर्ण अभिव्यंजना होने के

१. हिन्दी निबंध माला (भाग—१): कर्त्तव्य संबंधी रोग, निदान और चिकित्सा: पृ० ६५-६६।
२. मेरे निबन्ध—जीवन और जगत—मेरा मकान मेरी मूर्खता की साकार मर्ति: पृ० २३।

कारण, वे अंग्रेजी, उर्दू, फारसी ही नहीं, अव्यावहारिक और देशज शब्दों का भी प्रयोग करने से नहीं चूके हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा प्रौढ़, परिष्कृत और व्याकरण-सम्मत होते हुए भी विजातीय शब्दों और पदों से ओत-प्रोत है। उन्होंने विजातीय शब्दों का जहां-जहां प्रयोग किया है वहां-वहां वे हिन्दी के शब्दों से प्रायः अधिक मार्मिक सिद्ध हुए हैं। ऐसा उन्होंने तब ही किया है कि जब हिन्दी का कोई पर्यायवाची शब्द उन स्थलों पर उपयुक्त नहीं जंचा है। जैसे—शग़ल, गप्प हांकना, इत्यादि।

अंग्रेजी के फिलासफर, फिलासफ़ी, कम्पोजीटर, कैमरा इत्यादि शब्द तो पर्याप्त मात्रा में निःसंकोचभाव से विचरण करते हुए उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रति उनका मोह प्रारम्भ में अधिक रहा है, जो समय और अनुभव के साथ कम हो गया है। फिर भी सामासिक संश्लिष्ट पदावलियां मन की लहर उठने पर, मयूर-पंखी ढंग से चुन-चुनकर सजाई गई हैं। इनमें फिर उर्दू-फारसी, अंग्रेजी शब्दों को प्रवेश करने का तो साहस ही नहीं होता, और आलंकारिक संस्कृत के विद्वान् पं० गोविंदनारायण मिश्र का लघु संस्करण सामने आ जाता है। यथा—

"जब गगन रोही तुषार-मंडित पर्वत-शृंगों, वर्षा-वारिविलोड़ित नदियों, सघन-श्याम-मेघ मालाओं, नव किसलय-शोभित वृक्षों नूतन पल्लव और कोमल कलियों से विभूषित लतिकाओं, नीलाकाश के प्रशस्त अंचल पर हीरक खंड से जगमगाते हुए शुभ्र नक्षत्रों और बिमल सलिल-वाही मधुर-निनादी निर्झरों को देखकर हमारा मन मयूर प्रेमोन्मत्त पुलुक मुकुलित हो नाचने लगता है, उस समय हमको अपनी ओर दृश्यमान संसार की एकता का अनुभव होने लगता है।"[1]

ऐसे कुछ स्थलों के अतिरिक्त बहुलांश में बाबू साहब ने अपनी भाषा-शैली को यथा-शक्ति सरल और सुबोध रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। अंग्रेजी के शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के साथ में कोष्टकों में मूल शब्दों को रख दिया है[2] तथा हिन्दी के शब्दों का अभीष्ट अर्थ संकेत करने के लिए भी कोष्टकों का उपयोग किया है। मुहावरों एवं उक्तियों का प्रयोग अधिक नहीं किया गया है और जहां हुआ है सुन्दर हुआ है।[3]

बाबू शिवपूजन सहाय (१८९३ ई०-वर्तमान)

द्विवेदी-युग के यशस्वी पत्र-सम्पादक शिवपूजन सहाय का जन्म श्रावण कृष्ण त्रयोदशी, सं० १९५० को, जिला शाहाबाद के उनवास ग्राम में हुआ था। इनके पिता वागीश्वरीदयाल श्रीवास्तव कायस्थ थे। वे रामायण के अच्छे मर्मज्ञ थे। बाल्यावस्था में उनका संस्कार महत्त्वपूर्ण था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा गांव के गुरुद्वारा में कुछ दिन चली। इसके पश्चात् उर्दू-फारसी की शिक्षा एक मौलवी साहब से प्राप्त की। प्राथमिक शिक्षा को पूर्ण कर आरा नगर की कायस्थ जुबली एकेडेमी में १९०३ में प्रविष्ट

१. हिन्दी निबंध माला (भाग—२) । सौंदर्योपासना : पृ० ७१
२. प्रस्तुत प्रबन्ध, इसी अध्याय में उद्धरण—१ : पृ० ३०९ ।
३. —वही— उद्धरण—१ : पृ० ३१२ ।

हुए और वहीं से १९१३ में मैट्रिक पास हुए। इनमें साहित्यिक रुचि का बीजारोपण आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा के द्वारा विद्यार्थी अवस्था में ही हो गया था और वहीं उनका सम्पर्क ईश्वरी प्रसाद शर्मा, शिवनंदन सहाय, ब्रजनन्दन सहाय तथा सकल-नारायण पाण्डेय से हुआ। प्रथम सज्जन इनके वस्तुतः साहित्यिक गुरु थे।

सन् १९१३ में लगभग एक वर्ष बनारस की दीवानी कचहरी में नौकरी करके प्रयाग आ गये और आरा के कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन के सहयोग में साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया। अंग्रेजी पुस्तक 'Way to Service' का अनुवाद 'सेवा-धर्म' प्रथम ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। प्रयाग में ही 'प्रेम-पुष्पांजलि' प्रेमकली, त्रिवेणी आदि पुस्तकों का संकलन किया। पटना में प्रसिद्ध साहित्य सेवी पं० रामदहिन मिश्र के सम्पर्क में रहकर भी साहित्य सेवा का अवसर मिला। पुनः सन् १९१६ में वे आरा की उसी शाला में शिक्षक हो गये और उनकी हिन्दी के प्रति अभिरुचि का विकास हुआ।

सन् १९२० के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी शिवपूजन सहायजी ने सक्रिय भाग लिया था। उनकी अधिकांश सेवाएं हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक के रूप में हुई हैं। 'मारवाड़ी सुधार', 'मतवाला', 'मौजी', 'गोलमाल', 'आदर्श', 'उपन्यास-तरंग', 'समन्वय', 'माधुरी', 'गंगा' आदि पत्र उनमें प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'हंस', 'जागरण', 'बालक' आदि पत्रों से भी इनका प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। 'द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रंथ' का सम्पादन करना उनके लिए सबसे उल्लेखनीय गौरव था। ये बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, सत्रहवां अधिवेशन, पटना के सभापति भी बनाये गये थे।

रचनाएं—अनुवाद—सेवा-धर्म।

मौलिक—अर्जुन, भीष्म, देहाती दुनिया, महिला महत्त्व या विभूति, बिहार का बिहार, हिंदी ट्रांसलेशन।

सहायजी की प्रधान शैली वक्तृत्व से ओत-प्रोत, विशुद्ध आलंकारिक, गद्य-काव्य की शैली के समीप पहुंचती है। मुहावरे, सानुप्रासिकता तथा तुकान्तता का आग्रह विशेष रहने के कारण माधुर्य, लालित्य एवं रोचकता की संनिहिति स्वभावतः हो गई है। उनकी भाषा को पढ़कर ऐसा लगता है कि लेखक भंग की तरंग में और उनकी लेखनी मन की उमंग में मस्त होकर उपमाओं पर उपमाएं प्रसूत करती जाती है। एक ही तथ्य को असंख्य उदाहरणों और उपमाओं में गूंथ देने से एक सुन्दर चित्र आखों के सामने खिंच जाता है। जैसे—

"हाड़ा वंश की सुलक्षणा, सुशीला और सुन्दरी सुकुमारी कन्या से आपका व्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक नहीं हुआ होगा। अभी नवौढ़ा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा है। अभी कजरारी आंखें अपने ही रंग में रंगी हुई हैं। पीत पुनीत चुनरी भी अभी धूमिल नहीं होने पाई है। सोहाग का सिंदूर दुहराया भी नहीं गया है। फूलों की सेज को छोड़कर और कहीं गहनों की झंकार भी नहीं सुन पड़ी है। अभी पायल की रुनझुन ने महल के एक कोने में बीन बजाई है। अभी घने पल्लवों की आड़ में ही कोयल कुहकती है। अभी कमल सरीखे कोमल हाथ पूजनीय चरणों पर चंदन ही चढ़ा पाये हैं। अभी संकोच के सुनहरे सींकड़ में बंधे हुए नेत्र लाज ही के लोभ

में पड़े हुए हैं। अभी चांद बादल ही के अन्दर छिपा हुआ था; किन्तु नहीं आज तो उदयपुर की उदित विदित शोभा देखने के लिए घन पटल में से अभी-अभी वह प्रगट हुआ है।"[१]

कहीं-कहीं वर्णनात्मक शैली में भी शिवपूजनजी ने मुहावरों और अनुप्रासों की सहायता से वर्तमानकालिक क्रिया के रूप में इतनी सजीव और सप्राण व्यंजना की है कि पाठक अवाक् रह जाता है और उसके मानस के समक्ष वह दृश्य उपस्थित हो जाता है। जैसे—

"चूड़ावत जी, हाथ में लगाम लिये ही, बादल के जाल से निकले हुए उस पूर्ण चन्द्र पर टकटकी लगाये खड़े हैं। जालीदार खिड़की से छन छनकर आनेवाली चांद की चटकीली चांदनी ने चूड़ावत चकोर को आपे से बाहर कर दिया है। हाथ की लगाम हाथ ही में है, मन की लगाम खिड़की में है। नये प्रेमपाश का प्रबल-बन्धन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बन्धन ढीला कर रहा है। चूड़ावत जी का चित्त चंचल हो चला। वे चटपट चन्द्र भवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिंता में चूर हैं, पर चन्द्र-दर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगरी सीड़ियों के सहारे चन्द्र-भवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।"[२]

इसी सानुप्रासिक शैली में जब वे तुकान्त अथवा अन्त्यानुप्रासों की योजना करने लगते हैं तो भाषा में काव्यात्मक लय तथा ध्वनि आ जाती है। उनकी यह तुकबन्दी इंशाअल्ला खां की तुकबन्दियों से बहुत भिन्न है। इनमें माधुर्य है, सुरुचि है, विशुद्धता है और आकर्षण है। अतः, वह ग्राह्य एवं आदरणीय है। उदाहरणतः सती-शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व रक्षा के लिये जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गंवाई जरूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।"[३]

इसी प्रकार शब्द-चयन की दृष्टि से सहायजी की भाषा में शुद्धता का विचार अधिक रहता है, फिर भी अनुप्रास, तुकबन्दी तथा मुहावरों की लपेट में उर्दू-फारसी के कुछ शब्द आ गये हैं। हां, उन्होंने प्रांतीय तथा देशज शब्दों को प्रायः बहिष्कृत किया है। इस विशुद्ध भाषा में सौष्ठव के साथ ओज और माधुर्य गुणों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

एक सफल पत्र-सम्पादक होने के कारण, सहायजी शब्दों के तत्त्वों से तो परिचित थे ही, साथ ही विराम-चिह्नों तथा वाक्य-विन्यास की खूबियों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। उनके वाक्य बहुधा सीधे और सरल प्रकृति के ही होते थे। दीर्घ वाक्यों की भूल-भुलैयों में फंसा कर वे भाषा का सपिण्ड श्राद्ध करने के पक्ष में नहीं थे। इससे जहां कहीं उनके वाक्य लम्बे हुए हैं, उन्होंने विराम-चिह्नों का सदा ध्यान रखा है।

---

१. आर्य-महिला (मुण्ड-माल) भाग-१, संख्या १, सं० १९७५ : पृ० ५६।
२. —वही— —वही— पृ० ५६।
३. —वही— —वही— पृ० ५८।

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी (१८९२ ई०—वर्तमान)

बक्शीजी द्विवेदी-युग के एक ऐसे कीर्तिमान् आलोक हैं, जिन्होंने उन्हीं से प्रभावित हो, उन्हीं के आदर्श का अनुसरण कर ठीक उन्हीं के पश्चात् 'सरस्वती-सम्पादन' का कार्य सम्भाला। वे द्विवेदीजी के सुयोग्य उत्तराधिकारी हैं। अपने आदर्श की साहित्यिक एवं शैलीगत परम्परा का उन्नयन कर आज तक सफलतापूर्वक उसका निर्वाह करनेवाले, वे एक साहित्य-मनीषी भी हैं। उन्होंने अपने को धन-धान्य से सर्वथा अकिंचन रखकर वास्तविक अर्थ में 'सरस्वती' एवं हिन्दी-वांगमय की सेवा की है। आज थोड़ी-सी ही साहित्य-साधना करके जो लेखक भारती-मन्दिर के पण्डे बनकर अपनी पूजा कराने लगते हैं, उनसे बक्शीजी बहुत भिन्न हैं। उन्होंने पहले कठिन तपस्या और साधना की है, फिर सरस्वती के पवित्र मन्दिर में प्रवेश किया है। इसी के फल-स्वरूप बक्शीजी की रचनाओं में रागात्मकता के साथ प्रज्ञात्मकता का सुन्दर समन्वय संनिहित है। वे काल्पनिक जगत के जीव नहीं हैं। यथार्थ में वे रहते हैं तथा साहित्य की उपयोगितावाद के समर्थक हैं। इससे उन्होंने अधिकांशत: गम्भीर विषयों पर ही अपनी लेखनी चलाई है। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह पाठक और शिक्षक के ही दृष्टि-कोण से लिखा है।[1]

'सरल जीवन उच्च विचार' बक्शीजी के व्यक्तित्व का प्रतीक वाक्य है। इसको अपना इष्ट बनाकर उन्होंने अपने बाह्य जीवन को सरल, सादा एवं आडम्बरहीन रखा है; परन्तु विचारों की उच्चता में कमी नहीं आने दी है। उनके विचारों की परिधि जितनी विस्तृत है, उनका मानसिक क्षितिज भी उतना ही ऊंचा है। उन्होंने इस दृष्टि से किसी सम्प्रदाय या वर्ग का अन्धानुकरण नहीं किया है। इसका प्रमाण उनकी भाषा में प्रयुक्त शब्द-चयन से प्राप्त होता है।

इनके व्यक्तित्व का स्फुरण आलोचक, निबन्धकार तथा सम्पादक के रूप में विशेष हुआ है। वैसे इन्होंने १९०९ में ही पद्य के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। साथ ही कुछ कहानियां और एक नाटक भी लिखा है।

रचनाएं—निबन्ध-संग्रह— कुछ।

आलोचनात्मक—हिन्दी-कथा-साहित्य, हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, विश्व-साहित्य, हिन्दी-साहित्य-विमर्श।

अन्य—पंच मात्र, त्रिवेणी।

बक्शीजी के अधिकांश निबन्ध विचारात्मक हैं, जिनमें विवेचनात्मक शैली का प्राधान्य मिलता है। अपने अगाध अध्ययन तथा सतत साधना के द्वारा, जिस गम्भीर तथा प्रौढ़ शैली का आविष्कार किया है उसमें रूक्षता नहीं, सरसता है और पाण्डित्य के साथ आत्मीयता है। प्रदर्शन और विज्ञापन की हवस न होने के कारण कृत्रिम उपकरणों का आडम्बर भी उसमें नहीं है। हां, सात्विक तेज और पवित्र दीप्ति अवश्य है।

विषय के प्रतिपादन में उन्होंने विशेष ढंग का संयोजन किया है। विषय-वस्तु

१. जीवन-स्मृतियां : (सं० क्षेमचन्द्र 'सुमन') : पृ० १०९।

को प्रस्तुत करके अपने अविरल प्रवाह के साथ वे रुक जाते हैं, और पाठक को रेल-यात्री के समान एकाएक रुकने पर धक्का लगता है, वह सजग होकर सम्भल ही नहीं पाता कि उस पर प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। इससे उसमें चैतन्य का संचार हो जाता है। मन जो रम गया था, रुक गया था, वह बुद्धि का हाथ थामकर प्रतिक्रिया को तत्पर हो जाता है। उनकी प्रश्न-शृंखला पाठक को अवाक् कर देती है और वह लेखक का मुखापेक्षी होकर मस्तिष्क में विचारों के बवंडर को समेट कर किसी निष्कर्ष पर आना चाहता है कि बक्शीजी छोटे से उत्तर से उसे शान्त और संतुष्ट कर देते हैं। यह है बक्शीजी की शैली का एक विधान। जैसे—

"बौद्ध धर्म के पतन के बाद देश में जिस साहित्य की प्रतिष्ठा हुई उसका संबंध सर्वसाधारण से नहीं था। जिस प्रकार बौद्धों और नव-हिन्दू-धर्म के आचार्यों के शास्त्रार्थ और विवाद कुछ थोड़े विद्वानों के लिए थे। उसी प्रकार नव-हिन्दू-साहित्य के ग्रन्थ-रत्न भी विद्वानों के लिए थे। धर्म की सूक्ष्म मीमांसा, दर्शन की जटिल व्याख्या और काव्य का चमत्कार सर्वसाधारण के लिए, अनधिगम्य ही है। परन्तु जब देश में इनकी चर्चा हो रही थी तब क्या सर्वसाधारण जड़ीभूत हो रहे थे? क्या उनके हृदय में किसी प्रकार की भावनाएं नहीं उठती थीं? क्या वे अपने दैनिक जीवन के लिए उस धर्म की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसका निर्णय बौद्ध-विद्वानों और हिन्दू-धर्म के आचार्य सभाओं में बैठकर कर रहे थे? क्या किसी कालीदास, भवभूति, बाण अथवा श्रीहर्ष की रस-धारा के लिए वे अपने हृदय को शुष्क बना रहे थे? सच बात यह है कि हमारे दैनिक जीवन में अन्तः सलिला होकर जो चिर-जीवन की धारा बह रही है उसका प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं होता।"[१]

बक्शीजी ने अनेक स्थलों पर अपेक्षतः कठिन और गम्भीर विषयों को प्रस्तुत करते समय उनमें हल्की-सी कलात्मकता और आलंकारिकता का पुट भी दिया है। वैसे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रदर्शन और विज्ञापन की वृत्ति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। अतः, उनकी शैली में प्रायः अलंकारों का अकाल, दीर्घ-सामासिक पदावलियों का दुर्भिक्ष तथा मुहावरों पर महामारी पड़ी हुई-सी प्रतीत होती है। जहां मानस सत्यं, शिवं, सुन्दरं की उदात्त भावनाओं में परिप्लावित हो जाता है, वहां स्वभावतः कलात्मक एवं हृदय-स्पर्शी उपमाएं प्रस्तुत हो गई हैं। यथा—

"जब कोई विरक्त संन्यासी चंचलता की चमक में संसार की क्षण-भंगुरता देखता है तब कितने ही छोटे-छोटे लड़के वर्षा में हँसते-कूदते रहते हैं। कोई किसान भीगता हुआ अपनी गायों को खदेड़ता हुआ घर लौटता है, कोई अपने घर में बैठे-बैठे वर्षा की शोभा देखकर आनन्दित होता है। इन लोगों की भावनाएं हिन्दी के कितने कवियों ने व्यक्त की हैं? मनुष्य सभ्यता के अन्तिम सोपान पर भले ही पहुंच जाय, पर वह उन भावनाओं को नहीं भूल सकता जिनमें उसका जीवन बना है। बच्चे को सुलाती हुई माता में जो सौंदर्य है वह किसी नायिका के भावावेश में नहीं है। नव-दम्पति के लज्जा-शील नेत्रों

१. हिन्दी-साहित्य-विमर्श : पृ० ५० ५१

में जो छवि है वह किसी नायिका की निर्लज्ज-लीला में नहीं है। दुःख और दरिद्र, प्रेम और सहानुभूति के केन्द्र स्थल हैं।"[1]

यथार्थ एवं लोक-जीवन के समर्थक बक्शीजी का जीवन में जो आदर्श है, वही यत्र-तत्र उनकी भाषा-शैली में मुखरित हुआ है। इसी के अनुरूप उन्होंने अपना वाक्य-विन्यास तथा शब्द-चयन भी रखा है। अतः, अन्त.साक्षी की दृष्टि से उनका यह आदर्श बहुत महत्त्वपूर्ण एवं द्रष्टव्य है। इसमें युग-पुरुष द्विवेदीजी की पूर्ण अनुकृति हुई है। "हमें स्मरण रखना चाहिये कि भाषा विद्वानों ही की सम्पत्ति नहीं है, उस पर सभी का अधिकार है, उसके अधिकारियों में अधिकांश लो। विद्या से शून्य हैं। यदि विद्वत्समाज भाषा सम्पत्ति को अपनाने की चेष्टा करेगा तो छूछा कोष उसके हाथ रह जायेगा और सम्पत्ति जनता के हाथ चली जायेगी। भाषा पर विद्वानों का प्राधान्य कभी न रहा है और न रहेगा। भाषा जनता का अनुसरण करेगी और विद्वान भाषा का अनुसरण करेंगे। भाषा मृत तभी होती है जब वह विद्वानों की सम्पत्ति हो जाती है। तब वह देश-भाषा न होकर साहित्यिक भाषा हो जाती है।"[2]

इस आदर्श के अनुसार जो शुद्ध, सरल और सुबोध शब्द उनके हाथ पड़ गये हैं, उन्हीं को इन्होंने अपनाया है। भाषा की विशुद्धता एवं उत्तरदायित्व का उन्हें सदा ध्यान रहता था, इसलिए इनका झुकाव संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर रहा है। फिर भी उन्होंने भाषा को जड़ नहीं होने दिया है। सरल और छोटे गढ़े हुए वाक्य ही उनकी रचनाओं में बहुलांश में मिलते हैं।

साधारणतः उनकी भाषा परिष्कृत और प्रांजल है। उसमें भाषा का प्रवाह प्रायः एकरस सतत रहता है। फिर भी व्याकरण-सम्बन्धी साधारण अशुद्धियां कहीं-कहीं हुई हैं जो उपेक्षित हैं। जैसे—

"क्या वे अपने दैनिक जीवन के लिए उस धर्म की प्रतीक्षा कर रहे थे, जिसका निर्णय बौद्ध-विद्वानों और हिन्दू-धर्म के आचार्य सभाओं में बैठकर कर रहे थे।"

१. हिन्दी-साहित्य-विमर्श : प्रस्तावना : पृ० ११

२. हिन्दी-साहित्य-विमर्श : पृ० ५० ।

अध्याय : ६

समीक्षा-साहित्य की गद्य-शैलियां

समीक्षा तथा शैलियां

गद्य-साहित्य में समीक्षाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, विशेषत: गद्य की प्रौढ़ एवं गम्भीर भाषा-शैली के विकास में तो इनका शीर्ष-स्थान ही है। समीक्षा का उद्देश्य सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम् (भली प्रकार से देखना या परीक्षा करना) है। इसी के अन्तर्गत दृष्टव्य तत्त्व, वस्तु या पदार्थ को प्रस्तुत करना भी है। समीक्षा का पर्यायवाची शब्द 'आलोचना' व्युत्पत्ति के आधार पर अधिक स्पष्ट अर्थ-व्यंजक है। 'आसमन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचना'। आलोचक का प्रधान कर्त्तव्य काव्य की व्याख्या एवं उसके गुण-दोषों का उद्घाटन करना है। उसे बड़ी मार्मिकता से काव्य की अन्त:वृत्तियों और प्रवृत्तियों का विवेचन करना पड़ता है। अत:, समीक्षक का साधारण धर्म, काव्य की गुण-दोष परीक्षा, विवेचन, विश्लेषण एवं व्याख्या करना है।

समीक्षा का क्षेत्र व्यापक है एवं उसकी शक्ति अपार है। समीक्षा विज्ञान तथा कला—दोनों ही के तत्त्वों को अपने अंचल में ग्रह कर रखती है। समीक्षक एक वैज्ञानिक की भांति साहित्यिक कृतियों का सूक्ष्मत: विश्लेषण एवं परीक्षण करता है। वह अपनी समीक्षा-सामग्री का आगमनात्मक (Inductive) तथा निमगनात्मक (Deductive) इन दोनों रीतियों से उपयोग करता है। गुण-दोष आदि के विवेचन के आधार पर उसके परीक्षणों और उद्घोषित धारणाओं से समीक्षा-सिद्धान्तों का भी जन्म होता है और प्रतिपादित सिद्धान्तों की कसौटी पर परीक्षा भी होती है। इस प्रकार से न तो समीक्षक एकाकी वैज्ञानिक की भांति शुष्क एवं हृदयहीन रहता है और न कवि या काव्यकार होकर कल्पना और भाव-जगत् में ही विचरण और विहरण करने वाला प्राणी होता है। दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय ही समीक्षक का आदर्श होता है। फिर भी समीक्षाओं में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का योग अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु का विश्लेषण और विवेचन करके वह आलोच्य-वस्तु या विषय को पूर्णत: हृदयंगम करके मूल ग्रन्थकर्त्ता और वस्तु के प्रति कर्त्तव्य का पालन करता है और दूसरी ओर पाठकों का पथ-प्रदर्शन भी करता है। "वह वास्तव में ग्रन्थकर्त्ता और पाठक के बीच मध्यस्थ या द्विभाषिया का काम करता है। उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व रहता है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याकार और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह

अपने पाठक का विश्वासपात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है।"[1]

इस भांति प्रकारान्तर से समाज की सुरुचि-निर्माण-कार्य भी समीक्षक के पल्ले पड़ता है। इस रूप में उसे एक समाज-शास्त्री के समान खण्डन-मण्डन, विश्लेषण-विवेचन आदि सब-कुछ करना पड़ता है। इसमें उसे कहीं शल्य-शास्त्री (सर्जन) की भांति तीखे व्यंग्य, कटाक्ष और चकोटियां भरना पड़ता है, कहीं अध्यापक के समान व्याख्या तथा विश्लेषण करना होता है और कहीं आलोच्य वस्तु की भाव-भंवर में फंसकर वह स्वयं ही उसमें डूबने-उतराने लगता है। अतः, आलोचना कार्य सहृदयता की नींव पर बौद्धिक प्रसाद तुल्य होता है। यह कार्य प्रौढ़ तथा गम्भीर व्यक्तित्व की अपेक्षा रखता है। इसलिए आलोचना की शैली अन्य सभी गद्य-विद्याओं की शैलियों से अधिक प्रौढ़ता, गम्भीरता, विशुद्धता एवं यथातथ्य वर्णन का सामर्थ्य चाहती है। इसमें आलंकारिकता, भावात्मकता, कला का प्रदर्शन, कल्पना की उड़ान, मुहावरेबाजी इत्यादि शोभनीय नहीं होते। भाषा की प्रज्ञा-शक्ति अथवा वैचारिक शक्ति की प्रधानता होने के कारण समीक्षाएं अन्य गद्य-रूपों से अधिक गम्भीर रहती हैं।

हिन्दी-समीक्षा में शैलियों का विकास

हिन्दी में आधुनिक समीक्षा का सूत्रपात्र पत्र-पत्रिकाओं के प्रादुर्भाव के साथ हुआ है। उस समय आलोचना की जो चलन चली उसी में आलोचनात्मक निबन्धों का ही रूप सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुआ। छोटी-छोटी टिप्पणियां जिनमें कुछ सामयिक समाचारों के ऊपर आलोचनाएं रहती थीं, बड़ी पटुता से छपती थीं।[2] वैसे भारत में समीक्षा-शास्त्र की एक अत्यन्त प्राचीन एवं स्वस्थ परम्परा रही है; परन्तु उसमें पश्चिमी-समीक्षा का प्रभाव अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आकर समन्वित हुआ। इस प्रकार हिन्दी में समीक्षाओं का स्वतंत्र रूप विकसित होने लगा। भारतेन्दु-युग में पत्र-पत्रिकाओं में भारतीय समाज, इतिहास, जीवन, दर्शन आदि प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में आलोचनाएं और टिप्पणियां होने लगीं। उस समय देश में नवीन के प्रति आकर्षण और प्राचीन के प्रति असन्तोष फैल रहा था। साथ ही अंध-विश्वास और रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रियाएं हो रही थीं। समाज के स्नायु मण्डल—समाचार-पत्रों में आवश्यक टीका-टिप्पणियां सहित, उन क्रियाओं एवं प्रति-क्रियाओं का अंकन किया गया। रूढ़ियों की जड़ता को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए तीक्ष्ण शब्द-कुठार का प्रयोग किया जाने लगा। इन आलोचनाओं में गम्भीरता का तत्त्व अपेक्षाकृत कम रहता, तथा व्यंग्य, परिहास और तिरस्कार का अधिक। चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी और भारतेन्दु की आलोचनाओं की मूल प्रेरणा मुख्यतः सामाजिक परिस्थितिया थीं। ये आलोचनाएं छोटी और संक्षिप्त ही नहीं रहती थीं, वरन् गहनता एवं अन्तःदृष्टि के अभाव से ग्रसित भी रहती थीं।

१. गुलाबराय : काव्य के रूप : पृ० १५७-५८।
२. दिनेशनारायण उपाध्याय : प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग)—भूमिका : पृ० १८

चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' की 'आनन्द कादम्बनी' के माध्यम से पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा का श्रीगणेश हुआ और लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की गहन, विशद् एवं विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की गई; परन्तु उस परम्परा का पालन नहीं हो सका।

भारतेन्दु-युग में वस्तुतः आधुनिक समीक्षा का सतत स्रोत स्थापित न हो सका, फिर भी बीच-बीच में उसकी झलक-भर दृष्टिगत होती रही। सन् १८९७ ई० में काशी से 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के जन्म और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के 'समालोचना' लेख से इस क्षेत्र में एक नया परिच्छेद प्रारम्भ हुआ। इसके केवल तीन वर्ष पश्चात् ही १९०० में प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ जिसने नये युग के समारम्भ की पुष्टि कर दी। युग-नायक द्विवेदीजी की युग नेतृत्वकारी प्रेरणाएं भी बहुलांश में 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी-संसार को उपलब्ध हुईं। इसी वर्ष (१९०० ई०) काशी से 'सुदर्शन' और १९०२ में जयपुर से 'समालोचक' पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। बाबू गोपालराम गहमरी ने 'समालोचक' के प्रथम अंक में ही हिन्दी की हीन-दीन दशा को सुधार करके स्वस्थ साहित्य के निर्माण के लिए समालोचनात्मक लेखों का आवाहन किया। भारतेन्दु के अवसान के पश्चात् हिन्दी में अराजकता, अव्यवस्था, भाषा-गत अस्थिरता आदि समस्याएं उत्पन्न हो गई थीं। उनके निराकरण और हिन्दी के विशेषतः गद्य नियमन, परिमार्जन एवं परिपुष्ट करने के लिए हिन्दी आलोचनाएं सामने आईं। द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में 'शिव शम्भु के चिट्ठे' के लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त की प्रखर आलोचनाएं राष्ट्रीयता के रंग में बहुत प्रखर, प्रभावी एवं मार्मिक सिद्ध हुईं। उनसे शिष्ट-व्यंग्य एवं कटाक्षों की शैली पुष्ट हुई।

प्रारम्भिक आलोचनाओं का स्वरूप बाह्य एवं इतिवृत्तात्मक ढंग का था। द्विवेदीजी प्रथम आलोचक हैं, जिन्होंने आधुनिक आलोचनाओं की स्वस्थ परम्परा का स्थापन किया। द्विवेदीजी ने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' (१८९९), 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' (१९००), 'नैषध चरित चर्चा' (१९०७) तथा 'कालिदास की निरंकुशता' (१९११) के रूप में विस्तृत, गहन एवं पुस्तकाकार समीक्षाएं प्रस्तुत कीं। इनमें भाषा-शैली की प्रौढ़ता एवं गम्भीरता स्फुटित होने का अवसर मिला और विवेचनात्मक एवं व्याख्यात्मक शैलियों को बल मिला। द्विवेदीजी ने अपने समालोचनात्मक निबन्धों को भी रोचक तथा आकर्षक बनाने के लिये कथावाचकों की-सी अत्यन्त मनोरंजक और सरल शैली का प्रवर्तन किया। उनकी समीक्षाओं का ढंग इतना सजीव, सुबोध, एवं हृदयग्राही होता था कि उससे कठिन-से-कठिन विषय भी साधारण पाठकों को हस्तामलकवत हो जाते थे।

उपर्युक्त पुस्तकाकार विस्तृत समीक्षाओं के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने 'पुस्तक-परीक्षा' स्तम्भ के अन्तर्गत हिन्दी में एक नई आलोचना-शैली का सूत्रपात किया। इसमें विशेषतः हिन्दी की नव-प्रकाशित पुस्तकों की विषय प्रतिपादन पद्धति, विषय-वस्तु प्रकाशन सम्पादन आदि के गुण-दोषों का संकेत रहता था, साथ ही उनमें पुस्तक की भाषा-शैली पर गहराई से विचार किया जाता है। तात्कालिक भाषा की अराजकता,

अस्थिरता और अव्यवस्था को दूर करने में 'पुस्तक-परीक्षा' समीक्षाओं ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया है। द्विवेदीजी की तत्परता, जागरूकता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण उस समय हिन्दी-जगत की प्रकाशित सभी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की परीक्षाएं उनके द्वारा की गईं और उनमें विशेषतः भाषा सम्बन्धी दोषों का उद्घाटन बड़ी प्रखरता से किया गया। कई बार तो उन्होंने अपने पैसों से खरीदकर नव-प्रकाशित पुस्तकों की परीक्षाएं कीं और उनके सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया। उनकी इस अत्यन्त कर्म-निष्ठ सजगता का प्रभाव हिन्दी भाषा और शैलियों पर बहुत अनुकूल पड़ा।

द्विवेदीजी के आगमन के पूर्व हिन्दी-समीक्षा-शैली बहुत पंगु और लचर थी। विवेचन की प्रौढ़ता के अभाव के साथ भाषागत दुर्बलता का योग कोढ़ में खाज-सा दृष्टिगोचर होता था। इसके लिए एक ही उद्धरण पर्याप्त होगा। यथा—

"गोसाईजी हिन्दी भाषा के बड़े भारी कवि हुए। केवल इनकी रामायण के लिये हजारों मनुष्य हिन्दी सीखते हैं। रामायण की भांति सरल ग्रन्थ आज तक दूसरा नहीं बना। इसमें ऐसा गुण है कि मूर्ख और पण्डित सभी को अपनी बुद्धि के अनुसार पढ़ने के समय अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। इनकी पुस्तकों की संख्या बहुत है, किन्तु २१ अथवा २२ पुस्तकें छप गयीं।

कितने लोगों का कथन है कि गोस्वामीजी ने पद्मावत काव्य की देखादेखी रामायण बनायी, किन्तु यह बात विश्वास योग्य नहीं, क्योंकि पद्मावत के प्रणेता मलिक मोहम्मद जायसी की उत्पत्ति १६८० सं० में हुई और गोस्वामीजी का बैकुण्ठवास इसी संवत् में हुआ।"[1]

उपर्युक्त समीक्षा-शैली की पृष्ठ-भूमि पर द्विवेदी-युग की प्रौढ़ एवं प्रांजल समीक्षाओं की भाषा स्पष्टतः एक नवोन्मेष की द्योतक है। द्विवेदीजी के अतिरिक्त युग-प्राह्वान पर पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, डॉ० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी इत्यादि प्रतिभाएं समीक्षा के क्षेत्र में अवतरित हुईं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने १९०७ में 'बिहारी और सादी' की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत कर हिन्दी-आलोचना के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया।

मिश्रबन्धु मध्य द्विवेदी-युग में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'हिन्दी नवरत्न' (१९१०) तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' (१९१३) के रूप में हिन्दी आलोचना ने स्वस्थ क्षेत्र में प्रवेश किया। यद्यपि वे अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे, परन्तु उन्होंने गुण-दोषों का विचार रस अलंकारादि के आधार पर स्थूल रूप में ही किया। उन्होंने चटपटी बातों वाली शैली में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्टों तथा उपलब्ध शोध सामग्री को ऐतिहासिक क्रम से सजाया। उनके इस कार्य से हिन्दी-आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्वयं मिश्रबन्धुओं ने ही १३ वर्ष के पश्चात् 'विनोद' का बृहत् तथा संशोधित संस्करण प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से समीक्षात्मक पुस्तक तथा

१. हिन्दी सिद्धान्त प्रकाश : (आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा) : पृ० ४३

लेख लिखने का आदर्श भी उपस्थित किया। उनकी सामग्री और दृष्टिकोण को लेकर हिन्दी में जो आलोचनाएं एवं प्रत्यालोचनाएं हुईं, उनसे सतर्क गहन एवं गम्भीर शास्त्रीय आलोचनाओं का सूत्रपात हुआ। अब समीक्षा के पश्चिमी ढंग से विवेचन और विश्लेषण किया जाने लगा।

मिश्रबन्धुओं का देव-बिहारी की श्रेष्ठता के प्रश्न को लेकर लाला भगवानदीन के साथ एक लम्बा साहित्यिक विवाद उठ खड़ा हुआ। अपने-अपने पक्ष के कवि को लेकर अत्यन्त मार्मिकता, गम्भीरता तथा गहनता से दूसरे से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना बहाया गया। इन साहित्यिक संघर्षों में मार्मिक, चुभती, प्रखर एवं संस्कृत समीक्षा की भाषा-शैली का शिलान्यास हुआ। इसी पृष्ठ-भूमि तथा परिस्थिति में तुलनात्मक-आलोचना शैली के प्रवर्त्तक एवं भाषा के महान् धनी आलोचक आचार्य पद्मसिंह शर्मा की जो विभा आविर्भूत हुई थी, उसका संवर्द्धन हुआ।

यहां यह अवश्य ही स्मरणीय है, कि इस संघर्ष के प्रमुख सेनानी लाला भगवानदीन, युग के एक मात्र उल्लेखनीय आलोचक थे, जो प्राचीन भारतीय टीका पद्धति के अन्तिम समीक्षक हुए। उनके पश्चात् हिन्दी-समीक्षा-साहित्य में टीका-शैली का अनुकरण नहीं किया गया और टीका करना ओछा काम माना जाने लगा। अतः, टीका करके अपने को ओछा और छोटा न बनने देने के कारण अब 'कठिन काव्य के प्रेत' की रचना की कथा ही क्या, सरस काव्य के सुरेश की कृतियां भी दुरूह हो रही हैं।'[1]

द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध एवं प्रथम विश्व-युद्ध की परिसमाप्ति पर पश्चिमी शिक्षा प्राप्त एक ऐसा उत्कृष्ट वर्ग हिन्दी-समीक्षाओं के क्षेत्र में अवतरित हुआ, जिसने पूर्व और पश्चिम की गम्भीर शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन और गहन चिन्तन करके भारतीय संस्कृति और दर्शन के अनुकूल की रस-पद्धति को पश्चिमी दृष्टिकोण से साज-सज्जा करके, प्रौढ़ एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया। विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिए भी भारतीय समीक्षा के सिद्धान्तों का गहराई से अनुशीलन एवं प्रतिष्ठापन किया गया। इस कार्य में आचार्य श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—ये दो प्रखर प्रतिभाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' (१६२३), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१६२७), 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१६३०), 'गोस्वामी तुलसीदास' १६३० तथा 'रूपक रहस्य' १६३१ में लिखीं और रामचन्द्र शुक्ल ने 'तुलसीदास' १६२३, 'सूर' १६२५, तथा 'जायसी' १६२८ की विस्तृत व्यावहारिक आलोचनाएं तथा 'काव्य में रहस्यवाद' १६२८ पुस्तक सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर प्रसूत की। विशेषतः आचार्य शुक्ल के हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व यह कक्ष सूना-सा पड़ा था। शुक्लजी ने प्रत्येक स्थल पर आलोचना को सजाया और संवारा। खण्डन-मण्डन के एकांगी अथवा गुण-दोष विवेचन के परम्परागत ढंग से ऊपर उठकर विवेचना एवं व्याख्यात्मक आलोचना-शैली का प्रौढ़ रूप उपस्थित किया। इस दिशा-निर्देशक एवं गम्भीर मनीषि को प्राप्त करके, हिन्दी-

१. हिन्दी के आलोचक : (सम्पादिका) श्यामलाल कान्त वर्मा : पृ० ४३-४४।

आलोचना रचनात्मक क्षेत्र में आगे बढ़ी। आलोचना का स्थायी मूल्य भी स्वीकार किया गया और उसका मान-दण्ड भी निश्चित हुआ।

द्विवेदी-युग के इसी दशाब्द में हिन्दी में कुछ और नवीन समीक्षकों का जन्म हुआ जो कि विशद् अध्ययन और गहन अनुभूतियों को लेकर हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में उतरे एवं अपनी उच्च कला तथा सूक्ष्म दृष्टि से हिन्दी के नये-पुराने की परख करने लगे। बाबू गुलाबराय इनमें प्रथमतः उल्लेखनीय हैं। १९२१ में इनका 'नव-रस' प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी का 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' १९२४, तथा 'विश्व-साहित्य' १९२४ में प्रकाशित हुए।

निःसन्देह समीक्षा-साहित्य ने हिन्दी की गद्य-शैलियों तथा भाषा की शक्ति को विकसित करने में बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया। हिन्दी की प्रौढ़, प्रांजल, सुष्ठ, शास्त्रीय यथा तथ्य-विवेचिका शैली की प्राण-प्रतिष्ठा आलोचनाओं के माध्यम से प्रमुखतः हुई। इतना ही नहीं, द्विवेदी-युग के क्षितिज पर व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० पीताम्बरदास बड़थ्वाल, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, रामकृष्ण शुक्ल सिलीमुख इत्यादि सशक्त एवं महाप्राण आलोचकों का साहित्यिक प्रादुर्भाव हुआ।

युग के प्रमुख समीक्षक एवं उनकी गद्य-शैलियां

गोपालराम गहमरी (१८६७-१९४८ ई०)

हिन्दी-गद्य को गहमरीजी की सेवाएं ६३ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में अनेक क्षेत्रों में प्राप्त हुई हैं। एक सफल उपन्यासकार, कहानीकार और नाट्यकार के अतिरिक्त वे अच्छे समालोचक भी थे। उन्होंने १९०२ में जयपुर से 'समालोचक' नाम से एक मासिक-पत्रिका प्रकाशित की और उसके प्रथम अंक के द्वारा ही तात्कालिक हिन्दी की अव्यवस्था, अस्थिरता तथा अराजकता का उन्मूलन करके हिन्दी में स्वस्थ समालोचनात्मक लेखों को लिखने के लिए प्रेरणा दी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी की उस दीन-हीन दशा को सुधार कर उसके भाण्डारों को भरने के लिए उन्होंने स्वयं अहर्निश प्रयत्न किए, साथ ही उसके प्रचार-प्रसार के लिये भी जनता का आवाहन किया।

बीसवीं शती के उषःकाल में हिन्दी की अन्तः एवं बाह्य दशाएं स्वस्थ नहीं थीं। वस्तुतः तथ्य तो यह है कि बाह्य की अपेक्षा अन्तःपरिस्थिति गम्भीर और चिन्ताजनक थी। भाषागत अराजकता, अव्यवस्था आदि के कारण जन-साधारण की साहित्यिक रुचि प्रबल एवं परिष्कृत नहीं थी। अतएव हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा भाषा के परिष्कार की जो महती आवश्यकता थी, उसका अनुभव करके अत्यन्त सरल, सुबोध और हृदयग्राही भाषा-शैली में उपन्यास, कहानियां और नाटक लिखे और उसी शैली में 'समालोचक' के गहन, गम्भीर तथा प्रौढ़ कार्य का निर्वाह करने का निश्चय किया। पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षाओं में गहमरीजी के मूल व्यक्तित्व का कथाकार सर्वत्र और सर्वदा सजग रहता है। उन्होंने अपनी समीक्षात्मक टिप्पणियों के बीच में उर्दू-फारसी,

हिन्दी आदि भाषाओं के शेर, कविताएं, उद्धरण और मुहावरों का भी खुलकर प्रयोग किया है। यथा—

"हर बोल तेरा दिल से टकराके गुजरता है—
कुछ रंगे बया, हाली, है सबसे जुदा तेरा।

'छत्तीसगढ़-मित्र' नाम मासिक-पत्र नागपुर में छपता है, वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपया है। गत वर्ष के आठ अंक इसके हमने देखे हैं। मुख-पत्र (टाइटिल पेज) देखते ही सम्पादक के नाम टेढ़े-टेढ़े अनोखे-अनोखे देख पड़े। सम्पादक दो हैं—एक का नाम है रामराव चिंचोलकर दूसरे का—माधवराव सप्रे, प्रोप्राइटर का नाम और भी विकट है—वामन बलिराम लाखे। कम्बल दाढ़ी भांकुरे, तुम कहां के होजी ठाकुरे? उस पर तुर्रा यह कि सबके सब बी० ए० हैं, हो न हो विदेशी हैं यदि विदेशी नहीं तो हिन्दी के लिए विदेशी जरूर हैं तब ही तो छठा को ६वां लिखा है। भाई, कुछ कहो, पर तुम्हारे बांके लेखों ने देशियों के भी कान काटे।

कब किया, क्यों कर लिया, यह पूछता कोई नहीं,
बल्कि हैं यह देखते, जो कुछ किया कैसा किया।

अब हम अपने मन का पाप साफ-साफ उगल देते हैं। मुख-पत्र देखकर तो मन में ठान लिया था कि खूब चिथड़ेंगे, खूब ही धज्जियां उड़ायेंगे, विदेशी और यह ठिठाई कि हिन्दी का मासिक-पत्र निकले, पर जो आगे-आगे पन्ने उलटे तो और ही गुल खिले।"[1]

गहमरीजी ने तात्कालिक परिस्थितियों को लेकर सम्पादकीय वर्त्तव्य का पालन करते हुए जो टिप्पणियां दी हैं, वे भी द्रष्टव्य हैं। भावात्मक सरल शैली में, छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा संक्षिप्त वर्णन चुनी-चुनी बातों का करके अन्त में एक-दो वाक्यों में अपना अभिमत प्रगट कर दिया गया है। समीक्षा जैसे गम्भीर विषय में भी उन्होंने अलंकारों का प्रयोग कर रोचकता लाने का पूरा प्रयत्न किया है। यद्यपि उनके ये अलंकारिक प्रयोग बहुत सामान्य कोटि के—शब्दालंकार में यमक, अनुप्रास, तथा अर्थालंकार में उपमा और रूपक हैं। जैसे—

"बड़े खेद का विषय है कि स्नेह के अभाव से 'हिन्दी-प्रदीप' बुझा ही चाहता है। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने घनाभाव की आंधी से और बंगला बू के नए तेल से इसे बचाया भी, किन्तु कृतघ्न हिन्दी भाषावाले जब इसके प्रकाश में काम ही न लें तो यह अनन्तता के अंधकार में लीन न हो तो क्या हो? 'समालोचक' के स्वामी को इस दुःखसंवाद को सुनकर बड़ा शोक हुआ है और वे प्रस्ताव उपस्थित करते हैं जिसे हिन्दी के प्रेमी और भट्टजी अपनी सम्मति से उपकृत करें।"[2]

सामान्यतः इस प्रकार की भाषा-शैली गम्भीर और प्रौढ़ आलोचनाओं के लिए उपयुक्त नहीं होती, फिर भी गहमरीजी ने व्यावहारिक भाषा का प्रयोग पर्याप्त सफलता से किया है। इसके लिए उन्होंने शब्द-चयन में भी उदारता का परिचय दिया

१. समालोचना : दिसम्बर १९०२ : पृ० २०-२१।
२. समालोचना : जनवरी-फरवरी १९०३ : पृ० १९९।

है और उर्दू-फारसी आदि के सरल शब्दों को स्थान दिया है। कथा-साहित्य की शैली से उनकी समीक्षा की शैली में थोड़ी ही भिन्नता-गम्भीरता आई है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त (१८६४-१९०७ ई०)

भारतेन्दु-युग एवं द्विवेदी-युग के सेतु तथा महाप्राण व्यक्तित्व सम्पन्न बाबू बालमुकुन्द गुप्त के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय निबन्धकार के रूप में हमें प्राप्त हो चुका है।[1] अतः यहां उसकी पुनर्वृत्ति न करके आलोचक के रूप में ही उनकी गद्य-शैलियों का अध्ययन करना है।

गुप्तजी के व्यक्तित्व में प्रखर राष्ट्रीयता का अंश विशेष था, जो कि उनके अन्य निबन्धों की अपेक्षा समीक्षाओं में अधिक स्फुटित हुआ है। उनके पूर्व समीक्षा का मूल प्रेरणा-स्रोत सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियां और रूढ़िवादिता थीं। उनमें समीक्षान्तर्गत व्यंग्य, आक्षेप, परिहास करते समय इतने संयम, शालीनता एवं शिष्टता की आवश्यकता और अपेक्षा नहीं होती थी, जितनी प्रचण्ड शासक तथा शासन के कार्यों की आलोचना करते समय होती है। इस महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए साहसी हृदय और मेधावी मस्तिष्क दोनों की ही आवश्यकता रहती है। गुप्तजी में सौभाग्य से इन दोनों ही गुणों का सुन्दर समन्वय था। उनकी स्वाभाविक विनोद-वृत्ति ने उनकी व्यंग्यात्मक समीक्षा-शैली का रंग और भी गहरा कर दिया है। तात्कालिक गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन जैसे कट्टर शासक की अत्यन्त प्रखर और खरी आलोचना शिवशम्भू शर्मा नामधारी गुप्तजी ने अपने 'चिट्ठों' में की है। 'शिवशम्भू का चिट्ठा' व्यंग्यात्मक शैली का शिष्ट निर्देशक है। वह सम्पूर्ण संग्रह शिष्ट हास्य तथा उत्तरदायित्वपूर्ण एवं निर्भीक विचारधारा का श्रेष्ठतम उदाहरण है।[2]

गुप्तजी के व्यंग्य एवं हास्य के श्रेष्ठतम होने का रहस्य उनकी भाषा की स्वाभाविकता, सजीवता, व्यावहारिकता और उसी में सन्निहित विनोद-प्रियता में है। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेटकर रखते थे कि उनका आभास बीच-बीच में ही मिलता था। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे रहते थे। यह उनकी लिखावट की बड़ी विशेषता थी।[3] गुप्तजी की भाषा में युग की प्रखरता का अंश भी अधिक है। प्रतिद्वंद्वता एवं संघर्ष ने भी उनकी वाणी को अधिक शक्ति और गति प्रदान की है। युग-पुरुष द्विवेदीजी के साथ हुए इनके प्रत्यक्ष और परोक्ष साहित्यिक मल्ल-युद्ध (सन् १९०५-६) के समय उनकी आलोचनात्मक शक्ति की कलाकारी और जौहर देखने को मिलता है। तात्पर्य यह है कि गुप्तजी की प्रौढ़तम व्यंग्यात्मक आलोचना-शैली का स्वरूप हिन्दुस्थान के शासक लार्ड कर्जन तथा हिन्दी के शासक आचार्य द्विवेदी पर की गई आलोचनाओं में

१. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-५ : पृ० २२३-३।
२. चतुरसेन शास्त्री : हिन्दी-भाषा और साहित्य का इतिहास : पृ० ६००।
३. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५१६।

उपस्थित हुआ है। इनमें सजगता के साथ प्रखरता और शालीनता के साथ मार्मिकता है। एक-एक शब्द और मात्रा के प्रयोग की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता को लेकर, अखाड़ेबाज शिष्य-परम्परा के अनुसार, दोनों ओर से सतत सावधानी रखकर व्यंग्य-वाणावलियां संधान की जाती थीं। इससे हिन्दी-साहित्य, विशेषतः हिन्दी-गद्य को परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत करने में बहुत योग प्राप्त हुआ। इन आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं से हिन्दी लेखकों में सतर्कता की एक स्वस्थ परम्परा भी निर्मित हो गई, जिसने युग की गद्य-शैलियों के विकास में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की। इसी पृष्ठभूमि पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को, अपने भाषा-व्याकरण के सुधारवादी आन्दोलन को विशेष बल मिला और वह सफल हो सका।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का मूल तथा व्यापक रूप आलोचक और व्यंग्यकार का ही है। इसके लिए उन्होंने विविध छद्मवेश भी रखे हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ संघर्ष में जो गुप्तजी 'आत्माराम' बने, वे ही लार्ड कर्जन के लिए शिवशम्भू शर्मा 'चिट्ठेकार' हुए। आलोचक गुप्तजी के इन दो रूपों में शैलियों की भी स्पष्ट ही भिन्नता मिलती है। 'आत्माराम' के रूप में उनकी टें-टें अधिक कर्कश, प्रखर और ठेठ शब्दों में रहती है। उनके उदाहरण और उक्तियां आलोचना की अपेक्षित गम्भीरता में भी रोचकता एवं व्यंजकता उत्पन्न कर देती हैं। जैसे—

*"द्विवेदीजी आंधी की भांति उठते हैं, किन्तु धूल की भांति गिरते हैं। आपकी लम्बी-चौड़ी फूं-फां और हू-हुल्लड़ देखकर तो यही प्रतीत होने लगता है कि न जाने कैसी भारी बात आप कहेंगे, पर पास जाते ही मालूम हो जाता है कि देहाती गुलगपाड़े से बढ़कर कुछ नहीं है। देहातियों की आदत होती है कि वे जरा-सी बात के लिये मुहल्ले भर को सिर पर उठा लेते हैं। जब पूछिये कि इतना हंगामा क्यों है तो 'बकरी हांकने' की बात निकलती है। अर्थात् उतना शोर मचाकर ग्रामीण जो कोई युद्ध नहीं कर रहे थे, केवल अपने भाई को समझा रहे थे कि कल उधर नहीं दूसरी ओर बकरियों को चराने ले जाना।"[1]

**"धन्य बिजुली! देहात की औरतों को भी द्विवेदीजी ने मात किया। एक बार अवध के एक गांव में स्त्रियों के मुंह से यह शब्द सुना था, या अब द्विवेदीजी से सुना।"[2]

आलोचना की इसी शैली के अन्तर्गत, किन्तु वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन की दृष्टि से भिन्न आर्य-समाजी शास्त्रार्थ के ढंग की शैली का आभास स्पष्टतः लक्षित होता है। एक शब्द विशेष को आधार बनाकर प्रश्न-शैली से अपने मत का मण्डन तथा विरोधी का खण्डन किया गया है। उनकी यह प्रश्न-शैली विरोधी को हतप्रभ करने में समर्थ है।

"पर बावजूद इस कवाइददानी के हमारे द्विवेदीजी दो कदम चलकर ही

१. गुप्त-निबन्धावली : (आलोचना-प्रत्यालोचना) : पृ० ४५१-४५२
२. गुप्त-निबन्धावली : (आलोचना-प्रत्यालोचना) : पृ० ४५८।

फिसलन्त फरमाते हैं। सुनिये—'मनुष्य और पशु-पक्षी आदि की उम्र देश, काल, अवस्था और शरीर बन्धन के अनुसार जुदा-जुदा होती है।' कोई पूछे कि जनाब व्याकरण-वीर-साहब ! उम्र जुदा-जुदा होती है उम्रें जुदा-जुदा होती हैं ? जुदा-जुदा होती है कि न्यूनाधिक होती है ? एक बार सिंहावलोकन तो कीजिये। जरा अपनी कवाइदे-हिन्दी से मिलाकर तो देखिये कौन सी बात ठीक है ? क्या आपकी व्याकरण दानी की इज्जत रखने के लिये बेचारी उम्र के टुकड़े कर दिये जाते हैं।"

"आप फरमाते हैं—'जिस तरह मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश होता है, उसी तरह भाषा का भी होता है।' क्यों होता है ? विनाश क्योंकि आपकी उत्पत्ति और वृद्धि को तो आपका 'होता' लातें मार-मारकर भगाता है और आपकी व्याकरण दानी की ओढ़नी उतारे लेता है। सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर-घमण्डी हों, उस अभागी का विनाश ही होता है। वाजिदअलीशाह खूब कह गये हैं कि खुदा किसी शहर की जबान को देहात में राइज न करे।"[1]

निःसन्देह गुप्तजी की आलोचनाओं में क्रोध और आवेश में मानसिक संतुलन के भंग हो जाने से भाषा-शैली में विचित्र विदग्धता और प्रखरता आ गई है, जिससे कि अपेक्षित शिष्टता और व्यावहारिक औपचारिकता की भी उपेक्षा हो गई है। कहीं-कहीं इनके पैने व्यंग्य और कटाक्ष हृदय में मर्मस्थल तक प्रविष्ट हो जाते हैं और बहुत देर तक चिनमिनाते रहते हैं। आवेश में आकर कहीं-कहीं अनगढ़ शब्दों को ही उठाकर दे मारा है। जैसे—

"एक सज्जन देवीप्रसाद शुक्ल नामधारी ने श्री वेंकटेश्वर-समाचार में पदार्पण किया है। यह भी द्विवेदीजी की अनानीयत ही का डंका बजाते आये हैं। लेख के आरम्भ में ही गीदड़ों और शेरों का एक श्लोक लिखकर उनके महत्त्व और अपने शिष्टाचार का परिचय देने आये हैं। द्विवेदीजी की सब भूलों को जेवर समझकर उनकी गठरी अपने साथ लिये फिरते हैं।"[2]

"वाह ! सुबहान अल्लाह ! आप तो व्याकरण की तरफदारी करने चले थे न ? जरा होश सम्हाल कर बातें कीजिये। हवास को काबू में रखकर एक बात अच्छी तरह कहिये, तब दूसरी को मुंह से निकलने दीजिये, जिससे सिलसिला न बिगड़े।"[3]

कुछ विचित्र एवं अनगढ़ शब्द या वाक्यांश—लघड़-पघड़, गड्ड-मड्ड, वाक्य, फाबड़ी का नाम गुलफसा, उटक्कर लैस हिन्दी, फिसलन्त, ऐंठासिंह बनना, आलोचना का जखीरा, बिफैल पाठक इत्यादि।

'आत्माराम' नामधारी समीक्षात्मक भाषा-शैली से यदि विदग्ध, ठेठ उक्तियां, आक्षेप और 'टें-टें' की कटुता पृथक् कर दी जावे तो उनकी संतुलित शब्दों में उत्तर-

---

१. गुप्त-निबन्धावली : (आलोचना-प्रत्यालोचना) : पृ० ४३५-४३६।
२. गुप्त-निबन्धावली : (आलोचना-प्रत्यालोचना) : पृ० ४३१।
३. गुप्त-निबन्धावली : (आलोचना-प्रत्यालोचना) : पृ० ४४५।

दायित्वपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणियां और शिवशम्भु शर्मा के चिट्ठे की भाषा बन जाती है। यद्यपि उनके 'चिट्ठों' में भी मुहावरों तथा कहावतों को विपुल मात्रा में स्थान प्राप्त है, तथापि अन्य समीक्षाओं से उनकी संख्या बहुत कम है। व्यंग्य और कटाक्ष हैं; परन्तु आवरण के बीच में छुपकर हैं। वे हृदय में सालते हैं; परन्तु ऊपर घाव नहीं करते। जैसे—

"जो अटल है, वह टल नहीं सकता। जो होनहार है, वह होकर रहती है। इसी से फिर दो वर्ष के लिये भारत के वैसराय और गवर्नर-जनरल होकर लार्ड-कर्जन आते हैं। बहुत से विघ्नों को हटाते और बाधाओं को भगाते फिर एक बार भारत-भूमि में आपका पदार्पण होता है। इस शुभ यात्रा के लिए, वह गत नवम्बर को सम्राट एडवर्ड से भी विदा ले चुके हैं। दर्शन में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

इस समय भारतवासी यह सोच रहे हैं कि आप क्यों आते हैं और आप यह जानते भी हैं कि आप क्यों आते हैं। यदि भारतवासियों का वश चलता तो आपको आने न देते और आपका वश चलता तो और भी कई सप्ताह पहले आ बिराजते पर दोनों ओर की बाग किसी और ही के हाथ में है। निरे बे वश भारतवासियों का कुछ वश नहीं है और बहुत बातों पर वश रखनेवाले लार्ड कर्जन को भी बहुत बातों में बेवश होना पड़ता है। इसी से भारतवासियों को लार्ड कर्जन का आना देखना पड़ता है और उक्त श्रीमान् को अपने चलने में विलम्ब देखना पड़ा। कवि कहता है—'जो कुछ खुदा दिखाये, लाचार देखना।' "[1]

"गुप्तजी का शब्द-चयन, विदग्ध उक्तियां, उद्धरण, मुहावरे, कहावतें और कहीं-कहीं उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकार मिलकर भाषा को प्रबल, प्रवहमान एवं प्रभावी बना देते हैं। उनकी शैली में प्रसाद गुण के अतिरिक्त ओज गुण का भी सफल निर्वाह हुआ है। भाषा में सजीवता, लोकप्रियता के साथ जिन्दादिली मिलती है।

आलोचनात्मक निबन्धों तथा चिट्ठों में प्रायः गुप्तजी ने वाक्यों को सरल और सुगठित रखा है। कहीं-कहीं मिश्रित तथा संयुक्त लम्बे वाक्य अवश्य हैं; परन्तु वे भी संयत रहते हैं। उनका गठन व्याकरण सम्मत और ठोस होता है। उन्होंने अपनी प्रखर आलोचनाओं के द्वारा असावधान लेखकों के कान खड़े कर दिये। गुप्तजी ने भाषा को सुधारा ही नहीं, व्याकरण की गलतियां ही दुरुस्त नहीं कीं उसमें वह रवानगी भी पैदा की जो द्विवेदीजी के यहां कम मिलती है।"[2]

आचार्य पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३२ ई०)

हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्त्तक आचार्य पद्मसिंह शर्मा एक विशाल एवं महाप्राण व्यक्तित्व को लेकर हिन्दी-साहित्य के प्रांगण में अवतीर्ण हुए। इनके व्यक्तित्व की विभा इनके निबन्धकार, आलोचक, अध्यापक तथा व्याख्यानदाता के

१. शिवशम्भु के चिट्ठे : दूसरा चिट्ठा : पृ० ११-१२।
२. डॉ० रामविलास शर्मा : अवन्तिका : वर्ष १, अंक २ : पृ० ६३

रूप में ही प्रमुखतः प्रगट हुई है। शर्माजी के जीवन-दर्शन तथा व्यक्तित्व का विचार निबन्धकार के रूप में पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।[१] यहां इतना ही स्मरण कर लेना पर्याप्त है कि उनकी तुलनात्मक आलोचनाएँ उनके विशद् ज्ञान तथा उर्वर मेधा-शक्ति की संकेतक हैं। विभिन्न भाषाओं—हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी—का गम्भीर अध्ययन इनकी सफलता में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। उनके विलक्षण पांण्डित्य की यही विशेषता है कि उन्हें असंख्य ग्रन्थों का, टिप्पणियां सहित मौखिक ज्ञान था और साथ ही वे एक विशाल पुस्तकालय के स्वामी भी थे।

प्रारम्भिक अध्ययन-काल से ही शर्माजी का स्वभाव आलोचक का था। वे सभी पाठ्य-सामग्री को आलोचक के चश्मे से पढ़ते थे। साधारण पुस्तकों की तो बात ही क्या है दैनिक समाचारपत्र और पत्रिकाएं भी उनकी लाल-नीली पेंसिल के गुण-दोषों के चिह्नों से रंगी रहती थीं। इस प्रकार के उनके अध्ययन से हमें उनकी दृष्टि की मार्मिकता तथा अध्यवसाय का ज्ञान होता है। कठिनाई से ४-४॥ घण्टे के रात्रि विश्राम के अतिरिक्त वे अपना अधिकांश समय अध्ययन को देते थे। इसका यही कारण है, कि तुलनात्मक-आलोचना करते समय हम उन्हें इतिहास, पुराण, व्याकरण, दर्शन, काव्य आदि के विभिन्न उद्धरण तत्परता से प्रस्तुत करते हुए पाते हैं। साप्ताहिक 'भारतोदय' के सम्पादक के रूप में भी उनकी टिप्पणियां एवं आलोचनाएं मार्मिक, विद्वत्तापूर्ण तथा साम्य या वैषम्यपूर्ण परिस्थितियों से तुलना करते हुए होती थीं। आचार्य द्विवेदीजी की तरह वे भी अपनी आलोचनाओं में आलोच्य कलाकार का भर-बौल उड़ा चलते अथवा प्रखर परिहास करते जाते थे। 'सरस्वती' १९०७ में 'बिहारी और सादी' (फारसी कवि) की तुलनात्मक आलोचना के द्वारा ही हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का प्रारम्भ हुआ।

पद्मसिंहजी को 'बिहारी-सतसई' ने सर्वाधिक आकर्षित किया और 'सतसई' की सभी उपलब्ध प्रतियां उन्होंने पढ़ीं तथा अध्ययन किया। इसी समय में विद्या-वारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'सतसई-टीका' देखी और 'सतसई-संहार' शीर्षक से उसकी विस्तृत आलोचना 'सरस्वती' के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुई। शर्माजी ने विद्वत्ता, गम्भीरता तथा मार्मिकता से जो आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं, उनसे उन्हें अक्षय कीर्ति मिली। 'सतसई' की भूमिका की उत्कृष्टता एवं उसमें निहित गहनता को अंकित करके हिन्दी-संसार का श्रेष्ठ एवं प्रथम 'मंगला-पुरस्कार' उन्हें प्रदान किया गया। इतना ही नहीं, हिन्दी को भी देव-बिहारी के रूप में एक अमूल्य ग्रन्थ की प्राप्ति

या भव पारावार को उलंघि पार को जाय
तिय-छबि छाया-ग्राहिनी गहै बीच ही आय -बिहारी

संसार तव निस्तार न दवीयसी
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः

१. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-५ : पृ० २३०-२६१।

"श्री भर्तृहरि महाराज की उल्लिखित श्रुति मधुर सूक्ति बड़े मार्के की चीज है। इसे सुनकर विरक्तजनों के शुष्क हृदयों में भी सरलता के रक्त का संचार होने लगता है। बिजली-सी दौड़ जाती है, भाव सबलता की प्रबल तरंगों का तूफान उठने लगता है। वे बड़ी ग्रानन्द मुद्रा से ग्रांखें बन्द करके झूम-झूमकर हर्षातिरेक से रुक-रुक कर, एक-एक पद पर विराम करते हुए मदिरेक्षण के पास पहुंचते हैं। एक साथ बेदम होकर निराशा के ग्रथाह समुद्र में डूब जाते हैं। उन्हें इस बरफ की पहाड़ी से टकराकर ग्रपने वैराग्य रूप निर्णय 'टैकनिक' के भी टुकड़े होते दीखने लगते हैं। इस तारपीडो की तनिक टक्कर से शमशमादि सुदृढ़ साधनों के बड़े बड़े बेड़े-चकनाचूर होते दीख पड़ते हैं।

पर हम समझते हैं, इसमें कोई ऐसी घबराने की बात नहीं है। भर्तृहरिजी ने तो सिर्फ 'दुस्तरा-दुःखेन तीर्यन्त इति दुस्तरा'—कहा है, 'केनाप्युपायेन कथमपि तरितुम शक्याः' तो नहीं कहा। फिर घबराने की कौन बात है? यदि जहाज कमजोर है, समुद्र में तूफान ग्राने का या किसी छिपी चट्टान से टकराने का डर है, या तारपीडो की टक्कर का भय है तो जाने दो इस जहाज को, हवाई जहाज पर बैठकर समुद्र को पार कर जाग्रो।

स्वामीजी महाराज! छक्के तो बिहारी के इस दोहे को सुनकर छूटते हैं, देखिये, जरा संभलकर, धैर्य धरकर सुनियो वाक्य समाप्ति के पूर्व ही कहीं समाधि न लगा जाइये। हाय रे निष्ठुर बिहारी! तेरी विभीषिका ने तो किसी तरह भी कहीं के न छोड़े, एकदम सारे साधन ही बेकार कर दिये।

'तिय-छबि छाया-ग्राहिनी गहै बीच ही ग्राय'

हरे हरे! इससे भला कोई कैसे बचने पावेगा। यह तो ऊपर उड़ते हुए हवाई जहाजों की भी छाया पकड़कर—ग्रनायास नीचे खींचकर निगल जाएगी। इस 'छाया-ग्राहिनी' के पंजे से छूटना तो सिर्फ 'पवन सुत्त' महायोगी महावीर का ही काम था। पर महावीर तो एक ही थे, सब कोई तो महावीर नहीं है। नहीं तो फिर पड़ो माया-ग्राहिनी के माया-जाल में। देखा? डराने वाले भय का ऐसा भयानक रूपक बांधा करते हैं, 'तिय छवि छाया ग्राहिनी'—दुस्तरा मदिरे क्षणः—तिय छवि छाया ग्राहिनी है।"

पद्मसिंहजी की भाषा-शैली द्विवेदी-युग की सर्वाधिक सप्राण, वेगवती ग्रौर परिपुष्ट भाषा-शैली है। हिन्दी-हिन्दु-हिन्दुस्थान के प्रबल पोषक होकर, तथा संस्कृत के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखकर भी उन्होंने ग्रपनी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों का समादर किया है, ग्रौर उनके वाक्य-विन्यास की भी सहायता ली है। मुहावरों ग्रौर उक्तियों का भी उपयोग किया है। इन सब शक्तियों के संग्रह से उनकी भाषा में जीवन ही नहीं, चपलता ग्रौर जिन्दादिली भी ग्रा गई है।

भाषा की उदारता, प्रखरता तथा सरलता में, कुछ सीमा तक हम शर्मा जी की भाषा को द्विवेदीजी ग्रौर प्रेमचन्द के बीच में स्थित पाते हैं। द्विवेदीजी में

उर्दू-फारसी के शब्दों तथा वाक्य-विन्यास का इतना बाहुल्य नहीं है; परन्तु प्रखरता और कचोट दोनों में प्रायः एक-सी है। द्विवेदीजी की प्रवृति भी कुछ तुलनात्मकता एवं उद्धरणों की ओर मिलती है। दोनों ने हिन्दी की सेवाओं में परस्पर सहयोग से भी कार्य किया है।

लाला भगवानदीन (१८६६-१९३० ई०)

द्विवेदी-युग में टीकात्मक समीक्षा-शैली के एकमात्र एवं अन्तिम समीक्षक लाला भगवानदीन का जन्म मुंशी कालिकाप्रसाद के यहां, श्रावण शुक्ल छठ सं० १९२३ को बरबट ग्राम, जिला फतेहपुर में हुआ था। तात्कालिक वातावरण तथा वंशगत संस्कारों के कारण इन्होंने शिक्षा का प्रारम्भ उर्दू-फारसी से ही किया। प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् इन्होंने म्योर सेंट्रल कालेज इलाहाबाद में इंटर तक अंग्रेजी का अध्ययन किया और छतरपुर की एक शाला में अध्यापक हो गये। वहां से सेंट्रल हिन्दू कालेज काशी में उर्दू के प्राध्यापक हुए। वहीं रहकर वे काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के सम्पर्क में आये और नौकरी छोड़कर कोश-निर्माण के सह-सम्पादक हो गये।

यद्यपि लालाजी मूलतः उर्दू-फारसी के विद्वान् थे तथा 'रोशन' उपनाम नाम से कविताएं करते थे, तथापि उनकी हिन्दी के प्रति रुचि भी प्रारम्भ से पर्याप्त रही है। छतरपुर में अध्यापक रहते हुए, वे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का विशेष अध्ययन करते थे और उन पर समीक्षात्मक ढंग से विचार करते थे। प्राचीन-परम्परा के हिमायती होने के कारण, इन्होंने पुराने ढंग की कविताओं से ही २०वीं शती के प्रारम्भ में, हिन्दी के प्रांगण में प्रवेश किया था। प्रारम्भिक हल्की कविताओं के 'सरस्वती' में अस्वीकृत हो जाने पर १९०३ नवम्बर में द्विवेदीजी के विरुद्ध सरोष पत्र लिखे।[1] उनसे उनके आलोचक की प्रखरता का आभास मिलता है।

दीनजी में एक सफल समीक्षक के आवश्यक प्रायः सभी गुण थे। अर्थात् विस्तृत ज्ञान, पैनी दृष्टि, अगाध अनुभव एवं गहन चिन्तन, ये सब उनमें थे। वे उर्दू-फ़ारसी, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। रहन-सहन, विचार, वेश-भूषा आदि में वे प्राचीन परम्परा के अनुयायी थे। इसी के अनुरूप उनकी अधिकांश समीक्षाएं परम्परावादी सैद्धान्तिक हैं। उन्होंने स्वतंत्र पुस्तकाकार कोई भी समीक्षा नहीं की है। 'बिहारी और देव' शीर्षक से उनकी खण्डनात्मक समीक्षाओं को संग्रहित किया गया है तथा नवीं सम्पादित ग्रंथों की भूमिका के रूप में इन्होंने मण्डनात्मक समीक्षाएं प्रस्तुत की हैं। उनकी व्याख्यात्मक समीक्षा यथास्थान टीकाओं और भूमिकाओं में मुखरित है। वे टीका-शैली के अन्तिम समीक्षक हैं, साथ ही हिंदी काव्य के बड़े भारी मर्मज्ञ भी।

१. हस्तलिखित पत्र ता० २४ तथा २५ नवम्बर १९०३—काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के संग्रहालय में सुरक्षित तथा प्रस्तुत प्रबन्ध के अध्याय-४ पृ० १८९ में उद्धृत अंश (२)।

समीक्षात्मक कार्य

सिद्धान्त ग्रन्थ—अलंकार-मंजूषा और व्यंग्यार्थ-मंजूषा।

टीका-ग्रन्थ—केशव कौमदी, प्रिया प्रकाश, बिहारी-बोधिनी, 'मानस' की टीका, दोहावली, कवितावली तथा छत्रसाल-दशक।

सम्पादित ग्रन्थ—सूर-पंचरत्न, केशव-पंचरत्न, तुलसी-पंचरत्न, ठाकुर ठसक, अन्योक्ति-कल्पद्रुम, राज-विलास, विरह-विलास, सनेह-सागर, सूक्ति-सरोवर।

लालाजी के व्यक्तित्व का एक रूप उनके 'लक्ष्मी' सम्पादक में भी स्फुटित हुआ है। द्विवेदीजी की 'सरस्वती' की भाँति लालाजी की 'लक्ष्मी' भी समीक्षात्मक सामग्री ही प्रमुखतः प्रस्तुत कर रही थी। 'सरस्वती' 'भारत-भारती' को गुणागार कहकर जाग्रति का अग्रदूत कहती थी और 'लक्ष्मी' उसी की खरी आलोचनाएं करती थी। इस प्रकार लालाजी ने मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिन्तामणि' की खण्डनात्मक आलोचनाएं भी की। प्राचीन कवियों पर भी उनके बहुत से समीक्षात्मक लेख 'नागरी-प्रचारिणी' पत्रिका (काशी) से भी प्रकाशित हुए।

लालाजी की व्याख्या तथा विवेचन शैली बहुत सरल है। उदाहरणों की सहायता से उन्होंने अपने विचारों को पाठकों को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने संस्कृत की सूत्र-शैली का, इसीलिए आलिंगन नहीं किया, कि उसमें सरलता एवं व्यावहारिकता का पूर्णतः निर्वाह नहीं हो पाता। सरलता और सुबोधता का ध्यान रखकर अलंकार आदि के नाम तक उन्होंने उर्दू-फारसी और अंग्रेजी में दिये हैं। इसी प्रकार से विभिन्न भाषाओं के कवियों के उदाहरण देकर तुलनात्मक मूल्यांकन करने का भी प्रयत्न यत्र-तत्र किया है। उनकी तुलनात्मक विवेचनाएं भी बहुतांश में निर्णायक हैं। जैसे उन्होंने बिहारी को देव पर स्पष्टतः विजयी घोषित कर दिया।

दीनजी की टीका-शैली भी सरल तथा व्यावहारिक है, प्रथम उन्होंने शुद्ध मूल पाठ दिया है, फिर उसका शब्दार्थ और भावार्थ दिया है। छन्द, अलंकारों आदि का निरूपण करके यथासाध्य कहीं-कहीं तुलनात्मक विचार भी कर दिया गया है। कई बार सहज, सुबोध प्रचलित शब्द का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। यह वृत्ति उनकी रचनाओं में आद्योपान्त प्रसाद गुण की व्याप्ति का निर्देश करती है। जैसे—

भावार्थ—(श्रीराम जी करुना नायक वृक्ष से कहते हैं) हे करुणामय (दयालु) करुणा! कृपा करके हमें सीता का कुछ पता बतलाओ, तुम साधु प्रकृति हो इसी से तुमसे कहते हैं। तुम क्यों मौन हो रहे हो (साधुजन पर-दुःख को भली-भाँति अनुभव कर सकते हैं) यदि कहो कि अन्य वृक्षों से क्यों नहीं पूछते, तो उसका कारण सुनो, चंपक से इस कारण नहीं पूछा कि वह याचक का शत्रु है। (मकरंद के याचक भौंरे को वह पास तक नहीं फटकने देता- प्रसिद्ध बात है कि भौंरे चंपे पर नहीं बैठते) अतः वह हमारा दुःख क्या समझेगा। अशोक तो अपना सब शोक दूर करके 'अशोक' कहलाता है (जो स्वयं अशोक है वह दूसरे के शोक का क्या अनुभव करेगा) इस कारण उससे भी नहीं पूछा। केवड़ा. केतकी, जायफल और गुलाब को तीक्ष्ण काँटेदार जान कर

छोड़ दिया है, क्योंकि जो तीक्ष्ण प्रकृति के होते हैं, वे भयंकर होते हैं। अतः आपको ही सज्जन जानकर पूछते हैं (सज्जन साधु ही हमारी पीड़ा का अनुभव कर सकता है)।

अलंकार—स्वाभावोक्ति से पुष्ट निरुक्ति।[1]

लालाजी की भाषा-शैली साहित्यिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। साधारण बोलचाल के शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। संस्कृत के तत्सम तथा सामासिक शब्दों का पूर्णाभाव है। इतना ही नहीं, उनके शब्दों में अनेकरूपता भी मिलती है, साथ ही शब्दों के देशज रूप भी। उदाहरणतः सूधी गीत, जनाया, जताया, बाबू, बातें, हूजिये, गावैगा, लताएं-लतायें, कन्याएं-कन्यायें इत्यादि।

मिश्रबन्धु (ज्येष्ठबन्धु—जन्म—१८७३ ई० कनिष्ठ—१८७६ ई०)

पं० गणेशबिहारी मिश्र, राव राजा राय बहादुर डॉ० श्यामबिहारी मिश्र तथा पं० शुकदेवबिहारी मिश्र—इस त्रिमूर्ति ने लगभग अर्द्ध-शताब्दी तक हिन्दी-साहित्य का सृजन, पोषण एवं दोष-संहार किया है। कदाचित विश्व-साहित्य में इतनी दीर्घावधि तक साहित्य सेवा-रत त्रिमूर्ति के दर्शन अन्यत्र नहीं होते। मिश्रबंधुओं के जीवन तथा व्यक्तित्व का परिचय निबन्धकार के रूप में हम पहिले ही प्राप्त कर चुके हैं।[2] अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् होने के कारण इनकी आलोचनाओं में आंग्ल-प्रभाव स्पष्टः लक्षित होता है। साथ ही संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति में भी उन्हें विशेष श्रद्धा थी। ज्ञान-गरिमा तथा श्री-समृद्धि ने उन्हें विशेष निर्भीकता प्रदान की थी। यही कारण है कि विचार-वैषम्य उपस्थित होने पर वे बड़े से बड़े दिग्गज उद्भट 'महावीर' भट से भी जा भिड़े। भाषा की विशुद्धता, अलंकारों की विवेचना तथा व्याकरण के नियमों पर कई बार उनकी युग-पुरुष द्विवेदीजी से ठन गई थी। द्विवेदीजी जहां हिन्दी के भविष्य को पढ़कर तथा परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करके हिन्दी में उदार दृष्टिकोण के समर्थक थे और ब्रज, अवधि ही नहीं, व्यावहारिक विदेशी शब्दों के स्वागत को भी तैयार रहते थे, वहां इसके विपरीत मिश्रबन्धु ब्रज में अवधि या ब्रज के साथ खड़ी बोली के शब्दों की मिलावट के भी विरुद्ध थे। सिद्धान्ततः वे विशुद्धता एवं परम्परावादी थे। तुलनात्मक विवेचना करते समय भी इसीलिए उन्होंने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यकार—शैली, कीट्स, बायरन आदि को आदर्श नहीं मानकर मर्यादावादी कवि टेनिसन को ही महत्त्व दिया है।

इनके अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं का झुकाव शब्द-सौष्ठव तथा ध्वनि की ओर भी विशेष रहता था। उनकी इन मर्यादावादी तथा विशुद्धता की ओर अभिरुचियों की अनुभूति कर लेने के पश्चात् उनकी भाषा-शैली का सम्यक् अध्ययन किया जा सकता है।

द्विवेदी-युग के प्रभात में एवं 'सरस्वती' के जन्म से ही मिश्रबन्धुओं की साहित्य-

---

१. श्रीरामचन्द्रिका : बारहवां प्रकाश : ४१वां छन्द : पृ० १९१-१९२।

२. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-५ : पृ० २६८-२६९।

समीक्षाएं उपलब्ध होती हैं। यद्यपि उस समय की भाषा की अव्यवस्था, अस्थिरता और अशुद्धता का पूरा-पूरा प्रभाव उनकी भाषा में है; परन्तु उससे एक तर्कपूर्ण, प्रश्न-उत्तर सहित, प्रमाण प्रस्तुत करते हुए समर्थ आलोचना शैली का संकेत अवश्य प्राप्त हो जाता है। उनमें वस्तु-तथ्य को सामने रखकर सतर्क विवेचना की गई है। इसमें शब्दों के अर्थ पर ही नहीं, उनके क्रम तथा विन्यास पर भी ध्यान रखा गया है। प्रश्नों के साथ सम्बोधन कारक के प्रयोग से नाटकीय ध्वनि भी आ गई है। जैसे—

"फिर आप कहते हैं 'छन्दो भंग यद्यपि पद्य सम्बन्धी एक दूषण है, तथापि यदि उससे रस-भंग न हो तो दूषण नहीं।' यह तो बड़ी ही विलक्षण कहावत है और इस हिसाब से स्वयं पाठकजी का रचा हुआ पद 'पंकज बृन्द बिसै परभात सुहातौ सौ बात वहै मद सान्यों' यदि यों पढ़ें कि 'परभात पंकज वृन्द विसै बात सुहासौ सौ वहै मद सान्यों' तो भी छन्दोभंग उसमें नहीं ठहर सकता; क्योंकि 'उससे रस भग नहीं होता।' पर हम तो जानते हैं कि पर्यालोचक महाशय को छोड़ और पृथ्वी मण्डल में कोई भी ऐसा न कहेगा। तुलसीदासजी अथवा उनसे भी बड़े किसी कवि की रचना में पाए जाने से क्या छन्दोभंग दूषण हो न रह जाएगा। जब हम स्वयं गोस्वामीजी की कविता पर अपनी समालोचना प्रकाशित करेंगे तब आप क्या कहेंगे ? क्या संस्कृत साहित्य प्रणाली के आचार्यों ने दोषों के उदाहरणों में कालिदास, भारवि, भवभूति और श्रीहर्ष प्रभृति की कविता उद्धृत नहीं की गई ?"[1]

मिश्रबन्धुओं की प्रारम्भिक 'सामयिक टिप्पणियों' में भाषा का लचर और अव्यवस्थित रूप मिलता है। शब्द-कौशल प्रदर्शन तथा अनुप्रासादि की ओर रुचि भी पर्याप्त मात्रा में थी, इससे भाषा में सौष्ठव का अभाव है। शब्दों के अशुद्ध रूप ही नहीं, व्याकरण विरुद्ध प्रयोग भी हुए हैं। वाक्य साधारणतः सरल और छोटे हैं तथा उनके विन्यास में व्यतिरेक उत्पन्न नहीं किया गया है। यथा—

"हिन्दी की हत भाग्यता

इस वर्ष हिन्दी अपने अनेक अनोखे सेवक खो चुकी, तो भी इसकी हत भाग्यता की इति नहीं हुई। उसने अपना एक और प्रवीण स्वलेखक और विज्ञ पत्र-सम्पादक खोया जिसके वियोग का शोक प्रायः सभी स्वभाषा प्रेमियों को हुआ है। भारत-मित्र सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त के स्वर्गारोहण से वास्तव में हिन्दी सम्पादक मण्डली का एक बहुत ही चमकीला रत्न उठ गया।"[2]

कालान्तर में मिश्रबन्धुओं की आलोचना शैली परिपुष्ट एवं परिष्कृत हुई, जिससे कि उसमें प्रारम्भिक लचरपन, असौष्ठव, प्रदर्शन तथा व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों में बहुत कमी आ गई थी। फिर भी व्याकरण असम्मत प्रयोग का अभाव नहीं हुआ। अधोलिखित उद्धरण में मिश्रबन्धुओं की भाषा-शैली की प्रायः सभी विशेषताएं उपस्थित हैं। विभक्तियों को हटाकर लिखा गया है तथा संयुक्त वर्णों को यथासम्भव हतोत्साहित

१. 'सरस्वती' : साहित्य-समालोचना (मिश्रबंधु) : नवम्बर १९०१ : पृ० ३८८।
२. आनन्द कादम्बनी : ज्येष्ठ १९६४ वि०, पृ० ३४-३५।

किया गया है; तथा पंचम वर्णों के स्थान पर अनुस्वार से काम निकाला है। उनका वाक्य विन्यास सरल और सीधा है। वाक्य में शब्दों के क्रम को बिगाड़ने अथवा अंग्रेजी के ढंग की वाक्य-रचना करने का उन्होंने कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है। जैसे—

"इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था। इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो। स्वदेश-प्रेम से इस कविवर का हृदय परिपूर्ण था। भारतेन्दु के बराबर हिंदोस्तान के दोषों पर आंसू बहानेवाला एवं उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य कवि हिंदी के साहित्य में न होगा। हिंदोस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम गद्‌गद् होकर काव्य किया। यह पुरुष-रत्न हिन्दी, हिन्दू और हिन्दोस्तान के वास्ते कल्प वृक्ष हो गया है। हास्य के ग्रन्थों तक में इन्होंने देश हित का चिंतन नहीं छोड़ा। 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' ग्रन्थ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी खूब रहती थी। इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट जान पड़ती है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' तो मानो इसके रूप हैं। और और स्थानों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है।"[1]

मिश्रबंधुओं की प्रशान्त एवं गम्भीर आलोचनाओं में व्यंग्य, विनोद और परिहास की धारा मुखरित नहीं हो सकी फिर भी परुष-पार्वतीय गम्भीर शैली में यत्र-तत्र जल की कोमल, किन्तु प्रखर भावात्मक शैली की सरिताएं अवश्य प्रवाहमान हुई हैं। उनकी इस शैली के गवाक्ष से हृदय की कोमलता झांकती है, जो पाठकों को भाव विभोर करने की क्षमता रखती है। उनकी शैली में ओज, माधुर्य के साथ प्रसाद गुण का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। स्पष्टता और सुबोधता के लिए उन्होंने 'कोष्टक-चिह्न' और 'अर्थात्' इन दोनों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि वह कहीं-कहीं अति की सीमा पर पहुँच गया है। इससे भाषा में व्यतिरेक उत्पन्न हो गया है और शैली शिथिल पड़ गई है। यथा—

"यदि यही रुपया यहां की विद्या एवं शिल्प वाणिज्य की उन्नति में लगाया जाय तो क्या भारतवर्ष का यही हाल रहे? परन्तु यहां सुनता कौन है? कुछ भी बोले कि 'पश्चिमी सभ्यता का चश्मा लगाए हुए' होने का शोर मचने लगा। और गालियों की बौछाड़ें होने लगीं!! अभागे भारतवर्ष! तेरी उन्नति का समय, यदि ऐसा समय तेरे भाग्य में पुन बदा हो तो, तो अभी बहुत दूर है!!! अस्तु द्रव्य की श्रुतायुधवादी गदा के समान समझना चाहिए कि जो युद्ध कर्त्ता पर प्रक्षेपित करने (अर्थात् सुव्यय में लगाने) से शत्रु संहार करती (अर्थात् देश के दुःख दरिद्र को मार गिराती) है परन्तु अयुद्ध कर्त्ता पर छूटने (अर्थात् अपव्यय में उठने) से केवल यह नहीं कि शत्रु संहार न करे वरन लौटकर प्रक्षेपक (अर्थात् देश) का ही विनाश कर देती है (अर्थात् उसकी आगामिद्रव्योत्पादक शक्ति घटा देती है) यही कारण है कि मरणावस्था में देवव्रत भीष्म

१. संक्षिप्त हिन्दी-नवरत्न : पृ० २०६।

पितामह ने अपने प्रियतम पौत्र युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया था कि सदैव अपना आय-व्यय सयत्न सुनते रहना।"[1]

शब्द-चयन की दृष्टि से, मिश्रबंधुओं के विशुद्ध हिन्दी-भाषा के साम्राज्य में ठेठ हिन्दी व संस्कृत के ही शब्द, उद्धरण, पदावलियां आदि का समादर हुआ है। हिन्दी संस्कृत तर शब्दों को उसमें प्रवेश-पत्र नहीं दिया गया है। उर्दू-फारसी अंग्रेजी ही नहीं, ब्रज, अवधी और देशज शब्दों का भी 'प्रवेश-निषिद्ध' आज्ञा सुना दी गई है। फिर भी थोड़े बहुत उर्दू-फारसी ब्रज आदि के शब्द संकुचित मार्ग से प्रविष्ट हो गये हैं और उन्हें बाद में अभय हस्त प्रदान कर दिया है। इसीलिए खुशामदी, दगाबाज, बेहया, शरारत, पसंद जैसे शब्द उनकी रचनाओं में क्वचित मात्रा में दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इन विजातीय शब्दों ने भी उनकी भाषा का अपकार न करके उपकार ही किया है।

मुहावरों और लोकोक्तियों को भी मिश्रबंधुओं ने अपनी भाषा शैली से यथाशक्ति दूर ही रखा है। अलंकारों की ओर भी उनकी विशेष रुचि नहीं है।

शब्द-रूपों तथा व्याकरण की त्रुटियां प्रारम्भिक रचनाओं में बहुत हुई हैं। तो भी, उसकी, इसकी जैसे प्रयोग किये गये हैं, जो उत्तरकालीन रचनाओं में धीरे-धीरे समाप्त प्राय हो गये हैं।

डॉ० श्यामसुन्दर दास (१८७५-१९४५ ई०)

सतत-क्रियाशील जीवन के प्रतिमान एवं हिन्दी के अनन्य सेवक बाबू श्यामसुन्दर दास का व्यक्तित्व मुख्यतः गद्य-साहित्य में एक निबन्धकार तथा समीक्षक के रूप में ही मुखरित हुआ है। उनके जीवन-दर्शन तथा व्यक्तित्व के दर्शन हम निबन्धकार के रूप में पूर्व अध्याय में कर चुके हैं।[2] आलोच्य-युग में एक सफल आलोचक के रूप में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बाबू साहब हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् थे, साथ ही उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र और पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन किया था। प्राच्य एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के तत्त्वों के आधार पर उन्होंने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का भवन निर्मित किया था। उनकी शैली का नियामक तत्त्व भारतीय काव्य-शास्त्र का रस सिद्धान्त है।

काव्य के उद्देश्य को वे व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। काव्य वाणी का विलास अथवा शब्दों का चमत्कार नहीं है, और न केवल मनोरंजन का साधन ही है। इस दृष्टि से काव्य की महत्ता एवं उत्कृष्टता का मानदण्ड लोकाभिरुचि तथा जन-प्रियता नहीं है वरन् उसकी लोकोपकारिता है। जिस काव्य के द्वारा जन-जीवन के उन्नयन में तथा सुधार में जितनी अधिक सहायता मिले, वह काव्य उतना ही अधिक महिमावन्त एवं श्रेष्ठ है। आनन्द ही जीवन में सब कुछ नहीं है, लोकोपकारिता का भी अपना स्थान

१ समालोचना (मिश्रबंधु) : अक्तूबर-नवम्बर १९०३ : पृ० ११६-११७।

२. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-५ : पृ० २८४-२८६।

है। उनके इन सिद्धान्तों के आधार पर उनकी भाषा-शैली में विशिष्टता आ गई है। इसी से उन्होंने शब्दों की उछल-कूद, वाणी-विलास अथवा मुहावरेबाजी की उपेक्षा की है। साथ ही विद्वत्ता का विज्ञापन न तो उनके जीवन का उद्देश्य था और न भाषा में पाण्डित्य का प्रदर्शन उनका अभीष्ट था। अतः, उनकी भाषा में सरलता, स्पष्टता और सुबोधता के सहित गम्भीरता का प्रशान्त साम्राज्य है।

बाबू साहब ने अनेक समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं तथा बहुत से ग्रन्थों का आलोचना सहित सम्पादन भी किया है। उनका सैद्धान्तिक-आलोचक 'साहित्यालोचन' १६२२, में स्फुटित हुआ है। इसके अतिरिक्त 'भाषा-विज्ञान' १६२३, 'रूपक-रहस्य' १६३१ इत्यादि भी उनके शास्त्रीय समीक्षा-ग्रन्थ हैं। व्यावहारिक आलोचक के रूप में 'हिन्दी-भाषा का विकास' १६२३, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' १६२७, 'हिन्दी भाषा और साहित्य' १६३०, 'गोस्वामी तुलसीदास' १६३१, प्रमुख ग्रन्थ हैं।

बाबू साहब ने ही वस्तुतः पश्चिमी शिक्षानुकूल विश्वविद्यालय के उच्च स्तर के छात्रों के अध्ययन करने के लिए साहित्यिक-सिद्धान्तों को प्रथमतः हिन्दी में प्रस्तुत करने का कार्य हाथ में लिया था। काशी विश्वविद्यालय के नव-निर्मित हिन्दी-विभाग के प्रथम अध्यक्ष, हिन्दी के प्रबल प्रचारक, एवं महान् उन्नायक के रूप में उनका ही सर्वाधिक उत्तरदायित्व था, कि वे हिन्दी में उच्च समीक्षा-ग्रन्थों का प्रणयन करें। इस नवीन विषय को छात्रों को पूर्णतः हृदयंगम कराने के लिए, उन्होंने अपनी भाषा-शैली को तदनुकूल बोध-गम्य, विचार-व्यंजक तथा स्पष्ट रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। वस्तु-औचित्य की दृष्टि से यह उपयुक्त था, साथ ही विषय-वस्तु भी उच्च कक्षा के छात्रों को लक्ष्य करके रखी गई थी, इसलिए उसमें कथा-कहानी की रोचकता, हल्कापन और व्यावहारिकता से ऊपर उठकर प्रौढ़ता, परिष्कृतता एवं प्रांजलता अपेक्षित थी। द्विवेदीजी की समीक्षा शैली की तुलना में बाबू साहब की भाषा-शैली अधिक गम्भीर, गठित तथा प्रौढ़ है। उनकी अपेक्षा इनका शब्द-चयन भी संस्कृत तत्समतोन्मुख सुगठित और गम्भीर है। अति व्यावहारिक एवं व्यंजक उर्दू-फारसी के कतिपय शब्दों के अतिरिक्त, उन्होंने उर्दू-फारसी के हल्के और बोलचाल के शब्दों को पास में फटकने भी नहीं दिया है। यही कारण है कि मुहावरे और उक्तियां भी उनकी रचना में स्थान नहीं पा सके हैं। दूसरी ओर संस्कृत के क्लिष्ट, दुरूह तथा दीर्घ सामासिक शब्द और आलंकारिकता का मोह भी उन्होंने नहीं किया है। इस प्रकार से उनकी विवेचनात्मक शैली सर्वथा विषयानुकूल, प्रौढ़ एवं समर्थ है।

उन्होंने मुख्यतः हिंदी भाषा के शब्द-विधान से ही अपनी विशिष्ट भाषा-शैली का भव्य प्रासाद खड़ा कर दिखाया है। विदेशी तथा विजातीय शब्दों को प्रथमतः ग्रहण ही नहीं किया है और जिन्हें उन्होंने अपनाया भी है तो उनका शुद्धिकरण करके बाबू साहब की इस सफल विवेचनात्मक गम्भीर भाषा-शैली का ही परिष्कृत संस्करण, शुक्लजी के व्यक्तित्व के विशेष योग के साथ, शुक्लजी की शैली में निखर उठा है।

"समालोचक का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह अपने समय के लोक, समाज में सत्साहित्य के गुण कथन एवं उसी प्रकार दूषित साहित्य के दोषोद्घाटन का कार्य

तत्परता से जारी रक्खे और लोगों को भ्रम में पड़ने से बचावे। उसका यह कार्य जैसे उत्तरदायित्व का है वैसा ही कठिन भी है। मृत कवियों के गुण-दोषों के कथन में तो समालोचक निर्भयतापूर्वक अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है; परन्तु जीवित कवियों की समालोचना करते समय बहुधा नैतिक बल-युक्त होते हुए भी वह अपने कर्त्तव्य पालन में तावत् समर्थ नहीं होता है। इसके बहुत से कारण हैं। हमारे अनेक लेखक वर्तमान काल के समालोचकों पर इस कारण बेतरह चिढ़े हैं कि वे जीवित कवियों की समालोचना में प्रशंसा का अंश बहुत कम रखते हैं और निन्दा का अधिक।"[1]

"हिन्दी की आचार्य-परम्परा जब से रीति की ओर झुकी तब से कविता बहुत कुछ रीति सापेक्ष हो गई और उसके समझने-समझाने वाले भी रीति ग्रन्थों में विशेपज्ञ होने लगे। कविता की उत्तमता की कसौटी बदल गई। जिसमें अलंकारों का समावेश न हो वह कविता ही न रही। आचार्य केशवदास की 'रामचन्द्र चंद्रिका' इसी फेर में पड़कर फुटकर छन्दों का संग्रह हो गई, जिसमें कहीं रामचन्द्र अपनी माता कौशल्या को वैधव्य सम्बन्धी उपदेश देते हैं, कहीं पंचवटी की तुलना धूर्जटि से करते हैं और कहीं बेर-वृक्ष को प्रलय वेला के द्वादशादित्य बतलाते हैं। प्रकृति के रम्य रूपों में कोई आकर्षण नहीं रह गया था, वे केवल अलंकार के डब्बे हो गए। चन्द्रमा की सुषमा काव्य के भीतर ही रह गई।" (हिन्दी-साहित्य : पृ० २१२)

विषय-वस्तु को स्पस्ट करने के लिए बाबू साहब का अध्यापक बहुत सजग और क्रियाशील था। सरल, सुबोध और व्यंजक शब्द-योजना के अतिरिक्त इन्होंने जहां भी आवश्यक समझा है 'अतएव', 'सारांश यह है कि', 'तात्पर्य यह है कि', इत्यादि शब्दों या पदों की सहायता से पूर्व प्रस्तुत विचारों का स्पष्टीकरण भिन्न शब्दों में कर दिया है। इस दृष्टि से उनकी शैली को व्यास अथवा आगमनात्मक भी कही जा सकती है। इसके कई उदाहरण पूर्व अध्याय में उपलब्ध हैं।

अंग्रेजी के भी अच्छे विद्वान् होने के कारण उन्होंने अंग्रेजी का वाक्य-विन्यास तथा विराम-चिह्न प्रयोग अपनाया है। निर्देशक चिह्नों की सहायता से भी अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे—

"रचयिता में यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह अपनी भाषा अपनी शब्द-योजना से हममें भी उन्हीं विचारों और भावनाओं की तरंगावलि उत्पन्न कर दे, जिनके वशवर्ती होकर उसकी वाणी स्फुटित और लेखनी चंचल हो उठती है। ग्रन्थकार के ऐसे ही ग्रन्थ वास्तव में 'काव्य' पद के अधिकारी हो सकते हैं। वही उसके प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या उसके स्वरूप के प्रतिबिम्ब होते हैं। अतएव किसी ग्रन्थ पर विचार करना मानो उसके रचयिता पर—उसके साहित्यिक जीवन पर विचार करना है।"[2]

निसन्देह डॉ० श्यामसुंदर दासजी की भाषा में हिन्दी की एक गम्भीर एवं परिष्कृत शैली का सशक्त रूप प्राप्त हुआ और उनकी उस भाषा के रूप में गवेषणात्मक

१. मर्यादा : (कड़ी समालोचना के कारण) : भाग १०, सं० ३, सितम्बर १९१५ : पृ० २०६।
२. साहित्यालोचन : (काव्य का विवेचन) : पृ० ३३।

भाषा-शैली का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। बिना विजातीय शब्दों की सहायता के सफल अभिव्यक्ति कितनी कुशलता से हो सकती है, इसका निश्चित संकेत बाबू साहब ने दिया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१ ई०)

हिन्दी गद्य की प्रौढ़, परिष्कृत एवं गम्भीर भाषा-शैली ही नहीं, समीक्षा के क्षेत्र में भी द्विवेदी-युग के परिपक्व फल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में युग-समीक्षा की चरम परिणति हुई है। हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी की जोड़ का व्यक्तित्व उनके समकालिक तथा पूर्वकालिक किसी भी साहित्यकार में दृष्टिगोचर नहीं होता।

शुक्लजी कलम के धनी थे तथा उनकी दृष्टि मर्म-भेदनी थी। सूझ की नवीनता तथा अन्तःदर्शन की क्षमता उनके दृष्टिकोण को मौलिकता प्रदान करती थी। वे सच्चे अर्थ में कलाकार थे। वैसे उन्होंने प्रधानतः प्राचीन महाकवियों का पुनरोद्धार करना ही अपना प्राथमिक उद्देश्य बनाया और उसी के लिए हिन्दी के तीन श्रेष्ठ कलाकार—तुलसीदास, सूरदास तथा मलिक मोहम्मद जायसी को अपनी कला का स्पर्श प्रदान कर उनकी विभा को देदीप्यमान कर दिया। विश्व के साहित्यकारों में अग्रगण्य गोस्वामी तुलसीदास भी 'सूर-सूर तुलसी शशि' के भंवर में पड़े हुए, अपनी व्यास पीठिका से च्युत थे। उन पर विवाद होते थे 'सूर तुलसी में कौन श्रेष्ठ है ?' शुक्लजी ने अपनी लेखनी के अग्रभाग के स्पर्श से ही इस विवाद को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया। पांसा पलट गया और 'सूर शशि तुलसी रवि' हो गये। इसके पश्चात् शुक्ल-लेखनी का जादू-भरा स्पर्श जायसी को प्राप्त हुआ। उनकी सुप्त प्रभा को स्थायी आभा प्राप्त हुई और उनका स्थान हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में हो गया। दूसरी ओर केशवदास के 'महा कवित्व' पर सन्देह होने लगा। वे 'कठिन काव्य के प्रेत' बन गये एवं जनता के हृदय-सिंहासन से धराशायी हो गये। यह सब शुक्लजी ने अपनी सिद्ध लेखनी और अतुल मेधा-शक्ति से कर दिखाया।

उनके इस अभूतपूर्व एवं गौरवकारी कार्य में सफलता का श्रेय उनकी मार्मिक प्रौढ़ तथा प्रांजल भाषा-शैली को है। उनका परिपुष्ट शब्द-चयन, भावों का मूर्त्त-रूप धारण कर, भाषा का कलेवर सजाता और संवारता है। शब्द अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उनके भावों तथा विचारों को प्रदर्शित करके सहृदय पाठकों के हृदय तल को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। उन्होंने अपने कार्य की सिद्धि के लिए भाषा की स्पष्टता पर बल दिया है। इसलिए उनके शब्दों में अर्थ संकोच, उत्कर्ष अथवा द्विअर्थना नहीं होती। साधारण बुद्धि के पाठकों को भले ही उनके शब्द कुछ सीमा तक दुरूह हो सकते हैं, पर भ्रमोत्पादक कदापि नहीं।

शुक्लजी के सैद्धान्तिक-समीक्षा सम्बन्धी आदर्श भी उनकी भाषा-शैली के नियामक तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अतः, उनका अनुशीलन भी आवश्यक प्रतीत होता है। शुक्लजी के पूर्व हिन्दी-समीक्षा का शास्त्रीय कक्ष शून्य प्राय था।

उसके पास पूर्णत: अपना कहने योग्य कुछ न था। शुक्लजी ने कठिन अध्यवसाय और लगन में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् एक सुन्दर, समन्वित स्वरूप को इस भांति प्रस्तुत किया जो हिन्दी में सर्वथा नवीन था।[1] सामाजिक पृष्ठ-भूमि उनकी समीक्षा का आधार बनी। 'काव्यात्मक लोकवाद और साधारणीकरण' इन दो सिद्धान्तों से उन्होंने साहित्य की परख की। "शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तुन्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की।"[2]

शुक्लजी की समीक्षा कृतियां

तुलसी ग्रन्थावली १९२३, जायसी-ग्रन्थावली '२५, भ्रमर-गीतसार '२६, भारतेन्दु साहित्य '२९, काव्य में रहस्यवाद, '२९ हिन्दी साहित्य का इतिहास '३०।

शुक्लजी की विवेचनात्मक शैली की आलोचनाएं सामान्यत: विशेष दुरूह और क्लिष्ट नहीं हैं। भाषा की विशुद्धता के निर्वाह के कारण उन्होंने आद्योपान्त ठेठ हिन्दी तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया है। उसमें उर्दू-फारसी के व्यावहारिक शब्दों को भी स्थान नहीं मिल सका है। इसलिए अल्प बुद्धि के पाठक भले ही उनकी भाषा में कहीं-कहीं कठिनाई का अनुभव करें, तो आश्चर्य भी नहीं है। वैसे सर्वसाधारण पाठकों के लिए उनकी आलोचनाएं नहीं हैं, इनका लक्ष्य सुशिक्षित पाठक होने के कारण, इस प्रकार की सुष्ठ, परिष्कृत तथा विशुद्ध भाषा उचित भी है। यथा—

"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियां लेकर भरी हैं, पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और संबंध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और ऊबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं। 'रामचंद्रिका' में 'प्रसन्न राघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्थ रावण', 'कादंबरी' और 'नैषध' की बहुत सी उक्तियों का अनुवाद करके रख दिया गया है। कहीं-कहीं अनुवाद अच्छा न होने के कारण उक्ति विकृत हो गई है, जैसे 'प्रसन्न राघव' के 'प्रियतम पदै रंकिता न्यूभिभागानं' का

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी के आलोचक : शचीरानी गुर्टू : पृ० ४८।
२. आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी के आलोचक : शचीरानी गुर्टू : पृ० ६७

अनुवाद 'प्यो-पद-पंकज ऊपर' करके केशव ने उक्ति को एकदम बिगाड़ डाला ।"[1]

शुक्लजी का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रबल और प्रतिभा-सम्पन्न था। वे अपनी धुन के पक्के भी थे। इसी से बड़े-बड़े नवीन और प्राचीन साहित्यिकों की कड़ी आलोचना करते समय उन्हें संकोच नहीं हुआ। आलोच्य व्यक्ति कितना ही प्रभावी, प्रसिद्ध तथा महान् क्यों न हो, वे उसके सम्बन्ध में अपनी धारणाएं स्पष्टतः व्यक्त कर देते थे। मिश्रबन्धुओं पर तो उन्होंने निर्मम व्यंग्य-बाणों की वर्षा की ही, साथ ही पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास आदि भी उनके व्यंग्यों और कटाक्षों से नहीं बच सके। उनकी निर्भीकता तथा सिद्धान्त-प्रियता ही शब्दों का जामा पहिन कर उपस्थित हुई है और उनसे व्यंग्यों की बौछार होती है। बहुधा उनके व्यंग्य दोष के अनुपात में पैने होते हैं।

ये दोनों नाटक उपाध्यायजी ने हाथ अजमाने के लिये लिखे थे।[2]

'द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिये लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेर-फेर कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही के साथ पांच छः तरह से पांच छः वाक्यों में कही हुई मिलती है।"[3]

शुक्लजी की आलोचनाओं में शैली का नाटकीय तत्त्व और तर्क का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। वे स्वयं पहिले विषय को पूर्णतः आत्मसात् करके फिर अपने जीवन रस से सिंचित करके, बौद्धिक योग से प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। गूढ़ गम्भीर विषय की विवेचना तथा व्याख्या के लिए उन्होंने अंग्रेजी के मूल शब्दों को स्पष्ट करने के लिए, मूल शब्द के साथ हिन्दी पर्यायवाची शब्दों को दिया है। एक ही शब्द से सन्तोष न होने पर दो-दो शब्द एक साथ देकर भावाभिव्यक्ति की है।

अंग्रेजी के ये पर्यायवाची हिन्दी-शब्द अनेक स्थलों पर मूल को यथातथ्य प्रस्तुत करने में असमर्थ भी रहे हैं। जैसे निम्नलिखित गद्यांश में Idealism के लिए 'प्रत्यवाद' लिखा है, तथा इसी अंश के साथ उसी पृष्ठ पर प्रत्यय या भावना (Idea) के लिए संकेत किया है। इसी ग्रन्थ (काव्य में रहस्यवाद) में पृष्ठ ३६ पर Transcendental का अर्थ ज्ञानातीत लिखा है। फिर पृष्ठ ११२ पर उसी का अर्थ केवल 'बाहर' किया है। उनके पर्याय-विधान के कुछ उदाहरण जैसे—इन्द्रियज ज्ञान (Impressions)[4], इन्द्रियार्थवाद (Sensualism)[5], इन्द्रियांशक्ति (Sensualism)[6] इत्यादि प्रयोग पर्यायवाची शब्दों की अस्थिरता के द्योतक हैं।

"यह सब जाने दीजिए। यह देखिए कि कल्पना की नित्यता के प्रतिपादन में, उसे पारमार्थिक सत्ता बनाने, प्रकृति और कल्पना के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में कितना विपर्यय

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० २०९।
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ४९५।
३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पृ० ५०९।
४. काव्य में रहस्यवाद : पृ० ११२।
५. काव्य में रहस्यवाद : पृ० १२५।
६. काव्य में रहस्यवाद : पृ० ३।

करना पड़ा है। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है। अतः, जब तक हम किसी 'वाद' का सहारा न लें, तब तक यही कहेंगे कि कल्पना में आए हुए रूप ही प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिंब हैं, प्रकृति के रूप कल्पना के प्रतिबिंब नहीं। इस 'कल्पनावाद' का कोई आभास न तो वेदान्त के प्रतिबिंबवाद में है, न कांट से लेकर हेगल तक जर्मन दार्शनिकों के प्रत्ययवाद (Idealism) में।"[1]

हिन्दी में विशाल शब्द-कोश के अभाव के कारण सैद्धान्तिक-समीक्षा सम्बन्धी अनेक अंग्रेजी के उपयुक्त शब्दों को वे प्रस्तुत करते समय हिन्दी के पर्यायवाची शब्दों को गढ़ने में जब असफल रहे हैं तो उन्होंने केवल मूल शब्द को देकर अपने विचारों को निःसंकोच भाव से प्रगट कर दिया है।

"विश्व की तह में (Immanent) रहकर उसका परिचालन करनेवाला 'अन्तर्यामी' ही पृथ्वी पर नाना अवतार लिया करता है।"[2]

"पर इस प्रकार की पुस्तकों को मैं 'भंडारा' करने वाले और भू-मंडल पर सुख स्वच्छन्दता के साथ विचरने वाले साधुओं का प्रपगंडा (Propaganda) मात्र समझता हूं।"[3]

शब्द-चयन की दृष्टि से विशुद्धतावादी शुक्लजी ने अपने समीक्षात्मक निबन्धों में कभी-कभी भावों की मस्ती में, न कि शब्द-भण्डार की तंगी से, अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी किया है। इस प्रकार के प्रयोग बहुधा आक्षेपों के लिए सुरक्षित बाणों की भांति होते हैं, जो विशेष रूप से इसी लिए संजोकर रखे जाते हैं। अन्यथा उनकी भाषा में विशुद्ध-हिन्दी-संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अखंड राज्य है। इसी से उन्होंने कई स्थानों पर आर्य्य, कार्य्य, मर्य्यादा, प्राचुर्य्य, औदार्य्य, माधुर्य्य, सौन्दर्य्य इत्यादि शब्दों को प्राथमिकता दी है।

शुक्लजी की विवेचनात्मक शैली में प्रश्न एवं तर्कों को भी बहुत स्थान मिला है। वे स्वयं तथ्य-प्रतिपादित करके उस पर आक्षेप करते हैं। इसके लिए प्रश्न करते हैं, उत्तर देते हैं, फिर उसका समाधान विवेचना के द्वारा करते हैं। जैसे—

"तुलसी पर दूसरा इलज़ाम जिससे सूर बरी किए गए हैं, यह है कि वे रह रहकर फ़जल याद दिलाया करते हैं कि राम परमेश्वर हैं। ठीक है, तुलसी ऐसा जरूर करते हैं। पर कहां ? रामचरितमानस में। पर रामचरितमानस तुलसीदास का एक मात्र ग्रन्थ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के और भी कई ग्रन्थ हैं। क्या सब में यही बात पाई जाती है ? यदि नहीं, तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरितमानस में ही यह बात क्यों है। मेरी समझ में इसके कारण यह हैं—"[4]

१. काव्य में रहस्यवाद : पृ० ९६।
२. सूरदास : पृ० १०४।
३. सूरदास : पृ० ८६।
४. सूरदास : पृ० २११।

बाबू गुलाबराय (१८८८ ई० वर्तमान)

समय की गति के साथ कदम रखकर आगे बढ़ने वाले बाबू गुलाबराय उत्तर द्विवेदी-कालीन आलोचकों में प्रमुख हैं शुक्लजी के समान इन्होंने समीक्षा के दोनों पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। वे मूल रूप में निबन्धकार हैं। इसी परम्परा के अन्तर्गत उन्होंने साहित्यिक-समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। इनका सैद्धान्तिक आलोचना का प्रथम ग्रन्थ 'नव-रस' संक्षिप्त संस्करण में १९२१ में लिखा हुआ १९२७ में प्रकाशित हुआ। यह अपनी शैली और विषय का हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ था। इसमें उनका व्यक्तित्व साकार हो उठा है। इनके जीवन तथा व्यक्तित्व का परिचय पूर्व अध्याय में निबन्धकार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१]

समीक्षात्मक रचनाएँ

'नव-रस १९२१', 'सिद्धान्त और अध्ययन' २ भाग, 'काव्य के रूप', 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास', 'हिन्दी-काव्य' विमर्श।

बाबू साहब एक सफल अध्यापक हैं, आचार्य नहीं। उन्होंने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं की है। अध्यापक के रूप में सिद्धान्तों के पक्ष-विपक्ष की व्याख्या, विश्लेषण एवं विवेचन करके उन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों को सरल और स्पष्ट शब्दों में रखकर पाठकों को हृदयंगम करा देना अपना अभीष्ट रखा था। उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा नहीं। उन्होंने आचार्य शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दर दास-जी के ही कार्य को अपनी सरल भाषा-शैली में हिन्दी के साधारण पाठकों के समक्ष पत्र-पत्रिकाओं के तथा छोटे ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उन्होंने व्यावहारिक आलोचना में यथार्थतः व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग किया है। "हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' तथा 'हिन्दी काव्य-विमर्श' इसके उदाहरण हैं।

गुलाबरायजी की आलोचनाएं प्रायः खण्डनात्मक ढंग की नहीं होतीं। उनमें शब्दों की परुषता एवं कटुता को भी स्थान नहीं रहता। वे कलाकार या आलोच्य साहित्यकार के प्रति सहृदयता तथा सहानुभूति रखते हुए, उसकी कृति का रसास्वादन पाठकों को कराते जाते हैं। उन सब में उनका समन्वयकारी व्यक्तित्व सदा सजग रहता है। समन्वय उनकी समीक्षा का विशेष गुण है। उनका यह दृष्टिकोण उनकी भाषा-शैली, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनकी गम्भीर समीक्षाएं भी पूर्णतः गम्भीर नहीं रह पातीं, उनमें उनके साधारण निबन्धों की व्यावहारिक भाषा, विनोद-प्रियता तथा प्रसाद गुण-सम्पन्न शैली का समन्वय द्रष्टव्य होता है।

बाबू साहब की भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व की बहुत ऋणी है। उनके जीवन की सरलता, मस्ती, विनोद-प्रियता तथा सहृदयता ही ने उनकी शैली का प्रारूप

१. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-५ : पृ० ३०७-८।

धारण कर लिया है। आत्मीयता और आत्म-दर्शन मानो उनको पैतृक सम्पत्ति के साथ मिले हैं। उनकी भाषा भी इसी प्रकार से पाठकों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। उसमें व्यक्तिवादिता (Subjectivity) अधिक है, वस्तुवादिता (Objectivity) अपेक्षाकृत कम। वैसे इनकी शैली भी विषय तथा परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित होती जाती है; परन्तु प्रायः सभी शैलियों और परिस्थितियों में हास्य-विनोद के अमृत-कण उन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में संग्रहित कर ही लिए हैं। आश्चर्य तो हमें तब होता है कि गम्भीर वैज्ञानिक और शुष्क सैद्धांतिक समीक्षा में भी उन्होंने सरसता और हास्य-विनोद की उद्भावना की है। उनमें मुहावरे, लोकोक्तियां, उद्धरण आदि का भी समादर करके शैली में सजीवता आ गई है। इससे आलोचनाओं में भी कथा-साहित्य का-सा आनन्द आता है।

* "कहानी अपने छोटे मुंह से बड़ी बात कहती है।"[1]

* "व्यक्ति के साथ ही शैली का अपने विषय से भी 'गिरा अर्थ-जल-बीच सम' अटूट सम्बन्ध है। वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना असम्भव है जितना कि 'म्याऊं' की ध्वनि का बिल्ली से। 'म्याऊं' बिल्ली की अभिव्यक्ति है और बिल्ली को म्याऊं के नाम से पुकारना, व्यक्ति, विषय और अभिव्यक्ति की एकता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।"[2]

भारतीय दर्शन और भारतीयता की ओर उन्मुख बाबू साहब ने शब्द-चयन के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों के कोष में ही हाथ लगाना पसंद किया है। यथासम्भव उन्होंने अपने निबन्धों और समीक्षाओं में शुद्ध और परिष्कृत भाषा का ही उपयोग किया है। उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग या तो भाव-प्रवाह में हुआ है अथवा हास्य, व्यंग्य, कटाक्ष में।

उनका वाक्य-विन्यास भी सीधा सरल और व्याकरण-सम्मत है। अंग्रेजी ढंग के वाक्य भी मिलते हैं, और उन्होंने विराम-चिह्नों का यथा-स्थान प्रयोग कर स्पष्टता बनाये रखने का प्रयत्न किया है। तर्क-शास्त्र के विशेष अध्ययन के परिणामस्वरूप उनकी भाषा-शैली में शब्द-क्रम, संगति आदि का ध्यान भी रखा गया है।[3] उनकी शैली में सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता तथा प्रसंगगत सम्बद्धता का निर्वाह आद्योपान्त मिलता है। प्रसाद गुण की व्याप्ति उनकी सभी आलोचनाओं में रहती है। कठिन एवं शुष्क विषय भी उनकी लेखनी के सरल और सरस स्पर्श से साधारण बुद्धि को ग्राह्य हो गये हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी (१८९२ ई० वर्तमान)

द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में द्विवेदीजी के सुयोग्य उत्तराधिकारी मूलतः

१. काव्य के रूप : पृ० २१४।
२. सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० १८६।
३. पदमसिंह शर्मा कमलेश : हिन्दी के आलोचक : (शचीरानी गुर्टू) : पृ० १२३

सम्पादन कार्य से साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले बक्शीजी, एक सफल निबन्धकार और आलोचक दोनों हैं। उनमें हम एक तपस्वी मनीषी की सरलता और वैज्ञानिक की क्रमगत सुस्थिर चेष्टा का समयोग पाते हैं। उन्होंने प्रारम्भ में कुछ कविताएं भी लिखी हैं जो उनके भावुक हृदय की संकेतक हैं। द्विवेदीजी के निर्देशन में उन्होंने कठोर तपस्या करके साहित्य का गहन अध्ययन किया, इसके पश्चात् एक वैज्ञानिक की भाँति आलोचना के सिद्धान्त स्थिर किये और उन्हीं को माप-दण्ड बनाकर साहित्य की समीक्षा की। अंग्रेजी के गम्भीर अध्ययन से उनका पश्चिमी सिद्धान्तों का ज्ञान परिपुष्ट हुआ, साथ ही वैज्ञानिक समीक्षा की दृष्टि भी प्राप्त हुई। उन्होंने अपने समीक्षात्मक अनुशीलन करते समय न तो अत्यधिक अन्तर्मुखी वृत्ति प्रदर्शित की और न अति भावुकता के आवेग का विस्फोट होने दिया। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ० जानसन की भाँति बक्शीजी को भी प्रभाववादी आलोचना से अरुचि है। यही कारण है कि उनकी भाषा, विचारों और अन्ततोगत्वा उनके जीवन में एक अद्भुत साम्य एवं संयम दृष्टिगोचर होता है। वे काल्पनिक जगत के जीव नहीं हैं। इसी धरती और आकाश के बीच रहकर इसी का चिन्तन करना वे अभीष्ट समझते हैं। बक्शीजी की समीक्षाओं में उनकी रागात्मकता के साथ प्रज्ञात्मकता का भी सन्तुलन हो गया है। उनकी यही समन्वय एवं संतुलन की प्रवृत्ति उनकी भाषा-शैली में भी स्फुटित हुई है।

बक्शीजी के व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंश उनकी मर्यादावादी सिद्धान्त-प्रियता भी है। वे अपने सिद्धान्तों के प्रति सामान्य रुचि ही नहीं रखते, वरन् अन्य कलाकारों को भी उनके अनुरूप देखने के इच्छुक रहते हैं। "उनकी आलोचना में कलाकारों के प्रति तन्मय होने की प्रवृत्ति तो है; परन्तु साथ ही उनकी सफलता और असफलताओं को निर्दिष्ट करने की तटस्थता भी है। वे अपने साहित्यिक आदर्शों के अनुरूप कलाकार को देखना चाहते हैं। कलाकार के अनुरूप अपने आदर्शों को ढालना उन्हें अभीष्ट नहीं है। × × × कबीर, सूरदास, तुलसीदास, कालीदास और शेक्सपियर इसलिए उन्हें प्रिय हैं कि उनमें संसार को अपने से ऊंचा उठा ले जाने की क्षमता है—हृदय की विकलता है।"[1]

समीक्षात्मक रचनाएँ

हिन्दी-साहित्य-विमर्श (१९२४), विश्व-साहित्य (१९२४), हिन्दी-कथा-साहित्य, हिन्दी-उपन्यास-साहित्य।

वे साहित्य को जन-साधारण के जीवन के समीप प्रस्तुत करने के पक्ष में हैं। उसमें बनावट, सजावट, शृंगार और कृत्रिमता उन्हें पसन्द नहीं। सत्साहित्य स्वाभाविक अभिव्यक्ति के साथ सामाजिक जीवन से लगाव रखता है। सरलता और स्पष्टता उनकी गद्य-शैली की अपनी विशेषता है। इसके लिए वे सदैव प्रयत्नशील भी

---

१. प्रो० विनयमोहन शर्मा : हिन्दी के आलोचक : (शचीरानी गुर्टू) : पृ० १०३।

दृष्टिगोचर होते हैं। दृष्टव्य यह है कि उन्होंने यथासम्भव संयुक्ताक्षरों का उपयोग बहुत कम किया है। पंचम वर्णों के स्थान पर अनुस्वार से काम निकाला है। लम्बे-लम्बे सामासिक शब्द तथा क्लिष्ट शब्दों को भी यथाशक्ति अपनी रचनाओं से दूर रखा है। फिर भी सरलता और सुबोधता के लिए उन्होंने भाषा की विशुद्धता की बलि नहीं दी है। उर्दू-फारसी या दूसरी विदेशी भाषाओं के शब्दों की बिना सहायता लिए ही अपनी विवेचना शैली में सरलता और स्पष्टता लाने का सफल प्रयत्न किया है।

जैसे सत्य का स्वरूप चिन्तन है; परन्तु उसकी अभिव्यक्ति जीवन में ही होती है। अतएव साहित्य उस चिरंतन सत्य को जीवन में उपलब्ध करने की चेष्टा करता है। जब तक मनुष्य प्रकृति के संसर्ग में रहता है, तब तक वह प्रकृति में ही सत्य का स्वरूप देखता है। जब प्रकृति से उसका संसर्ग छूट जाता है, तब वह अपनी अंतर्निहित शक्ति में सत्य का अनुभव करने लगता है। परंतु वह इस अवस्था को तुरन्त ही नहीं पा लेता। जब उसकी मानसिक स्थिति प्रकृति और उसके बीच एक व्यवधान खड़ा कर देती है, तब वह अशान्ति का अनुभव करता है। अंत में जब वह प्रकृति पर आत्म-शक्ति के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह वस्तु-जगत की अवहेलना करने लग जाता है। इसका फल यह होता है कि वह एक अपार्थिव जगत् को सत्य मानकर उसी की भित्ति पर अपने सम्पूर्ण जीवन की रचना करने का प्रयत्न करता है। जब वस्तु-जगत के साथ उसका मेल नहीं होता, तब वह एक ऐसे आदर्श जीवन की खोज करता है, जिसमें उसका सामंजस्य हो सके। इस प्रकार भावों का उत्थान-पतन होने से, साहित्य में भिन्न-भिन्न अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं।[1] —काव्य

समीक्षा-मर्मज्ञ बक्शीजी को समीक्षा की अन्तर्भेदनी दृष्टि प्राप्त है। वे वस्तु या विषय के हृदय-तल में पेंठ कर ही अपना निष्पक्ष मत व्यक्त करते हैं; ऊपरी देख-भाल और जांच-पड़ताल ही वे पर्याप्त नहीं मानते। अतः, उनकी यह अन्तःदर्शी स्वानुभूति आधारित निष्पक्षता ही उनकी शैली में दिखाई देती है, साथ ही शैली की एकरसता और एकरूपता का भी निर्वाह हुआ है। जैसे—

"जगत के समस्त तत्त्वों के मूल में एक सत्य है। वह सत्य यह है कि एक शक्ति अपने को दो रूपों में प्रकाशित कर रही है। अंतर्जगत की शक्ति बाह्य जगत में अपने को व्यक्त करती आ रही है। परन्तु इस तत्त्व को स्वीकार कर लेने से ही काम न चलेगा। मन की एक विशेष अवस्था होती है, जिसको प्राप्त कर लेने से भेद बुद्धि नहीं रह जाती। जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म, वृद्धि से क्षय और क्षय से वृद्धि, एक ही वस्तु है। समस्त द्वंद्व के मूल में एक ही अखंड शक्ति विद्यमान है। मन की विशेष अवस्था में उसकी उपलब्धि हो सकती है। अणुओं में विश्व-ब्रह्माण्ड का स्पंदन स्पंदित हो रहा है। यह केवल ज्ञान का विषय नहीं, उपलब्धि की सामग्री भी है। क्षुद्र बीच में अनादि और अनंत जीवनी शक्ति है, जो वृक्ष को संपूर्ण जीवन प्रदान

१. विश्व-साहित्य : पृ० ७५-७६।

कर स्वयं नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क के जीव-कोष में संकोचन और प्रसारण हो रहा है। आत्मा के चारों ओर देह की विचित्र शक्ति व्यक्त हो रही है; रक्त दौड़ता रहता है, स्नायु स्पंदित होते रहते हैं, बाह्य-शक्ति भीतर आती और अंतर्गत शक्ति बाहर प्रगट होती है। देह मानो इन दोनों शक्तियों का संबंध-सूत्र है। जो भीतर और बाहर एक होकर रहता है, वही उपलब्धि का विषय है। उसका कुछ भी नाम रखा जाय, उसी से प्राचीन विश्वास और आधुनिक विज्ञान में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। अनेक एक के विरुद्ध नहीं है; अनेक में ही एक है। सीमा और असीम में विरोध नहीं है, किन्तु सीमा में ही असीम है। स्वार्थपरता और परार्थपरता में विरोध नहीं है, स्वार्थपरता में ही परार्थपरता का आविर्भाव होता है। इस प्रकार सब तत्त्वों का सामंजस्य करना आधुनिक युग की धर्म-साधना है। तभी विज्ञान और धर्म का विरोध दूर हो सकता है।"[1]

बक्शीजी की विषय-प्रतिपादन शैली बड़ी सबल और तर्कपूर्ण रहती है। कभी-कभी वे एक तथ्य को प्रस्तुत करके उसके समर्थन के लिए अनेक उदाहरणों और प्रमाणों की शृंखला प्रस्तुत करते हैं। स्वभावतः ऐसे अवसरों पर उनके वाक्य भी बड़े हो जाते हैं। जैसे—

*"जीवन के प्रभात-काल में किसको यह जगत सुंदर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं, फूलों से मैत्री रखते हैं और पृथ्वी की गोद में निश्चिन्त विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है।"[2]

१. विश्व-साहित्य : (उपसंहार) : पृ० २२१-२२२।
२. विश्व-साहित्य : (काव्य) : पृ० ६५।

अध्याय : ७

कथा-साहित्य की गद्य-शैलियां

कहानियां और शैली

कथा-कहानियों से मानव का अनादि साहचर्य है। भले ही सहस्रों वर्षों में युग-परिवर्तन के अनुसार कथा-साहित्य के बाह्य स्वरूप में परिवर्तन हुए हैं; परन्तु जीवन में, उसकी महत्ता में परिवर्तन नहीं आया है। आदि-काल में कथाओं का उद्देश्य ज्ञान-विज्ञान के गम्भीर तत्त्वों और उनके सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करना रहता था। दार्शनिक तथा धार्मिक गूढ़ विषयों को गल्प, कहानियों या दृष्टान्तों के द्वारा जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। जैसे ऋग्वेद में देव-कथाएं प्रतीकात्मक शैली में तथा दन्त-कथाएं संवाद शैली में मिलती हैं।

इनका उद्देश्य था अपने प्रतिपादित विषय को इन कथाओं के माध्यम से सरल और सुबोध रीति से पाठकों को हृदयंगम करा देना। अतएव अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन कथाओं की भाषा, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि को विशेष रूप से बोधगम्य और प्रभावशील बनाया जाता था। भारत में अज्ञात काल से सहस्रों कथाओं, आख्यानों एवं दृष्टान्तों की स्वस्थ परम्परा जन-सुलभ तथा सुबोध भाषा में उपलब्ध होती है।

संस्कृत-साहित्य में ऋग्वेदादि में देव-कथाओं के पश्चात् मनुष्य तथा पशु-पक्षियों को आधार बनाकर आख्यायिकाएं बोलचाल के सीधे गद्य में प्रस्तुत की गईं। अवतारवाद के स्थापन से पौराणिक कथाएं तथा अन्तःकथाएं बड़े सुन्दर और मनोहारी ढंग से व्यास शैली में लिखी गईं। इसके आगे स्पष्ट ही कथा-साहित्य दो रूपों में स्फुट हुआ।

(क) नीति-कथाएं (ख) लोक-कथाएं।

नीति-कथाओं का उद्देश्य नैतिक शिक्षा था। इसमें राजनीति, आचार, व्यवहार का उपदेश तथा गूढ़ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण मनोरंजक कथाओं, लोकोक्तियों, सूक्तियों की सहायता से किया जाता था। इनकी भाषा सरल, व्यावहारिक तथा विषयानुकूल रहती थी। पंचतन्त्र (चौथी सदी), हितोपदेश; (तेरहवीं सदी पूर्व), शुक सप्तति इत्यादि ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं।

लोक-कथाएं—इनमें नीति-कथाओं की अपेक्षा मनोरंजन की अधिकता रहती है। रसिक जनों को आह्लादित करना इनका उद्देश्य रहता है। चमत्कार, रसिकता और अलौकिकता को सरल शब्दों में संयोजित किया जाता था। 'वृहत्कथा' (१ली

शती), 'कथा सरितसागर' (११वीं शती), 'वृहत्कथा मंजरी' (११वीं शती), 'बैताल पंचविंशति' (१२वीं शती) इत्यादि कथाएं उल्लेखनीय हैं।

इनमें रसिकता एवं शृंगारिकता के साथ शौर्य-वीर्य को मिलाकर राजा महाराजाओं के चरित्रों को आलंकारिक शैली में सुन्दर ढंग से संजोया गया था। राजा भोज, वीर विक्रमादित्य इत्यादि लोकप्रिय राजाओं के सम्बन्ध में कई कहानियां प्रचलित हुईं।

इन दोनों व्यावहारिक कथा-रूपों के अतिरिक्त, विशुद्ध साहित्य में की आख्यायिकाओं में बाण भट्ट की 'कादम्बरी' तथा सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में रसप्लावित एवं अलंकृत गद्य का पूर्ण वैभव उपस्थित हुआ है। बहुअर्थी शब्दों का चमत्कार, सामासिक शब्दों की विपुलता तथा दीर्घ वाक्यों की लड़ियां—समष्टितः संस्कृत के श्रेष्ठ गद्य-काव्य को उपस्थित करती हैं। इन कतिपय साहित्यिक आख्यायिकाओं के अतिरिक्त वस्तुतः संस्कृत की कथाओं और आख्यायिकाओं की भाषा-शैली सरल, सुबोध, गतिवान् एवं श्रम निष्पादित मिलती है। उनका गद्य जातक मालाओं और चम्पुओं के गद्य से भी सुगम है।[1]

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने भी आगे जाकर व्यवस्था दी है—"आख्यायिका में शृङ्गार रस में प्रधानता होने तथा सुकुमार वक्ता की सत्ता होने पर भी मसृण वर्णों का प्रयोग कथमपि न्याय नहीं होता। + + + कथा मृदु वर्णों के विन्यास से सज्जित रहती है। अतः, रौद्र रस होने पर भी कथा में अत्यन्त उद्धत रचना का प्रयोग कभी न करना चाहिए।[2] तथा[3]—

भारतेन्दु के पूर्व उपदेश तथा गम्भीर विषयों के स्पष्टीकरण के उद्देश्य के अतिरिक्त मनोरंजन के लिए भी 'बैताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'सभा-विलास' आदि कहानियों की रचनाएं हुई हैं। जन-साधारण इनका कार्य-क्षेत्र तथा जीवन में विभिन्न रसों का संचार इनका अभीष्ट रहता था। अतएव इस युग में भी कथा-कहानियों की भाषा तथा शैली को अत्यन्त बोधगम्य और सरल बनाया गया। न तो इनमें लम्बे-लम्बे वाक्यों को ही गूंथा गया है और न दीर्घ एवं कठिन सामासिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। जन-जीवन को प्रगट करने वाली विषय-वस्तु के अनुकूल ही भाषा-शैली को प्रयुक्त करने का ध्यान रखकर साहित्य की इस विधा को दुरूहता और क्लिष्टता से बचाया गया है।

१. हंसराज अग्रवाल : संस्कृत-साहित्य का इतिहास : पृ० १६१।

२. आख्यायिकायां शृंगारे ऽपि न मसृण वर्णादयः
कथायां रौद्रे ऽपि नात्यन्त मुद्धताः नाटका दौ रौद्रेऽपि
न दीर्घ समासादयः।
　　　　—काव्य प्रकाश : पृ० ३०४।

३. आख्यायिकायां तु भूम्ना तु भूम्ना मध्यम समासा दीर्घ समासे एव संघटने। गद्यस्य विकट निबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकष्य माण त्वात्। कथायां त विकट बन्ध प्राचुर्येणापि गद्यस्य रस बन्धो क्तमौचित्यम् अनुसर्तव्यम्।
　　　　—ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धन : पृ० १४३।

शैली का सम्बन्ध वस्तुतः कहानी के किसी एक तत्त्व से न होकर सब तत्त्वों से रहता है। शैली का प्रभाव उसके सभी अंगों पर पड़ता है। कला की प्रेषणीयता या दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति, शैली पर ही निर्भर रहती है।[1] अतः, कहानी में उपयुक्त शब्द-चयन, पद-मैत्री, सुसंगठित वाक्य विन्यास, अकुंठित प्रवाह, फबती हुई अलंकार योजना, भाषा की चित्रोपमता, लक्षणा, व्यंजना शक्तियों के सफल प्रयोग, हास्य-व्यंग्य का पुट के अतिरिक्त वर्णन-शक्ति व प्रबन्ध-कथन-शक्ति आवश्यक हैं।[2]

आधुनिक युग में कथा, कहानियां, गल्प तथा आख्यायिकाओं को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। साहित्य का कोई भी अंग इतना अधिक जन-साधारण द्वारा नहीं अपनाया गया, जितना कि कथा-साहित्य। जन-जीवन और जगत का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो कथा-साहित्य से अछूता बचा हो। इस स्थिति में जन-जीवन की समीपता कथा-कहानियों की सफलता की पहली शर्त है। आजकल जीवन-संघर्ष के अधिक विषम हो जाने से मानव-जीवन अत्यधिक संकुल हो गया है। इससे कथा-साहित्य को समय की कारा में बद्ध कर दिया गया है। न्यूनतम समय में अधिकतम आह्लाद की प्राप्ति आज के साहित्यकारों का इष्ट है। अतः, इस दृष्टि से आधुनिक कहानियों की लोकप्रियता और लोकोपयोगिता है। स्थान-संकोच में अधिकतम प्रभावोत्पादकता लाने के लिये विशेषतः कहानियों में तीव्रता, घनत्व और उत्सुकता का पूर्ण निर्वाह अपेक्षित है। इसमें व्यर्थ की कल्पनाओं की उड़ान, व्यास-शैली की दीर्घकाय व्याख्याएं और शब्दाडम्बर के लिए कोई स्थान नहीं है। एक वाक्य ही नहीं, एक शब्द की भी अपव्ययता वहां वांछित नहीं है। यहां हिन्दी कथा-साहित्य के सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द का कथन द्रष्टव्य है।[3]

"वहां तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिये, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिये। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिये लिखी जाती है जिनके पास न धन है न समय। यहां तो सरलता पैदा कीजिये, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।"[4]

इससे यह स्पष्ट होता है कि कहानी की भाषा-शैली सरल, सुबोध और सरस होनी चाहिए। उसमें जीवन और सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये व्यावहारिक जीवन के मुहावरे, लोकोक्तियां, हास्य, व्यंग्य, विनोद, लक्षणा, व्यंजना और सरल अलंकार योजना भी हो। कहानीकार में इतनी सहृदयता भी अपेक्षित है, कि वह पाठकों से

१. गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन-काव्य के रूप : पृ० २१७।
२. —वही— —वही— पृ० २१६।
३. साहित्य का उद्देश्य : पृ० ३८।
४. साहित्य का उद्देश्य : पृ० ३८।

आत्मीयता स्थापित कर सके और घरेलू ढंग से हृदय को स्पर्श करते हुए शीघ्र ही अभीष्ट रस या भाव का शब्द-चित्र प्रस्तुत कर दे । आडम्बर, प्रदर्शन और औपचारिकता की चर्चा के लिए इन आत्मीयों के मध्य दोनों ही ओर से आग्रह और आकांक्षा नहीं होती। इसमें कला की विकलांगता भी अपेक्षित नहीं है। आधुनिक डायरी, पत्र या टिप्पणियों की शैली द्वारा जो कहानियां प्रस्तुत की जाती हैं, उनमें कहानियों का वह मुख्य उद्देश्य जन-सुलभता की पूर्ति नहीं हो पाती। इस सत्य का प्रतिपादन प्रेमचन्द के ही कथन से हो जाता है । "यह अंग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है । इनसे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। यूरोप वालों की देखा-देखी यन्त्रों द्वारा डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियां लिखी जाती हैं । मैंने स्वयं भी इन सभी प्रथाओं पर रचना की हैं, पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है।"[1]

कहानियों अथवा कथा-साहित्य में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रहने से वर्णनात्मक शैली सर्वाधिक उपयुक्त रहती है । अतः, हिन्दी-साहित्य में तो द्विवेदी-युग के पूर्व तक कथा-साहित्य में वर्णनात्मक शैली की प्रमुखता रही है। बीच-बीच में प्रसंगानुसार भावात्मक एवं क्वचित मात्रा में विवेचनात्मक शैली के भी दर्शन हो जाते हैं। फिर भी मुख्यतः भाषा की भावात्मक शक्ति का कार्यक्षेत्र कहानियां रहती हैं।

कहानियों में भी उनके विषय तथा प्रकार के अनुसार परिवर्तन वांछनीय है। जैसे घटना-प्रधान कहानियों में भाषा को अधिक वेगवती होना आवश्यक है। इससे वह पहली ही पंक्ति से पाठक को आत्म-विभोर कर सके।

हिन्दी-कहानियों में शैलियों का विकास

आधुनिक कहानियों के द्वितीय चरण में बहुत-सी कहानियों में सम्भाषण शैली का सूत्रपात हुआ । इस शैली के प्रादुर्भाव से कहानियों में कलात्मकता के साथ सजीवता की भी अभिवृद्धि हुई। जयशंकरप्रसाद (ग्राम : १६११), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', (रक्षा-बन्धन : १६१३), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (सुखमय जीवन : १६११), प्रेमचन्द (पंच परमेश्वर : १६१६) इत्यादि कलाकारों ने कहानियों की भाषा-शैली में नवीन आविष्कार किये। इनके अतिरिक्त राजा राधिकारमणप्रसादसिंह (कानों में कंगना : १६१३) चतुरसेन शास्त्री (गृह लक्ष्मी : १६१४), राय कृष्णदास (१६१७), चंडीप्रसाद हृदयेश (१६१६), सुदर्शन (१६२०) इत्यादि उल्लेखनीय कहानीकार तथा शैलीकारों की अवतरणा भी हुई । निस्सन्देह यह द्वितीय उत्थान कहानी-कला तथा शैली की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। संलापात्मक शैली में ही वर्णन, व्याख्या और चित्रण हो जाने से नाटकीयता का आ जाना भी स्वाभाविक है ।

द्विवेदी-युग में ही कहानी के क्षेत्र में तृतीय उत्थान सन् १६२२ में, बेचन शर्मा

१. साहित्य का उद्देश्य : पृ० ३८ ।

उग्र के पदार्पण से हुआ। उग्र उल्कापात की तरह राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों की समस्याओं को साथ में लेकर आये। उनके पश्चात् ही भगवतीप्रसाद वाजपेयी (१९२४), विनोदशंकर व्यास (१९२५), वाचस्पति पाठक (१९२७) आये। द्विवेदी-युग के लगभग पटाक्षेप के समय १९२८ में जैनेन्द्रकुमार जैन की 'खेल और फांसी' कहानी प्रकाशित हुई, जिसमें सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की भाषा-शैली स्फुटित हुई। निस्सन्देह, द्विवेदीजी की प्रदत्त भाषा की पृष्ठभूमि पर हिन्दी कहानियों ने वामनीय-युगों से द्रुत प्रचलन किया और तरुण कहानीकारों के साथ नई शैलियां सामने आईं।

इस प्रकार से द्विवेदी-युग के अवसान तक कहानियों के क्षेत्र में पांच प्रमुख भाषा शैलियां दृष्टिगत होती हैं। इनमें अन्तिम दो शैलियों का प्रचार, प्रसार अथवा विकास नहीं हुआ।

१. वर्णनात्मक शैली।
२. भावात्मक शैली।
३. सम्भाषणात्मक या नाटकीय शैली।
४. पत्र-शैली।
५. डायरी-शैली।

उपन्यास और शैली

आधुनिक जनतन्त्र का साहित्यिक प्रतिनिधि[1] तथा औद्योगिक-क्रान्ति के युग का महाकाव्य-उपन्यास, का क्षेत्र मानव-जीवन के समान बड़ा विस्तृत होता है। साहित्यिक क्षेत्र में महाकाव्य, नाटक और उपन्यास ही ऐसे उपकरण हैं, जहां सामूहिक मानव-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए प्रस्थान-संकोच की शर्त न होकर पूर्णता और विस्तार का आग्रह रहता है। उपन्यास की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं है।"[2] उपन्यास में विचारों की अपेक्षा मनोरंजन की वस्तु अधिक होती है। इसके द्वारा समाज की परिस्थितियों को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है। उपन्यास अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में जन-साहित्य है। अतः प्रसाद गुण को रखना अत्यन्त आवश्यक है।[3]

उपन्यास शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में नाटक की संधियों के एक उपभेद के लिए होता था। 'उपपत्ति कृतोह्यर्थः उपन्यासः प्रकीर्तितः।'[4] आधुनिक उपन्यास तत्त्वतः प्राचीन मान्यताओं और धारणाओं से पूर्णतः भिन्न हैं। उपन्यास-लेखन की आधुनिक कला पाश्चात्य देशों से आई है और आधुनिक भारतीय उपन्यासकारों पर

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल : श्यामा-स्वप्न (ठाकुर जगमोहनसिंह) की भूमिका : पृ० १५।
२. श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० १७५।
३. डॉ० दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र : पृ० १९३।
४. भरत मुनि : नाट्य शास्त्र : २१।८३।

पश्चिम का तद्विषयक ऋण सबको स्वीकार करना होगा।"[1] सामाजिक जटिलता, विषमता और संघर्षों से प्रभावित, प्रचारित एवं उत्पन्न आधुनिक उपन्यास, जीवन के लाभ से उपकृत होकर द्रुतगति से अति लोकप्रियता अर्जित कर सका है। इसका उद्देश्य रसोद्रेक के अतिरिक्त मनोरंजन अधिक है। यथार्थवाद आधुनिक उपन्यासों का प्राण है, जिसका मूलाधार व्यावहारिक शैली है। जनता का साहित्य होने के कारण उपन्यासों की भाषा को कहानियों के समान ही सरस और सरल होना आवश्यक है। उपन्यासों की भाषा का झुकाव बोलचाल की भाषा की ओर रहता है। इसमें विशुद्धता का आग्रह नहीं हो सकता। व्यावहारिक भाषा के ही कारण वस्तुतः उपन्यासों के द्वारा उर्दू-मिश्रित गतिशील एवं प्रवाहमयी भाषा को प्रौढ़ता प्राप्त हुई है। हिन्दुस्थानी भाषा का आदर्श प्रस्थापित करने में उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। विस्तार का संकेत पाकर लेखक को अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए, उसे शाब्दिक आडम्बर तथा लम्बे-लम्बे वाक्यों की पहेलियां बुझवाने में अपनी कला की इतिश्री नहीं करके, सुबोधता पर ही झुकाव रखना चाहिए। इससे सरल वर्णनात्मक शैली छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत करना अधिक व्यावहारिक एवं वांछनीय है।

हिन्दी-उपन्यासों में शैलियों का विकास

१९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों का शैशवकाल था। तात्कालिक हिन्दी-पाठकों की रुचि भी वही शिशु-सुलभ, मनोरंजक, कल्पना प्रधान, रोमांचकारी, नटखटी, इतिवृत्तात्मक उपन्यासों की ओर थी।

आधुनिक युग में सामन्तशाही के पराभव एवं लोक-जीवन की प्रतिष्ठा से रसानुभूति तथा मनोरंजन का प्रमुख साधन-नाटकों की ओर सापेक्षतः दुर्लक्ष्य हुआ। नाटकों के लिए रंग-मंच की व्यवस्था कष्ट-साध्य ही नहीं, द्रव्य-साधय प्रतीत होने लगी और नाटकों का उपक्रम विशेष व्यक्तियों के लिए विशेष अवसरों पर होने लगा। आधुनिक छाया-चित्रों ने भी नाटकों की ढहती हुई प्रतिष्ठा को आघात पहुंचाया। इस स्थिति में जन-साधारण में कहानियों तथा उपन्यासों को गौरव तथा गति प्राप्त हुई। शनैः-शनैः कथा-साहित्य में भी नाटकों और कविता के रागात्मक एवं कल्पना-तत्त्वों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाने लगा। फलतः, इन परिस्थितियों में उपन्यासों को अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई।

उपन्यासों के क्षेत्र में नये अध्याय का उद्घाटन भारतेन्दु-युग में देवकीनन्दन खत्री तथा किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा हुआ। अतः, उन दिनों ऐय्यारी, जासूसी, तिलस्मी उपन्यासों के द्वारा बाबू देवकीनन्दन खत्री के ('चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता-सन्तति', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'नौलखा हार', 'कुसुम कुमारी' इत्यादि); किशोरीलाल गोस्वामी ('कुसुम कुमारी', 'राजकुमारी', 'चपला', 'तारा' इत्यादि); गोपालराम गहमरी ('चतुर चंचला', 'भानुमती', 'नये बाबू', 'बड़ा भाई', 'देवरानी-जेठानी', 'दो

१. श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० १९०।

बहिन' इत्यादि) उपन्यास लिखे गये। इसी के साथ १८८६ में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' प्रथम मौलिक उपन्यास प्रकाशित हो चुका था; परन्तु प्रथम मौलिक उपन्यासकार की स्वस्थ परम्परा में किशोरीलाल गोस्वामी ही मान्य है।[1] इनमें सरल, व्यावहारिक इतिवृत्तात्मक शैली को ही श्रेय है कि जिसने असंख्य पाठकों को हिन्दी की ओर आकर्षित किया। इनसे हिन्दी की वर्णनात्मक शैली को भी प्रौढ़ता प्राप्त हुई।

उपन्यासों का नया युग सन् १९१८ से प्रारम्भ होता है जबकि बाबू प्रेमचन्द का प्रथम सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' समाज की प्रमुख नारी-समस्या को लेकर नवीन चेतना, मर्म-स्पर्शी शैली तथा चित्रण-कला के साथ हिन्दी-उपन्यास-जगत में उपस्थित हुआ। इसने हिंदी-उपन्यासों के द्वितीय उत्थान की सूचना दी। प्रेमचन्द पर रूसी साम्यवाद, भारतीय सामाजिक आन्दोलनों विशेषत: आर्य-समाज और देश के राजनीतिक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा।[2] उन्होंने सदियों से उपेक्षित बृहत् जन-समुदाय को अपनी वाणी और कला प्रदान की। भारतीय वाङ्मय के इतिहास में प्रथमतः किसानों, मजदूरों, विधवाओं, पीड़ितों, कंकालों और कंगालों को अपनी कहने-सुनने का अवसर मिला। वे प्रेमचन्द के माध्यम से बोले और प्रेमचन्द भी बोले उनकी बोली में। वस्तुतः उक्त उपेक्षित अनभिजात्य समाज का सम्पूर्ण चित्रण अंकित करने में कहानियों का तंग दायरा पर्याप्त न था। अत:, उन्होंने उपन्यासों में इस समाज का यथा-तथ्य वर्णन अत्यंत सहानुभूति एवं सहृदयता से किया। उनकी रचनाओं में इस मूक वर्ग की अन्त:वृत्तियों एवं अन्तर्द्वन्द्वों को अंकित किया गया है। विषय और वस्तु के अनुकूल ही प्रेमचन्दजी ने पात्रों की स्वाभाविक भाषा-शैली में वांछित कला का पुट देकर 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'काया-कल्प', 'निर्मला', 'प्रेम-प्रतिज्ञा', 'गबन', 'कर्म-भूमि' और 'गोदान' उपन्यास प्रस्तुत किए। उपन्यासों के लिए आदर्श चलती, विशेषकर मुहावरेदार, सुबोध और सरल वांछित भाषा जिसे अल्प-शिक्षित से लेकर सुशिक्षित तक सभी मनोनिवेशपूर्वक पढ़ सकें।[3] ऐसी भाषा-शैली का सुष्ठ एवं प्रौढ़ रूप सामने आया। इसमें हिन्दी उर्दू-फारसी आदि के व्यावहारिक शब्द और मुहावरों का खुलकर प्रयोग हुआ।

प्रसादजी ने 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती' (अपूर्ण) में यथार्थता के साथ संस्कृत गर्भित, काव्यमयी, आलंकारिक भाषा-शैली का प्रयोग कर उपन्यासों में नई शैली की उद्भावना की। इनके अतिरिक्त शिवपूजन सहाय (देहाती दुनिया), चतुरसेन शास्त्री (हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाषा', 'आत्मदाह', 'नीलमती' और 'वैशाली की नगरवधू'), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ('माँ', 'भिखारिणी', 'कल्लो'), राधिकारमण सिंह ('तरंग', 'राम-रहीम', 'पुरुष और नारी'), चण्डीप्रसाद हृदयेश ('मनोरमा', 'मंगल प्रभात'), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ('गंगा जमुनी', 'दिल जले की आह'), वृन्दावनलाल वर्मा ('लगन', 'गढ़ कुढ़ार') आदि उल्लेखनीय हैं।

१. चतुरसेन शास्त्री : हिन्दी-भाषा और साहित्य का इतिहास : पृ० ५१५

२. श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० १६० ।

३. डॉ० दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र : पृ० १६५ ।

आधुनिक बुद्धिवादी तथा आर्थिक महत्ता प्रधान युग में साहित्य को भी लाभ-हानि के पलड़ों पर रखकर तौला और परखा जाता है। इससे उपन्यासों से हृदय के साथ मस्तिष्क की भी क्षुधा-तृप्ति की आशा की जाती है। उसमें आह्लाद और मनोरंजन के साथ जीवन की समस्याओं के विश्लेषण और उनके समाधानकारक चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत की जाने लगी है। इतना ही नहीं, सामाजिक जीवन के दिग्दर्शन में उपन्यास समाज-शास्त्र का ग्रंथ बनता जा रहा है।[1] उसमें उपयोगिता और गम्भीरता का भी समावेश हो रहा है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मार्मिक विवेचनों को स्थान मिला है।

१६३४ से संभाषण-शैली का सूत्रपात हुआ, जिससे भाषा में स्निग्धता और सजीवता आई।

अंग्रेजी और विशेषत: बंगला के शरदचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मनोवैज्ञानिक चित्रण और विश्लेषणों के अनुकरण तथा प्रभाव से वैज्ञानिक तर्क-वितर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक शैली का प्रादुर्भाव हुआ। द्विवेदी-युग के अवसान पर हिन्दी-साहित्याकाश के क्षितिज पर प्रथमत: जैनेन्द्र (परख : १६२६), इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय इत्यादि कलाकारों के रूप में इन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। इससे बाह्य जीवन के वर्णन तथा चित्रण के साथ अन्तर्भावों की मार्मिक विवेचना का सूत्रपात हुआ। उग्र ने 'चन्द हसीनों के खतूत' से हिन्दी संसार को सर्वथा नवीन पत्र-शैली से परिचित कराया। यह शैली अति वैयक्तिकता के कारण सर्वसाधारण पाठकों का मन रमा नहीं सकी।

उपन्यासों के इस स्तर पर पहुंचने पर एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह भी हुआ है कि प्रारम्भिक उपन्यासों में परिच्छेद के प्रारम्भ में सुन्दर अलंकृत दृश्य वर्णित रहते थे तथा विशेष रसात्मकतापूर्ण पात्रों की बातचीत का आयोजन रहता था, वह यथार्थता के प्रबल आग्रह के कारण समाप्त प्राय हो गया। इसी प्रकार से द्विवेदी-युग में ही पाठक इतना सीधा-सादा नहीं रहा कि जो लेखक की प्रत्येक बात पर हठात् विश्वास कर ले। पाठकों के ज्ञान-क्षितिज के ऊपर उठते ही, उसकी दृष्टि व्यापक तथा गहन हो गई। अब उसे नाम या संकेत से टरकाना सम्भव नहीं रहा। जैसे "प्रिय पाठको! हां तो अब आइये, उस ओर चलें, प्यारे पाठक! इधर का तो यह हाल था, अब उधर का सुनिये······" इत्यादि अनुपयुक्त और मोटी बुद्धिवालों के योग सम्बोधनों का त्याग किया गया। पाठकों को २-४ लाभ की बातें गांठ में बांध लेने की सलाह या उपदेश भी बन्द हो गये। अब एकाग्रमन:, प्रत्युत्पन्नमति, सजग, स्वाभिमानी, प्रौढ़ पाठकों को उपन्यासकार के संकेत पर देखने, सोचने-विचारने या सुख-दु:ख मनाने की बात पसन्द न आने से, इस प्रकार की शब्दावलियों से रहित प्रौढ़ विवेचनात्मक या विश्लेषणात्मक चित्रण, वह तटस्थ भाव से रखने लगा। मानस के सूक्ष्म भावों का अंकन करने में असफल बड़े प्रभावी 'लैंस' भी प्रसाद, प्रेमचन्द, सुदर्शन इत्यादि की कलम की कारीगरी से

[1] डॉ० रामरतन भटनागर : "अब तो उपन्यास समाज की आह्लादक आलोचना से बढ़कर Sociological tract (समाज शास्त्र का ग्रन्थ) बन चला है।"

—साहित्य-समीक्षा : पृ० १३६।

परास्त हो गये। भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय इत्यादि ने उस परम्परा को परिष्कृत कर आगे बढ़ाया। इस प्रकार हिन्दी उपन्यासों में हम प्रधानतः निम्नलिखित शैलियों की प्रमुखता देखते हैं—

१. वर्णनात्मक या कथात्मक भाषा शैली।

२. विवेचनात्मक शैली।

३. पत्र-शैली।

आधुनिक उपन्यासों में आद्योपान्त एक ही शैली प्रवाहित नहीं होती। वस्तु, पात्र तथा परिस्थितियों के अनुसार शैलियों में परिवर्तन होते रहते हैं। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि निबन्धों के सदृश्य लेखकों का व्यक्तित्व कथा-साहित्य में स्फुटित नहीं हो पाता। कथा-सूत्र एवं अन्य तत्त्वों (पात्र, कथनोपकथन, देश-काल, शैली, उद्देश्य)[1] की परस्पर संगति का ध्यान रखने के दायित्व में कथाकार का व्यक्तित्व अधिक उभर नहीं पाता। यही कारण है कि कथा-साहित्य में शैली के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है।[2] कतिपय महाप्राण व्यक्तित्व ही शैली के रूप में कथा-साहित्य में निखर पाते हैं। इतना ही नहीं, भारतीय-विधान की दृष्टि से कथा-साहित्य में रौद्र-रस होने पर भी अत्यन्त उद्धत रचना का प्रयोग कभी न करना चाहिए। कथा मृदु वर्णों के विन्यास से सज्जित रहती है।[3] यह बंधन भी शैलियों के स्वच्छन्द स्फुरण में बाधक होता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कथा-साहित्य में शैलियों की विविधता एवं शैलियों को कोई स्थान ही नहीं है। शैली की विविधता, जीवन-विषमता सापेक्ष होने के कारण, कथा-साहित्य विशेषतः उपन्यासों को मानव-जीवन के चित्र की संज्ञा प्राप्त है। मानव-समाज में अनेक बोलियां, भाषाएं तथा उनकी असंख्य शैलियां रहती हैं। अतः, स्वाभाविकता का यथासाध्य निर्वाह करने के लिए वस्तु, देश-काल और परिस्थिति के अनुकूल शैलियों में विविधता आ ही जाती है। गद्य-शैलियों के निर्माण तथा विकास में कथा-साहित्य—विशेषतः उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपन्यासों ने ही हिन्दी को प्रेमचन्द-सा महान् शैलीकार प्रदान किया है, जिनकी भाषा 'हिन्दुस्तानी' का आदर्श मानी गई है। उनके अतिरिक्त और भी बहुत से हिन्दी के प्रमुख शैलीकार, उपन्यासकार या कहानीकार हैं। इसका कारण यह है कि कथा के साथ शैली को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए लेखकों ने इस क्षेत्र में अनेक प्रयत्न किये हैं।[4] द्विवेदीजी के अवसान के पूर्व ही प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में कई महान् प्रतिभाएं उदित हुईं, जिनमें जैनेन्द्रकुमार, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क इत्यादि विशेषतः शैली की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने शैलियों के

१. श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० १९२।

२. —वही— : पृ० १९३।

३. आनन्दवर्द्धनाचार्य : ध्वन्यालोक : पृ० १४३।

४. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० १५५।

कलात्मक प्रयत्नों एवं प्रयोगों के द्वारा हिन्दी की गद्य-शैलियों में नवीन सफलताएं प्राप्त की हैं। भाषा-शैली के जितने प्रयोग तरुण उपन्यासकारों ने किए, उतने प्रयोग गद्य के सब क्षेत्रों में मिलाकर भी नहीं हुए।[1]

युग के प्रमुख कथाकार और उनकी शैलियां

पं० किशोरीलाल गोस्वामी (१८६६-१९३२ ई०)

गोस्वामीजी भारतेन्दु-युग के उपन्यासों की परम्परा का द्विवेदी-युग में कुशलता-पूर्वक निर्वाह करनेवाले अग्रगण्य हिन्दी के प्रारम्भिक मौलिक उपन्यासकार हैं। देवकी-नन्दन खत्री से ४ वर्ष बाद जन्म लेकर भी, उनसे पहले गोस्वामीजी ने १८९० में 'लवंग लता' उपन्यास से इस क्षेत्र में पदार्पण किया और अन्त तक ये उपन्यास ही लिखते रहे। इन्हें ६५ उपन्यास लिखने का श्रेय प्राप्त है। उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द तथा गोपाल-राम गहमरी को छोड़कर इनका ही स्थान आता है। गोस्वामीजी के प्रमुख उपन्यास—द्विवेदी युग में—'त्रिवेणी', 'कुसुम कुमारी', 'तारा', 'राजकुमारी', 'चपला', 'लखनऊ की कब्र', 'तरुण तपस्विनी', 'मस्तानी', 'सौतिया डाह', 'प्रेममयी', 'पन्नादाई', 'इंदुमती' 'लावण्यमयी', 'चन्द्रावती', 'रजिया बेगम' इत्यादि हैं।

इनकी लेखनी उपन्यासों की कला में अधिक निपुण सिद्ध हुई है। इन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक तथा ऐय्यारी—ऐसे सभी कोटि के उपन्यासों की रचना की है। फिर भी इनके उपन्यासों की मूल चेतना ऐय्यारी ही है। उनके जीवन और वृत्तियों का पूर्ण प्रतिबिंब उनके उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है। घूम-फिरकर नारी-चित्रण पर ही उनकी कलम की कला निखरी है। साथ ही सामाजिक रूढ़िवादिता के प्रति उनकी आस्था से वातावरण में शिथिलता आ गई है। इन्होंने पात्र तथा वातावरण का ध्यान रखकर विभिन्न भाषा-शैलियों का प्रयोग किया है। मुसलमानी वातावरण में फंसकर उनके हिन्दू-पात्र भी उर्दू-फारसी दाँ हो जाते हैं और उनकी भाषा में विशुद्ध उर्दू-फारसी के शब्द मिलते हैं। इसके विपरीत अन्य स्थलों पर उनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ और क्लिष्ट तक हो जाती है, जो कि उपन्यासों में अव्यावहारिक है। इस भाषा का नियामक उनका संस्कृत-मर्मज्ञ एवं कवि का व्यक्तित्व है। सौभाग्य से भाषा के इस रूप को अधिक स्थान नहीं मिला है। फिर भी यह सत्य है कि उनकी भाषा की वैयक्तिकता का रूप सुगठित नहीं हो सका है।[2]

गोस्वामीजी के उपन्यासों की सर्वाधिक व्यापक भाषा-शैली, व्यावहारिक शब्दों में घरेलू बोलचाल की सुबोध भाषा है। इसमें उदाहरण भी रहते हैं, उक्तियां भी और लेखक का स्वयं का अपना मत भी। जैसे—

"फिर दोनों मां-बेटियों ने मिलकर खाली साग-नोन डालकर सिझाया और हंसी

१. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० : ८२।

२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी-गद्य-शैली का विकास : पृ० ११२।

खुशी आधे पेट खाकर दोनों सो रहीं; पर हम यह पक्का कह सकते हैं कि रात को लक्खी की आंखों में जरा भी नींद नहीं आई थी। क्योंकि जब किसी की आंखें किसी की आंखों से लग जाती हैं तो वह फिर जल्दी नहीं लगतीं। किसी ने बहुत ही सही कहा है कि—'बिरही जनके नैन में आवत नींद न नेक'। बात यह है कि यदि आंखों में जरा सी भी किरकिरी पड़ जाती है तो फिर उन आंखों में पैर नहीं रखती; तब जिन आंखों में कोई समा जाता है, उन आँखों में फिर नींद के लिए कहां जगह रह जाती है कि वह बेचारी आ सके और समा सके। सो जबकि नई प्रेमनी लक्खी की आंखों में आज मदन मोहन समा गया है, तब फिर उसकी आंखों में नींद के लिये जगह कहां थी कि वह बेचारी आती या समाती।"[1]

पुराने साहित्यकारों के संस्कारों की रक्षा का प्रयत्न भी उनमें दृष्टिगोचर होता है, जब हम तुकबन्दी, आलंकारिकता तथा प्रकृति के व्यापार में मानवोचित क्रीड़ा-कंदर्प और छेड़-छाड़ का चित्रण किया गया पाते हैं। अलंकारों में विशेषतः शब्दालंकार-अनुप्रास ही अधिक है। बीच-बीच में प्रश्नों के द्वारा उपन्यासकार प्रगट होकर अपनी उपस्थिति भी व्यक्त करता जाता है और भाषा में सजीवता लाने का प्रयत्न करता है। जैसे—

"लक्खी छत पर जाकर ईंधन बटोरने लगी, पर बादल निगोड़े से न रहा गया। वह एक संग उस गुलाब पत्ती-सी सुकुमारी पर टूट पड़ा। फिर पापी पौन क्यों चुप रहता। उसने भी छेड़छाड़ करने पर कमर बांधी। पहले अंचल झटका, फिर सिर से साड़ी सरका दी। इतने पर भी जी न भरा तो एक और ऐसा हाथ चलाया कि जूड़े खुल कर तलुवा चाटने लगे! लक्खी ने बालों की बिनती सुनी और उन दोनों दुष्टों से अपने को बचाने के लिये दो चार लकड़ी उठाई, पर वे छटे हुए लुच्चे कब मानते? एक ने छींटे मारना और दूसरे ने साड़ी सरकाना प्रारम्भ किया! बेचारी लक्खी कहां तक दो दो बदमाशों से लड़ती? लाचार हो, जहां तक हो सका, जल्दी थोड़े बहुत ईंधन लेकर वह नीचे उतर गई। उसके भागते ही क्रोध में आकर पौन और बादल ने खूब धूम मचाई, पर फिर वह कब उन पाजियों के हाथ आती थी! बादल ने बिजली के उजाले में और पौन ने घर में घुसकर कोने-कोने उसे ढूंढ़ डाला फिर वह कब मिलने वाली थी।"[2]

नाटकों की भांति उपन्यासों में भी रंग-मंच होता है। अन्तर यही है कि प्रथम में वह बाह्य और द्वितीय में अन्तः रहता है। गोस्वामीजी अपने उपन्यासों में स्वयं सूत्रधार बनकर पाठकों का निर्देशन एवं मार्ग-दर्शन करने, स्थान व्यक्ति या घटना का परिचय देने और उनका मत जानने के लिए साथ चलते हैं। तात्कालिक अप्रौढ़ या बाल-मनःस्थिति के पाठकों को ऐसा 'गाइड' आवश्यक भी था। इतना ही नहीं, वह पाठकों से सोने का आग्रह करता, पहेलियां बूझता और न बूझने पर उसे 'भकुआ' बनाता है।

१. अंगूठी का नगीना : पृ० १० ।
२. अंगूठी का नगीना : पृ० २-३ ।

इन पदावलियों से भाषा में संलाप या सम्भाषण की सजीवता अवश्य आ गई। परन्तु वह स्वाभिमानी पाठकों को खटकती भी है।

(क) "प्रिय पाठक ! यह प्रेम पत्रिका नहीं है, गुप्त लिपि नहीं है, रहस्य पत्र नहीं है, प्रणय का लेख नहीं है, और कोई गुप्ताभिसंधि भी नहीं है, तथापि वह है सब कुछ !!! उसमें कुछ भी नहीं है, पर खोजिये तो उसमें है, सब कुछ !!!"[१]

(ख) 'ये महाशय कौन थे, इन्हें तो पाठकों ने पहिचान ही लिया होगा ! और यदि किसी ने न पहिचाना हो तो उसके लिए उपन्यास पढ़ना और झख मारना बराबर है।"[२]

हिन्दी-उपन्यासों में कथा-सूत्र को सम्भाषणों के द्वारा आगे बढ़ाने की प्रक्रिया का श्रीगणेश भी गोस्वामीजी ने ही किया था। चुहल, वाक्वैदग्धता और परिहास इन सम्भाषणों का वैशिष्टय है। उनकी इस शैली ने उनके उपन्यासों में सप्राणता लाने में योग दिया है। यथा—

"(रसिकमोहन की ओर देखकर) भाई ! भला इस सम्बन्ध को कोन स्वीकार न करेगा ! परन्तु तुम्हारी बहिन की इच्छा के विरुद्ध तो मैं कुछ भी न कर सकूंगा।"

—रसिकमोइन के कहा—जीजी से मैं पूछ चुका हूँ। वह इस सम्बन्ध को सहर्ष स्वीकार करती है।

कंदर्पमोहन—(हंसकर) वाह तब फिर मुझसे क्या पूछते हैं ? क्योंकि जिस संबंध को लड़के की सिंगिल माँ (माता) और डबल माँ (मामा) ने स्वीकार कर लिया है, उसे लड़के का बाप कब अस्वीकार कर सकता है।[३]

गोस्वामीजी की वर्णनात्मक शैली सर्वत्र एक-सी नहीं रहती है। उनकी रसिक वृत्ति के अनुकूल जहां सरस, सुंदर और भाव-विभोर-कारक प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, वहां उनके वर्णन में गति और शक्ति आ जाती है। अनुप्रास और तुकान्तता भी बढ़ जाती है। एक-से शब्दों की लड़ियां भी निखर उठी हैं। वाक्य छोटे, सरल और साधारण विन्यास के हैं।

"चार बज गये थे; सन्तोषपुर नामक एक छोटे से गांव की स्त्रियां कमर में कलसी दाबे, जल लाने के लिये चलीं। सब अपना-अपना गोल बांधकर झूमती-झामती, हंसती, हंसाती, बलखाती अठलाती और गीत गाती जाती थीं।"[४]

गोस्वामीजी की वर्णनात्मक शैली का एक अन्य स्वरूप भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाता है। इसमें संस्कृत की सामासिक पदावली और अनुप्रास यमक अलंकारों के साथ उपमा व रूपक अलंकारों की शृंखला अति रम्य शब्द-चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। वाक्य

१. तरुण तपस्विनी : पृ० २८।

२. चपला (भाग-१) : पृ० ८८-८९।

३. अंगूठी का नगीना : पृ० ९०-९१।

४. प्रेममयी : पृ० १०।

बहुत लम्बे हैं; परन्तु उनके विन्यास में सादगी है।

"सरोवर में खिली हुई असंख्य कुमुदिनी दिनमणि के आगमण का समाचार सुनकर लज्जा से धीरे-धीरे संकुचित होने लगीं, पुष्करिणी के तल क्रोड़ में नक्षत्र-मंडली-मंडित-मलिन-मृगांक का मनोहर प्रतिबिंब, झिलमिलाता हुआ, हिलता-डोलता, अस्त हुआ चाहता है। उसकी छबीली छटा से गगन-मंडल हंस रहा है; नलिनी-दलगत तरल जल में अस्तोनमुख चन्द्र रश्मि गोते लगा रही है, पुष्करिणी के चारों ओर छिटकी हुई चांदनी सिमिट रही है। वृक्षावलियों के पतों से अंडा फोड़कर पक्षी शावक की भांति जो चन्द्रकला निकल कर पृथ्वी पर फैल रही थी, वह अब बटुर रही है, यद्यपि उषः काल का समय सुहावना और मनोहर है।"[1]

हिंदी के अतिरिक्त उर्दू-फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होने के कारण गोस्वामीजी की भाषा में इन भाषाओं का विचित्र मिश्रण हो गया है। जहां तक भाषा की व्यावहारिकता का प्रश्न है वहां तक तो दूसरी भाषाओं के सरल शब्दों का स्वागत होना अच्छा है; परन्तु इनकी भाषा में कृत्रिमता और कहीं-कहीं विशेष दुरूहता मिलती है। हिन्दी-व्याकरण की बलि देकर गोस्वामीजी ने विदेशी शब्दों का राष्ट्रीयकरण करने का त्रुटिपूर्ण प्रयत्न किया है। संस्कृत के हलन्त और विसर्ग, अरबी फारसी के शब्दों में लगाये हैं, कहीं विशुद्ध हिन्दी के शब्दों के बीच में इन भाषाओं के शब्दों को रख दिया है, अन्यत्र स्वयं ही विजातीय शब्दों की दुरूहता का अनुभव कर कोष्टक में उन्हें स्पष्ट भी किया है और कहीं वह भी नहीं किया। उनके ये शब्द-रूप विचित्र, भद्दे तथा सर्वथा असंगत हैं। यथा :—

(क) मक्तब, हलेतेजा, उल्फ़त में उलझा, मुम्किन।

(ख) अल्किस्सः, फ़ाजिलः, आइंदाः, अहलदः, तौबः, जनाबः।

(ग) अनुवाद में यथा शक्य अपनी रफूगरी की कैसी कारीगरी दिखला रहे हैं + + +[2]

+ + + युवराज राजसिंह अपने को हृदय से वरने वाली राज-कन्या अर्थात् जोरू को उन्हीं देश भक्त और धर्म शत्रु मुसलमानों के हाथ में जाने दोगे?"[3]

(घ) हुरूफ़ (वर्ण माला), बादशाही पंजा (मोहर), छबि (तस्वीर)।

(ङ) अख्तर, इल्तेजा, तरद्दुद, जीस्त, रुखसारों इत्यादि।

निःसंदेह गोस्वामीजी की भाषा-शैली में उत्तर-भारतेन्दु-युग की भाषा की अराजकता, अनस्थिरता और व्याकरण की उपेक्षा, ये सब त्रुटियां थीं। जैसे—करैं, हौं, हई, बनै, सठता, पासवाचार, सभों को, समाप्ती, दबीर, तल्वार, भौतरी, दो बेर ब्याह, चिन्हाई देना, दीपक उकसाय दिया, नीठ-नीठ करके, जलावन की लकड़ियां इत्यादि।

१. तरुण तपस्विनी : पृ० ६।

२. तारा (भाग-१) : पृ० निवेदन-ख

३. तारा (भाग-३) : पृ० ३६।

बाबू गोपालराम गहमरी (१८६७-१९४८ ई०)

द्विवेदी-युग से भारतेन्दु-युग की कड़ी को जोड़कर दोनों युगों में अपनी कीर्ति अक्षुण्य रखनेवाले हिन्दी-साहित्य के शारलॉक होम एवं दीर्घ-कालीन (६३ वर्ष) साहित्य-सेवी गहमरीजी का जन्म पौष कृष्णा ८, गुरुवार, सं० १९२३, गहमर ग्राम जिला गाजीपुर में रामनारायणजी के यहां हुआ था। केवल ६ माह की आयु में ही वे पितृ-हीन हो गये थे, फिर स्थानीय शाला से १८७९ में मिडिल करके १२ वर्ष की आयु में ही अध्यापक हो गये और १८८८ में ससम्मान नार्मल परीक्षा पास की और रोहतासगढ़ में प्रधानाध्यापक हो गये। कुछ समय पश्चात् कलकत्ता के 'भारत-मित्र' के सम्पादक भी रहे तथा १९०० ई० में लौट कर अपने ग्राम गहमर ही में आकर 'जासूस' का प्रकाशन व सम्पादन करते रहे। इन्होंने २०५ उपन्यास, कहानी-ग्रन्थ, नाटक या अन्य गद्य-ग्रन्थ लिखे या अनूदित किये हैं। इनके प्रमुख उपन्यास ग्रन्थ ये हैं—

१. **जासूसी मौलिक**—अजीब लाश, डबल जासूस, जासूस पर जासूस, ठगों का ठाठ, जासूस की जवांमर्दी, जासूस की बुद्धि, भंडा फोड़, डकैत कालूराम इत्यादि ६६ ग्रंथ हैं।

२. **अनुवादित जासूसी**—हीरे का मोल, नील-वसना सुंदरी, मायावी, कपटरूप बाला, जासूस चक्कर में, जय पराजय इत्यादि।

३. **सामाजिक मौलिक**—चतुर चंचला, नए बाबू, बाकी बेबाक् आदमी बनो, ननद भौजाई आदि।

४. **सामाजिक अनुवादित**—माधवी कंकण और कर्म मार्ग।

५. **ऐतिहासिक मौलिक**—अमरसिंह, सत्य घटनाएं, बेबादल का बज, आसमानी कातिल, बड़े में थाली इत्यादि।

गहमरीजी में उपन्यासों के प्रणयन की आश्चर्यजनक क्षमता थी। जासूसी उपन्यासों की परम्परा न उनके पूर्व थी और न पश्चात् वैसी बन सकी। इस क्षेत्र में वे अकेले ही रहे।

इनके उपन्यासों में गद्य-शैली का अध्ययन करते समय हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उन्होंने अंग्रेजी अनुवाद तथा घटना-प्रधान रचनाओं से अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया था। विशेषतः अंग्रेजी के प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासों का गम्भीर अध्ययन कर उनका हिन्दी में भाषान्तर करने का कार्य उन्होंने किया है। इस क्षेत्र में उन्होंने अंग्रेजी के अत्यन्त प्रौढ़ जासूसी साहित्य की 'टेकनिक' को पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। उनके उपन्यास वस्तुतः मस्तिष्क की कारीगिरी तथा दिमागी गोरख धन्धे हैं। उनके उपन्यास तथा कहानियों के प्रवेश-द्वार पर सदा कोई रहस्यमयी गुच्छी पड़ी मिलती है। इसे देखते ही पाठक का कौतूहल जाग उठता है। जासूस कथाकार अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के प्रकाश में निर्भीकता तथा साहस के साथ, किसी क्षीण सूत्र को पकड़कर अंधकारमयी चौड़ी-सकड़ी भूल-भुलैयों में से होकर, पाठक के साथ गुच्छी के मर्म में प्रविष्ट होता है। रहस्योद्घाटन के साथ ही एकाएक वे प्रकाश के द्वार पर आ पड़ते हैं और खेल समाप्त हो जाता है। ऐसी कथा-वस्तु जो स्वयं रहस्यमयी

होती है, रहस्यमयी भाषा के मेल से 'गुरुबेल और नीम चढ़ी' बनकर सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती। इस तथ्य से गहमरीजी खूब परिचित थे। अतः, उन्होंने अत्यन्त व्यावहारिक, देहाती ढंग के वाक्य-विन्यासों सहित प्रवहमान भाषा-शैली का प्रयोग किया। मुहावरों तथा उर्दू- ारसी के सरल शब्दों ने भी उनकी भाषा को गति दी।

पत्र-सम्पादक एवं हिन्दी के प्रचार-प्रसार में विशेष रुचि रखने के कारण भी उन्हें संस्कृत शब्दों और शुद्ध भाषा का मोह छोड़कर जन-व्यवहृत शब्दों को ग्रहण करना पड़ा। भाषा-प्रचारक के रूप में उन्हें प्रसंगानुसार भाषा में चंचलता, चपलता एवं चुहुलबाजी को पर्याप्त स्थान देना पड़ा है। गहमरीजी की भाषा-शैली में आद्योपान्त प्रायः एकरूपता है। प्रसंगानुसार उन्होंने सामान्यतः वर्णनात्मक तथा कथन-शैली का न्यूनाधिक मिश्रित रूप प्रस्तुत किया है। निःसन्देह, उन्होंने पात्र तथा परिस्थिति के अनुसार बहुत से देशज, ग्रामीण तथा व्यावहारिक बोलचाल के अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग से भाषा में सरलता, सुबोधता एवं शैलीगत परिवर्तन लाने का प्रयत्न भी किया है। यथा—लौटती बेर, केतक, कोऊ, मारे घबराहट के, पिछिआना, अनखाकर, ओकी, टूअर-टापर, जिनने, उनने कनिया, घरे इत्यादि।

इस प्रकार की व्यावहारिकता भाषा के सम्भाषणों में सजीवता और सरलता के साथ रोचकता भी मिलती है और एक वातावरण भी निर्मित होता है। जैसे—

"माँ—अरे वे मा बाप के कहे सुने कोऊ अपने मन को बेहाव करे है बेटा? देखो तो तुम्हारे लाने कैसी सुन्दरी कनिया हम ठीक करे हैं। सब बात बरसन से पक्की करी करायी है ओकी आन न मान के कवनो बे मा बाप की टूअर-टापर लड़की से बेहाव करने के लाने आया जाही करत होई का सुन रही है, बेटा?

वृ—सो तो भाई हम अब बात हारि चुके। अब ऊ टरेवाली बात नाहीं आय ओकी तो तुम चरचा करो मति।"[1]

गोपालरामजी की सामान्य कथनात्मक शैली का स्वरूप अति व्यावहारिक है, उसमें साहित्यिक साज-सज्जा, आलंकारिकता, उक्तियां, मुहावरे अथवा विशुद्ध शब्दावली पर ध्यान नहीं रखा गया है। वाक्य-विन्यास में भी सरलता है। विवेचनात्मक तथा व्याख्यात्मक शैली का प्रायः अभाव रहने के कारण उनके वाक्य तथा प्रघट्टक दोनों ही छोटे रहते हैं। इसी प्रकार से ये दोनों ही सुगठित नहीं हैं, उनमें शिथिलता भी है और अप्रांजलता भी। यथा—

"अब इस तरह बांसों पानी पिलाने से नहीं बनेगा उनको खुद जाना होगा। कष्ट होगा। वियोग का दुःख और यातना सहनी होगी। किन्तु क्या करें कुछ उपाय नहीं है। लेकिन बुद्धिमती के लिये यह विचार किया कि पुलीस साहब को कहकर मकान पर रात दिन के वास्ते खूब कड़ा पहरा रख जावेंगे। तब उसे कौन कैसे घर ले जाने की हिम्मत करेगा? यही सब मन में विचार कर उन्होंने दूसरे ही दिन हरिद्वार

१. रहस्य विप्लव: पृ० ७२।

को रवाना होने का पक्का कर लिया।"[१]

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५—६ मार्च १९४७ ई०)

स्वनाम धन्य कवि-सम्राट् हरिऔधजी का जन्म बैशाख कृष्ण ३, सं० १९२२, पं० भोलासिंह के यहां, निजामाबाद में हुआ था। इनके पिता तथा चाचा ब्रह्मासिंह बड़े धर्मशील, सच्चरित्र एवं विद्वान् पंडित थे। पांच वर्ष की आयु में इनके चाचा के द्वारा ही विद्यारम्भ किया गया। पिता तथा चाचा के अतिरिक्त माता सम्पूर्णादेवी द्वारा विशेषतः धार्मिक संस्कार पड़े। श्रीमद्भागवत की कथा से श्रीकृष्ण ने इनके हृदय में शैशवावस्था में ही स्थान बना लिया था। दो वर्ष बाद मदरसे में नाम लिखाया गया और इमामअली ने इन्हें फारसी की शिक्षा दी। संस्कृत-शिक्षण घर पर चलता गया। ये बहुत कुशाग्र थे। मिडिल पास करके छात्र-वृत्ति अर्जित कर बनारस क्वीन्स कालेज में प्रविष्ट हुए। कुछ दिनों में ही अस्वस्थ होने से लौट आये। निजामाबाद में ही संस्कृत, फारसी आदि का अभ्यास किया। वहीं सिक्ख साधू सुमेरसिंह के सम्पर्क और प्रेरणा से साहित्यिक प्रेम जागृत हुआ और कविताएं प्रथमतः प्रसूत हुईं। बंगाली सज्जन तारणीप्रसाद के सामीप्यलाभ से बंगला का अध्ययन और उसके समृद्ध साहित्य का ज्ञान हुआ और उनकी रुचि का परिष्कार भी हुआ।

'वेनिस का बांका' और 'रिपवान विंकल' ये दो उपन्यास प्रथमतः अनूदित किये गये। वे बहुत सफल हुए। 'कानूनगो' की परीक्षा उत्तीर्ण करके उन्होंने ३५ वर्ष सरकारी नौकरी की। वहाँ से मुक्त होकर महामना मालवीय के आग्रह पर काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में सन् १९४१ तक रहे।

गद्य-कृतियां

उपन्यास—मौलिक—ठेठ हिन्दी का ठाठ (१८९९), अधखिला फूल (१९०७), अनुवाद—वेनिस का बांका, रिपवान विंकल।

नाटक—रुक्मणी परिणय (१८९४), प्रद्युम्न विजय व्यायोग (१८९३)।

आलोचनात्मक—हिन्दी भाषा तथा साहित्य का विकास, कबीर-वचनावली की आलोचना।

भारतीय संस्कृति एवं भारतीयता के प्रबल पोषक हरिऔधजी का बहुभाषी विशाल व्यक्तित्व मूलतः काव्य के क्षेत्र में ही स्फुटित हुआ है, फिर भी उनकी गद्य-शैलियों का अपना स्थान है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में उन्होंने हिन्दीएतर किसी अन्य भाषा के सहारे के बिना सुन्दर तथा ओजस्वी हिन्दी लिखने का सफल प्रयत्न किया है। वे साधारण से साधारण व्यक्ति को भी अपने विचार हृदयंगम करा देना चाहते थे। डाक्टर सर ग्रियर्सन ने इस प्रयास की बहुत सराहना की और बधाई दी।[२] उनसे संस्तुत होकर 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' भारतीय सिविल सर्विस परीक्षा

१. योग-महिमा : पृ० ६३।
२. अधखिला फूल : (भूमिका में) : पृ० ६।

में स्वीकृत हुआ। इस दृष्टि से हरिऔधजी के उपन्यासों का गद्य-शैली के विकास में ही महत्ता नहीं है, वरन् ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

हरिऔधजी ने सरलता और स्पष्टता की आवश्यकता की चलनी में छानकर व्यवहृत तथा सुबोध शब्दों से ही विचारों एवं भावों की सफल अभिव्यक्ति की है। संयुक्ताक्षरयुक्त तथा दीर्घ सामासिक शब्द तो इनकी रचनाओं में प्रायः दुर्लभ हैं। क्वचित मात्रा में संस्कृत के तद्भव एवं अपभ्रंश शब्दों को और मुहावरों को पर्याप्त स्थान दिया है। इससे भाषा में हृदयग्राहिता आ गई है।

वर्णनात्मक शैली में हरिऔधजी के सरल वाक्य और भी छोटे हो जाते हैं। यद्यपि कई जगह उन्होंने लघु वाक्य-समूहों को पूर्णविराम से पृथक् न कर अल्पविराम से अलग किया है। इसे हम व्याकरण की भूल न मानकर हरिऔध द्वारा भाषा में गति और प्रवाह-श्रृंखला की उद्भावना का कारण मानते हैं। इससे वे वर्णनात्मक शैली में शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। यथा—

"एक बहुत ही सजा हुआ घर है, भीतों पर एक से एक अच्छे बेल बूटे बने हुए हैं। ठौर ठौर भांति भांति के खिलौने रक्खे हैं, बैठकी और हांडियों में मोमबत्तियां जल रही हैं, बड़ा उजाला है, बीच नें एक पलंग बिछा हुआ है, उस पर बहुत ही सुथरा और सुहावना बिछावन लगा है, पास ही कई एक बढ़िया चौकियां भी पड़ी हैं, इनमें से एक पर एक लम्बा चौड़ा बाजा रक्खा हुआ है, यह बाजा अपने आप बज रहा है, कभी मीठे-मीठे स्वर भरता है, कभी अच्छी-अच्छी गीत सुनाता है, कभी अपने आप चुप हो जाता है।"[1]

वर्णनात्मक शैली में ही रमणीय एवं रसात्मक परिस्थितियों में भावात्मक शैली भी बीच-बीच में आ गई है। हरिऔध की रागात्मक वृत्ति के जाग्रत होने पर कहीं प्रश्नों की झड़ी लग जाती है, अथवा 'आहा' और 'ओहो' की ध्वनियां कर्णगोचर होने लगती हैं। इस समय 'कवि सम्राट्' का कवि-हृदय ही अधिक चैतन्य रहता है। जैसे—

"चांद कैसा सुन्दर है, उसकी छटा कैसी निराली है, उसकी शीतल किरणें कैसी प्यारी लगती हैं। जब नीले आकाश में चारों ओर जोति फैलाकर वह छवि के साथ रस की वर्षा सी करने लगता है, उस घड़ी उसको देखकर कौन पागल नहीं होता? आंखें प्यारी प्यारी छवि देखते रहने पर भी प्यासी ही रहती हैं! जी को जान पड़ता है, उसके ऊपर कोई अमृत ढाल रहा है; दिशायें हँसने लगती हैं; पेड़ की पत्तियां खिल जाती हैं। सारा जग उमंग में मानो डूब सा जाता है। ऐसे चांद, ऐसे सुहावने और प्यारे चांद में काले-काले धब्बे क्यों हैं? क्या कोई बतलावेगा!!! आहा! यह कमल सी बड़ी-बड़ी आंखें कैसी रसीली हैं! इनकी भोली-भाली चितवन कैसी प्यारी है!! इसमें मिसरी किसने मिला दी है!!! देखो न कैसी हंसती है, कैसी अठखेलियां करती हैं। चाल इसकी कैसी मतवाली है? यह जी में क्यों पैठी जाती है? बरबस प्रान को क्यों अपनाये लेती है? क्या इसकी सुन्दरता ही यह सब नहीं करती? ओहो! क्या

१. अधखिला फूल : पृ० ६१।

कहना है।......"[१]

हरिऔधजी शब्द-चयन की दृष्टि से उदार प्रकृति के थे। उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रीय स्वरूप को अपनाया था। समयानुकूल ब्रज-भाषा के शब्दों को ग्रहण करने में क्षति नहीं मानी है। उनके ही शब्दों में "ब्रज-भाषा क्या, समय तो हमको यह बतलाता है कि अंग्रेजी, फारसी, अरबी, तुर्की इत्यादि के वे सब शब्द भी कि जिनका प्रचलन दिन-दिन देश में होता जाता है और जिसको प्रत्येक प्रान्त में सर्वसाधारण भली-भांति समझते हैं, यदि हिन्दी भाषा में आवश्यकतानुसार गृहीत होते रहें, तो भी कोई क्षति नहीं।"[२]

अपने इस आदर्श को वे अपनी भाषा में सर्वत्र उतार न सके। ठेठ हिन्दी में लिखने का निश्चय करके उन्होंने हिन्दी के शिष्ट और परिष्कृत स्वरूप की उपेक्षा की है, जिससे जोत, ऊसम, चौंठी, जतन, पाछे, चेरे, अवाई, भांत, रांड, घूंघले, हम्हीं जैसे प्रयोग किये हैं। व्याकरण की भी बहुत-सी त्रुटियां हुई हैं। जैसे—

(क) हुयें, दिशायें, काले २, अच्छी अच्छी गीत।

(ख) + + आंसू बहाती हुई बिरहणी को रिझाकर अपने मन कीसा करना चाहती है।"[३]

(ग) "एक ओर सूरज अपने तेज को खोकर पश्चिम ओर डूबता है..."
विराम-चिह्नों की उपेक्षा तथा अशुद्ध प्रयोग की त्रुटियां तो बहुत हैं।[४]

बाबू वृन्दावनलाल वर्मा (१८९० ई०—वर्तमान)

द्विवेदी-युग और उनके परिवर्ती युग में अपनी कीर्ति-विभा को अधिकाधिक उज्ज्वल करने वाले महान् ऐतिहासिक कथाकार एवं नाट्यकार वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म झांसी जिलान्तर्गत मऊरानीपुर कस्बे में पूष वदी ८, सं० १९४७ को हुआ था। इनके प्रति-पितामह अनन्दीराव झांसी राज्य के दीवान थे। उनमें राष्ट्र-प्रेम कूट-कूट-कर भरा था। सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-यज्ञ की वे आहुति हुए और यहीं मऊ-रानीपुर में उन्होंने वीर-गति भी पायी थी। वर्माजी प्रारम्भ से ही भावुक हैं। कहानियों में उन्हें विशेष आनन्द मिलता था। उनकी परदादी उन्हें युद्ध-सम्बन्धी घटनाएं एवं लक्ष्मीबाई की गाथाएं सुनाती थी। इससे निर्भीकता, वीर-पूजा एवं इतिहास की ओर इनकी प्रवृति हुई। वर्माजी की साहित्यिक दिशा का निर्देशन एवं चिन्तना का बीज-वपन इसी बाल्यावस्था में हुआ था।

वर्माजी ने साहित्य-रचना १५ वर्ष की आयु से प्रारम्भ की थी। घर की सम्पन्नता में शिक्षा का प्रबन्ध भी व्यवस्थित हुआ और इन्होंने बी० ए०, एलएल० बी०

१. अधखिला फूल : पृ० ६६-६७।
२. अधखिला फूल : भूमिका : पृ० ३१।
३. अधखिला फूल : पृ० ६२।
४. अधखिला फूल : पृ० १९५।

तक का अध्ययन किया। वकालत में विशेष रुचि न थी और न आवश्यकता ही थी। विस्तृत अध्ययन और चिन्तन के अतिरिक्त बाल-संस्कारों को अंकुरित होने के लिए अच्छी जलवायु भी प्राप्त हुई। उन्होंने १९६२ वि० से नियमित लेखन-कार्य प्रारम्भ किया। 'सुधा' और 'सरस्वती' में इनकी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं।

इतिहास के अतिरिक्त पुरातत्त्व, विज्ञान, मनोविज्ञान, साहित्य, मूर्ति-कला एवं चित्र-कला में विशेष रुचि तथा यात्रा, शिकार और संगीत का शौक है।

मूलतः ये नाट्यकार हैं और इसी रूप में हिन्दी संसार में इनकी प्रसिद्धि हुई थी; परन्तु प्रथम नाटक (सेनापति उदाल : १९०९) के पश्चात् ही उपन्यासों के क्षेत्र में आ गये। ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में वे बेजोड़ हैं। इन्होंने कहानियां भी अपने ढंग की अनूठी लिखी हैं, जिनमें ऐतिहासिक एवं सजीव चित्रण मिलता है।

रचनाएं—उपन्यास—गढ़ कुंढ़ार (१९२४), संगम, लगन (१९२८), प्रत्यागत, कुंडल-चक्र, प्रेम की भेंट, विराटा की पद्मनी इत्यादि।

वर्माजी के उपन्यास तथा कहानियां मित्रों की भांति हैं। उनमें उनकी सहृदयता, मातृभूमि-प्रेम एवं स्व-संस्कृति का अभिमान सदैव सजग रहता है। प्रकृति के प्रति उनकी प्रगाढ़ आत्मीयता ने भी उनकी भाषा-शैली में सरलता और स्वाभाविकता प्रतिष्ठित की है। बुन्देलखण्ड की भूमि के असंख्य वृक्षों और वनस्पतियों के नाम गुणादि का उल्लेख करके उन्होंने भाषा में यथार्थ का रंग भर दिया है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के मत से प्रेमचन्दजी के उपरान्त वर्माजी की भाषा उपन्यास-रचना के सर्वथा उपयुक्त है—सर्वत्र सरल, व्यावहारिक और प्रवाहयुक्त।[1]

नाटक—सेनापति उदाल (१९०५), धीरे-धीरे, राखी की लाज।

कहानियां—स्फुटित रूप में प्राप्त।

वर्माजी की भाषा-शैली प्रौढ़ तथा सशक्त है। वीर-भूमि बुन्देलखण्ड की गौरव-गाथाओं ने उनकी भाषा और शैली में स्वभावतः ओज एवं आवेग की प्रतिष्ठा की है। एक-एक वाक्य उनके शब्द-चित्र की रेखा बनकर बैठ गया है। उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं उस चित्र को अलंकृत करती हैं। उनकी इस वर्णनात्मक शैली में चित्रात्मकता का योग होने से ही भाषा को प्रौढ़ता प्राप्त हुई है। फिर भी महत्त्वपूर्ण यह है कि उनकी यह अलंकार-योजना सामान्य जीवन पर आधारित रहती है, उसमें भाव-द्योतन के लिए श्रम नहीं करना पड़ता। प्रसाद गुण उनकी भाषा में सर्वत्र रहता है। जैसे—

"राजपूत का लाल रक्त कुछ इस प्रकार उबला कि जिसका अनुभव उसने पहले कभी नहीं किया था। नसें फड़क उठीं, कलेजा भभक उठा। आंखों से मानो अंगार बरसने लगे। शरीर रोमांचित हुआ। रोम कांटे हो गये। जो कट्टर कलाई तलवार को पकड़े हुई थी वही मूठ के साथ तन्मय हो गई—कलाई में और मूठ में सौहृद भाव संस्थापित हुआ। छाती में वज्रता आई। दांतों की पंक्ति एक दूसरे से जाकर बार-बार टकराने लगी। सम्पूर्ण शरीर से मानो अग्नि वर्षा होने लगी। राजपूत के मन में

१. हिन्दी की गद्य-शैली का विकास : पृ० २५८

यह विचार आते ही, कि अत्याचारी विवेकहीन अरि-समुदाय-रनवास में जा घुसा है, उसकी ऐसी दशा हो गई। राजपूत को अनुभव होने लगा कि पवन मण्डल में बिना पंखों के उड़ सकता है, अपनी तलवार से पर्वतों के टुकड़े कर सकता है। उसे जान पड़ा कि उसके भुज दण्डों में प्रचण्ड बल आ गया है, अमोघ शक्ति समा गई है।"[१]

अपनी वर्णनात्मक शैली में वे पाठकों के सामने बिना अलंकारों, मुहावरों और उक्तियों की सहायता के भी एक दृश्य उपस्थित कर देते हैं। भाषा भावानुकूल एवं भावाभिव्यंजना में सामर्थवान शुद्ध और परिष्कृत रहती है। कथा-साहित्य के उपयुक्त उसमें सरलता, सुबोधता तथा स्पष्टता का आद्योपान्त निर्वाह मिलता है। यथा—

"इस समय दिन के कोई दस बजे होंगे। बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े आकाश में लड़ रहे हैं। मन्द मन्द पवन बह रहा है। उसके झोकों से पहाड़ी के नीचे अवस्थित एक उद्यान लहरा रहा है। धूप अभी कड़ी नहीं हुई है। मेघों के बार बार क्षितिज आर पार करते जाने से सूर्यदेव का ताप कोमल हो रहा है। फिर वाटिका में मन्द मन्द समीर के कारण शीतलता छा रही है। कहीं कहीं बड़े बड़े और घने आम के वृक्ष लगे हुए हैं। इस कारण छाया शान्ति का आनन्द और भी बढ़ा रही है। उपवन तरह-तरह के पुष्पों की क्यारियों से परिपूर्ण हैं। आम्र कुंज की शीतलता का उपभोग करती हुई एक सुन्दरी छोटी सी संगमरमर की चौकी पर बैठी हुई है। नेत्र नीचे की ओर निहार रहे हैं। निकुंज में होकर आनेवाली सूर्य की हल्की रश्मियां उसके मुख की उज्ज्वलता प्रकाशित कर रही हैं।"[२]

वर्माजी ने अपने उपन्यासों में, बुन्देलखण्ड की कहावतों, लोकोक्तियों, मुहावरों इत्यादि के द्वारा सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के निर्माण का कार्य किया है। शब्द-चयन करते समय उन्होंने कहीं अनुदारता प्रगट नहीं की है। सरलता के साथ स्वाभाविकता और सरसता उनकी भाषा-शैली की बान और शान है। इसके लिए उन्होंने संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों को भी स्थान दिया है; साथ ही ग्रामीण, देशज तथा जन-साधारण के व्यवहृत शब्दों को भी ससम्मान ग्रहण किया है। जैसे—

तोखों, डांग, हांका, जल्दी परी, कनूका, गेंवड़े, कवी को, जौन, कदाच आदि।

वर्माजी की भाषा सामान्यतया साफ-सुथरी है। वह कथा-साहित्य के लिए सर्वथा व्यावहारिक एवं उपयुक्त है, फिर भी उसमें प्रान्तीय और स्थानीय शब्दों का प्रयोग खटकता है। जैसे—करैंगे, जावैगा, देखैंगे, भागै-भागै, बातैं, तौ, करौ, दिखलायगा, बतलायगा इत्यादि। निःसन्देह यह स्थिति प्रारम्भिक रचनाओं में अधिक है और परवर्ती रचनाओं में ऐसे प्रयोग कम हो गये हैं।

जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७ ई०)

प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा हिन्दी में अनेक साहित्यिक रूप-वातायनों से विकीर्ण

१. 'सरस्वती' : (तातार और एक वीर राजपूत) : ११।१० : पृ० ४६२।
२. 'सरस्वती' : (तातार और एक वीर राजपूत) : पृ० ४५७।

हुई है। आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं नाट्यकार के रूप में तो उनका शीर्ष स्थान है ही, मूलत: एक कथाकार के रूप में भी उनकी देन अनूठी है। गद्य-क्षेत्र में उनकी महिमा नाटकों में विशेषतः स्फुटित हुई है, इससे उनका जीवन-वृत्त नाट्य-साहित्य में शैलियों का अध्ययन करते हुए दिया गया है।[१]

प्रसादजी की प्रथम प्रौढ़ रचना कहानी 'ग्राम' १६११ तथा प्रथम उपन्यास 'कंकाल' १६२६ में प्रकाशित हुए। गद्य शैलियों की दृष्टि से दोनों ही ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। काव्य की कोमल-कान्त पदावलियां, प्रतीकात्मकता एवं लाक्षणिकता की बांकी झांकी कथा-साहित्य को उपलब्ध हुई। प्रसादजी ने अपने कथा-साहित्य को जनता-जनार्दन के हाथ में सौंपते हुए भी, अपना संस्कृतमयी भाषा का आग्रह, दृढ़ता से निभाया। कवि का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक प्रखर एवं प्राणवान होने से, उसने गद्य-रूपों को भी अपने में समाहित कर लिया है। इससे गद्य-भाषा के अंग-प्रत्यंग में माधुर्य एवं कमनीयता घुल गई है। प्रसादजी जीवन में आनन्द के उद्बोधक तथा उपासक थे। प्रेम उनका शक्ति स्रोत था। अतः, इन तत्त्वों ने उनकी भाषा की साज-सज्जा को बढ़ाया है।

कथाकार प्रसाद ने समाज की आत्मा, हृदय एवं मस्तिष्क का चित्रण बड़ी बारीकी से किया है। समाज की विभीषिकाओं तथा रूढ़ियों पर उनके कटाक्ष अत्यन्त मार्मिक हैं। इन कटाक्षों और व्यंग्यों में समाज के गलित कोढ़ को दूर करने के लिए, उन्होंने ऐसा तेज मलहम-लेपन किया है कि एक बार सम्पूर्ण शरीर सिहर उठता है। नाटकों में जहां वे कहीं भी अपना सिर बाहर निकाल कर अपना अभिमत प्रगट नहीं कर पाते थे, वहां उपन्यासों में उन्होंने स्वतन्त्रता से अपने हृदयोद्गारों को निकाला है। 'कंकाल' समाज का कंकाल रूप है। यथार्थवादी चित्रण में उनकी भाषा-शैली की यथार्थ कला प्रदर्शन करने का अवसर मिला है।

कथाकार प्रसादजी का 'छाया' (१६१२) रूप तात्कालिक मलय प्रवाह द्विवेदी-युग की पूर्णाहुति होते-होते प्रबल 'आंधी' (१६३१) में परिणत हो गया। इस कालावधि में उनकी भाषा-शैली ने एक दीर्घ राज-मार्ग प्रशस्त किया। प्रसादजी की भाषा इस युग-सरणि पर पग रखते हुए अधिक संयत, शान्त और सौकर्यमयी हो गई। बाल-सुलभ चंचलता तथा कौमार्यावस्था की अपरिपक्वता का स्थान संयम, प्रौढ़त्व एवं उत्तरदायित्व ने ले लिया। प्रसाद का व्यक्तित्व रोमाण्टिक छायावाद की छाया में रहकर पुष्ट हुआ है। भावुक प्रकृति और प्रकृति-चित्रण के योग ने उनकी आलंकारिक भाषा को अधिक मधुर, कमनीय और काव्यमय बना दिया है। निःसन्देह उनकी भाषा ने एक लम्बा रास्ता तय किया है और अपनी मूलभूत विशेषताओं को भी साथ रखा है।

प्रकृति-प्रणयी प्रसाद ने प्रकृति के कार्य-कलापों को अपनी रचनाओं में मानव-प्रक्रियाओं से साम्य स्थापित करते हुए चित्रित किया है। प्रकृति में मानवी वृत्तियों को प्रतिष्ठित कर उन्होंने अपनी शैली को संबल प्रदान किया है। संश्लिष्ट पद-योजना एवं

१. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-८

उभयालंकारों की उपस्थिति ने वातावरण-निर्माण में सहायता दी है। उनके शब्द-चित्र अनेक स्थलों पर इतने मार्मिक, हृदय-स्पर्शी और काव्यमय हो गये हैं कि उनमें गद्य-काव्य के आनन्द की प्राप्ति होती है। पढ़ते ही हृदय में गुदगुदी होने लगती है और मादक वसन्त का-सा झोका तन-मन को आह्लादमय कर देता है। ज्ञान की विभा भी तरल होकर हृदय की ओर गतिवान् हो जाती है और वाणी से वाह! की हल्की ध्वनि हठात् ही फूट पड़ती है। रसौचित्य एवं वस्तु-औचित्य के अनुरूप उन्होंने अपनी भाषा में परिवर्तन किया है। जैसे—

(क) "बसन्त की संध्या सोने की धूल उड़ा रही थी। वृक्षों के अन्तराल से आती हुई सूर्य प्रभा उड़ती हुई गर्द को भी रंग देती थी। एक अवसाद विजय के चारों ओर फैल रहा था, वह निर्विकार दृष्टि से बहुत सी बातें सोचते हुए भी किसी पर मन स्थिर नहीं कर सकता। + + + उसका आकर्षण अजगर की सांस के समान उसे खींच रहा था।"[१]

(ख) "उत्ताल तरंगों की कल्लोलमाला अपना अनुपम दृश्य दिखा रही है। नीलाम्बु शिखर के समान तरंगों पर पथ दर्शक स्तूपों की प्रभामयी किरणावली का प्रकाश नील घन में स्थित सौदामिनी को भी लज्जित कर रहा है। चारों ओर जल ही जल है, चन्द्रमा अपने पिता की गोद में क्रीड़ा करता हुआ आनन्द दे रहा है। लहरों के घात-प्रतिघात से अतीव भयंकर गर्जन ध्वनि होती है। जान पड़ता है कि वर्षाऋतु ने इसी समुद्र में ही अपना डेरा जमाया है।"[२]

प्रसादजी की शैली में ओजपूर्ण शैली के दर्शन क्वचित मात्रा में होते हैं। फिर भी उन्होंने ओज गुण-सम्पादन करने के लिए प्रश्नों का सहारा लिया है। यथा—

"क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पद दलित और दुर्दशा ग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरा पृष्ठ पर नहीं बची—उसकी संस्कृति बिडम्बना, उसकी संस्था सारहीन, और राष्ट्र-बौद्धों के शून्य के सदृश बन गई है, जब से सार की अन्य जातियां सार्वजनी भ्रातृ भाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं तब आपके इन खिलौनों से भला उसकी तुष्टि होगी।"[३]

प्रसादजी की, विशेषतः प्रारम्भिक रचनाओं में अनुप्रास के प्रति झुकाव अधिक था। उनकी इस अलंकार-प्रियता का प्रौढ़ और परिष्कृत रूप उनकी परिवर्ती सौम्य, शिष्ट अलंकारों की कमनीयता और माधुर्य में विकसित हुआ है। निस्सन्देह उनका अनुप्रास-विधान हृदय-ग्राही है। जैसे—

"अन्धकार रूपी अंजन के अग्रभाग स्थित आलोक के समान चतुर्दशी की लालिमा को लिये हुए चन्द्रदेव प्राची में हरे हरे तरवरों की आड़ में से अपनी किरण प्रभा दिखाने लगे।"[४]

---

१. कंकाल : पृ० ११६।
२. छाया : (मदन-मृणालिनी) : पृ० ५३।
३. कंकाल : पृ० ८४।
४. छाया : (ग्राम) : पृ० २०।

ऊपर प्रसादजी की जिस प्रौढ़ भाषा-शैली का संकेत किया गया है, वह उनके सूक्ति-वाक्यों एवं विदग्ध प्रयोगों में मुखरित हुई है। ये सूक्तियां उनके जीवन की अनुभूति-ग्रंथियों की भांति सुदृढ़ और सूक्ष्म हैं। इनका एक-एक शब्द प्रसादजी के गहन-गम्भीर चिन्तन का निदर्शक होता है। ये सूक्तियां और विदग्ध प्रयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्मरण दिलाने में भी समर्थ हैं। यथा—

(अ) "दुःख भगवान का सात्विक दान है—मंगलमय उपहार है।"[१]

(आ) "निष्फल क्रोध का परिणाम होता है रो देना।"[२]

(इ) "नारि जाति का निर्माण विधाता की एक झुंझलाहट है।"[३]

(ई) "संसार अपराध करके इतना अपराध नहीं करता, जितना वह दूसरों को उपदेश कर करता है।"[४]

(उ) "स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।"[५]

भाषा को प्रभावी बनाने के लिए प्रसादजी ने भावातिरेक में शब्दों की अनेक आवृत्तियां की हैं। इससे भाषा बलवती, गतिमयी तथा ओजपूर्ण बन गई है। जैसे—

"अनन्त सागर में अनन्त आकाश मण्डल के अनन्त नक्षत्र अपने अनन्त प्रतिबिम्ब दिखा रहे हैं। अहा! जिसकी क्षुद्र रचना में मनुष्य को अनन्त दिखाई पड़ता है वह कैसा अनन्त है। ध्यान से देखो अनन्त जगत अनन्त आकाश के नीचे उसके द्वारा बनाये बिगाड़े जाते हैं।"[६]

भाषा की प्रभाव-प्रशस्ति के लिए प्रसादजी ने शब्द-विन्यास में भी परिवर्तन कर दिया है। भले ही वह व्याकरण-असम्मत प्रतीत होता है; परन्तु इसमें वक्रता और विदग्धता आ गई है। जैसे—

(१) "घरों के भीतर अंधकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है, और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की।"[७]

(२) "सुना है सब छीन लेते हैं भगवान मनुष्य से, ठीक उसी प्रकार जैसा पिता खिलाड़ी लड़के के हाथ से खिलौना! जिससे वह पढ़ने लिखने में मन लगावे।"[८]

प्रसादजी ने अपने वाक्य-विन्यास में अंग्रेजी ढंग का भी अनुकरण किया है और उसमें अंग्रेजी गद्य-शैली के निर्देशक तथा अन्य चिह्नों का प्रचुर प्रयोग कर भावों तथा विचारों का स्पष्टीकरण किया है। यथा—

१. कंकाल : पृ० १५६।
२. कंकाल : पृ० २४४।
३. कंकाल : पृ० २५६-५७।
४. कंकाल : पृ० २९५।
५. कंकाल : पृ० २५६-५७।
६. छाया : (मदन मृणालिनी) : पृ० ५३-५४
७. कंकाल : पृ० २९६।
८. कंकाल : पृ० ३०९।

(क) "कितने राज रक्तपूर्ण शरीर, परिश्रम करते-करते मर-पच गये— उस अनन्त अनल शिखा में—जहां चरम शीतलता है, परम परिश्रम है।"[1]

(ख) "एक कुशल शिल्पी की बनाई हुई प्रतिमा—घंटी—खड़ी रही।"[2]

प्रसादजी ने शब्द-चयन संस्कृत के अक्षय भंडार से किया है। इससे भाषा को प्रौढ़ता एवं शालीनता प्राप्त हुई है। इससे उनकी भाषा को शक्ति मिली है पर गति नहीं। उन्होंने अपनी दृष्टि भाषा की विशुद्धता पर सतत रखी है। अतः, उनकी रचनाओं में उर्दू-फारसी के शब्दों, देशज शब्दों और मुहावरों का भी प्रायः अभाव है। भाषा प्रौढ़ और परिष्कृत है। व्याकरण की भूलें बहुत कम हुई हैं, जो नगण्य हैं। जैसे—

(क) प्रत्येक प्रश्नों के उत्तर भी हैं।[3]

(ख) इधर सरला को बहुत दिनों पर दो अतिथि मिले।[4]

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२२ ई०)

केवल तीन कहानियां —'सुखमय जीवन' (१९११), 'बुद्धू का कांटा' (१९११) तथा 'उसने कहा था' (१९१५) लिखकर गुलेरीजी हिन्दी के अमर कथाकार हो गये हैं। उनका व्यक्तित्व बहुत विशाल और महान् था, जिसकी चर्चा पूर्व अध्याय में[5] की जा चुकी है। 'उसने कहा था' कहानी कला एवं भाषा-शैली की दृष्टि से हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कहानियों में है।

कहानियों के लिए सर्वथा उपयुक्त उनकी भाषा शैली व्यावहारिक है। उसमें सरलता और सुबोधता के साथ प्रवाह और प्रभाव भी है। शब्द-चयन में उदारता होने के कारण उर्दू-फारसी व संस्कृत के प्रचलित शब्दों ने भाषा के रूप को संवारा और सजाया है तथा उपयुक्त अवसर पर मुहावरों ने आकर उसे अनुप्राणित किया है।

गुलेरीजी की कहानियों की सफलता उनकी वर्णनात्मक चित्र-शैली में है। यत्र-तत्र वे अपने सरल शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास से मनोमुग्धकारी शब्द-चित्रों की पृष्ठ-भूमि अंकित करके उस पर कथा-वस्तु को संजोते हैं। जैसे—

"बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकाटवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ का चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की उंगलियों के पोरों को चीरकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षेत्र के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में

---

१. कंकाल : पृ० २२९।
२. कंकाल : पृ० १४०।
३. कंकाल : पृ० ७७।
४. कंकाल : पृ० १३५।
५. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-५।

उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में—हर एक लट्ढीवाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर—'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', ठहरना भाई', 'आने दो लाला जी', 'हटो बाछा'—कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोंमचे और मारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े।"[1]

उन्होंने वातावरण के निर्माण एवं स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए जहां पंजाबी के मूल शब्दों का प्रयोग किया है वहां सेना में व्यवहृत अपभ्रंश शब्दों को भी सुन्दर ढंग से रखा है। जैसे—

पंजाबी—कुड़माई, पुत्तासालू, जल जला, पाधा, बाछा, सोहरा, मंजा, खोते, लाड़ी होरा, मत्था, उदमी, बूटे, तीमियां इत्यादि।

सैनिक अपभ्रंश—कमान, लपटन, रिलीफ, मार्च, रजमेंट आदि।

इसी प्रकार से 'अकाल सिक्खां दी फौज आई! वाह गुरु जी दी फतह! वाह गुरु जी दा खालसा। सत श्रीअकाल पुरुष!!! इत्यादि व्यावहारिक प्रयोगों ने भी उन की कहानी में एक वातावरण का निर्माण किया है। निःसन्देह उनके परिस्थिति अनुकूल शब्दों, उक्तियों अथवा प्रयोगों ने उनकी भाषा की व्यंजना शक्ति में अभिवृद्धि की है; परन्तु कुछ भिन्न देशज प्रयोग बहुत खटकते हैं। जैसे—'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया।'[2] 'हड़का कुत्ता' यह राजस्थान तथा मालवा का देशज प्रयोग है, जो उस वातावरण से मेल नहीं खाता।

गुलेरीजी की प्रभावपूर्ण एवं व्यंजक भाषा का श्रेय उनकी उक्तियों तथा मुहावरों को भी प्राप्त है। आभूषणों में नगीने की भांति वे उनकी भाषा में उपयुक्त स्थलों पर जड़े हैं। जैसे—समष्टितः गुलेरीजी की प्रायः सभी रचनाओं में अकृत्रिम वैयक्तिकता[3] मिलती है। मुहावरे जैसे—

कपाल क्रिया करना, तूती बोलना, मुंह बनाना, आस्तीन के सांप, चुल्लू भर पानी में डूब मरो, जी जलाना, काला मुंह करना आदि।

"चार दिन तक पलक नहीं झंपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर नलौटूं, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े-संगीन देखते ही मुंह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते।"[4]

गुलेरीजी की कहानियों की भाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उनके शब्द-चयन में है। उन्होंने अत्यन्त उदारतापूर्वक व्यावहारिक, चटपटी, भाव-व्यंजक एवं प्रौढ़

१. 'उसने कहा था' : सरस्वती : अक्तूबर १९१५।
२. 'उसने कहा था' : सरस्वती : अक्तूबर १९१५ : पृ० ७१।
३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी गद्य शैली का विकास : पृ० १३९।
४. 'उसने कहा था' : सरस्वती : अक्तूबर १९१५ : पृ० ६२।

भाषा-शैली का सफल निर्वाह किया है, जो कहानियों के लिए सर्वथा उपयुक्त है। उनकी रचनाओं में उर्दू-फारसी ही नहीं अंग्रेजी के भी बहुत से शब्द उपलब्ध होते हैं। साथ ही संस्कृत के विद्वान् होने के कारण संस्कृत के सरल-सुबोध तत्सम शब्द भी मिल जाते हैं। सामासिक शब्द, आलंकारिक बाह्याडम्बर तथा कृत्रिम वाक्य-विन्यास उनकी कहानियों में नहीं है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८६१-१९४६ ई०)

कथा-साहित्य में संवादात्मक शैली के प्रवर्त्तक कौशिकजी का जन्म अम्बाला छावनी में आश्विन कृष्ण १, सं० १९४८ रविवार को हुआ था। इनके पिता हरिश्चन्द्र कौशिक फौज में स्टोरकीपर थे। हरिश्चन्द्रजी के चाचा इन्द्रसेन सन्तानहीन थे और कानपुर में वकालत करते थे। बालक विश्वम्भर को ४ वर्ष की उम्र में उन्होंने दत्तक रख लिया। वहीं स्थानीयशाला में उनका अध्ययन मैट्रिक तक हुआ और इन्होंने उर्दू-फारसी में दक्षता भी प्राप्त की। घर पर हिन्दी और संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त किया। बंगला और अंग्रेजी का भी अभ्यास बाद में किया और 'राबिन' उपनाम से उर्दू में रचनाएं करने लगे। सन् १९०९ में उर्दू से उदासीन हो, हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। द्विवेदी जी का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। सन् १९१२ से हिन्दी में वे नियमित लिखने लगे। 'रक्षा-बन्धन' इनकी प्रथम महत्त्वपूर्ण मौलिक कहानी है। 'कानपुर' के साप्ताहिक 'जीवन' तथा प्रयाग की 'सरस्वती' में इनके बहुत से लेख एवं कहानियां प्रकाशित हुईं।

कौशिकजी कथा-साहित्य की दोनों विधाओं—कहानी और उपन्यास—के समान रूप से सफल कलाकार हैं। प्रेमचन्दजी की भांति कौशिकजी ने भी सामाजिक जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। कल्पना-जगत की कोरी उड़ान उन्हें पंसद न थी। उन्होंने जीवन की साधारण घटनाओं और परिस्थितियों को लेकर ही कलात्मक ताना-बाना खड़ा किया है। गहन अनुभूतियां और व्यापक अनुभव के सम्बल के साथ पारस-कलाकार के स्पर्श से साधारण वस्तु स्वर्णिम-अट्टालिका में परिणत हो गई है। इस कथा-वस्तु के अनुरूप ही कौशिकजी की भाषा-शैली है। सम्भाषण-शैली का कथा-साहित्य में इन्होंने ही सूत्रपात किया।

कौशिकजी ने उर्दू के क्षेत्र में अपने हाथ अजमाकर अपनी शैली को व्यवस्था और स्थिरता दे रखी थी, इससे हिन्दी में पदार्पण के साथ ही उनकी प्रतिभा चमक उठी। उनका विश्वास ही नहीं, सिद्धान्त हो गया था कि प्रत्येक हिन्दी-लेखक को उर्दू का ज्ञान अपेक्षित है, इसके बिना उसकी शैली में प्रवाह एवं प्रभाव नहीं आ सकता।

रचनाएं—'भीष्म' १९१८, 'मां' '२९ तथा 'भिखारिणी' '२९ उपन्यास तथा लगभग ३०० कहानियां इन्होंने लिखी हैं। 'गल्प मन्दिर' '१९ तथा 'चित्र-शाला' '२४ में इनकी कुछ कहानियां संग्रहित हुई हैं। 'दुबेजी का चिट्ठा' हास्य-रस के पत्र हैं। बंगला भाषा से एक उपन्यास 'निशीथ' का भी अनुवाद किया है।

कौशिकजी की भाषा की प्रथम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता पारिवारिक जीवन के सरल और सौम्य सम्भाषण तथा स्वाभाविक चित्रण में है। बातचीत की

स्वाभाविकता का निर्वाह करने के लिए कौशिकजी ने अनेक स्थलों पर अपभ्रंश, घिसे तथा अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया है। पात्रानुकूल भाषा वातावरण-निर्माण के लिए नितान्त आवश्यक है। बोलचाल की भाषा साहित्यिक-भाषा से सदा भिन्न रहती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर सम्भाषण-शैली में उर्दू-फारसी के शब्दों और पद-विन्यास का प्रयोग किया है। जहां कहीं स्वयं कौशिकजी को अपने घिसे शब्दों पर 'सम्भव' होता है, वे कोष्टक में उसका शुद्ध रूप प्रस्तुत कर संशय भी मिटा देते हैं। यथा—

(अ) "अबोध बालिका ने अठलाकर कहा—तो क्या भइया ही के राखी बांधी जाती है और किसी के नहीं? भइया नहीं है तो अम्मा मैं तुम्हारे ही राखी बांधूगी।

इस दु:ख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुस्कराने लगी और बोली—अरी, तू इतनी बड़ी हो गई—भला कहीं मां के भी राखी बांधी जाती है?

बालिका ने कहा—वाह, जो पैसा दे उसी को राखी बांधी जाती है।

माता—अरी पगली! पैसे भर नहीं—भाई ही के राखी बांधी जाती है।

बालिका उदास हो गई।

माता घर का काम-काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुम्हें न्हिला (नहला) दूं।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहऊंगी।

माता—क्यों, नहावेगी क्यों नहीं?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बांधनी है?"[1]

(आ) "तीसरा बोला—गिरस्ती ससुरी में क्या मजा है, रात दिन संसव (संशय) लगा रहता है, यह लाओ, वह लाओ। आज छठी है, आज पासनी है, आज जनेऊ है, आज ब्याह यही लगा रहता है। इसमें क्या, खाने भर को मांग लाए, बस, खा पीले मजे से पैर फैलाकर सोए, न किसी ससुरे का लेना न किसी ससुरे का देना।"[2]

कौशिकजी की वर्णनात्मक शैली अन्य बहुत से कथाकारों की वर्णनात्मक शैली से अधिक सशक्त एवं सप्राण है। उसमें वर्णनात्मकता के साथ कथन-शैली का भी मिश्रण है और चित्र-व्यंजक है। जैसे—

"शाम के सात बज चुके हैं। माघ-मास की शिशिर-समीर धनाढ्यों के ऊनी वस्त्रों को भेदकर उनके शरीर में कंपकपी उत्पन्न कर रही। ऐसे समय में एक अर्द्ध वयस्क भिक्षुक, फटे पुराने कपड़े पहने, शीत से कांपता हुआ, चला जा रहा है। उसकी बाईं ओर एक झोली पड़ी है, सिर पर कुछ लकड़ियां लदी हैं जिन्हें वह बाएं से साधे हुए है और दाहिने हाथ में एक सप्तवर्षीय बालिका का हाथ पकड़े हुए है। बालिका फटा सलूका और एक पुरानी तथा मैली धोती पहने हुए है।"[3]

इनकी कहानियों में विवेचनात्मक शैली का जो स्वरूप स्फुट हुआ है, उसमें

१. उद्धृत—इक्कीस कहानियां : रक्षा-बंधन (सं० राय कृष्णदास) : पृ० ७८-७९।
२. चित्र-शाला (भाग-२) : (परिणाम) : पृ० ५१।
३. चित्र-शाला (भाग-२) : (परिणाम) : पृ० ४९।

वर्णनात्मक शैली की अपेक्षा अधिक प्रांजलता एवं गम्भीरता है। भाषा में उर्दू-फारसी के शब्द कम तथा वाक्य कुछ अधिक लम्बे हो गये हैं। प्रश्न तथा उदाहरणों के द्वारा तर्क की पुष्टि करते जाने से भाषा को भी बल मिला है। गूढ़ता और दुरूहता से तो कौशिकजी की शैली बहुत दूर है। जैसे—

"जो वस्तु मनुष्य को प्राप्त हो जाती है, उसका मूल्य, उसका महत्त्व, उसकी दृष्टि में कुछ नहीं रहता, फिर वह चाहे जितनी मूल्यवान क्यों न हो चाहे जितनी दुष्प्राप्य। मनुष्य सदैव उसी वस्तु की अभिलाषा में ठंडी सांसें भरता है, जो उसे प्राप्त नहीं, जो उसे नसीब नहीं, वह चाहे जितनी साधारण हो, चाहे जितनी मामूली हो। एक लखपति मनुष्य के लिये हजार दो हजार रुपये कोई चीज नहीं। क्यों ? इसलिये कि रुपये उसके पास हैं, उसे प्राप्त हैं। परन्तु जिसके पास सौ रुपये भी नहीं, उसके लिये दो हजार न्यामत हैं, क्योंकि उसके लिये दुष्प्राप्य हैं। संसार का यही नियम है यही चलन है। एक राजा और एक भिखारी के हृदय में उस समय तक कोई अन्तर नहीं, जब तक कि दोनों में तृष्णा, आकांक्षा तथा अभिलाषा भरी हुई है। बाहर से देखने में यदि एक साल दुशाले लपेटे हुए हैं और दूसरा टाट और गूदड़, तो इससे क्या होता है। आग का काम जलने का है। उसे मलमल में लपेटो, तो उसे भी जला देगी और टाट में लपेटो तो उसे भी न छोड़ेगी।"[1]

कौशिकजी ने कथा-साहित्य में व्यावहारिक भाषा के आदर्श का निर्वाह प्रायः आद्योपान्त किया है। बीच-बीच में पाठकों की विशेष रुचि के लिए बड़े और संश्लिष्ट सामासिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा—

"पाठक, आश्चर्य मत कीजिए, यह वही मलीना, धूल-धूसरिता-जीर्ण-शीर्ण-वस्त्राच्छादिता, अर्द्ध-नग्ना रामलाल की कन्या है।"[2]

कौशिकजी ने शब्द-चयन में कभी अनुदार दृष्टिकोण नहीं अपनाया। भाषा में प्रसादत्व एवं प्रभावोत्पादक के साथ पारिवारिक या सामाजिक-जीवन की स्वाभाविक अभिव्यंजना सफलतापूर्वक उनकी कहानियों और उपन्यासों में हुई है। मुहावरे उनकी भाषा को गतिवान बनाने के लिए स्निग्ध पदार्थ हैं। उनके वे मुहावरे भी उसी क्षेत्र के होते हैं, जहां कि वस्तु रहती है। जैसे—

(क)—घनश्याम—'यहां तो वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है, न सावन हरे, न भादों सूखे। गिनी रोटी और नापा शोरवा। आप अपनी कहिए।[3]

(ख)—तो क्या करें ? भाग्य ही खोटे हैं। हमारे देखते देखते जिनके घर में भूनी भांग न थी वे लखपति हो गए, पर हम जैसे के तैसे बने हैं।[4]

शब्द-ग्रहण करने की उदारता में, भीड़-भाड़ में सरल शब्दों के साथ उर्दू-फारसी के खूंख्वार शब्द भी आ गये हैं, जिनकी विकटता का ध्यान रखकर उन्हें कोष्टकों

१. चित्र-शाला (भाग-२) : (पथ-निर्देश) : पृ० १३५-१३६।
२. —वही— (परिणाम) : पृ० ५९।
३. —वही— (पथ-निर्देश) : पृ० १२७।
४. —वही— (सन्तोष-धन) : पृ० ७१।

में बन्द करके स्पष्ट करने का प्रयत्न बार-बार किया है। जैसे—खसलत (स्वभाव), मुफ़सिदों (झगड़ा कराने वालों), जुहला (मूर्ख), मिमियाज़ा (परिणाम), आज़ार (कष्ट), मुख्तलिफ़ (भिन्न), कसोनाकस (सर्वसाधारण), स्याह-कल्ब (कलुषित हृदय) इत्यादि।

कौशिकजी का यह स्पष्टीकरण क्रम नियमित भी नहीं मिलता। अनेक सरल शब्दों को तो स्पष्ट किया गया है पर कठिन और दुरूह शब्द वैसे ही रह गये हैं। जैसे—

"अर्जी यह तो जाहिर बात है कि मज़हबी तग्रस्सुब ही इन झगड़ों की बुनियाद है। हिन्दू और मुसलमान, दोनों में ऐसे सैकड़ों आदमी मिलेंगे, जो इंतहा के तग्रस्सुबी हैं। तग्रस्सुब को ये लोग मज़हब का ज़ेवर समझते हैं। ये ही लोग झगड़ा-फसाद कराने की कोशिश करते हैं।"[1]

उखड़ा हुआ वाक्य-विन्यास और अनगढ़ शब्दों के प्रयोग भी यत्र-तत्र कौशिक-जी में मिल जाते हैं। सौभाग्य से ऐसे स्थल कम हैं। भाषा सामान्यतः परिष्कृत, व्याव-हारिक तथा पात्र और वस्तु अनुकूल है। जैसे—

"पर मनुष्य की प्रकृति के अनुसार कहने की इच्छा न होते हुए भी सहानुभूति के आगे अपने हृदय की उमड़ास रोकने में असमर्थ होकर क्रमशः सब उगल रहे थे।"[2]

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, एम० ए० (१८९१ ई०—वर्तमान)

अत्यन्त भावुक तथा भाषा के धनी राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का जन्म सूर्यपुरा (बिहार) में वैभव और विलास के मध्य हुआ था। इनके पिता राजा राजराजेश्वरीप्रसाद सिंह 'प्यारे' एक ख्याति प्राप्त सुकवि थे, तथा भारतेन्दु, रमेशचन्द्र दत्त, रवीन्द्र कवीन्द्र आदि के घनिष्ठ मित्रों में थे। इससे कलकता में निवास के समय रवीन्द्रनाथ तथा बंगला-साहित्य का प्रभाव भी इन पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। साथ ही छात्रावस्था में तात्कालिक बंग-भंग आन्दोलन, विवेकानन्द की आध्यात्म धारा, अरविन्द घोष का वन्दे मातरम्, राष्ट्र-जागरण आदि ने भी उनके जीवन को स्पर्श किया। दर-बार के राग-रंग, शेरो-सखुन, काव्य-चर्चा, मुजरा-नाच, शिकार, सैर-सपाटा, कीर्तन, हंसी-विनोद और सावन-होली के बीच उन्होंने मानव के विविध रूपों को देखा।[3] इसी से उनकी शैली में विविधताएं मिलती हैं। सन् १९११ में बिहार के संत-साहित्यिक आचार्य शिवपूजन सहाय की प्रेरणा से हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया।

हिन्दी के प्रति अगाध श्रद्धा और अदम्य उत्साह रहने के कारण ये बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति, १५वें के स्वागताध्यक्ष रहे हैं। नागरी-प्रचारिणी-सभा आरा के सभापति भी कई वर्ष रहे हैं।

राजा साहब मूलतः कहानीकार हैं। सन् १९१३ में उनकी प्रथम अत्यन्त भावुक कहानी 'कानों में कंगना' 'इंदु' में प्रकाशित हुई। इस क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति अर्जित

१. चित्र-शाला (भाग-२) : (कर्त्तव्य-पालन) : पृ० १५४।
२. —वही— (सुधार) : पृ० १९।
३. मुरलीधर श्रीवास्तव : बिहार के आधुनिक गद्य-निर्माता : पृ० ५०।

करके ही ये उपन्यासों के क्षेत्र में उतरे। सामाजिक जीवन का चित्रण उनका मुख्य विषय रहता है। वातावरण निर्वाह की निपुणता के साथ परिष्कृत और उच्चकोटि की कला के दर्शन भी एक ही स्थल पर हो जाते हैं।

रचनाएं—तरंग, गल्प कुसुमावली, राम-रहीम, सावनी सभा, पुरुष और नारी, टूटा तारा, सूरदास, नारी क्या : एक पहेली, नव जीवन, प्रेम लहरी और गांधी टोपी।

राजा साहब के व्यक्तित्व की छाप उनकी शैली में बहुत स्पष्ट है। कहानी और उपन्यासों में कथा-वस्तु और अन्य तत्वों के तारतम्य का ध्यान रखते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व की इतनी प्रभावी अभिव्यक्ति की है कि आद्योपान्त वह दृष्टि से ओझल नहीं हो पाता। उनके व्यक्तित्व की बहुत-सी विशेषताएं उनकी शैली में स्फुटित हुई हैं। उनकी भाषा का वैविध्य, अनूठापन तथा काव्यात्मकता रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। विशेषतः कहानियों में उनकी भाषा अधिक सुगठित है।[1] जैसे—

"उसी मुहल्ले में बिरादरी की एक गरीब विधवा थी। अभाव से भरी, स्वभाव से हरी। कामना सी चंचल, वेदना सी विकल। डर की डोरी से उसके पर तो बंधे थे जरूर, पर मन की उड़ान और लहू की दौड़ान लिहाज की आड़ में बराबर जारी थीं। समाज ने सीने पर सवार होकर उससे जीवन का हक भले ही छीन लिया हो, मगर उसकी नस-नस में पैबस्त यौवन के हक को तो कोई छीन न सका था। जिन्दगी सूनी थी, जवानी भरी थी। आखिर जब यौवन उसके बदन पर रंग भर कर उसके मन पर भी रंग भरने लगा, फिर तो रंग की तरंग से वह रंगीन हो उठी। खुदा के घर से उसे रूप और रंग जो मिला हो, पिता के घर में न प्यार मिला, और न पति के घर में शृंगार। मिली थी केवल दारुण फिटकार। पेट की ज्वाला से उस रंग के निखार पर आंच न लगी—यही गनीमत थी। + + +

आखिर करती क्या? उसने खुदा के घर से मिले हुए खजाने में हाथ डाला। दूसरा तो संबल था नहीं। कुदरती अदाओं के जरिए कर्ज अदा करने को ठाना। मृत पति की आत्मा को ऋण-मुक्त करने का तो कोई दूसरा जरिया था नहीं।

जहां आंसू के मोती बेकार हो गए थे, वहां मुसकान के मोती कारगर हो गए। मुंशीजी इन आबदार मोतियों को चुगने लगे। कौड़ी-कौड़ी अदा हो चली। कहां रुपयों का तकाजा देने आते, कहां दिल का तकाजा जता जाते, सूद के हिसाब का कच्चा चिट्ठा तो सन्दूक में पड़ा रह गया, इधर दिल का कच्चा चिट्ठा एक शोख चितवन ने खोलकर धर दिया।"[2]

परिस्थिति की गम्भीरता भी राजा साहब की प्रकृति के रंग में रंगकर रंगीन हो जाती है। कठिनाई से उनकी विवेचना, वर्णन की अपेक्षा संयत, शान्त और गम्भीर रह पाती है कि उनके व्यक्तित्व की अति रसिकता, भावुकता, आह्लाद और मस्ती का प्रवाह आकर उसे प्लावित कर देता है। उसमें नवीन सौंदर्य, अनूठी मिठास और बुद्धि

---

१. शरद : 'राधिकारमणसिंह : व्यक्तित्व और कला' : पृ० १०८।

२. सावनी सभा : पृ० १६-२१।

पुरस्सर कला निखर उठी है। जैसे—

"गोपाल! भगवान की वन्दना के लिए हमारी अन्तर्वेदना से बढ़कर दूसरी कोई साधना नहीं जो जीवन कांटों के वृन्त पर विकास पाता है, वह रूप और रस में गुलाब सा दिव्य होता है। जिस हृदय के कोष में व्यथा का पराग भरा रहता है, वह पारिजात के सौरभ से आप्लुत अमरत्व को पाता है। जिन आंखों में आंसू का निर्झर है, जिन प्राणों में व्यथा का सुर है, जिन शिराओं में पीड़ा की भीड़ है, जिन उच्छवासों में विवशता का नीड़ है, वही करुणा का परिचय भी है। भगवान का आलय भी। भाई, दुःख को वरण करो। इस विष में वह मधु है, जो कभी सुगंध बनकर उड़ नहीं पाता। इस तपिश में वह वसन्त है जो कभी पतझड़ बनकर झर नहीं पड़ता। सुख ढूंढ़नेवाले दुःख पाते हैं, दुःख ढूंढ़नेवाले सुख पाते हैं। भाई, दुःख में सुखी रहो, आंसुओं में हंसते रहो।"[1]

राजा साहब की भाषा में जगह-जगह शब्दों की अति मार्मिक व्यंजना, अलंकार विधान, लाक्षणिक-प्रयोग एवं अनूठा शब्द-चयन मिलकर गद्य-काव्य का-सा आनन्द प्रदान करते हैं। वे चेतना के अन्तःभावों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों आदि का ही चित्रण नहीं करते, वरन् जड़ प्रकृति के मानस के मानवोचित स्पन्दनों को सुन-समझकर मानव से उनका तारतम्य और साम्य स्थापित करते जाते हैं। निःसन्देह उन्होंने अन्तः की अपेक्षा बाह्य कार्य-कलापों का चित्रण अधिक किया है। जैसे—

(क) "आखिर सावन आ ही गया। वही काली बदरिया, वही धानी चुनरिया। वर्षा वधू की वही नीली कंचुकी, वही रंगीली ओढ़नी। बिजलियों की रंग-रलियां, पुरवैया की अठखेलियां। पेड़ों के कंधे पर बेल लपटने लगीं। बेलों पर कलियां मुस्काने लगीं। मेघ की छाती में लौ लगी। प्राणों के पहलू में मुरादों की वेदना जगी। बूंदों की झरी आई। हरियाली की छटा आई। हमारे दिल के कपाट खुल पड़े।"[2]

(ख) "हमारे यहां तमाल-निकुंजों की क्यारी में गुले-लाला की किनारी टंकी थी। लतिका की ललक भी थी, लैला की कसक भी। माशूक की बेवफाई भी थी, परकीया की दिल रुबाई भी।"[3]

राजा साहब ने भाषा को सजीली और रसीली, कटीली और कमनीय एवं प्रभावी और प्रवहमान् बनाने के लिए अनेक 'गुरों' का उपयोग किया है। शब्द-कौशल तो उनकी अपनी विशेषता है ही, इसके साथ ही शब्द विशेष की आवृत्ति, आनुप्रासिक शब्दों का प्रयोग, तुकबन्दी, प्रश्न विरोधाभास, अपह्नुति आदि का भी सहारा लिया है। जैसे—

(क) शब्द-विशेष की आवृत्ति

"एक नई लज्जत, एक नई हसरत, एक नई मसर्रत, एक नई टीस, एक नई

१. सावनी सभा : पृ० ३९-४० ।
२. सावनी सभा : पृ० ३० ।
३. सावनी सभा : पृ० ६ ।

मिठास, एक विषमय रस, एक रसमय विष—एक साथ एकाकार हो गए।।"[1]

(ख) शब्द-समूह तथा एक ही विचार की आवृत्ति

"बड़ा घरवाला जब गरीब होता है, तब उसके जीवन की दसों दिशाएं सूनी हो जाती हैं। भिखमंगे को भीख मांगने में कोई लाज नहीं, मजदूर को कुदाल उठाने में कोई लिहाज नहीं, मगर शरीफ गरीब न हाथ पसार सकता है, न हाथ चला पाता है। उसे तो भूख ही नहीं खाती, शर्म भी खाती है। वह सिर्फ भूखा ही नहीं मरता, लाज से भी मरता है। उसके शिकम में ही भट्टी नहीं जलती, उसकी छाती में भी भट्टी जलती हैं। उसका शरीर ही तिल-तिल नहीं घुलता, जान भी अन्दर ही अन्दर घुलती है। उसके साथ पेट ही का कहर नहीं, दिमाग का भी जहर है। गरीबी की चिता पर शराफत का घी तन और मन दोनों को फूंक डालता है।"[2]

(ग) अनुप्रास तथा लयात्मकता

"जब तक किसी चुलबुली चितवन के चोचले नहीं चलते, तब तक दिल की कली नहीं चिटकती। कहकहे और गुलर्दे, चुलें और चुटकुले। आसमान पर झूमते बादलों की दौड़। इधर उड़ते आंचलों के साये में सागर का दौर। सुराही की जाफरानी सौफी सावन की झरी में मस्ती बिखेरती। मद भरी आंखों में मद बरस कर मन की पपड़ियों को सराबोर कर डालता।"[3]

(घ) जोड़ी के शब्द

अनुप्रासों के आग्रह और कटाक्ष के उद्देश्य से विदेशी शब्द प्रयोग—

"सुनते हैं, सुबह से शाम तक वे दफ्तर में कलम घिसते। साहबों के बूट के तलवों में पेशानी के पसीने की पालिश देते और रिशवत की रूपल्लियों से जेब खनखनाते घर लौटते। घर में आकर गिरस्ती की जांच-पड़ताल, नौन-तेल का मोल-तोल, घी-दूध, गोश्त-तरकारी का हिसाब-किताब, सूद की कौड़ी-कौड़ी का जोड़-घटाव उनका रोजमर्रे का प्रयोग था।"[4]

(ङ) अनूठी प्रश्न-शैली

"तो क्या उन खिड़कियों से गोपाल बाबू के मन का चोर झांक गया? वैराग्य के कपाट के भीतर फांक मौजूद है? अभी वही मन है, वही सिहरन है, वही चितवन है वही स्पन्दन है? यह सारा साधन कुछ मन का मनन नहीं, कोरा आत्म प्रवचन है?

१. सावनी सभा : पृ० २१।
२. सावनी सभा : (बाप की रोटी) : पृ० १३३
३. सावनी सभा : पृ० ३।
४. सावनी सभा : पृ० १८।

मेरे रहस्य का पर्दा और भी निविड़ हो गया। प्यास है, तो फिर पीते क्यों नहीं? भूख है, तो फिर चखते क्यों नहीं? प्यास है, तो फिर उपवास क्यों? और संन्यास है, तो फिर प्यास क्यों? कामना है, तो फिर यह साधना कैसी? और साधना है, तो फिर कामना कैसी?"[१]

(च) अपह्नुति साथ ही विरोधाभास

"आज भी ठण्डी हवा चलती है, आसमान पर घटा घहराती है, छत पर बूंदों की झड़ी बंधती है। मगर हमारे लिए तो हवा चलती नहीं, सिसकती है, बूंदें बरसती नहीं, रोती हैं, बादल गरजते नहीं चीखते हैं, बिजली चमकती नहीं तड़पती है। बादल तो उठते हैं, हौसले नहीं उठते। लब तक प्याली तो उठती है, वह रंगीनी—वह मस्ती—नहीं उठती। जो रंगीला जवान सावन के यौवन में रूह फूंक देता था, वह सावनी समा की तरह उठा और मिट गया।"[२]

(छ) मार्मिक उक्तियां एवं विदग्ध प्रयोग

(१) "ज्यों ज्यों हम बाहर से रिक्त होते जाते हैं, त्यों त्यों भीतर से भरते जाते हैं। सम्भवतः जीवन का शून्य होना मन का भरना है।"[३]

(२) "मान, ईमान और अभिमान—ये तीनों खानदानी देन हैं।"[४]

(३) "नारीत्व के भूषणों का भूषण लज्जा उनके सर की शिरोभूषा न थी।"[५]

(४) "अभाव की प्रचंड आंच से भी जिसे आंच नहीं लगती, वह है, बेटी की उम्र की बाढ़।"[६]

(५) "कुली बेकार से कुलीन बेकार कहीं विकराल है।"[७]

(६) "जब गरीब की बेटी बाप की रोटी हो जाती है, तब वह उसे बोटी-बोटी कच्चा चबा डालने में भी नहीं हिचकता। फिर चबा तो वह डालता है, मगर पचा नहीं पाता, वह कोढ़ की तरह फूट निकलती है।"[८]

(७) "भगवान भी लक्ष्मी के पति हैं, दुखिया का पति कौन है, पता नहीं।"[९]

---

१. सावनी समा : पृ० ४२।
२. सावनी समा : पृ० २।
३. सावनी समा : पृ० ४१।
४. सावनी समा : पृ० ६३।
५. सावनी समा : पृ० ६४।
६. सावनी समा : (बाप की रोटी) : पृ० ११८।
७. —वही— —वही— पृ० १३३।
८. —वही— —वही— पृ० १३६।
९. —वही— —वही— पृ० १४०।

(ज) अनगढ़, अटपटे और अल्हड़ प्रयोग

(१) "+ बगल में ही हम हुक्के की तरह मुंह बाये टापते रहें ?"[१]

(२) "बचपन ही में बीबी बेचारी टन बौल चुकी थी।"[२]

(३) "वाह यार ! तुम कहां से चू पड़े ?" मैंने छूटते ही पूछा।[३]

राजा साहब ने अपनी सशक्त, आह्लादकारी एवं हृदयग्राही अभिव्यक्ति के लिए शब्द-चयन में किसी प्रकार का कठोर निश्चय नहीं किया था। पात्र तथा वातावरण के अनुकूल परिवर्तन करके अधिकतम प्रभाव उत्पन्न करना उनका अभीष्ट था। सच पूछा जाय तो उनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता, उनके शब्द-चयन में ही है। वैसे स्वाभाविक रूप में उनकी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों पर कोई पाबन्दी नहीं है। इतना ही नहीं, संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा उर्दू-फारसी के शब्द उनके अधिक कृपापात्र हैं। मुसलमानी वातावरण प्रस्तुत करने में तो उन्होंने उर्दू-फारसी कलम का ही इस्तेमाल किया है। जैसे—

"हमारी बस्ती मुंशियाना बजेदारी के लिए मशहूर थी। नामीगरामी मुंशियों का अखाड़ा था। अरबी-फारसी का दौर दौरा। शुस्ता जबान-शीन-काफ से चुस्त-दुरुस्त। हमारी बिरादरी में तो चन्द ऐसे बोकरात थे, जो बड़े-बड़े आलिम-फाजिल मौलवियों के कान तराश लेते। बाज-बाज तो अल्लाह के बन्दे सूफियों के खानकाह के मुरीद भी थे और पण्डित पुरोहित के चरणोदक को सर पर रखकर परलोक भी संवार रखते।"[४]

अत्यधिक भावुक एवं रसिक हृदय राजा साहब की भाषा में भावातिरेक के कारण व्याकरण की दृष्टि से सामान्य त्रुटियां मिलती हैं। ऐसी त्रुटियां वाक्य की अपूर्णता सम्बन्धी ही अधिक हैं। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में ही 'अरबी-फारसी का दौर दौरा' एक अपूर्ण और अस्पष्ट वाक्य है। फिर भी अपनी विशिष्ट शैली के क्षेत्र में वे बेजोड़ हैं। इसमें सन्देह नहीं।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०)

द्विवेदी-युग में, जन-जीवन के सर्वाधिक सफल कलाकार एवं लोकनायक, उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द का जन्म श्रावण कृष्णा १०, सं० १९३७ को भारतीय कला और संस्कृति के केन्द्र काशी के समीप लमही ग्राम में हुआ था। इनके पिता अजायबराय (कायस्थ) बहुत साधारण स्थिति के थे। वे डाकघर में क्लर्क थे।

इनका वास्तविक नाम धनपतराय था। शिक्षा का श्रीगणेश पांच वर्ष की उम्र से हुआ और उन्हें तात्कालिक परिस्थितियों में प्रारम्भ में उर्दू-फारसी पढ़ाई गई। सात वर्ष की अवस्था में ही वे मातृ-स्नेह से वंचित हो गये और उन्हें विमाता के कठोर शासन

१. सावनी समा : (मां) : पृ० १९५।
२. सावनी समा : पृ० १७।
३. सावनी समा : पृ० ३४।
४. सावनी समा : पृ० ८।

में रहना पड़ा। वास्तव में प्रेमचन्द अभाव में उत्पन्न हुए। अभाव में पले और अभाव में ही बड़े हुए। शिक्षा की व्यवस्था भी उनकी ठीक से न हो सकी। बड़ी कठिन परिस्थिति में १८९९ में एंट्रेंस परीक्षा पास करके वे अध्यापक हुए। उर्दू-फारसी के उपन्यासों व अन्य रचनाओं के प्रति उनकी रुचि विद्यार्थी-अवस्था में ही विशेष थी। अब उर्दू में नवाबराय नाम से लिखने भी लगे थे। सन् १९०० में 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' उनकी प्रथम रचना कानपुर के उर्दू 'जमाने' में प्रकाशित हुई। उनका साहित्यिक जीवन राजनीतिक जीवन से प्रारम्भ होता है।

इसके कुछ वर्ष बाद ये शिक्षा-विभाग में सह-सहायक निरीक्षक हो गये; परन्तु लगातार दौरों के कारण उनका स्वास्थ्य ठीक न रह सका। इसमे वे बस्ती के सरकारी स्कूल में अध्यापक हो गये। इसी कालावधि में उन्होंने बी० ए० तक का अध्ययन पूर्ण किया। देश में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रभाव उनके हृदय पर बहुत गहरा पड़ा—उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और आन्दोलन को सक्रिय योग दिया। आर्थिक परिस्थितियों ने उन्हें मारवाड़ी विद्यालय में (सन् १९२१) शिक्षक होने को विवश किया, पर वे वहां न रुक सके और काशी आकर 'मर्यादा' का सम्पादन करने लगे। प्रेमचन्दजी ने राष्ट्रीय परिस्थितियों और द्विवेदीजी के आवाहन पर जून, १९१६ से 'सरस्वती' में 'पंच-परमेश्वर' कहानी से हिन्दी-सेवा स्वीकार कर ली और वे हिन्दी में बराबर लिखते भी रहे। साथ ही सम्पादकीय जीवन के साथ सतत साहित्य-सेवा करने लगे। काशी-विद्यापीठ में वे प्रधानाध्यापक भी कुछ दिन रहे और 'माधुरी', 'हंस' तथा 'जागरण' पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। बम्बई की एक फिल्म कम्पनी के आमंत्रण पर बम्बई भी गये; परन्तु वहां के विलासी एवं कृत्रिम जीवन से अरुचि होने से वापिस चले आये।

रचनाएं—

कहानियां—'मानसरोवर' (आठ भाग) प्रमुख कहानियों के संग्रह।

उपन्यास—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रेम-प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, सेवासदन, गोदान, मंगल-सूत्र।

नाटक—संग्राम, कर्बला, रूठी रानी, प्रेम की वेदी।

निबन्ध—कुछ विचार, कलम तलवार और त्याग।

जीवन चरित्र—दुर्गादास, मौ० शेख सादी।

बालोपयोगी—टाल्सटाय की कहानियां, जंगल की कहानियां, कुत्ते की कहानी, मनमोदक।

अनुवाद—सृष्टि का आरम्भ, फिसाने आजाद, अहंकार, हड़ताल, चांदी की डिबिया, न्याय।

प्रेमचन्द के जन्म और मृत्यु के बीच के ५६ वर्षों के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालने से हमें ज्ञात हो जाता है कि उन्हें अपने सम्पूर्ण जीवन भर दुःख, प्रतारणा, अभाव और कठिनाइयों से संघर्ष करना पड़ा है। आपत्तियों और आपदाओं के सहस्रों थपेड़े खाकर ही उनका व्यक्तित्व इतना ठोस और महान् हो सका। मन, वचन और

कर्मों से एकता उनके व्यक्तित्व का गुण था। वे स्वयं जीवन-संघर्ष के अनन्य सेनानी थे, इससे चित्रण में अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की एक सत्य सत्ता है। संघर्षों ने उनके आत्म-विश्वास को जगाकर दृढ़ किया है और अध्ययन अध्यवसाय ने उसकी अभिव्यंजना शक्ति को प्रदीप्त किया है। शरीर से कृश, वृत्ति में दृढ़ तथा कृति में एकनिष्ठ इस महर्षि की हड्डियां दधिचि की अस्थियों-सी सुदृढ़ तथा त्यागमयी थीं; इन्हीं हड्डियों से यह कलम का मजदूर दारिद्रय, प्रवंचना, प्रतारणा आदि दानवों से अहर्निष लड़ता रहा। उसे ईश्वर का भी भरोसा नहीं था। वे धर्म को ढोंग मानने पर, मानवता की पूजा को इष्ट बनाये थे। उनकी दृष्टि में वह धर्म धर्म नहीं जो मानव मानव में भेद उत्पन्न करे। वे अखण्ड, असीम, मानव-मात्र की सद्वृत्तियों में ही अपनी श्रद्धांजलियां भेंट करते थे। उनके ईश्वर का निवास मन्दिर, मसजिद अथवा गिरजे में नहीं, वरन् मानव के सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं में व्याप्त है। अतः, वे वास्तविक अर्थ में जन-समह (Mass) के चितेरे थे।

इसी से उनकी भाषा में सरलता और व्यावहारिकता है। वे जनता को भी जानते थे और उसकी भाषा को भी, वहीं से उन्हें शक्ति मिली थी।[१] भाषा के क्षेत्र में संकुचितता उन्हें कदापि पसन्द न थी। उनके मत से "जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहां मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी आदि सभी जातियां मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है।"[२] यही कारण है कि उन्होंने वहीं काशी में रहकर प्रसाद-जी की शुद्ध संस्कृत-निष्ठ आलंकारिक, काव्यात्मक शैली और साहित्यिक भाषा का अनुकरण न करके, दैनिक जीवन की बोलचाल की भाषा को अपनाया। उनके पास कोई दुराव, छिपाव या प्रदर्शन की भावना नहीं थी। उनकी भाषा-शैली ही उनकी हिन्दी-साहित्य को सबसे बड़ी देन है और उसमें ही उनकी लोकप्रियता का रहस्य है। वे 'उपन्यास-सम्राट्' भी इसी विशेषता के कारण हुए। साहित्य के इस महान् तपस्वी ने अपने जीवन को अभावों की विदग्ध भट्टी में सतत जलाते हुए, देश के कोटि-कोटि निरीह एवं मूक मानवों का यथा-तथ्य वर्णन करके साहित्य को अमूल्य भेंट प्रदान की।

भारतीय सामाजिक जीवन के चित्रण की अपूर्व परम्परा का सूत्रपात तथा सदियों के उपेक्षित मजदूरों और किसानों की, जो अभी तक साहित्यिक अछूत बने थे, सरस्वती के पवित्र मन्दिर में प्रतिष्ठा की। हिन्दी में व्यक्ति के स्थान पर वर्ग का चित्रण प्रारम्भ हुआ। जनता-जनार्दन कला का साध्य और साधन बने।

प्रेमचन्दजी ने साहित्यिक क्षेत्र में भाषा की दृष्टि से एक लम्बी मंजिल तय की है। जिस समय वे उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी में आये, उस समय उनका हिन्दी के शब्दों और

१. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रेमचन्द : पृ० १७५।
२. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १५५।

उसके विन्यास पर अधिकार न था। वस्तुतः वे विद्यार्थी थे। भले ही उनकी अभिव्यक्ति-कला स्फुटित हो चली थी और लेखनी मंजने लगी थी; परन्तु हिन्दी में आने पर उनका आत्मविश्वास दृढ़ हुआ। नये अध्ययन और अनुभवों ने भी उन्हें संस्कारित किया और उनका कच्चापन दूर हुआ। प्रारम्भिक रचनाओं में जो भाषागत कृत्रिमता, सप्रयास शब्द-योजना और शिथिलता का आभास मिलता है वह क्रमशः दूर हुआ। उन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार कर संस्कृत तथा तत्समता प्रधान हिन्दी के शिष्ट प्रयोगों को अंगीकृत किया। कहानी के क्षेत्र में 'पूस की रात' तथा उपन्यासों में 'मंगल-सूत्र' में उनकी शैली का विकास स्पष्टतः लक्षित हो जाता है।

वर्णनात्मक शैली में प्रेमचन्दजी ने स्थान, घटना अथवा परिस्थिति के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से कलाकार क्रमशः अपने अभीष्ट प्रसंग को सरल, सुबोध और स्पष्ट ढंग से रखता है, कि आंखों के सामने एक दृश्य उपस्थित हो जाता है। प्रभावी एवं मोहक अभिव्यक्ति के उद्देश्य से मुख्य वस्तु को एक सुन्दर पृष्ठ-भूमि भी प्रदान करने का उनका प्रयत्न रहता है। यह कार्य वे वर्णन के पूर्व ही कर देते हैं अथवा पश्चात् १-२ वाक्यों के द्वारा भी वह पृष्ठ-भूमि बना दी जाती है। तथ्य तो यह है कि वे कहीं अधिक विस्तार के साथ और कहीं संक्षिप्त में या संकेत रूप में अपने चित्र की सारी रेखाओं को स्पष्ट कर देते हैं और पाठकों की बुद्धि पर कुछ भी नहीं छोड़ते।[1] इसका कारण यह हो सकता है कि स्वयं प्रेमचन्दजी के मानसिक संगठन में कल्पना को स्थान प्राप्त नहीं है, इससे उन्होंने अपनी शैली को भी तदनुरूप रखा है। जैसे—

"संध्या समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले से ही फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान इलायची, हुक्के-तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था। हां, वह स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ जरा दूर पर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता था, तब दबे हुए सलाम से उसका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलख युक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब यहां भी पंचायत शुरू हुई। फर्श की एक एक अंगुल जमीन भर गई पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में से केवल वे ही लोग पधारे थे, जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़ तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असम्भव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआं निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली गलौच करते और कोई रोते थे। चारों ओर कोलाहल मच रहा था। गांव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झुण्ड के झुण्ड जमा हो गये थे।"[2]

प्रेमचन्दजी सच्चे अर्थों में श्रेष्ठ कलाकार थे। उन्होंने मानव-मानस की भांति प्रकृति की पगडंडियों में भी खूब यात्राएं की थीं। इससे उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकृति-

१. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० १७८
२. प्रेम-द्वादशी : (पंच-परमेश्वर) : पृ० १४९ ।

चित्रण बड़ी कुशलता से अंकित किया है। प्रेमचन्दजी के लिए प्रकृति जड़ नहीं है। उसमें भी मानव के भाव, विचार, अनुभूतियां, क्रिया-कलाप आदि सभी प्रक्रियाएं हैं। मानव और प्रकृति परस्पर नाना सम्बन्धों में आबद्ध रहते हैं और समय-समय पर एक-दूसरे के प्रति संवेदनाएं प्रगट करते जाते हैं। महान् कलाकार जयशंकर प्रसाद ने भी प्रकृति को अपनी वर्णनात्मक शैली का आलम्बन बनाया है। भेद यह है कि प्रसादजी की प्रकृति प्रधानतः उनके रोमांस की प्रतीक और सामग्री है; परन्तु प्रेमचन्द की प्रकृति जीवन की द्योतक और उसका प्रारूप है। प्रेमचन्दजी ने आवश्यक और उपयुक्त अवसरों पर प्रकृति की सहायता ली है। जैसे—

"अरावली की हरी-भरी झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवन्त नगर यों सो रहा है जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें प्रेमोद्गार से निकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हें से मुख में न समाकर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण-किरणों में नहाकर माता का स्नेह सुन्दर मुख निखर गया है और बालक भी अंचल से मुंह निकालकर, हुकुमता है और मुसकुराता है पर माता बार बार उसे अंचल से ढक लेती हैं कि कहीं उसे नजर न लग जाय।"[1]

प्रेमचन्दजी केवल सामाजिक जीवन के चित्रकार ही न थे, वरन् स्वयं अनुभूत-जीवन द्रष्टा, मनोविज्ञान-वेत्ता एवं समाज-शास्त्री भी थे। एक प्रबुद्ध सेनानी की भांति स्वयं उन्होंने अपने सामाजिक जीवन में सतत संघर्ष किया और अपने आस-पास के किसान-मजदूरों को भी ध्यान से देखा था। नगरों में भी वे रहे थे, अतः, वहां के जीवन से भी परिचित थे। इसी से समाज और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण और व्याख्या वे बड़ी मार्मिकता और कुशलता से कर सके। मानस-जगत के प्रत्येक भाव एवं उच्छ्वासों से वे परिचित थे, इससे उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त सजीव और सुंदर हैं। उनकी व्याख्यात्मक शैली इसमें बहुत सक्षम सिद्ध हुई है।

हिन्दी-गद्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषणपूर्ण शैली का सफल प्रवर्त्तन प्रेमचन्दजी के द्वारा हुआ है। मानस की असंख्य वृत्तियों-प्रवृत्तियों, भावों-अनुभावों का चित्रण करने में उनकी भाषा भी सक्षम है। उनकी इस मनोविश्लेषणात्मक शैली में भाषा का प्रौढ़ तथा परिष्कृत रूप प्रस्तुत हुआ है।

अपने द्वारा प्रस्तुत किसी तथ्य के समर्थन में वे अपनी व्याख्यात्मक शैली में तर्क करते हैं और उदाहरण भी देते जाते हैं। कभी-कभी तो यह तर्क या उदाहरण एक शृंखला में एक-दूसरे का हाथ पकड़े चले आते हैं और पाठक को उनका मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है। जैसे—

"विवाह एक धार्मिक व्रत है, एक आध्यात्मिक प्रतिज्ञा है, जब हम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, जब हमारे पैरों में धर्म की बेड़ी पड़ती है, जब हम सांसारिक कर्तव्य के सामने अपने सिर को झुका देते हैं, जब जीवन का भार और उसकी चिन्ताएं हमारे

१. रंगभूमि : पृ० ४५७।

सिर पर पड़ती हैं, तो ऐसे पवित्र संस्कार के अवसर पर हमको गाम्भीर्य से काम लेना चाहिए। यह कितनी निर्दयता है कि जिस समय हमारा आत्मीय युवक ऐसा कठिन व्रत धारण कर रहा है उस समय हम आनन्दोत्सव मनाने बैठें। वह इस गुरुतर भार से दबा जाता हो और हम नाच रंग में मस्त हों।"[1]

स्वतंत्रता के साहित्यिक सेनानी एवं अहर्निश चिन्तक प्रेमचन्द में सरस भावात्मक शैली की धारा सतत संघर्ष की ऊष्मा में शुष्कप्राय हो गई थी। समाज की तात्कालिक निर्धनता, भुखमरी और अज्ञानावस्था पर धनवानों और बलवानों का शोषण और अत्याचार देखकर जो हूक उठी थी वही उनका साहित्य हुआ। अतः, आह्लादपूर्ण सरस भावात्मक शैली उनकी भाषा में स्फुट न हो सकी। फिर भी जो भावात्मक शैली के उदाहरण उपलब्ध होते हैं वे अभावों पर निकली 'आह' के साथ हैं। यथा—

"+ + + आह! यह मेरे खेतों के कमानेवाले, मेरे जीवन के आधार मेरे अन्नदाता, मेरी मान-मर्यादा की रक्षा करनेवाले, जिनके लिए प्रहर रात से उठकर छाटी कटता था, जिनके खली दाने की चिन्ता अपने खाने से ज्यादा रहती थी, जिनके लिए सारा घर दिन भर हरियाली उखाड़ा करता था।"[2]

विचारों के प्रवाह एवं अनुकूल परिस्थिति में ओजगुण-सम्पन्न शैली के अच्छे उदाहरण प्रेमचन्दजी की शैली में प्राप्त होते हैं। उनकी ओजपूर्ण शैली की विशेषता प्रश्नों और पुनरुक्तियों में है। जैसे—

(क) "+ + + प्रचलित प्रथा से बढ़कर और कौन गुरु था? साधारण लोगों की भांति क्या मैं भी स्वार्थ के सामने सिर झुका दूं? तो फिर विशेषता क्या रही? नहीं, मैं कानशंस (विवेक बुद्धि) का खून न करूंगा। जहां पुण्य कर सकता हूं, पाप न करूंगा। परमात्मन् तुम मेरी सहायता करो, तुमने मुझे राजपूत घर में जन्म दिया है। मेरे इस कर्म से इस महान् जाति को लज्जित न करो। नहीं, कदापि नहीं, यह गर्दन स्वार्थ के सम्मुख न झुकेगी। मैं राम, भीष्म और प्रताप का वंशज हूं, शरीर-सेवक न बनूंगा।"[3]

(ख) "मैं बुढ़ापे में खाने कपड़े को तरसूं और तुम दूसरों का कल्याण करते फिरो। मैंने तुम्हें पैदा किया, दूसरों ने नहीं, मैंने तुम्हें पाला पोसा, दूसरों ने नहीं, मैं गोद में लेकर हकीम-वैद्यों के द्वार-द्वार दौड़ता फिरा, दूसरे नहीं। तुम पर सबसे ज्यादा हक मेरा है, दूसरों का नहीं।"[4]

भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रेमचन्दजी ने एकांगी प्रश्नोत्तर की योजना भी की है। पात्र अपने आप ही प्रश्न करते रहते हैं। इस प्रकार की शैली में

१. सेवासदन : पृ० १५६।
२. मानसरोवर (भाग-८) : (बलिदान) : पृ० ७२
३. प्रेम-द्वादशी : (बैंक का दीवाला) : पृ० ३९।
४. कायाकल्प : पृ० ८।

पाठक का तादात्म्य पात्र से स्थापित हो जाता है। पात्र मन की उमंग में स्वयं से ही प्रश्न कर बैठता है और उसका उत्तर पाठक के मुंह पर आ जाता है। स्वयं लेखक भी कहीं उत्तर दे देता है। इस प्रकार की शब्द-योजना का आश्रय लेकर उन्होंने पाठक की सुप्त उद्भावनाओं को सजग होने का अवसर दिया है और भाषा में भावोत्पादकता उत्पन्न हो गई है। यथा—

"हम इतने निर्लज्ज, इतने साहस रहित क्यों हैं ? हममें आत्म-गौरव का इतना अभाव क्यों है ? हमारी निर्जीविता का क्या कारण है ? वह मानसिक दुर्बलता के लक्षण हैं।"[1]

प्रेमचन्द ने नाटकीय शैली का निर्वाह करने के लिए उपयुक्त वातावरण में संवादों की सफल योजना की है, साथ ही प्रभावोत्पादकता एवं स्वाभाविकता की अवतारणा हेतु पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। शहराती-ग्रामीण, शिक्षित-अशिक्षित, संस्कृत-असंस्कृत, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान इत्यादि सभी वर्गों और समुदायों के पात्रों की योजना उन्होंने अपने विशाल साहित्यिक क्षेत्र में की है। प्राय: उनके सभी पात्र, अपने-अपने वर्ग विशेष की भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। जैसे हिन्दू-घरों में हिन्दी और पढ़े-लिखे मुसलमानों की भाषा उर्दू रखी है। ग्रामीण पात्र, ठेठ बोली बोलते हैं, परन्तु उनकी भाषा में मुहावरों और कहावतों की बहार रहती है। इससे ग्रामीण पात्रों की क्षमता भी बढ़ गई है, साथ ही शहराती पाठकों को ग्रामीणता नहीं अखरती। मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थवादी दृष्टि से ग्रामों में हिन्दू और मुसलमानों की भाषाओं का भेद नहीं रहता। ग्रामों की स्नेहपूर्ण प्रकृति की गोद में सभी जाति और धर्म नाते-रिश्ते के सूत्र में बंधे रहते हैं। वहां कोई ब्राह्मण का 'चाचा' मुसलमान हो सकता है और 'भैया' या 'दादा' चमार को कहा जा सकता है। ग्रामों में धर्म की संकुचित पक्की दीवाल नहीं होती। प्रेमचन्दजी ने इसी सत्य को सामने रखकर ग्रामीण पात्रों की भाषा में उर्दू-हिन्दी की समस्या को स्थान नहीं दिया। प्रेमचन्दजी की भाषा को सरलता और सुबोधता के साथ हृदयग्राही भावाभिव्यंजन शैली भी ग्रामों से प्राप्त हुई है।

अतएव पात्र एवं परिस्थितियों के अनुसार प्रेमचन्दजी की भाषा की तीन शैलियां दृष्टिगोचर हुई हैं—१. उर्दू दाँ भाषा-शैली, २. संस्कृतोन्मुखी शैली, और ३. सामान्य या ठेठ शैली। इनमें संस्कृत गर्भित शैली के उदाहरण अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में हैं तथा तीसरी शैली के बहुलांश में।

उर्दू-प्रधान शैली

"हकीम शोहरतखां बोले, जनाब मेरा बस चले तो मैं इन्हें हिन्दुस्थान से निकाल दूं। इनसे एक जजीरा अलग आबाद करूं। मुझे इस बाजार के खरीददारों से अक्सर साबिका रहता है। अगर मेरे मजहबी अकायद में फर्क न आये तो मैं यह कहूंगा कि

१. सेवासदन : पृ० ८३

तवायफें हैजे और ताऊन का औतार हैं। हैजा दो घंटे में काम तमाम कर देता है, प्लेग दो दिन में, लेकिन यह जहन्नुमी हस्तियां रुला रुलाकर और घुला घुलाकर जान मारती हैं। मुंशी अबुलवफा साहब उन्हें जन्नती हूर समझते हों, लेकिन ये वे काली नागिनें हैं जिनकी आंखों में जहर है। ये वे चश्मे हैं जहां से जरायम के सोते निकलते हैं। कितनी ही नेक बीवियां उनकी बदौलत खून के आंसू रो रही हैं। कितने ही शरीफजादे उनकी बदौलत खस्ता व ख्वार हो रहे हैं। यह हमारी बदकिस्मती है कि बेशतर तवायफें अपने को मुसलमान कहती हैं।"[1]

संस्कृतोन्मुखी प्रारम्भिक शैली

"अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

पत्र-सम्पादक अपनी शान्ति कुटी में बैठा हुआ कितनी धृष्टता और स्वतन्त्रता के साथ अपनी प्रबल लेखनी से मन्त्रिमण्डल पर आक्रमण करता है, परन्तु ऐसे अवसर आते हैं जब वह स्वयं मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होता है। मण्डल के भवन में पग धरते ही उसकी लेखनी कितनी मर्मज्ञ, कितनी विचारशील, कितनी न्याय परायण हो जाती है, इसका कारण उत्तरदायित्व का ज्ञान है।"[2]

ठेठ शैली

"क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल। दिन भर कल में मजदूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चांदी तो आजकल बुद्धि की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं। पर गृही परवेस की धूम है। सातों गांवों में सुपारी जायेगी।"[3]

प्रेमचन्दजी की भाषा-शैली की प्रमुख विशेषता अपने वर्णन के लिए पृष्ठ-भूमि निर्माण करने में है। इसके लिए उन्होंने अनेक मार्गों का अवलम्बन किया है। अनेक सादृश्य या साधर्ममूलक उपमाएं, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों का आश्रय लिया गया है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से ढूंढ़-ढूंढ़कर बहुत सुन्दर एवं प्रभावी उक्तियां प्रस्तुत की हैं। इनसे कई अमूर्त्त भावनाएं मूर्त्त हो गई हैं। भाषा में सौंदर्य एवं सौष्ठव आ गया है और उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। उनकी इस आलंकारिक भाषा में उनकी कल्पना-शक्ति है, प्रज्ञात्मकता है साथ ही रागात्मिका वृत्ति भी। इन सब शक्तियों ने मिलकर उनकी भाषा-शैली को पाठकों का हृदयहार बना दिया है।

१. सेवासदन : पृ० १७३।
२. प्रेम-द्वादशी : (पंच-परमेश्वर) : पृ० १५६।
३. प्रेम-द्वादशी : (मुक्ति मार्ग) : पृ० १२६।

उपमा

"मगर चक्रधर जितना ही अपनी चिन्ता को छिपाने का प्रयत्न करते थे उतना ही वह और भी प्रत्यक्ष होती जाती थी, जैसे दरिद्र अपनी साख बनाये रखने की चेष्टा में और भी दरिद्र हो जाता है।"[१]

"उनकी चिन्ताओं की भांति सामने अपार और भयंकर गोमती नदी बह रही थी। वह धीरे धीरे नदी के तट पर चले गये और देर तक वहां टहलते रहे। आकुल हृदय को जल तरंगों से प्रेम होता है, शायद इसीलिए कि लहरें व्याकुल हैं।"[२]

"जिस तरह पुरुष के चित्त से अभिमान और स्त्री की आंख से लज्जा नहीं निकलती उसी तरह अपनी मेहनत से रोटी कमानेवाला किसान भी मजदूरी की खोज में घर से बाहर नहीं निकलता।"[3]

रूपक

"जैसे चांदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलिन पड़ गई थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चन्द्र रूपी सुविचार ने विकार रूपी तारागण को ज्योतिहीन कर दिया था।"[४]

लाक्षणिक प्रयोग

"समझ गये कि जब तक विवाह की बेड़ी पांव में न पड़ेगी, यह महाशय काबू में न आयेंगे। वह बेड़ी बनवाने का विचार करने लगे।"[५]

विरोधाभास

"पश्चाताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दरोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।"

"वह पत्थर खाकर पचा सकता था, पर कोई बात पचाने की शक्ति उसमें न थी।"

उत्प्रेक्षा

"बैसाख की जलती हुई धूप थी। आग के झोंके जोर जोर से हरहराते हुए चल रहे थे। ऐसे समय में हड्डियों के अगणित ढांचे जिनके शरीर पर किसी प्रकार का कपड़ा न था, मिट्टी खोदने में लगे हुए थे। मानो वह मरघट भूमि थी जहां मुर्दे अपने हाथों, अपनी कबरें खोद रहे थे। बूढ़े और जवान, मर्द और बच्चे सब के सब

---

१. कायाकल्प : पृ० २८७।

२. प्रेम-द्वादशी : (बैंक का दीवाला) : पृ० ४०।

३. मानसरोवर : (सफेद खून)।

४. कायाकल्प : पृ० ६।

५. सेवासदन : पृ० ३।

ऐसे निराश और विवश होकर काम में लगे हुए थे मानो मृत्यु और भूख उनके सामने बैठी घूर रही है।"

"अहल्या इसी वक्त यशोदा नन्दनजी के साथ गाड़ी में बैठकर जेल चली। उसे उल्लास न था, आनन्द न था, शंका और भय से दिल कांप रहा था, मानो कोई रोगी मित्र को देखने जा रहा हो।"

प्रेमचन्दजी की भाषा में मुहावरों तथा कहावतों का जैसा सुन्दर एवं शिष्ट प्रयोग उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। उर्दू के क्षेत्र से आने तथा ग्रामीण जीवन के निकट सम्पर्क के कारण मुहावरे और कहावतें सदा उनकी लेखनी से प्रसूत हुई हैं। वे उनकी आत्मा एवं शक्ति से पूर्णतः परिचित थे। प्रेमचन्दजी की भाषा की प्रवहमानता, भावव्यंजकता एवं मार्मिकता आदि का बहुलांश श्रेय उनके मुहावरों, कहावतों, और उक्तियों को प्राप्त है। उनके ये मुहावरे और कहावतें सार्थक ही नहीं, भावव्यंजक भी विशेष रहते हैं। उनके सारे साहित्य में कई हजार मुहावरों का प्रयोग हुआ है।[१] जैसे—

"क्रोध न रुक सका। + + + जिस तरह मेंढ़क केंचुए पर झपटता है, उसी तरह वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झटककर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़? कोठरी में बैठते हुए क्या दम घुटता था? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका? आकर छाती पर सवार हो गई। जल जाय ऐसी जीभ दिन भर खाती न होती तो न जाने किसकी हांडी में मुंह डालती? गांव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भर पेट खाने को नहीं पाती तभी तो इस तरह मुंह बाये फिरती है। डाइन न करे न मांचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर दम लेगी। इतना ठूंसती है, न जाने कहां भसम हो जाता है।"[२]

प्रेमचन्दजी की भाषा की मार्मिकता उनके व्यंग्यों और कटाक्षों में भी रहती है। समाज की विभिन्न परिस्थितियों पर उनके व्यंग्यों का अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। उनके इन व्यंग्यों में हास्य-विनोद की अपेक्षा परिहास एवं कटाक्ष की मात्रा अधिक रहती है। मखौल के लिए वे विशिष्ट शब्दों का प्रयोग करके अभीष्ट परिहास का उद्घाटन करते हैं। अन्य स्थलों पर सामान्य वर्णन के बीच-बीच में ही कटाक्ष करते चलते हैं। स्वभावतः मध्यम मार्गी तथा संयमी होने के कारण ही वे तीव्र व्यंग्य न करके मीठी चुटकियों का प्रयोग करते हैं। जैसे—

"जुम्मन ने स्थानीय कर्मचारी—गृहस्वामिनी—के प्रबंध में दखल देना उचित न समझा।"[३]

"आमदनी अधिक न होती थी। चांदी के टुकड़ों की तो चर्चा ही क्या,

१. डॉ० रामरतन भटनागर : गद्य-काव्य : पृ० १६४

२. मानसरोवर (भाग-८) : (बूढ़ी काकी)।

३. प्रेम-द्वादशी : (पंच-परमेश्वर) : पृ० १४७।

कभी कभी तांबे के सिक्के भी निर्भय उनके पास आने में हिचकते थे।"[१]

"अनाथों का क्रोध पटाखे की आवाज है, जिससे बच्चे डर जाते हैं और असर कुछ नहीं होता।"[२]

इसी प्रसंग में प्रेमचन्दजी के कुछ अनगढ़ एवं नवीन प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं। ऐसे प्रयोगों में विशेष विदग्धता भी है और नवीनता-प्रसूत आकर्षण भी। ये कलाकार की उद्भावना-शक्ति एवं मन की मस्ती के भी उद्बोधक हैं। जैसे—

"वह उन पर दिल का बुखार निकालने के लिए अवसर ढूँढ़ती रहती थी।"[३]

"+ + + इस तारीख को मेरे हाथों में अदबदा के खुजली होने लगती है।"[४]

"दूसरे दिन सवेरे ही से व्यापारियों ने मिस्कौट करनी शुरू की।"[५]

प्रेमचन्दजी का कथा-साहित्य हल्का-फुलका साहित्य नहीं है और न इसका एकांगी उद्देश्य मनोरंजन ही है। समाज की अन्तःदशा वर्णन करते हुए उन्होंने स्थान-स्थान पर ऐसे सूक्ति-वाक्य प्रस्तुत किए हैं, जिनमें उनकी अगाध अनुभूतियां और भावनाएं घनीभूत हो गई हैं। इन वाक्यों में जीवन के अनुभव का निचोड़ है जो पाठकों के मार्ग-दर्शन के लिए उपयोगी है। इन सूक्ति या नीति-वाक्यों ने उनकी भाषा को अपेक्षाकृत सबल एवं गम्भीर बना दिया है। प्रेमचन्दजी का वाक्य-विन्यास सरल और सीधा होता है यद्यपि उसमें व्यतिरेक या व्याकरण के विपरीत विकार उत्पन्न करके प्रभावोत्पादन भी किया गया है।

"दरिद्रता प्रगट करना दरिद्र होने से अधिक दुःखदायी है। सन्तोष दरिद्रता का दूसरा नाम है।"[६]

"व्यंग और क्रोध में आग और तेल का संबंध है। व्यंग हृदय को इस प्रकार विदीर्ण कर देता है जैसे छेनी बर्फ के टुकड़े को।"[७]

"युवाकाल की आशा पुआल की आग है, जिसके जलने और बुझने में देर नहीं लगती।"[८]

"आलस्य वह राज रोग है, जिसका रोगी कभी नहीं संभलता।"[९]

"त्याग और भोग में दिशाओं का अन्तर है।"[१०]

१. मानसरोवर (भाग ८) : (गरीब की हाय)।
२. —वही— —वही—।
३. कायाकल्प : पृ० २६५।
४. प्रेम-द्वादशी : (बैंक का दीवाला) : पृ० २८।
५. प्रेम-द्वादशी : (सत्याग्रह) : पृ० ८५।
६. सेवासदन : पृ० ११।
७. सेवासदन : पृ० ४७।
८. सेवासदन : पृ० २८६।
९. प्रेम-द्वादशी : (शंखनाद) : पृ० १५१।
१०. कायाकल्प : पृ० ३१७।

प्रेमचन्दजी के प्रघट्टक भी अति दीर्घकाय नहीं होते। एक विचार या तथ्य को एक ही प्रघट्टक में प्रस्तुत किया गया है। विवेचना अथवा व्याख्या के पश्चात् वाक्य या प्रघट्टक के अन्तिम अंश में पूर्व-कथन का सारांश या मूल तत्त्व दे दिया है। इस प्रकार उन्होंने आगमन शैली को अनुगमन किया है।

वर्ण्य-विषय को इस ढंग से उपस्थित करने से तथा प्रमुख तथ्य की ओर आकर्षण रहने से शैली को गति प्राप्त हुई है।

"अच्छा तो सुनो, सत्य युग में मनुष्य की मुक्ति ज्ञान से होती थी, त्रेता में सत्य से, द्वापर में भक्ति से पर इस कलियुग में इसका एक ही मार्ग है और वह है सेवा।"[१]

"सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसानों को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा सा छा जाता।"[२]

एक ही वाक्य के अन्तर्गत अनेक उप-वाक्यों या वाक्यांशों का प्रवाह प्रेमचन्दजी की गद्य-शैली में यत्र-तत्र रहता है। एक वाक्य दूसरे वाक्य की प्रतीक्षा करता रहता है और उसके आते ही हाथ पकड़कर शृंखला बनाता हुआ बढ़ जाता है। इन स्थलों पर यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से इनके ये वाक्य लंबे तथा संयुक्त हो जाते हैं; परन्तु उनकी सुबोधता में कोई त्रुटि नहीं आने पाती है। इनसे भी भाषा को गति ही मिली है। जैसे—

"जेठ में एक बार मूसलाधार वृष्टि हुई थी, किसान फूले न समाये, खरीफ की फसल बो दी, लेकिन इन्द्र देव ने अपना सर्वस्व शायद एक ही बार लुटा दिया था। पौधे ऊगे, बढ़े और फिर सूख गये।"[३]

"यहां न तो हृदय को शान्ति है, न आत्मिक आनन्द। यह एक उन्मत्त, अशान्तिमय, स्वार्थपूर्ण, विलासयुक्त जीवन है, यहां न नीति है न धर्म, न सहानुभूति, न सहृदयता।"[४]

अभिव्यक्ति को प्रभावी बनाने के लिए, व्याकरण-सम्मत वाक्य-विन्यास में परिवर्तन भी किया गया है। इस प्रक्रिया से भाषा-गत सौंदर्य की वृद्धि हुई है।

"मेरे कान उसके स्वर का रसपान करने के लिये मुंह खोले हुए थे, आंखें द्वार की ओर लगी हुई थीं। भय भी था लगाव भी, झिझक भी थी और खिचाव भी।"[५]

"जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी तरह उसके मुंह से यह बोल

---

१. सेवासदन : पृ० ३४२।
२. प्रेम-द्वादशी : (मुक्ति मार्ग) : पृ० १२४।
३. मानसरोवर (भाग-८) : (सफेद खन)।
४. प्रेम-द्वादशी : (शान्ति) : पृ० १९।
५. मानसरोवर : (भाग-८) : (हार की जीत)।

निकलता था, निरर्थक और प्रभाव शून्य।"[1]

प्रेमचन्दजी मध्यम-मार्गी साहित्यकार हैं। उनका शब्द-चयन बहुत उदार है। उर्दू-फारसी के द्वार से हिन्दी के प्रांगण में अवतरित होने के कारण इन भाषाओं के सरल और व्यावहारिक शब्दों का व्यापक प्रयोग उनकी भाषा में हुआ है। वर्ण्य-वस्तु का सम्बन्ध बहुलांश में ग्रामीण जीवन होने से ग्रामीण तथा देशज शब्दों, कहावतों, मुहावरों को भी स्वीकार किया है। इन सबने मिलकर उनकी भाषा को तरल, सरल और सुबोध बना दिया है। वे शुद्ध हिन्दी को सैद्धान्तिक दृष्टि से 'निरर्थक' मानते थे।[2] हिन्दी की व्यापकता और विस्तार के लिए विशुद्धता का आग्रह भूल मानते थे। इसी से देशी-विदेशी कई भाषाओं के व्यावहारिक सरल शब्द उनकी भाषा में मिलते हैं।

सरलता और सुबोधता के लिए उन्होंने निर्देशक चिह्नों या कोष्टकों में कुछ कठिन शब्दों को स्पष्ट किया है। पात्र या वातावरण के अनुकूल इन दुरूह शब्दों को प्रस्तुत करना पड़ा, पर सुबोधता के आग्रह ने वहां इन सहायक चिह्नों की नियोजना अवश्य कर दी। टिप्पणियां देते हुए भी इन चिह्नों का प्रयोग हुआ है।

"आमदनी चाहे कुछ हो या नहीं, बहियों का तोल देखकर कर (टैक्स) बढ़ा दिया जाता है।"[3]

"नहीं मैं, कानशंस (विवेक बुद्धि) का खून नहीं करूंगा।"[4]

सामान्यतः प्रेमचन्दजी की भाषा प्रौढ़ और परिष्कृत है, फिर भी बोल-चाल की भाषा का निर्वाह करने के कारण व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग कुछ मिलते हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में तो वस्तुतः भाषा में अपरिष्कृतता, लचरपन, व्याकरणच्युत प्रयोग, विराम-चिह्नों का दुरुपयोग इत्यादि दोष अधिक थे, जो बहुत कुछ कालान्तर में दूर हो गये थे। फिर भी ये रूप—जैसे—

"अधिकारियों को आप जानते ही हैं, आंखें नहीं केवल कान होते "[5] (कर्त्ता का अभाव दूसरे उप-वाक्य में)

"झुकी हुई कमर, पोपला मुंह, सर के से बाल। जब इतनी सामग्रियां एकत्र हों, तब हंसी क्यों न आवे।"[6] (क्रिया का अभाव प्रथम वाक्य में)

पूर्व-परिच्छेद में विवरण एवं विवेचन प्रस्तुत करके एकदम नये परिच्छेद में 'सारांश यह है' कहकर प्रघट्टक का तारतम्य सम्बन्धित विच्छेद कर दिया है। यथा—

"सारांश यह है कि कांग्रेस वालों की एक न चली। व्यापारियों का एक

१. प्रेम-द्वादशी : (आत्माराम) : पृ० ५० ।
२. साहित्य का उद्देश्य : पृ० १५५ ।
३. प्रेम-द्वादशी : (सत्याग्रह) : पृ० ८१ ।
४. प्रेम-द्वादशी : (बैंक का दीवाला) : पृ० ३९ ।
५. सेवासदन : पृ० १०७ ।
६. प्रेम-द्वादशी : (पंच-परमेश्वर) : पृ० १४८

डैपुटेशन नव बजे रात को पंडितजी की सेवा में उपस्थित हुआ। पण्डितजी ने आज भोजन तो खूब डटकर किया था; लेकिन भोजन डटकर करना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी।"[1]

'कथा-सम्राट् प्रेमचन्दजी की हिन्दी-साहित्य को देन'—इस दृष्टि से उनके साहित्य का पर्यावलोकन करने पर, सैकड़ों कहानियां और उपन्यास उनके खाते में जमा होकर उन्हें उतना अधिक गौरव प्रदान नहीं करते, जितना कि उनकी भाषा-शैली करती है। उनकी सर्वश्रेष्ठ धरोहर उनकी शैली है, अन्यथा हिन्दी में ऐसे कई कथाकार हैं जिन्होंने उनसे अधिक कहानियां और कई गुने उपन्यास लिखे हैं, परन्तु देश-विदेश में जितना लोकप्रिय वे हो सके हैं उतना कोई नहीं। उनकी शैली का अनुकरण करने का प्रयास उनके परिवर्तियों और समकालिकों ने किया, पर उनकी-सी सफलता दूसरों को न मिल सकी। उनकी शैली की वाग्विदग्धता, मुहावरेदारी, सरल, सुबोध, मिश्रित शैली, हिन्दी के प्रचार का आदर्श एवं गौरव की वस्तु है। 'प्रसाद' एवं प्रेमचन्द की भाषा में उत्तर और दक्षिण ध्रुव का अन्तर है। 'प्रसाद' की भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता था; पर प्रेमचन्द की रचना मृत्युलोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र थी। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती थी, परन्तु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय था। उनके कथानक का समारम्भ कुतूहल और चमत्कार के साथ प्राकृतिक विधान का आधार लेकर उत्पन्न होता था और इनका जगत स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता था। एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन था और दूसरा हमारे साथ दिन-रात रहने वाला मृत्युलोक का सहचर।[2] निस्सन्देह प्रेमचन्द के इसी रूप ने, उन्हें लोकप्रियता प्रदान कर जन-जीवन के हृदय का सम्राट् बना दिया।

राय कृष्णदास (१८९२ ई०—वर्तमान)

हिन्दी के अति भावुक गद्य-काव्यकार राय कृष्णदास का जन्म सं० १९४९ में काशी के प्रतिष्ठित एवं साहित्य-प्रेमी राय प्रह्लाददास के यहां हुआ था। गद्य-काव्यकार के रूप में इनका विशेष स्थान होने के कारण इनके जीवन और व्यक्तित्व की चर्चा 'गद्य-काव्य की शैलियां'[3] अध्याय में की गई है।

गद्य-काव्यकार रायजी की घनीभूत भावनाएं, उनके कथा-साहित्य में भी उतर आई हैं। उसी व्यक्तित्व एवं मानस-प्रसूता होने के कारण, उनकी कहानियों में रस-व्याप्ति अधिक हुई है।

सन् १९१७ में उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया था।

१. प्रेम-द्वादशी : (सत्याग्रह) : पृ० ८१।

२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी गद्य-शैली का विकास : पृ० १६४।

३. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ६।

रचना—कहानी-संग्रह—अनाख्या (१९२९), सुधांशु (१९२९)।

रायजी की वर्णनात्मक शैली में प्रकृति के नाना रूपों का प्रभाव मिलता है। प्रकृति उनकी जीवन-सहचरी है, इसलिए मानव-जीवन के सामान्य चित्रण में भी उसकी सहायता एवं उपादेयता मानकर यदा-कदा वे उसका स्मरण अवश्य कर लेते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त अन्यान्य पदार्थ जिन्हें कि संसार जड़ समझता है, रायजी के समक्ष चैतन्य एवं मानव-जीवन के साथ संवेदना प्रगट करने वाले उपकरण हो जाते हैं। इनकी सहायता से उनकी वर्णनात्मक शैली अधिक सप्राण तथा प्रभावी बन जाती है। रायजी का हृदय-रस उसे परितृप्त रखता है एवं उनका जागरूक व्यक्तित्व वर्णन के साथ अन्त में अपनी टिप्पणी अथवा मत भी प्रगट करने से नहीं चूकता। उनकी ये टिप्पणियां बहुधा अन्योक्तियां होती हैं, जिसका लक्ष्य मानव होता है। यथा—

"आकाश में दो-चार छोटे-छोटे घन-खण्ड दीख पड़े थे। वे चल रहे थे, पर इतनी अलस गति से कि संध्या की शोभा देखने के लिए ठहर गये हों। समय के साथ वे अपना रंग बदल रहे थे, अब क्रमशः लोहित से लोह-वर्ण होने की तैयारी थी। चेतन मनुष्यों से तो जड़ बादल ही अच्छे जो समय के संग अपना रंग तो बदल लेते हैं।"[1]

कथा-कहानियों के वर्णनों में भी रायजी का 'गद्य-काव्य' वाला महान् व्यक्तित्व उभर आया है। उत्कृष्ट कलाकार के रूप में इस वर्णनात्मक शैली के बीच में पूर्व-शैली की अपेक्षा प्रकृति अधिक क्रियाशील एवं सहानुभूतिपूर्ण हो जाती है। प्रकृति भी मानव की भांति सम्बोधित करती है और एक ऐसा वातावरण निर्मित हो जाता है कि कहानियों में भी गद्य-काव्य की रसानुभूति हो जाती है। जैसे—

"मैं याद दिलाती हूं—अभी कल, जब शरद में चन्द्रकला समुदित होकर कमल से कहती थी कि 'दो सौंदर्य एक ठौर नहीं रह सकते, तुम अपना मुंह छिपा लो तुम्हारी यह सामर्थ कि मेरी होड़ करो' और कमल कहता कि 'सुन्दरी, मेरी और तुम्हारी कौन तुलना। पर मुझे अपना सौंदर्य तो निरख लेने दो।' इस पर चन्द्रकला कुपित हो उठती—'कदापि नहीं। जल्दी अपना मुंह मूंद लो।' अब कमल गम्भीर मुद्रा बनाकर यह उत्तर देता हुआ कि 'लो, आंखें तो बन्द किये लेता हूं, किन्तु इसमें जो तुम्हारी एक किरण चुराये लेता हूं उसे कैसे छीनोगी?' अपने नेत्र मींच लेता है।"[2]

राय साहब ने पात्र तथा वातावरण के अनुसार अपनी शैली में परिवर्तन किया है। ये उनकी भाषा-शैली के नियामक तत्त्व हैं। पात्र-परिस्थिति अनुकूल भाषा-शैली में, जहां प्रभावी अभिव्यंजना हुई है, वहां एक वातावरण भी बन गया है। उनके ग्रामीण पात्र ठेठ देशज भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में साधारण पाठकों को तनिक दुरूहता आ गई है। जैसे—

देशज

"भैया हम तउ बेजार हुई। महिन्नन से जर पीछा नाहीं छोड़त। घरे से निकस

१. अनाख्या : (न्याय-पक्ष) : पृ० ६।
२. अनाख्या : (वसन्त-स्वप्न) : पृ० १५५।

नाहीं सकत। ससुरे की बिटीवा आइल तो घरे चुल्हवो बरजाला, नाही तड हमरे मलिकवै के मरै पड़त। आज तिस्सरे पहर तक तड घरे रहल, फिर जे गयल से नाहीं उडटल। रामै जानै क्या भयल। तू तड जनतै। बाटड की ठकुरा आजकल कोपल बा। ले भय्या, कहां से रुपैय्या जटावल जाय।"[१]

अत्यन्त कोमल एवं भावुक प्रकृति के कारण राय साहब की भाषा शैली में प्रसाद, माधुर्य और कान्ति-गुण की प्रधानता है। ओज-गुण भी कहीं-कहीं स्फुटित हुआ था। इसके लिए उन्होंने प्रश्नों एवं आवृत्तियों की नियोजना की है। विशिष्ट शब्द या पर्यायवाची शब्दों की आवृत्ति ने उनकी भाषा को सशक्त और प्रभावी बना दिया है। जैसे—

"अमीरों को अपने गद्दी मसनद से फुरसत नहीं। गरीबों को अपने पेट पालने की हाय-हाय से फुरसत नहीं। रहे मध्यवित लोग, उन बेचारों की तो सबसे बुरी गत है। लाज के मारे किसी से कुछ कह नहीं सकते, सो उन्हें मुंह बन्द किये-किये मरने से फुरसत नहीं। अब काम करें तो कौन ? हमारा साहित्य पिछड़ा चला जा रहा है। देखो कल के साहित्य उन्नत हुए चले जाते हैं। हमारी हिन्दी पचासों बरस पिछड़ी है। इतनी बड़ी भाषा में गल्प की एक पुस्तक नहीं। लज्जा की बात है ! लज्जा नहीं, धिक्कार की बात है ! !"[२]

"वह सहज हंसी, वह अकृत्रिम हंसी, वह निर्मल हंसी, वह खिलवाड़ की हंसी और वह कौतूहलपूर्ण दृष्टि चित्रकार का हृदय बेध गई।"[३]

रायजी की कहानियों में गद्य-काव्यकार की आलंकारिकता एवं रस-प्लावित मार्मिक उक्तियों की बहुतायतता है। भावों के प्रवाह में कहीं-कहीं तो वे उपमाओं पर उपमाएं गूँथते जाते हैं, कहीं एक ही तथ्य को प्रस्तुत कर उसकी विशिष्टता प्रतिपादित करते हैं। जैसे—

"रमणी माया की तरह रहस्यमय, कुहुक की तरह चमत्कारपूर्ण, शिशु हृदय की तरह सरल, चन्द्रिका की तरह निर्मल, कला की तरह मंजुल और प्रकृति की तरह अकृत्रिम थी। किन्तु आतप की सरसी की तरह वह सूख गई थी।"[४]

"बाबू सिद्धनारायण बड़े आदमी थे। पर प्रायः डिप्टी कलक्टरों की भांति बे-हाथ-पांव के जगन्नाथ की प्रतिमा हो गये थे। तिस पर इस मामले में तो बड़े साहब ने किल्ली मरोड़ रक्खी थी।"[५]

साधारणतः राय साहब की शैली शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत है। उर्दू-फारसी के शब्दों को साग्रह स्वीकार नहीं किया गया है। भाषा के प्रवाह में तथा वातावरण

१. अनाख्या : (नर-राक्षस) : पृ० ८५।
२. अनाख्या : (गल्प लेखक) : पृ० ५४।
३. सुधांशु : (चित्रकार का चित्त) : पृ० २४।
४. अनाख्या : (वसन्त का स्वप्न) : पृ० १५४।
५. अनाख्या : (न्याय-पक्ष) : पृ० २८।

के अनुकूल उर्दू-फारसी, अंग्रेजी, देशज भाषाओं के शब्द भी आ गये हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। अन्यथा भाषा का झुकाव संस्कृत के तत्सम व हिन्दी के शुद्ध रूपों की ओर ही है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन्होंने अशुद्ध शब्दों का प्रयोग ही नहीं किया है।

अंग्रेजी शब्द—मार्कस, कोर्स, स्कीम।

उर्दू के अप्रचलित शब्द—रुबकार, कब्जा-मुखालिफाना, इंदुलतलब।

नये शब्द—टेनिस का थपका (बल्ला), तप की तितिज्ञा, बनौकस-मनुष्य।

मिश्रित—सबूट, बौद्धि तौहफ़ा (Intellectual present)।

अशुद्ध शब्द—हौं, दीख पड़े।

"निखरी गुराई थी। सुढार प्रसन्न मुखमण्डल। रतनारी रसीली आखें। घुंघराले बाल, मस्तानी चाल-ढाल, भावपूर्ण बोलचाल।"[1] (बिना क्रिया के वाक्य)

रायजी की भाषा के व्याकरण-असम्मत प्रयोगों और अन्यान्य भाषाओं के शब्दों की स्वीकृति का मुख्य कारण उनकी अति भावुकता है। वस्तुतः उनकी अत्यधिक भावुक एवं रस-प्लावित प्रकृत्ति ही उनकी शैली का आभूषण है, और ये छोटी-मोटी त्रुटियां नगण्य हैं।

चण्डीप्रसाद हृदयेश

हृदयेशजी द्विवेदी-युग के उन कतिपय गद्य-शैलीकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं, जिन्होंने काव्यात्मक एवं आलंकारिक शैली का आद्योपान्त सफल निर्वाह किया है। निःसन्देह वे हृदयेश हैं, जिनकी सम्पूर्ण रचनाओं में सहृदयता एवं रागात्मिका शक्ति की ही कलाकारिता है। यही सहृदयता उनकी विशिष्ट गद्य-शैली की उद्भाविका है। चेतनाचेतन की भेद-दृष्टि भी उसमें नहीं है। फलस्वरूप प्रकृति का विशाल प्रांगण उनका चिर-परिचित-सा है और उसके असंख्य क्रिया-कलापों में वे मानवीय व्यापार, वृत्तियां, प्रवृत्तियां आदि के दर्शन कर सकते हैं। उनके लिए प्रकृति अत्यन्त संवेदनशील, भावोत्पादक, सौन्दर्यागार, चिर-परिचिता एवं आनन्दमयी है। अतएव उन्होंने अधिकांश रचनाओं में मानव-जीवन के किसी भी वर्णन के साथ, अपने उल्लास-पूर्ण हृदय से नाना अलंकारों से सुसज्जित कर प्रकृति को ही रखा है। बहुलांश में उनकी शैली वर्णनात्मक तथा कलात्मक है। उन्होंने यदि अपनी प्रज्ञा-शक्ति का उपयोग किया भी है, तो वह केवल बाह्य चित्रण की साम्य या वैषम्यमूलक उपमाएं, उत्प्रेक्षाएं अथवा रूपकों को प्रस्तुत करने में। इससे उनके प्रायः सभी वर्णनों तथा कथात्मक इति-वृत्तों में भी आलंकारिक काव्यमयी भाषा का ही प्राधान्य है। जैसे—

(क) "सान्ध्य वायु-सेवन करने के लिए ठाकुर बलवन्तसिंह और रामू बाहर निकले। सूर्य-देव पश्चिम-सागर में पतित हो रहे थे। उनकी स्वर्ण-वर्ण किरण-माला आम्र-कानन की सम्पत्ति-राशि को देदीप्यमान कर रही थी। उनमें कोमल सौंदर्य था,

१. सधांशु : (कवि और कलावन्त) : पृ० ४५।

प्रखर विलास नहीं था। सान्ध्य समीर परिहासमय पुष्प-पुंज से क्रीड़ा कर रहा था। महेन्द्रा अपना अविरल संगीत गाती हुई बही जा रही थी। स्निग्ध सौंदर्य नृत्य कर रहा था, प्रकृति परिवार संगीत गा रहा था और परिमलमयी शान्ति ताल दे रही थी।"[1]

सौंदर्य के अनन्य उपासक तथा सरस हृदय के स्वामी हृदयेशजी की कला का पूर्ण परिपाक, सौंदर्य स्थलियों के चुनाव और उनके विशेष मनोयोगपूर्वक वर्णन में मिलता है। उस समय भावावेग में उनके सामान्य वाक्य भी दीर्घकाय हो जाते हैं और उनमें एक के पश्चात् एक करके अनेकों उपमा-उत्प्रेक्षाएं शृंखलाबद्ध होकर उपस्थित हो जाती हैं। इस प्रक्रिया से उनकी शैली में गति के साथ शक्ति आ जाती है। यद्यपि उनकी काव्यमयी आलंकारिक शैली में शृंगार-रस की सफल एवं विपुल उद्भावना हुई है; परन्तु इस प्रकार के जोड़ के बहुत से उप-वाक्यों तथा आवृत्तियों के गतिवान प्रयोग से भाषा में ओज-गुण की ऊष्मा भी आ गई है। कहीं-कहीं प्रश्नों के द्वारा उस ऊष्मा को बढ़ावा भी मिला है।

शब्द-चयन एवं कोमलकान्त पदावलियों के प्रयोग की दृष्टि से चण्डीप्रसाद हृदयेशजी हमें कभी-कभी पंडित गोविन्दनारायण मिश्र तथा जयशंकरप्रसाद के मध्यवर्ती प्रतीत होते हैं। इन साहित्यकारों ने संस्कृत के तत्सम शब्द प्रधान विशुद्ध भाषा को अपना लक्ष्य बनाया है। इसमें उर्दू-फारसी के शब्दों अथवा देशज प्रयोगों को कोई स्थान नहीं है। फिर भी हृदयेशजी की भाषा में न तो गोविन्दनारायण मिश्र की-सी घोर सामासिकता है, और न प्रसादजी की अधिक कोमल-कान्तता एवं न्यून सामासिकता। इन्होंने अधिकतम ३-४ समासों का ही प्रयोग किया है। साथ ही संस्कृत के तत्सम शब्दों में उपसर्गों को लगाने की प्रवृत्ति भी इनमें मिलती है जो प्रसादजी में प्रायः नहीं है जैसे—सुप्रतिष्ठित, परिलक्षित, अभिनव, समुपस्थित इत्यादि। संस्कृत के ही प्रभाव के कारण इन्होंने सौंदर्य्य, आर्य्य, सूर्य्य, मर्य्यादा इत्यादि शब्दों का रूप अपनाया है तथा सामासिकता और आलंकारिकता का पालन किया है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि हृदयेशजी की भाषा में दुरूहता एवं भ्रामकता का अभाव है, साथ ही काव्यात्मक आकर्षण भी है। उनके संस्कृत-तत्सम शब्द तथा सामासिक पद पाठक को कभी खटकते नहीं हैं। मुहावरों तथा उक्तियों की अवहेलना करते हुए भी उनकी भाषा में प्रवाह तथा शक्ति है।

यहां यह भी स्मरणीय है कि चण्डीप्रसादजी की भाषा-शैली की लोकप्रियता और सफलता का श्रेय बहुलांश में उनके शब्द-चयन तथा शब्द-विन्यास को है। यही कारण है कि उन्होंने अलंकारों में मुख्यतः शब्दालंकारों (विशेषतः अनुप्रास तथा यमक) तथा अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों का ही उपयोग किया है। जैसे—

"बड़भागी लोचन-युगल ने देखा—वातायन की देहली पर युगल करकुंज

१. मनोरमा : पृ० १५८।

स्थापित करके एक अनिंद्य-सुषमामयी रमणी अपने कटि पर्यन्त कमनीय कलेवर को बाहर निकालकर मन्दिर की ओर देख रही है। उसके कलित कुंतल-कलाप अधिकतर पृष्ठ भाग पर पड़े थे और कुछ कपोल-युगल के इतस्ततः लटक रहे थे। ज्ञात होता था, आज मानो दूसरा वारिधि-बंधु, पराजित-सुधा का पक्ष लेकर, नाग-सैन्य का नायक बनकर, पन्नग-महारथियों के मंडली भूत होकर, कटाक्ष की कठिन कृपाण धारण करके, भृकुटी-कोदंड पर नयन-शर चढ़ाकर, अंबर-प्रदेश की रणांगण में, अमोघ दिव्य सौंदर्य-चर्म परिधान करके, युद्ध के लिये परिकरबद्ध हुआ है। अंबर विजित होगा, संसार सेवक बनेगा, रसातल पादतल में लुंठित होगा। जिसकी प्रकृति पोषिका है, सौंदर्य सहाय है, सम्मोहन सेवक है, आकर्षण अनुचर है, वशीकरण पार्श्वचर है, मारण जिसका छत्रधर है, वह यदि त्रैलोक्य की विजय-लक्ष्मी को प्राप्त कर ले, तो आश्चर्य क्या ?"[1]

आह्लाद एवं रसात्मकता में आकण्ठ परिप्लावित हृदयेशजी को व्यंग्य और कटाक्ष के लिए अवकाश बहुत कम मिला है। इससे उनके साहित्य में हास-परिहास, व्यंग्य-विनोद के दर्शन प्रायः नहीं होते। फिर भी जहां-कहीं उन्होंने व्यंग्य-बाणों का अनुसन्धान किया है, वे कुसुमायुध के पुष्प-बाणों की भांति, चिर-परिचित आलंकारिक भाषा में ही किए हैं। वे हृदय में टीस उत्पन्न करते हैं, घाव नहीं। जैसे—

"अपने गर्भ-जात संतान समूह को भक्षण करनेवाली मणि-मंडिता नाग-कन्या को प्रायः सभी जानते हैं। माता और पिता के प्रेम-स्रोत वक्ष-स्थल पर पाद-प्रहार करने वाले विवेकी पुत्र पुंगवों की भी संख्या नगण्य नहीं है। सहृदय की सहधर्मिणी को कुमार्गगामिनी बनाने के लिये अब भी कितने ही पुरुष-रत्न वेश-भूषा से सज्जित होकर कपट-नाट्य का अभिनय करते हुए, अन्तःपुर में प्रवेश करने से नहीं चूकते।"[2]

वैसे मूलतः एवं मुख्यतः हृदयेश की भाषा-शैली शुद्ध तत्सम-प्रधान काव्यात्मक है; परन्तु कतिपय स्थलों पर मन की उमंग में उन्होंने उर्दू-फारसी के व्यावहारिक शब्दों के अतिरिक्त अंग्रेजी, उर्दू-फारसी के उद्धरण, शेर या उक्तियां प्रारम्भ में दे दी हैं। ऐसे प्रसंग परिच्छेद या अध्याय के प्रारम्भ में ही हैं। जैसे—

"Rare as is true love, true friendship is still rare.

—*La Roche Fouchand*

तुझसे बेज़ार हूं, जाता हूं सुए मुल्के-अदम;
मुंह न दिखलाए खुदा फिर मुझे दुनिया, तेरा।

—कविबर रिंद

रमेश की ऐसी अवस्था देखकर मै उससे कुछ पूछ न सका। सच तो यह है कि मैंने किसी अज्ञात कारणवश इस विषय का पुनरुत्थान करने की स्वयं भी चेष्टा नहीं की।"[3]

१. नंदन-निकुंज : (प्रणय-परिपाटी) : पृ० ४७
२. नंदन-निकुंज : (प्रेतोन्माद) : पृ० १३७।
३. नंदन-निकुंज : मौनव्रत : पृ० १००।

सामान्यतया हृदयेशजी की भाषा-शैली व्याकरण-सम्मत, परिष्कृत, तथा प्रांजल है। वाक्य-विन्यास आदि की त्रुटियां प्रायः नहीं हुई हैं। फिर भी कहीं-कहीं शब्दाडम्बर वाग्जाल और शब्दों में व्यर्थ के उपसर्गादि का प्रयोग उकताहट उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार से सर्वनाम तथा विभक्तियों का भी अपव्यय किया गया है।

बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' बी० ए० (१८६६ई०-वर्तमान)

युग के इस लोकप्रिय कथाकार का जन्म, स्यालकोट (पश्चिमी पंजाब) में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ था। साहित्यिक रुचि का बीजवपन बाल्यावस्था में ही हो चुका था। फलतः छठवीं कक्षा में ही इन्होंने प्रथम रचना (कहानी) उर्दू में प्रणीत की और उसी क्षेत्र में आगे बढ़ते गये। तात्कालिक परिस्थितियों तथा क्षेत्रीय भाषा उर्दू-बहुला होने के कारण उर्दू-फारसी का अध्ययन भी इनका विशेष हुआ और वे उर्दू के साहित्यिक क्षेत्र में सफल हुए।

आलोच्य युगीन कथा-साहित्य में उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द के पश्चात् लोकप्रियता अर्जन करने में सुदर्शनजी का ही नाम आता है। प्रेमचन्द की भांति इन्होंने भी पहिले उर्दू के क्षेत्र में हाथ आजमाकर, राष्ट्र-भाषा के आवाहन पर हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में प्रवेश किया था। प्रथम रचना १६२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसने उन्हें गौरव और संजीवन शक्ति प्रदान की। इसके पश्चात् तो हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं उनकी रचनाओं से सुशोभित होने लगीं। हिन्दी में प्रेमचन्द और कौशिक की भांति ये लोकप्रिय भी शीघ्र ही हो गये। उनकी भाषा में सरलता के साथ गतिशीलता तथा प्रवाह के साथ प्रभाव है। मुहावरों, उक्तियों तथा उर्दू-फारसी के प्रयोग से प्रेमचन्द की भाषा की एक झलक उनकी शैली में दृष्टिगोचर होती है।

प्रेमचन्दजी ने जहां अपनी रचनाओं की वस्तु सामग्री-संचयन एवं निर्माण सदा-सर्वदा से उपेक्षित किसान-मजदूरों के दैनिक जीवन की यथार्थता की दृढ़ भित्ती पर किया, वहां सुदर्शनजी ने भारत के प्राचीन् कथा-कोष-पुराणों से प्रेरणा तथा आधार-भूमि ग्रहण करके उसे नवीन युग के प्रकाश में प्रस्तुत किया। मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य का साक्षात्कार कराने के लिए उन्होंने अत्यन्त कलात्मक ढंग से अपनी कहानियों का प्रणयन किया है। उनका उद्देश्य आज के कलुषित हृदय एवं विकृत मस्तिष्क मानव को महान् मानव बनाना है। ये शाश्वत सत्य की झांकी को इस सहज, सरल एवं हृदय-स्पर्शी भाषा में चित्रित कर देते हैं कि हमें ये विश्व-विख्यात् रूसी कहानीकार काउंट लिओ टालसटाय के समीप बैठे दृष्टिगोचर होते हैं। उनके हृदय में मानव के बाह्य रूप की प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं, अन्तर की पूजा की लालसा है। इसलिए यत्र-तत्र उनकी प्रायः सभी कहानियों में यही उद्देश्य इतने कलात्मक ढंग से प्रतिष्ठित किया है कि कहीं भी शुष्क उपदेशात्मकता का आभास नहीं मिलता। उषा की नवल कलिका की मुस्कराहट-सी उनकी कहानियां रहस्यमय ढंग से मधुमय पराग विकीर्ण करती हैं और मन की उदात्त वृत्ति को जाग्रत करती हैं। 'राजा', 'हार की जीत', 'एथेंस का सत्यार्थी', 'कमल की बेटी', 'संसार की सबसे बड़ी कहानी', 'कवि की स्त्री' इत्यादि कहानियां इस दृष्टि

से उल्लेखनीय हैं।

रचनाएं—(**कहानी-संग्रह**)—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्पलता', 'गल्पमंजरी', 'सुप्रभात', 'चार कहानियां', 'परिवर्तन', 'नगीना' और 'पनघट'।

सुदर्शनजी की भाषा-शैली कथा-साहित्य के अत्यन्त उपयुक्त एवं जन-रुचि के अनुकूल है। प्रेमचन्दजी की भांति उर्दू की थाती को संजोकर और सहेजकर ही उन्होंने हिन्दी के प्रासाद में प्रवेश किया था। अतः संस्कारजन्य उर्दू-फारसी के शब्द और पद-विन्यास, उनकी भाषा के प्राचीन स्मारक-चिह्न की भांति सुरक्षित हैं। सुदर्शनजी की भाषा-शैली प्रेमचन्दजी की भाषा की तुलना में बहुत कम उर्दू-फारसी बहुला तथा कम ग्रामीण है। देशज तथा अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग भी बहुत कम हुआ है। फिर भी भाषा का व्यावहारिक तथा सर्वसाधारण सुलभ स्वरूप है। इसके साथ ही सुदर्शनजी ने विशिष्ट अलंकार-योजना भी बड़ी सुन्दर की है। उनकी अनेक उपमाएं, उत्प्रेक्षाएं, तथा उक्तियां बिना विंदें मोती की भांति प्रभामयी और अछूती हैं। वे कम शब्दों में बड़े मार्के की बात कह जाते हैं। उनकी वर्णनात्मक और विवेचात्मक शैलियों की ये ही विशेषताएं हैं। जैसे—

"लाजवती के मुख मण्डल से प्रसन्नता टपक रही थी, जैसे संध्या के समय गौओं के स्तन से दूध की बूंदें टपकने लगती हैं।"[1]

"उनकी रंग रेलियों ने उसकी पैत्रिक सम्पत्ति को नष्ट कर डाला, जिस प्रकार बरसाती नालों का वेगवान प्रवाह किनारों के टूट जाने से हरी-भरी खेतियों को निगल जाता है।"[2]

इसी वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत सुदर्शनजी ने यत्र-तत्र कई जगह विरोधाभास की अनूठी योजनाएं की हैं। जिस विदग्धता एवं शक्ति से उपमाएं या उत्प्रेक्षाएं भावाभिव्यक्ति में सहायक नहीं हो पातीं उससे अधिक सामर्थ्य विरोधाभास से उन्होंने उत्पन्न की हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में तन्मयता और गति से वे एक तथ्य या भाव की प्रतिष्ठा करते हैं, उस पर अन्तिम वाक्य के बड़े अभाव को प्रस्तुत कर पानी फेर देते हैं। पाठक के हृदय में भी एक विचित्र हूक उठ जाती है। जैसे—

"पटना में एक स्त्री रहती थी। उसका नाम वासव था। वह सुन्दरी थी। उसके शरीर में वसन्त की बहार, मोहनी और सुगन्ध थी। वह युवती थी। उसके यौवन में बढ़ते हुए चन्द्रमा का विकास और माधुर्य और काव्य था। वह धनवती थी। उसके सन्दूकों में बहुमूल्य वस्त्र, मनोहर आभूषण और सोने की मुहरें थीं। परन्तु उसके पास कुछ भी न था—वह वैश्या थी।"[3]

"बाजारों में रौनक न थी, दूकानों पर ग्राहक न थे, घरों में अनाज न था।

१. तीर्थ-यात्रा : (आशीर्वाद) : पृ० ८।
२. सुदर्शन-सुधा : (प्रारब्ध-परिवर्तन) : पृ० ६०।
३. सुदर्शन-सुधा : (प्रणय-रात्रि) : पृ० १६२।

+ + + इस समय उनके चेहरे पर खुशी न थी। आंखों में चमक न थी, शरीर पर मांस न था। सबकी आंखें आकाश की ओर लगी रहती थीं मगर वहां दुर्भाग्य की घटाएं थीं, पानी की घटाएं न थीं।"[1]

वर्णनात्मक शैली के सौम्य और शान्तिमय प्रवाह में बिना किसी आवेग और उत्तेजना के सुदर्शनजी ने समाज के किसी वर्ग-विशेष पर मीठे व्यंग्य और कटाक्ष भी किए हैं। उनमें स्मित हास्य और आक्षेप है, पर अट्टहास और प्रखरता नहीं। जैसे—

"उसने दुपट्टे के आंचल से अठन्नी खोली और वैद्यजी की भेंट कर दी। वैद्यजी ने मुख से 'नहीं नहीं' कहा, परन्तु हाथों ने मुख का साथ न दिया।"[2]

"कोई सज्जन बदमाश हो जाय, समाज चुप रहता है, परन्तु बदमाश आदमी भला होना चाहे, तो लोग सहन नहीं कर सकते।"[3]

कहानियों में पात्रों का चरित्र-चित्रण करने के लिए सुदर्शनजी ने सम्भाषण-शैली की भी सहायता ली है। यद्यपि कौशिकजी एवं प्रेमचन्दजी ने भी सम्वादात्मक-शैली का प्रयोग किया है; परन्तु सुदर्शन के सम्भाषणों में विशेष रोचकता के साथ तीव्रता और मार्मिकता है। परस्पर वार्तालाप से शैली में जीवन की प्रतिष्ठा हुई है, तथा छोटे-छोटे वाक्य और उनके सरल विन्यास से स्वाभाविकता स्फुटित हुई है। यथा—

"मुसाफिर—हां कई बार दर्शन किए हैं, परन्तु वे तो किसी को गुरुमंत्र नहीं देते, न मैंने उनके यहां कोई शिष्य देखा है। मुझे आश्चर्य है कि उन्होंने तुम्हें कैसे चेला बना लिया।

एकनाथ—(उदास होकर) उन्होंने मुझे चेला नहीं बनाया।

मुसाफिर—अरे!

एकनाथ—मगर मैंने उनको गुरु बना लिया। अब जाकर श्री-चरणों में लेट जाता हूं। देखूंगा कैसे कृपा नहीं करते?

मु०—तुम्हारी आयु थोड़ी है अभी।

ए०—समझदार के लिए थोड़ी भी बहुत है।

मु०—क्या तुम्हें संसार का अनुभव है?

ए०—गुरुजी की कृपा से अनुभव भी हो जायेगा।"[4]

कथा-कहानियों में सुदर्शनजी ने पत्र-शैली का भी सफल प्रवर्त्तन किया है। यद्यपि पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से अन्य समृद्ध भारतीय भाषाओं में कहानियों में पत्र-शैली का प्रचार हो चला था; तथापि हिन्दी में इस शैली का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ था। सुदर्शनजी ने इस शैली का प्रयोग करके उल्लेखनीय कार्य किया। पत्र-शैली को अपनी एकांगी आत्मीयता और हृदय की समीपता रहती है जो किसी अन्य साहित्यिक विधा

१. सुदर्शन-सुमन : (राजा) : पृ० ३।
२. तीर्थ-यात्रा : (आशीर्वाद) : पृ० ४।
३. तीर्थ-यात्रा : (घोर-पाप) : पृ० ४६।
४. सुदर्शन-सुमन : (गुरुमंत्र) : पृ० १६।

में अप्राप्य है। जैसे—

पेशावर छावनी
२० नवम्बर, १९१५

मेरी प्यारी देवकी,

मैं आज यहां हूं और दो चार दिन में यहां से भी चला जाऊंगा। कहां जाऊंगा इसका अभी ठिकाना नहीं। परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि जहां रहूंगा और जिस दशा में रहूंगा, तुम्हारी माधुरी मूर्ति हृदय पर बराबर अंकित रहेगी और घोर अन्धकार के क्षणों में भी तुम्हारा चिन्तन चमकते हुए तारे की तरह मुझे रास्ता दिखलाता रहेगा। सोचता हूं, वह दिन कब आयेगा जब मैं तुम्हें 'अपनी देवकी' कह सकूंगा और संसार के किसी भी व्यक्ति को इस पर आक्षेप करने का अधिकार न होगा।

तुम्हारे पिता से मुझे इस उत्तर की कभी भी आशा न थी। कैसे मिलनसार मनुष्य हैं, किसी ने उनके मुख पर कभी क्रोध की रेखा नहीं देखी। परन्तु उस समय वे बहुत जोश में थे। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे बर्फ को गरमी आ गई हो। कहने लगे, तुम क्या अपने आपको देवकी के योग्य समझते हो? देवकी तुमसे क्या कहूं, ये शब्द सुनकर मैं पानी-पानी हो गया। मुझे ऐसे अपमान की आशा न थी। + + +

देवकी यह मेरे पास ताश का अन्तिम पत्ता था। इस पर मुझे बहुत आशा थी। परन्तु तुम्हारे पिता के उत्तर ने पत्थर मार दिया। आशा कुचले हुए सांप की तरह बैठ गई। मैंने हारे हुए जुआरी की तरह ढीठ होकर कहा—तो मेरे लिए कोई आशा नहीं?

तुम्हारा प्यारा—अमीरचन्द[1]

विषय-वस्तु के अनुकूल शैलियों में परिवर्तन भी सुदर्शनजी की कहानियों में उपलब्ध होता है। सच तो यह है कि वे रसानुकूल भावाभिव्यंजना करने में बड़े निपुण थे। यद्यपि काव्यात्मक दार्शनिक भाषा-शैली के प्रसंग सुदर्शनजी की कहानियों में अपेक्षाकृत कम हैं; परन्तु जहां उन्होंने इस शैली को प्रस्तुत किया है वे सफल रहे हैं। यथा—

"+ + + उसका हृदय प्रातःकाल के प्रकाश में रात्रि के अन्धकार को खोजता था, जिसमें तारे मुस्कराते थे, और मन्द-मन्द चांदनियां अपनी क्षीण किरणों के लम्बे-लम्बे हाथ बढ़ाकर सोती हुई सृष्टि के अचेत मस्तिष्कों पर सुन्दर स्वप्नों से जादू करती थी।"[2]

सुदर्शनजी के विदग्ध प्रयोगों एवं व्याख्यात्मक वाक्यों में बड़ी ऊष्मा एवं मार्मिकता रहती है। ये छोटे-छोटे विदग्ध वाक्य हठात् ही 'सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर' की भांति गम्भीर घाव करनेवाले होते हैं, पर कुछ समय पश्चात् उसमें शीतलता आ जाती है और असर मलहम का होता है। इनमें उनके हृदय और मस्तिष्क का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। पाठक के मन को शान्ति तथा बुद्धि की तृप्ति इन वाक्यों से

१. 'सरस्वती' : (बलिदान) : अप्रैल १९२३, पृ० ४४४-५।
२. सुदर्शन-सुधा : (कवि) : पृ० २।

प्राप्त होती है। जैसे—

"तृष्णा सन्तोष की बैरिन है, जहां पांव जमाती है सन्तोष को भगा देती है।"[१]

"धन तृष्णा का ईंधन है। ज्यों-ज्यों रुपया आता जाता है तृष्णा बढ़ती जाती है।"[२]

सुदर्शनजी मूलत: उर्दू के लेखक होकर भी उनकी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों की अधिक भरमार नहीं हो पायी है। उन्होंने उर्दू-फारसी ही नहीं, अंग्रेजी के सरल और व्यावहारिक शब्दों को भी यथास्थान प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार संस्कृत के सामासिक व तत्सम शब्दों की ओर भी उनकी रुचि नहीं हुई है। फलत: उनकी भाषा का स्वरूप ठेठ हिन्दी की ओर कुछ झुका हुआ रहता है। मुहावरों और कहावतों की भी बहुतायतता नहीं है। इनके अभाव में भी सुदर्शनजी की भाषा में गति है, शक्ति है, सुबोधता है और इनके भी आगे लोकप्रियता की क्षमता है। छोटे-छोटे सरल वाक्य भाषा में दुरूहता को पास भी नहीं फटकने देते।

अंग्रेजी के कुछ शब्दों को तो उन्होंने रोमन लिपि में ही वैसा का वैसा, बिना हिन्दी पर्याय के लिख दिया है, कहीं नागरी और रोमन दोनों में ही दिया है, और कहीं केवल नागरी में ही अंग्रेजी शब्दों को रख दिया है। हिन्दी के पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत करने की उन्होंने कहीं चिन्ता नहीं की है। यह प्रवृत्ति आजकल के पढ़े-लिखों की भाषा की है। जैसे—

"स्टीला मेरी दुकान पर प्राय: आने जाने लगी। मैं उसे सबसे पहले attend करता······"[३]

"शाम को जब डेली हेरल्ड का संवाददाता मुझसे इंटरव्यू (interview) करने आया, तो मैंने बड़े गौरव से कहा—"[४]

साधारणत: सुदर्शनजी की भाषा व्याकरण की दृष्टि से और विशेषत: वाक्य-विन्यास की दृष्टि से शुद्ध है। फिर भी उसमें लिंग, काल और वचन की त्रुटियां हुई हैं। सम्भवत: उर्दू-फारसी के विशेष अध्ययन के कारण वे भूलें हुई हैं। जैसे—

"मुझे देखकर उसके मुख-मण्डल पर ज्योति आ जाती थी, आंखों में चमक। प्राय: कहा करती थी कि तुम्हारे बिना मुझे चैन नहीं आता।"[५]

"सारे क्लर्क साधुराम के शत्रु हो गये। कदाचित् उनका यह विचार था, कि साधुराम काम करने के लिए है, और वह वेतन वृद्धि लेने के लिए।"[६]

१. सुदर्शन-सुधा : (माया) : पृ० ७३।
२. सुदर्शन-सुधा : (पुनर्जन्म) : पृ० ११०।
३. परिवर्तन : पृ० ११।
४. परिवर्तन : पृ० १९।
५. परिवर्तन : पृ० ११।
६. तीर्थ-यात्रा : (अपनी ओर देखकर) : पृ० २३।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (१६०१ ई०-वर्तमान)

आधुनिक कथा-साहित्य में सबसे अधिक विक्षोभ की भावना उत्पन्न करनेवाले उग्रजी[1] भाषा-शैली की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'मतवाला' के सम्पादक के रूप में भी उन्होंने अपनी अत्यधिक विदग्ध, हृदयस्पर्शी तथा सशक्त भाषा के द्वारा हिन्दी-साहित्य में अभूत-पूर्व चैतन्य की उद्भावना की है। समाज की रोमांचकारी, घृणित, गलित एवं कलुषित वृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए जिस निर्द्वन्द्व महाप्राण व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, उग्रजी के रूप में हिन्दी-जन-साहित्य (कथा-साहित्य) को वह प्राप्त हुआ था। सदियों पुराने दम्भ, पाखण्ड और साम्प्रदायिकता का उन्मूलन करना सरल, सौम्य, माधुर्यमती शैली के वश की बात भी नहीं है। कांटे को कांटे से निकालना अथवा विष को विष से मारना—यही उग्रजी का सिद्धान्त इसमें ज्ञात होता है। उनके हृदय में भारत और भारतीयता के प्रति अगाध श्रद्धा है; साथ ही उनकी वर्तमान दीन-हीन दशा पर गहन क्षोभ भी है। उनका यही क्षोभ उनकी भाषा में फूट पड़ा है। हृदय की कसक शब्दों की ऊष्मा को लेकर उग्र रूप में उनकी शैली में साकार हो उठी है। उनकी शैली में देश-काल-परिस्थितियों की छाप स्पष्टतः अंकित हुई है। उनकी सभी रचनाओं में उनकी सारी जिन्दगी की उग्रता और मिर्जापुरी पहाड़ी की अकड़ मिलती है।[2]

उग्रजी ने पत्र-शैली में, व्यक्तिगत पत्रों की अति आत्मीयता के साथ, बिना औपचारिकता एवं कथित शिष्टता का ध्यान रखकर ठेठ अल्हड़ तथा मदमती भाषा का प्रयोग किया है। अभिन्न हृदय अपनी वैयक्तिक भावनाओं को जिस निश्छलता, निर्द्वन्द्वता और स्पष्टता से प्रगट करते हैं उग्रजी की शैली में ये सब विशेषताएं मिलती हैं। यद्यपि उनके पूर्व कथा-साहित्य में बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' ने पत्र-शैली का प्रणयन किया था; परन्तु उग्रजी की उग्रता, फक्कड़पन और मस्ती उसमें नहीं है। सुदर्शनजी की अपेक्षा उग्रजी की भाषा अधिक ओजमयी, मिश्रित और सशक्त है। इसी से वह व्यावहारिक साहित्यिक भाषा से भिन्न है। इसमें उर्दू-फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों के अतिरिक्त मित्र-मण्डली के एकान्त व्यवहृत प्रयोगों का भी बाहुल्य है। उसमें 'आह', 'वाह', मौज-मस्ती, व्यंग्य-विनोद, अट्टहास, शयर उक्तियां, आदि सब कुछ है और बेतक्ल्लुफी से है। निस्सन्देह उनका शब्द-चयन उदार और सरल है। अरबी-फारसी के कठिन शब्दों का उनकी भाषा में वैसा ही अभाव है, जैसा कि संस्कृत के क्लिष्ट एवं सामासिक शब्दों का। उग्रजी की शैली में ओज-गुण के साथ प्रसाद-गुण का सामंजस्य मिलता है। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवक-युवतियों की व्यावहारिक भाषा के सरल अंग्रेजी के शब्द भी कतिपय पाठकों को दुरूह हो सकते हैं; जैसे—नाइनटी नाइन परसेंट, हेंडस अप, रिहर्सल, नथिंग, थेंक यू, एटिकेट, लान, हाफ टाइम, ट्राइ यौर अटमोस्ट, डोण्ट लूज, वेल इन यंग प्लेयर,

१. पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी : खुदाराम और चन्द हसीनों के खतूत : परिशिष्ट पृ० १४२
२. उग्र : प्रकाशकीय वक्तव्य (१-३-५५) —वही— —वही— पृ० ६।

ओवर इत्यादि।

उनके वाक्य सामान्यतः मध्यम कोटि के हैं। भावातिरेक के कारण उनकी रचनाओं में शब्दों, पदों अथवा वाक्यांशों की आवृत्ति विपुल मात्रा में हुई है। इसके कारण वाक्य कहीं-कहीं दीर्घ एवं संयुक्त हो गये हैं। बोलचाल की भाषा का निर्वाह करने के कारण, वाक्यों का विन्यास भी कई स्थलों पर उलट गया है। आवेग और उत्तेजना के कारण, प्रश्नों की शृंखला भी खड़ी हो गई है। सच तो यह है, कि शब्दों, पदों आदि की आवृत्ति और प्रश्नों ने मिलकर उनकी भाषा-शैली में ओज एवं ऊष्मा की सृष्टि की है तथा विशिष्ट शब्द-प्रयोग ने उसमें योग-प्रदान किया है। यथा—

जकरिया स्ट्रीट
कलकत्ता
(बारह बजे रात)

क्या क्या लक़ब हैं शौक़ के आलम में यार के,
काबा लिखूं कि, क़िब्ला लिखूं या खुदा लिखूं।

वाह वाह वाह वाह ! तीस बार सूरज निकला और डूब गया; लम्बे-लम्बे दिन चमके और स्याह पड़ गये; बड़ी-बड़ी रातें आयीं और चली गयीं; मगर तुमने एक पुर्जा तक नहीं भेजा ! इसी बीच में मैंने दो खत तुम्हारे नाम कलकत्ता-कालेज-होस्टल के पते से भेजे, मगर; कोई नतीजा नहीं। तुम तो ऐसे नहीं थे। मेरे दिल ! मुझे माफ करना, क्या पत्थर-परस्त पूरे पत्थर ही होते हैं ?

तुम दे जाने को थे, रामायण की एक अच्छी कापी; क्यों नहीं दे गये ? मेरे पढ़ लेने के बाद—तुम ले जाने को थे, प्रेमचन्द का 'सेवासदन', मैथिलीशरण की 'भारत भारती' और चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल'; क्यों नहीं ले गये ? हफ्तों से ये किताबें मेरी मेज की छाती पर सवार हैं। मैं तुम्हारी हूं, मेरी मेज तुम्हारी नहीं है। उस 'अनबोलती और अबला' पर ऐसा जुल्म क्यों कर रहे हो ? तुमने कहा था कि '१५ मई को तुम्हारा हिन्दी में इम्तेहान लूंगा। देखूंगा ६ महीने में तुम उसे कितना समझ सकी हो।' फिर ? क्या हुआ उस इम्तेहान का ? क्यों नहीं आये ! बेरहम, तुम क्या जानोगे कि तुम्हारे इम्तेहान में 'पास' होने के लिये मैंने कितनी मेहनत, कितनी दिलचस्पी और कितनी कोशिशों से हिन्दी पढ़ी है। सैकड़ों किताबें फांक गयी। पचासों कापियां रंग डालीं। पूरी 'विदुषी एण्ड विशारदा' की लियाकत हासिल कर ली। मगर, तुम न आये—न आये ! इसका क्या मतलब है ? क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारी बांदी नर्गिस भी, 'मीरा' की तरह एकतारा हाथ में लेकर 'मुरारी' के पीछे धूनी रमा दे ? और 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' की तान से जमीन और आसमान को दहला दे ? ऐसा भूलकर भी न सोचना। किताबों की मीरा ने 'कालेज' में 'इंगलिश' नहीं पढ़ी थी और तुम्हारी 'नर्गिस' ने पढ़ा है। वह तो जरूरत पड़ने पर, मुहब्बत से मुस्कुराकर कह देगी कि—'मधुकर, हम न होंहि वह बेली !'[1]

१. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : खुदाराम और चन्द हसीनों के खतूत : पृ० ६३-४।

"संसार में कमजोर होना ही पाप है। संसार के सारे पापों के जिम्मेवार वे नहीं हैं जो अत्याचार या व्यभिचार करते हैं, बल्कि वे हैं जो अत्याचार और व्यभिचार को सहते हैं। इस समय संसार की सबसे बड़ी पापिनी जाति—हिन्दू-जाति है। इधर चार-पांच सदियों से उसका पतन पर पतन हो रहा है। वह गिर रही है—गिर रही है—गिर रही है। विदेशी और विजातीय, अपवित्र और नरक के कीड़े, सदियों से, हमारी माताओं, बहनों, बेटियों और बहुओं का पग-पग पर अपमान करते हैं, अपहरण करते हैं, और उन पर पाशविक अत्याचार करते हैं और हम बड़े-बड़े मायावी नेताओं के शब्दों में—'जिनकी नसों में राम और कृष्ण और परशुराम, प्रताप, शिवा और गुरु गोविन्द, इन्द्र और वरुण और कुबेर का रक्त प्रवाहित हो रहा है, इन अत्याचारों को देखते हैं और देखते हैं। दुर्बलों की तरह देखते हैं, गिरे हुओं की तरह देखते हैं, नीचों की तरह देखते हैं, निर्लज्जों की तरह देखते हैं, कायरों की तरह देखते हैं, नामर्दों की तरह देखते हैं।"[१]

उग्रजी की वर्णनात्मक शैली भी असामान्य है। उसमें चित्रात्मकता के साथ व्यंग्यात्मकता भी रहती है। उनकी लेखनी व्यंग्य सिद्ध और सतर्क है, इससे कोई भी वर्णन व्यंग्य के छींटों से अछूते नहीं बच सके हैं।

२. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : ख़ुदाराम और चन्द हसीनों के ख़तूत : पृ० ११६-७।

अध्याय : ८

नाट्य-साहित्य की गद्य-शैलियां

नाटक तथा शैलियां

साहित्य के अन्य गद्यांशों की तुलना में नाट्य-साहित्य की स्थिति सर्वथा भिन्न और महत्त्वपूर्ण है। निबन्ध, कहानी, उपन्यास, आलोचना इत्यादि गद्य-रूपों को जहां श्रव्य-काव्य के रूप में स्थान प्राप्त है, वहां नाटकों को दृश्य-काव्य का सम्मानित पद दिया गया है। संस्कृत-साहित्य में तो नाटकों (रूपकों) की महिमा एवं उपादेयता को ध्यान में रखकर 'पंचम वेद' की संज्ञा दी गई है। संवाद, गान, नाट्य और रस इसके प्रधान तत्त्व हैं जो कि इसकी विशेष स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। एक निश्चित तारतम्यमय कथा-वस्तु की निहिति नाटकों में रहने के कारण इन्हें कथा-साहित्य का अंग भी कहा जा सकता है। "साहित्य-समाज का प्रतिबिंब है।" यह उक्ति साहित्य के किसी अन्य रूप पर उतनी पूर्ण नहीं उतरती जितनी कि नाट्य-साहित्य पर। नाटक का रंगमंच समाज के प्रतिमान के रूप में अधिकतम यथार्थता का आग्रह करता है। वहां की सम्पूर्ण चेष्टाएं सामाजिक जीवन के अनुरूप होने में ही उसकी सफलता है। सभी नाटककारों को अपनी सफलता की कामना करने के लिए अपनी भाषा तथा शैली को समाज के जन-जीवन के स्तर पर उतारना आवश्यक होता है। नाटकों के प्रति रुचि शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर आदि सभी में समान रूपेण रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य गद्य-रूप जहां एकाकी या १-२ पाठकों व श्रोताओं को एक बार में लक्ष्य बनाते हैं, वहां नाटक में सहस्रों दर्शक एक साथ ही उसके प्रभाव में आते हैं। इन सबका एक साथ ध्यान रखते हुए नाटकों की भाषा अपेक्षाकृत सहज और सुबोध होना वांछित है। आचार्य भरत मुनि भी 'नाट्य-शास्त्र' में लोक-भावनानुसार भाषा की सरलता का प्रतिपादन करते हैं।[१]

क्षेत्र की व्यापकता के अतिरिक्त प्रभाव के स्थायित्व एवं विस्तार की निश्चितता भी नाटकों में रहती है। श्रव्य-काव्यों में शब्दों को ही पाठक के अन्तःनेत्रों के समक्ष काल्पनिक-चित्र प्रस्तुत करना होता है; परन्तु दृश्य-काव्य होने के कारण दर्शक प्रत्यक्ष अभिनय दृश्यादि देखता है और संवादों को सुनता है। यहां कल्पना या अमूर्त्त की आवश्यकता नहीं। इससे अभिव्यक्ति द्विगुणित गति से चक्षु एवं श्रवणेन्द्रियों से प्रविष्ट होती है। अभिनय के चारों अंग कायिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्विक तथा रंगमंच की

१. नाट्य-शास्त्र : २१।१३१।

साज-सज्जा बहुत अंशों में नाटकीय वस्तु को स्पष्ट करने में शब्दों की सहायता करती है। इतना सब होने पर भी, नाटकों के संभाषणों में उच्चारणजन्य शब्दों का अल्प जीवन शब्दों एवं वाक्यों को सरल और सुबोध रखने को बाध्य करता है। अतः, लम्बे वाक्यों और सामासिक शब्दों का नाटकों में न होना ही श्रेयस्कर है। नाटकों में, व्यास शैली एवं संयुक्त वाक्यों में रुचि रखनेवाले लेखक भी भावाभिव्यक्ति में सरलता उत्पन्न करने को बाध्य होते हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से भी नाटकों की भाषा-शैली विचारणीय है। नाटकों के बहु उद्देश्य होते हैं। जैसे मनोरंजन, प्रचार, सामाजिक सुधार, आदर्श-निरूपण और सामाजिक आलोचना। इन सबका सम्बन्ध समाज के बृहत् समुदाय से होता है। इससे भाषा हल्की-फुलकी, सुबोध तथा अनुरंजक तो होनी ही चाहिए, साथ ही प्रभावी और हृदयस्पर्शी भी। हास्य, विनोद और व्यंग्य की सामग्री भाषा में अवश्य हो।

नाटकों में पात्रों की भाषा देश, काल, परिस्थिति, व्यक्तिगत मर्यादा, संस्कार इत्यादि के अनुसार भिन्न रखनी आवश्यक रहती है। इससे एक ही नाटक में अनेक भाषा-शैलियों का होना स्वाभाविक है। फिर भी नाटककार को अपनी विशिष्ट शैली का पूर्णतः निर्वाह करने का अवसर नहीं रहता। नाटकों में पात्रों की भाषा-शैली का स्थान प्रमुख तथा नाट्यकार की शैली का स्थान गौण हो जाता है। वह अपनी भाषा के गुण-दोषों को दूसरों के सिर पर मढ़ने को स्वतन्त्र-सा हो जाता है।

उपन्यासों के विपरीत नाटकों में व्याख्या के लिए कम स्थान रहता है। एक तो सामाजिक स्तर के कारण लम्बे कथानक अस्वाभाविक लगते हैं। इसलिए नाटकों में संभाषण शैली का एकाधिकार रहता है, उसमें वर्णनात्मक, विवेचनात्मक या विश्लेषणात्मक शैली को स्फुटित होने के अवसर बहुत कम मिलते हैं। प्रत्यक्ष संवादों के उत्तर-प्रतिउत्तरों में दैनिक बातचीत के शब्द तथा वाक्य-विन्यास को रखना ही अपेक्षित रहता है और प्रत्यक्षता का लाभ उठाकर कुछ आवश्यक शब्दों को छोड़कर या उनका लोप करके भी काम चलाया जा सकता है। बहुधा कर्त्ता और कर्म को लोप करने का तो इन संवादों में अधिकार रहता ही है। क्रिया, विशेष्य या समुच्चयबोधक आदि को भी छोड़कर संक्षिप्तता और सजीवता दोनों ही का परिहार किया जाता है। उदाहरणत: प्रश्न—'कब आये ?' उत्तर—'आज।'

नाटकों में व्याकरण-सम्मत वाक्य के आवश्यक तत्त्वों कर्त्ता, क्रिया, कर्म इत्यादि की उपेक्षा ही मान्य नहीं है, वरन् वाक्य-विन्यास में भी परिवर्तन करने की सुविधा प्राप्त है। गद्य-रचना के नियम के अनुसार क्रमशः कर्त्ता या उद्देश्य, कर्म या पूर्ति, और अन्त में क्रिया को रखा जाता है; परन्तु संभाषण में विशेष स्थान पर बल देने के लिए सामान्य बातचीत के ढंग से परिवर्तन कर लिया जाता है। यह सच है कि नाटक एक गतिशील कला है जिसमें सदैव नई परिस्थितियां सामने आती हैं, शब्दों की पुनरुक्तियों को बचाकर सजीवता और नवीनता का ध्यान रखा जाता है।

नाट्येतर गद्य-रूपों में विराम-चिह्नों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा शैली में आवश्यक आरोह-अवरोह उत्पन्न किया जा सकता है, साथ ही उनके अभाव

या दुरुपयोग से अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है; परन्तु नाटकों में इस गौरवशाली उपकरण को भी गौरव प्राप्त नहीं है। संभाषणकर्त्ता अभीष्ट फल की उपलब्धि संवाद के समय किसी शब्द विशेष पर बल देकर तथा हावभाव से कर लेता है।

नाट्य-साहित्य में भाषा की व्यंग्यात्मक शक्ति का उन्मुक्त स्वरूप सामने आता है। असाधारणता नाटकों का गुण रहता है, इसलिए उनमें उपन्यास, कहानियों आदि की पिटी-पिटाई परम्परावादी भाषा-शैली मेल नहीं खाती। इसी से महाकवि कालिदास ने नाटकों तथा अन्य काव्यों की भाषा स्पष्टतः भिन्न रखी है। इतना ही नहीं, नाटकों का शब्द-चयन, शब्द-समष्टि तथा वाक्य-विन्यास अन्य गद्य-रूपों से विस्तृत एवं भिन्न रहता है। हिन्दी में प्रेमचन्द के नाटकों की असफलता का रहस्य उनकी उपन्यासों की भाषा-शैली ही है। अतएव उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यही है कि नाटकों की सफलता के लिए बोलचाल की विलक्षणता एवं चमत्कारपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली को शीर्ष स्थान मिलना चाहिए। नाटकों की भाषा-शैली की कसौटी जन-रुचि, जन-योग्यता एवं स्वाभाविकता होना चाहिए न कि व्याकरण की कठोरता।

हिन्दी के नाट्य-साहित्य में शैलियों का विकास

साहित्य में नाटकों का उत्कर्ष, समाज के उत्कर्ष का प्रतीक है। भारतेन्दु-युग में हिन्दी-जगत और उसकी सब परिस्थितियों में नाटकों का उत्कर्ष इस कथन का पुष्ट प्रमाण है। आधुनिक हिन्दी-गद्य-साहित्य के निर्माण की प्राथमिक अवस्था में साहित्यिक क्षेत्र में नाटकों ने ही जनता में लोकप्रियता प्राप्त की थी। देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों को साहित्य के माध्यम से जन-व्यापी करने के लिए नाटक ही श्रेष्ठ उपकरण सिद्ध हुए। भारतेन्दु एवं उनके 'मण्डल' के लेखकों ने भी इन्हीं को अधिक महत्त्व दिया। राष्ट्रीय चेतना की जागृति में नाटकों ने प्रमुख हाथ बँटाया। सामाजिक कुरीतियों अंधविश्वास आदि को भी नाटकों और प्रहसनों के माध्यम से रखा गया। इन नाटकों में संस्कृत नाटकों की प्रचलित परम्परा का अनुकरण कर लम्बे-लम्बे वाक्य, विस्तृत कथोपकथन, स्वगत कथन ये सब दुर्बोध एवं अस्वाभाविक तत्त्व रखे गये थे। गद्य और पद्य का मिश्रण भी नाटकों में पर्याप्त मिलता था। सच तो यह है, कि नाटकों में भी गद्य पद्य का मुखापेक्षी बना हुआ था और नाट्य-साहित्य में गद्य-शैलियों का प्रादुर्भाव तक नहीं हुआ था। पात्रानुकूल भाषा-शैली का तो प्रश्न ही उठाना व्यर्थ है।

सन् १६०० के पूर्व भारतेन्दु ('सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसानभवति', 'विषस्य विषमौषधिम्', 'सती प्रताप'), 'प्रेम योगिनी', प्रतापनारायण मिश्र ('गौ संकट', 'कलि प्रभाव', 'जुआरी खब्बारी', 'हमीर हठ'), राधाकृष्ण दास ('महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रताप', 'दुखिया बाला'), श्रीनिवासदास ('रणधीर प्रेम मोहनी, 'संयोगिता स्वयंवर', 'तप्तासंवरण'), प्रेमघन ('भारत सौभाग्य'), अम्बिकादत्त व्यास ('ललिता') इत्यादि मौलिक नाटकों का प्रकाशन हुआ। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-गद्य साहित्य की परम्परा

का प्रवर्त्तन भी नाटक से ही हुआ।

सन् १९००-१९१० तक का समय, नाट्य-साहित्य के लिए प्रायः दुष्काल का है। इस कालावधि में कोई भी महत्त्वपूर्ण नाटक नहीं है।[1] कुछ नाटक अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत व मराठी से अनूदित अवश्य हुए, परन्तु वे गद्य-शैली और नाट्य-कला की दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं हैं। इनमें पात्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व में डूबा रहा, न उनकी स्वतंत्र भाषा-शैली रही और न महत्ता ही। परम्परागत स्वगत भाषण और काव्यात्मक वातावरण दोनों पूर्ववत् चलते रहे। यद्यपि इस युग में भारतेन्दु-युग की परिस्थितियां बदल गई थीं। जन-रुचि भी वह नहीं रही थी। अब धीरे-धीरे चित्रपट का आकर्षण बढ़ चला था और मानव-जीवन अधिक संकुल, विषम एवं जटिल हो चला था। इससे अब न तो नाटकों को देखने के लिए ७-८ घंटे का समय ही रहा और न उनकी वह अस्वाभाविकता जन-रुचि को मोहित कर सकी। नाटकों के उद्देश्य की कट्टरता में भी कमी आ जाने से कथा-वस्तु की हृदय-ग्राहिता में कमी होना स्वाभाविक था। यद्यपि १९०५ ई० के बंग-भंग के पश्चात् राष्ट्रीय चेतना अधिक सजग, सप्राण एवं गहन हो गई थी, फिर भी नाटकों की अन्तःस्थिति स्वस्थ न हो सकी। हिन्दु-मुस्लिम एकता, नारी-उत्थान, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय चेतना को लेकर छोटे नाटकों को लिखने की आवश्यकता अनुभव की गई। सात-आठ अंकों के विशाल नाटकों को क्रमशः कम करते हुए तीन-चार अंकों में कलात्मक ढंग से वस्तु को सुगठित किया जाने लगा। प्रचार एवं मनोरंजन की दिशा से साहित्यिकता की ओर भी नाटकों की गति हुई। फलतः नाटकों की भाषा-शैली में प्रौढ़त्व, गाम्भीर्य एवं परिष्कार का ध्यान रखा जाने लगा। हल्के व्यंग्य और अन्योक्तियों के स्थान पर कलात्मक, परिमार्जित एवं संस्कृत प्रयोगों की आवश्यकता की अनुभूति हुई। इससे पारसी नाटककारों की उर्दू शब्द, मुहावरे तथा गति-प्रधान शैलियों का क्रमशः बहिष्कार किया जाने लगा। वैसे उस समय पारसी रंगमंच के लिए भारतीय ढंग से, नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र, हरीकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा, राधेश्याम कथावाचक इत्यादि ने नाटक लिखे, परन्तु उनका हिन्दी की गद्य-शैलियों की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रहा।

हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव को पूर्ण करने का भारतेन्दु का स्वप्न अधूरा बना रहा। इतना ही नहीं, पारसी नाटक कम्पनियों की इश्क-मुहब्बती रूमानी कहानियां तथा उनकी चमक-दमकपूर्ण हल्की-फुलकी भाषा-शैली के नाटकों के प्रति जन-रुचि का झुकाव भी कम नहीं हुआ। रंगमंच की दृष्टि से वे ही नाटक सफल हो रहे थे, जिनकी भाषा में उर्दू-फारसी की चुहुलबाजी, तकुल्लुफी और दिली-कसक थी। वास्तव में यह स्थिति हिन्दी के सांस्कृतिक गौरव के विरुद्ध थी। द्विवेदी-युग के द्वितीय दशाब्द के पूर्व क्षितिज पर हिन्दी के नाट्य-साहित्य में जयशंकर प्रसाद का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने हिन्दी रंगमंच के अभाव की चिन्ता न करके, अभिनय प्रयोजन से

१. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद के नाटक : पृ० १६-१७ ।

शून्य, प्राचीन गौरवशाली सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुकूल गम्भीर परिष्कृत अलंकृत भावात्मक शैली में पाठ्य-नाटकों की रचना की । अनेकों आलोचनाओं तथा आक्षेपों की उपेक्षा करके उन्होंने नाटकों में विशुद्ध काव्यात्मक भाषा-शैली का सतत प्रयोग किया। यहां स्मरणीय है कि अंग्रेजी में शेक्सपियर ने भी काव्योन्मुखी नाटकों की रचना की है।

प्रसादजी का प्रथम नाटक 'सज्जन' १६१०-११ में प्रकाशित हुआ और 'सज्जन' के माध्यम से हिन्दी को एक महान् नाटककार प्राप्त हुआ। नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में प्रसादजी का प्रवेश एक महान् साहित्यिक घटना है। प्रसादजी ने अपनी प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा-शैली से अभूतपूर्व शक्ति नाटकों को प्रदान की। संयोग से द्विवेदी-युग के पर्यवसान तक पहुंचते-पहुंचते प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटक (राजश्री १६१५, विशाख १६२१, अजात शत्रु १६२२, स्कन्द गुप्त १६२८ और चन्द्रगुप्त १६२६ लिखित प्रकाशित १६३१ तथा पौराणिक नाटक—जनमेजय का नागयज्ञ १६२६, कामना १६२७ तथा एकांकी नाटक एक घूंट १६२६ में प्रकाशित हुए। प्रसादजी के अतिरिक्त पं० माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध १६१८), सुदर्शन (दयानन्द १६१७, अंजना १६२३, आनरेरी मजिस्ट्रेट १६२७), प्रेमचन्द (संग्राम १६२२, कर्बला १६२४), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द (प्रताप प्रतिज्ञा १६२८), बेचन शर्मा उग्र (महात्मा ईसा १६२२), गोविंद बल्लभ पंत (कंजूस की खोपड़ी १६२३, वरमाला १६२५), रामनरेश त्रिपाठी (सुभद्रा १६२४) चतुरसेन शास्त्री (अमरसिंह राठौर १६२७, उत्सर्ग १६२८), वियोगी हरि (छद्म योगिनी १६२३, प्रबुद्ध यामुन १६२६) विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (भीष्म १६१८), बद्रीनाथ भट्ट (चुंगी की उम्मेदवारी १६१४, बेन चरित्र १६२१, दुर्गावती १६२५), मिश्रबन्धु (नेत्रोन्मलिन १६१४, पूर्व भारत १६२२, उत्तर भारत १६२३), बल्देवप्रसाद मिश्र (मीराबाई १६१८, असत्य संकल्प १६२५, वासना वैभव १६२५), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव के प्रहसन (उलटफेर १६१८, गड़बड़ झाला १६१२, मरदानी औरत १६२०, भूल चूक १६२०, दुमदार आदमी १६१७, कुर्सीमैन १६२३) आदि प्रमुख मौलिक नाटककार हुए हैं।

आलोच्य-युग की परिसमाप्ति के लगभग, पश्चिमी प्रभाव के घनीभूत हो जाने पर हिन्दी एकांकियों में नवीनता आई और उनका विकास हुआ। नये विषय, नये विचार तथा नई समस्याएं, शिष्ट, मिश्रित तथा प्रौढ़ भाषा-शैली में प्रस्तुत किये जाने लगे। भाषा का मिश्रित रूप एवं हल्की-फुल्की पदावलियां तिरोहित हो गईं। विशेषत: विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा अन्य शिष्ट समाज के उपयुक्त (१) सामाजिक व्यंग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय नैतिक, तथा (३) पौराणिक आदर्शवादी एकांकी[1] और प्रहसन तैयार किये गये।

सामाजिक व्यंग्यात्मक प्रहसनों में बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, दहेज, जाति बिरादरी की रूढ़ियां, छुआछूत, धार्मिक पाखंड, फैशन, नारी-उच्छृंखलता, अधकचरे

१. डॉ० रामचरण महेन्द्र : हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास : पृ० ६८

अंग्रेजी दां बाबुओं का पश्चिमी अन्धानुकरण इत्यादि अनेक विषयों पर चण्डीप्रसाद हृदयेश, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, बदरीनाथ भट्ट, 'सुदर्शन', बेचन शर्मा उग्र आदि ने उल्लेखनीय कार्य किया है। इनमें विशेषतः शैलीगत व्यंग्य, विनोद तथा परिहास पुष्ट हुए। गद्य-शैली में व्यंग्य, विनोद तथा परिहास को प्रौढ़ता प्रदान करने में इन प्रहसनों तथा एकांकियों का महत्त्वपूर्ण हाथ है।

राष्ट्रीय नैतिक तथा पौराणिक एकांकियों में, ऐतिहासिक पात्रों, घटनाओं को राष्ट्रीय चेतना के लिए तथा धार्मिक चरित्रों को संस्कारों के लिए प्रस्तुत किया गया। उनकी गद्य-शैली सामान्य व्यावहारिक कथनोपकथन की है। गद्य-पद्य का मिश्रण न्यूनाधिक मात्रा में बना रहा। वार्तालाप में छन्द तथा लय पर बल दिया जाता था। इनमें उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है। कहानी-उपन्यासों की ओर जनरुचि अधिक होने से एकांकी तथा पूर्ण-नाटकों की धारा मन्द ही रही।

अंग्रेजी के प्रभाव से नाटकों से काव्यत्व का अवयव निकालने की प्रवृत्ति हुई और दृश्य वर्णन, सरस, आलंकारिक चमत्कार आदि हटाए जाने लगे। इसके पूर्व उपन्यास-कहानियों की भांति नाटकों में भी काव्यात्मकता का आग्रह विशेष रहता था, और नाट्यकार अवसर पाते ही संस्कृत की प्राचीन परम्परागत आलंकारिक वर्णन, उक्ति-वैचित्य तथा सरस भाव-व्यंजना प्रस्तुत करता था। अब उस रुचि में परिवर्तन हुए।

अनुवादों के द्वारा समृद्ध भाषाओं के अच्छे नाटकों को हिन्दी में लाने का भी बहुत कार्य हुआ है। युग के प्रमुख नाटक-अनुवादक :

संस्कृत से—बालमुकुंद गुप्त, लाला सीताराम, सत्यनारायण कविरत्न, ज्वालाप्रसाद मिश्र;

बंगला से—गोपालराम गहमरी, रामकृष्ण वर्मा, रूपनारायण पाण्डेय;

अंग्रेजी से—लाला सीताराम, गोपीनाथ पुरोहित, मथुराप्रसाद चौधरी इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक मर्यादा, शील और आदर्श के प्रदर्शन की अपेक्षा नाटक यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ। इन सब परिवर्तनों के परिणामस्वरूप हिन्दी नाटकों में संभाषण शैली के अन्तर्गत गम्भीर एवं प्रांजल विश्लेषण शैली को पनपने का भी अवसर मिला। स्वगत कथन अपनी अनुपयुक्तता के कारण काल कवलित हो गया। नाटकों में नये सिरे से यथार्थवादी तथा वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। पश्चिमी श्रेष्ठ नाट्यकार बर्नार्ड शा एवं इब्सन के समस्या नाटकों की भाषा-शैली एवं टैक्निक को आत्मसात करके पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के संन्यासी १९३१, राक्षस का मंदिर १९३१, मुक्ति का रहस्य १९३१, राजयोग १९३१ एकदम से प्रकाशित हुए और नाटकों में प्रसाद परम्परा एवं द्विवेदी-युग का पटाक्षेप हो गया।

युग के प्रमुख नाट्यकार एवं उनकी गद्य-शैलियां

बाबू गोपालराम गहमरी (१८६७-१९४८ ई०)

गहमरीजी की साहित्यिक विभा अनेक भागों से विकीर्ण हुई है। उनके जीवन एवं व्यक्तित्व का परिचय "कथा-साहित्य की गद्य-शैलियों का अध्ययन"[१] करते समय हमें प्राप्त हो चुका है। उससे हमें यह स्पष्टतः ज्ञात हुआ है कि गहमरीजी मूलतः एक जासूसी उपन्यासकार हैं; परन्तु उन्होंने ७-८ नाटक भी मौलिक या आधारित प्रस्तुत किए हैं।

ऐतिहासिक भावानुवाद—यौवन योगिनी, बनवीर।

सामाजिक मौलिक नाटक—वर्तमान बचक चपेट, देश दशा, विद्या विनोद, जीवन सुधार (अप्रकाशित)।

ऐतिहासिक मौलिक—बभ्रुवाहन, जन्मभूमि।

नाटकों के क्षेत्र में गहमरीजी प्रसिद्ध बंग नाट्यकार बाबू राजकृष्ण राय, द्विजेन्द्रलाल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से प्रभावित हुए और इन नाटकों की, मौलिक या बंगला के आधार पर रचनाएं कीं। इनके छायानुवादों में भी भाषा की दृष्टि से मूल ग्रन्थों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। गहमरीजी ने कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए बनवीर नाटक १९१३ के निवेदन में व्यक्त किया है कि पुस्तक आधार पर तैयार की गई है। इससे छायानूदित नाटक भी शैली और भाषा के अध्ययन के योग्य अवश्य हैं।

संस्कृत के प्राचीन नाटकों की भांति गहमरीजी के नाटकों में पद्य भाग भी अधिक हैं। संस्कार के कारण उनके पात्र गद्य में बोलते-बोलते उत्तर-प्रतिउत्तर के साथ पद्य का प्रयोग करने लग जाते हैं मानो कि सभी आशु कवि हो गये हैं। इस प्रकार गद्य-पद्य का मिश्रित रूप चम्पू इन नाटकों की विशेषता है।

गहमरीजी के नाटकों की भाषा-शैली का अध्ययन करने के पूर्व हमें इस तथ्य का स्मरण कर लेना अति आवश्यक है कि वे लोक-रुचि के अनुकूल अभिनय के लिए लिखे गये हैं। अतएव इन नाटकों की भाषा और शैली तदनुकूल रखी गई है।

गहमरीजी की भाषा भी पात्र तथा देश-काल के अनुकूल होने का कुछ सीमा तक सफल प्रयत्न करती है। जैसे 'बनवीर' नाटक में मेवाड़ का जीवन-दर्शन चित्रित किया गया है, इसलिए यत्र-तत्र मेवाड़ी (चित्तौड़ी) तथा राजस्थानी भाषा का पुट दे दिया। गहमरीजी उत्तर प्रदेश (गहमर) के निवासी थे, अतः, उनकी भाषा में पूर्वी शब्द तथा मुहावरों का भी मिश्रण हो गया है।

मेवाड़ी तथा राजस्थानी प्रयोग—ओको, डोका डोकी, हियां, इहां, आइ गयी, दरवज्जे, घोंट ले लो, ढहोदाह, आव-जाव, देह बथेगी, सौड़ आदि।

१. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-७।

पूर्वी हिन्दी का मिश्रण

पन्ना—तुम्हारे हमारे ऊपर तो ऊ सब और जले हैं। जगमलराव सबसे बड़ा बैरी है।

उदय—काहे धाइ मां ?

पन्ना—काहे कि उसी के बाप कर्म्मचन्दराव की मदद से हम लोग जेल खाना में महाराना को देखने गये रहे न।

उदय—तो क्या होगा धाई मां। मैया के बास एको बेर नहीं जा सकेंगे ? उनके वास्ते यह (दिखाकर) खाने को रखा है। वह खा नहीं सकेंगे ?[१]

जैसा कि पूर्व निर्देश किया गया है कि गहमरीजी की भाषा में गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी हुआ है, उसके साथ कहीं-कहीं तुकबन्दी और अनुप्रास की ओर रुचि भी रही है। पारसी रंगमंच के प्रेमी अर्द्धसंस्कृत सामाजिकों के लिए राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव में ऐसे शब्द खिलवाड़ों में विशेष रुचि भी थी। इस लोक-रुचि के आगे सिर झुकाकर गहमरीजी को तुकबन्दी और अनुप्रास को अपने नाटकों में स्थान देना पड़ा है। यथा—

"खबरदार ! राजपूत सर्दार के पिता के प्रहार का बदला प्रहार इसी तलवार से संहार।"[२]

"जिसकी बुद्धि है उसी की सिद्धि है।"[३]

"वह ऐसा घात पाकर चित्तौड़ पर चढ़ दौड़ेगा कि छोड़ेगा।"[४]

बीच-बीच में अपने कथन को प्रभावी और प्रबल बनाने के लिए उक्तियों और उदाहरणों का उपयोग किया गया है। वैसे छोटे-छोटे संवादों में ऐसे उद्धरणों के लिए अवकाश भी बहुत कम मिला है। साधारण व्यावहारिक ज्ञान तथा रामायण वेदादि से ही सहायता ली है।

"क्योंकि काम में जितनी देर होती है उतना ही सुधरता है। कटहल डाल में जितना ही पकेगा उतना ही मीठा होगा।"[५]

गहमरीजी मूलतः उपन्यासकार तथा पत्र-सम्पादक थे। अतः, सरल, सुबोध और लोक-व्यवहृत भाषा की महत्ता से पूर्ण परिचित थे। कथा-साहित्य की भांति नाट्य-साहित्य भी जन-साहित्य है, अतः, इसमें भाषा को विशुद्ध शब्द-चयन करके दुर्बोध और क्लिष्ट नहीं बनाना चाहिये। इससे उन्होंने उर्दू-फारसी के सरल और व्यावहारिक शब्दों को उदारतापूर्वक ग्रहण किया है। निःसन्देह उन्होंने उन शब्दों के नीचे नुक्ते लगाने की तकल्लुफ भी नहीं की है। अन्य विदेशी शब्दों की भरमार भी नहीं होने दी है। फिर

१. बनवीर : गोपालराम गहमरी : पृ० ४४।
२. बनवीर : गोपालराम गहमरी : पृ० ११।
३. बनवीर : गोपालराम गहमरी : पृ० १७।
४. बनवीर : गोपालराम गहमरी : पृ० ३।
५. बनवीर : गोपालराम गहमरी : पृ० २४।

भी भावों के प्रवाह में यदि कोई ऐसे शब्द आ भी गये हैं तो उनका अपमान नहीं किया गया है। देशज और अपभ्रंश शब्दों का भी उन्होंने यथा-स्थान समादर किया है। मुहावरों ने भी उनकी भावाभिव्यक्ति को गति और शक्ति देने में योग दिया है। भाषा में प्रसाद गुण है और कहीं-कहीं वक्रता भी।

उर्दू-फारसी के शब्द—दरख्त, तूफान, गुलाम, आफत, गरज, नसीब, जहर।

देशज तथा अपभ्रंश—कपार, नाव, मांजते, ओको, डोका डोकी, बथेगी तौ भी, हुई नहीं,

मुहावरे एवं उक्तियां—चूहे दण्ड करेंगे, पाप का ओढ़ना बिछौना किरैना आदि।

सामान्यत: गहमरीजी की भाषा प्रौढ़, प्रांजल एवं परिष्कृत नहीं है। उसमें अव्यवहृत तथा अशुद्ध रूप भी मिलते हैं साथ ही कई स्थलों पर भाषा उखड़ी हुई-सी दिखती है। जैसे—

"लेकिन तुम्हारे पिता तो इस बात से रंज होते हैं।"[1]

"बाप दादा का नांव हंसाओगे।"[2]

"यह तो सब घमण्ड तो तेल हण्डे में चला गया।"[3]

"यह मेर हितकारी बन्धु है कौन! जो मेरी विपत्ति देखकर दया गया है।"[4]

हास्य सम्राट् गंगाप्रसाद श्रीवास्तव बी० ए०, एल-एल० बी० (१८९१ ई०—वर्तमान)

हिन्दी के मौलियर जी० पी० श्रीवास्तव का जन्म अवध के गौड़ा स्थान में अप्रेल १८९१ को हुआ था।

युग में हास्य-रस के सुदृढ़ स्तम्भ श्रीवास्तवजी की रचनाओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र हास्य-रस की उद्भावनाएं हुई हैं। उनके पूर्व और समकालीन किसी भी अन्य हिन्दी-साहित्यकार ने, हास्य-रस की सचेष्ट प्रणति इतनी मात्रा में नहीं की थी। प्रारम्भ से ही उन्होंने हास्य-रस को अपनी रचनाओं में समादर किया। उनकी पहली कहानी 'पिकनिक' १९११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी।

धनधान्य की कठिनाइयों और चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त एवं हंसोड़ प्रकृति श्रीवास्तवजी में हास्य-विनोद की भावना पूर्णत: स्फुटित हुई है। इसके लिए उन्होंने अति नाटकीय, परिस्थितियां प्रसंग, अथवा दृश्यों की अवतारणा की है। स्वाभाविकता के अभाव में बहुधा 'गुदगुदाकर' हँसाने का प्रयास भी किया है।[5] उसमें परिष्कृत तथा

१. बनवीर : गोपालराम गहमरी : पृ० १२।
२. बनवीर : पृ० १७।
३. बनवीर : पृ० १८।
४. बनवीर : पृ० ५९।
५. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डॉ० श्रीकृष्णलाल : पृ० २६६।

शुद्ध हास्य का प्रायः अभाव है। उनकी यह अस्वाभाविकता कहीं-कहीं अव्यावहारिकता और अशिष्टता ही नहीं, वरन् अश्लीलता[१] तक पहुंच जाती है। यही कारण है कि उनके इतने बड़े हास्य-साहित्य में से किसी भी रचना को राष्ट्र-भाषा हिन्दी के गौरव के अनुरूप मानकर समृद्ध विदेशी-साहित्य की तुलना में प्रस्तुत कर सकने में संकोच होता है।

श्रीवास्तवजी का यह सप्रयास हास्य सप्रयोजन भी है। हिन्दी-साहित्य तथा भारतीय समाज की दुर्दशा को प्रभावपूर्ण ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ही उन्होंने प्रमुखतः नाटक, प्रहसन, कहानियां आदि को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस शैली तथा इन गद्य-विधाओं में उन्हें अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में पर्याप्त सफलता मिली है। यहां यह स्मरणीय है कि युग-नायक आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने इन्हीं उद्देश्यों के लिए व्यंग्य-चित्रों का प्रचलन किया था। जी० पी० श्रीवास्तव ने हास्य-व्यंग्य का प्रयोग नाट्य तथा कथा-साहित्य में किया है। 'मरदानी औरत', 'साहित्य का सपूत', 'उलटफेर' जैसे उनके प्रमुख नाटकों का मूल-उद्देश्य व्यंग्य के तीखे नश्तरों के द्वारा समाज और साहित्य का सुधार था। निःसन्देह इनके हास्य में बुद्धि-कौशल पूर्ण त्वरित उत्तर-पटुता अथवा वाग्वैदग्धता नहीं है, परन्तु विनोद-परिहास-युक्त वाक्य-पटुता, शब्द-चयन अवश्य है, जो सामान्य जनता को बोधगम्य है। इनके प्रहसनों का उद्देश्य भी अपने व्यंग्यों को जनसुलभ बनाना था। "बहुत दिनों से हिन्दी की दुर्दशा देख-देखकर मेरा दिल सुलग रहा था। मगर आज वह मशाल की तरह जल रहा है। इसकी रोशनी में देखना हो तो देख लीजिये कि हमारे हिन्दी-संसार की अन्धेर नगरी की कैसी शोचनीय दशा है। चोर लुटेरे और डाकू यहां किस तरह बेधड़क ऊधम मचा रहे हैं। और आपके पहरेवाले किस मजे से मीठी नींद में पड़े सो रहे हैं।

भोले-भाले पथिकों का इसमें गुजार कहां? किसी ने इसमें घुसने की अगर हिम्मत भी की तो कोई ठीक राह बताने वाला नहीं मिलता। जो मिलते भी हैं तो अच्छे और मतलबी। नतीजा यह होता है कि पथिक बेचारा भटकते-भटकते अन्त में ऊबकर इसमें से भाग निकलता है या मारे भूख-प्यास के वहीं दम तोड़ देता है। क्योंकि इस अन्धेर-नगरी में साहित्य सेवियों को अन्न जल देना महा जुर्म समझा जाता है।"[२]

"शिक्षित समाज की हालत तो और भी बदतर हो रही है। जो पढ़ाई के पीछे पड़े तो ऐसे हाथ धो के पड़े कि बहुतों को यह खबर न रही कि घर लुट गया और तन-दुरस्ती गारत हो गई। कालिज से निकले तो वह हुकूमत के जोम में अपने को ऐसे भूले कि दिमाग आसमान को जा पहुंचा। बाकी जो बचे वह सब भेड़िया धसान की तरह वकालत में घुस पड़े। एक अनार और सौ बीमार। छीने झपटे जो भी हाथ लगे वही बहुत है। मगर वह भी कब तक।"[3]

१. जी० पी० श्रीवास्तव के पत्र 'गुदगुदी'।
२. मरदानी औरत : भूमिका (गाड़ी-दि० २७-८-२०)
३. उलटफेर : सूत्रधार : पृ० २-३।

साहित्य और समाज की ये परिस्थितियां ही उनके हास्य-व्यंग्य की उद्भावक और प्रेरक हैं।

स्वतन्त्र रचनाएं—गड़बड़झाला १६१२, लम्बी दाढ़ी '१४, दुमदार आदमी '१७, उलटफेर '१८, नोक-झोंक '१६, मरदानी औरत '२०, भडामसिंह शर्मा '२०, गंगा-जमुनी '२७, स्वामी चौखटानन्द, मिस्टर लतखोरीलाल, लाल बुझक्कड़, मीठी हंसी।

अनूदित तथा मोलियर पर आधारित—मार मारकर हकीम, आंखों में धूल, हवाई डाक्टर, नाक में दम, मियां की जूती मियां के सर उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा, चाल-बेढब, धोखा-धड़ी, दौलत-घसीट, साहब बहादुर उर्फ चड्ढागुल-खैरू, काठ का उल्लू, प्राण-नाथ।

श्रीवास्तवजी की भाषा-शैली की प्रथम उल्लेखनीय विशेषता उसकी व्यावहारिकता और सरलता है। नाटकों और प्रहसनों का सीधा सम्बन्ध सामान्य कोटि के सामाजिकों से रहता है। इसमें भाषा को विशुद्ध, परिष्कृत और दुरूह नहीं रखा जाता। विशेषत: प्रहसनों में तो अपेक्षित गम्भीरता और प्रौढ़ता की भी उपेक्षा करके, चुहुल, कटाक्ष, व्यंग्य, मुहावरेबाजी आदि की सहायता से प्रवाह, प्रभाव, मार्मिकता और हल्केपन का निर्वाह किया जाता है। इनकी भाषा-शैली इस दृष्टि से अत्यधिक विषयानुकूल है। उसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का बाहुल्य तथा मुहावरे, उक्तियां, अनुप्रास और तुकबन्दियों का आग्रह है। श्रीवास्तवजी की यह उर्दूदां भाषा, प्रेमचन्दजी की भाषा से अधिक उर्दू-फारसी शब्दों तथा मुहावरों से बोझिल है, परन्तु दुरूह नहीं। उनके अन्यन्त विनोदी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उनकी इस भाषा-शैली में हुआ है।

समाज के विभिन्न क्षेत्रों में, विशेषत: पश्चिमी सभ्यता का जो दूषित और भौंड़ा प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ रहा था, उसको देखकर श्रीवास्तवजी के भारतीयता-उन्मुख हृदय पर जो आघात हुए हैं, वे ही उनके दिल की कसक बनकर उनके चुभते हुए व्यंग्यों में फूट पड़े हैं।

"क्यों सखी, क्या सचमुच कविता मर्दों की मौरूसी जागीर नहीं है बल्कि उसमें हम लोग भी हिस्सेदार हैं।"[१]

"उसके बाद हम एक छापेखाने में नौकर हुए। वहां बेलन चलाते-चलाते वर्णमाला के सब अक्षर पहचान लिये। फिर क्या था ? योग्यता बलबला उठी। बश नौकरी छोड़ मातृभाषा की कोंख में जन्म लिया और दनशे सम्पादक बन बैठे।"[२]

"नौकर—हुजूर, कोई आया है।

डाक्टर—अच्छा, उसको बैठा लो। थोड़ी देर में मिलूंगा क्योंकि बिना इन्तजार कराये मुलाकात करना फेशन नहीं।"[३]

"चन्चल—क्यों जनाब, भला यह चार-चार डाक्टर क्या होंगे ? भला एक

१. मरदानी औरत : पृ० ४।
२. मरदानी औरत : पृ० ३८।
३. मार मार कर हकीम : (आंखों में धूल) : पृ० ७५

किसी को मार डालने के लिये काफी नहीं हैं ?"[१]

"शामत—(हजामत बेग को अपनी तरफ घुमाकर) इस देहाती की बातों में न आइये। नाचना तो मर्दों का जेवर है। देखिये, कबूतरी नहीं नाचती, कबूतर नाचता है। मोरनी नहीं नाचती मोर नाचता है। बिना नाचना जाने साहब लोगों के कलब घर में कदर नहीं होती।"[२]

प्रश्नोत्तर शैली के अतिरिक्त कहीं-कहीं लम्बे विवेचन के साथ भी सौम्य और शान्त भाव से व्यंग्य-वाणों का अनुसंधान किया है।

'खैर, जब देखा कि वह लोग मुझे हकीम बनाने पर तुले ही बैठे हैं, तो भई मजबूरी थी। फिर तो हर तरफ से मेरी बुलाहट पर बुलाहट आने लगी। अगर यही हाल रहा तो मैंने भी पक्का इरादा कर लिया है कि जिन्दगी भर तक हकीमी ही करूंगा। बड़ा अच्छा पेशा है। चाहे हम गलती करें या बेवकूफी करें। हमारा मिहनताना कहीं नहीं जाता। हमारी गलती हमारे सर नहीं मढ़ी जाती। उल्टी बीमार के मत्थे जाती है। अगर कोई दर्जी कपड़ा सत्यानाश कर दे तो उससे कपड़े का दाम धरा लेते हैं। मगर हम लोग चाहे सैकड़ों आदमियों का सफाया कर दें, कुछ परवाह नहीं। कोई चूं नहीं कर सकता। बल्कि ऊपर से हम लोग डांट बताते हैं। क्योंकि हम लोग कसूर नहीं करते। जो मरते हैं उन्हीं का कसूर होता है। हमारे इस पेशे की इतनी बड़ी इज्जत खासकर मुर्दों की इमानदारी और शराफत पर कायम है। क्योंकि ये बेचारे कभी शिकायत करने नहीं आते कि हमको फलाने हकीम ने मार डाला, बल्कि अपने सर पर सारा कसूर लेकर चुपचाप पड़े रहते हैं।"[३]

श्रीवास्तवजी की व्यंग्यात्मक शैली के ही अन्तर्गत उनकी व्यंग्योक्तियां भी दृष्टव्य हैं। इनमें सामान्य व्यंग्यों की अपेक्षा अधिक प्रखरता और कटुता है। शब्द-विन्यास की दृष्टि से भी ये उक्तियां अधिक सुगठित एवं सुष्ट हैं। भाव-ग्रहण के अभिप्राय से इनमें न सुधार भावना ही है और न सहानुभूति ही। ये प्रयोग अवसर के अनुरूप तथा बहुधा व्यक्तिगत हैं।

"बाप अण्डे बेचते थे और बेटा बोलने लगे एकदम कुकड़ूकूं, अक्ल पर उल्टी झाड़ू फेरना।"

"औरतों की अकिल ही कितनी बड़ी। मोम की नाक जिधर चाहो उधर घुमा दो।"

"अल्लामियां ने अपनी जिन्दगी में अगर कोई बात समझदारी की की है तो बस यही कि उन्होंने दौलतमन्दों को और औरतों को अक्ल नहीं दी। तभी तो वह खुशामद पर बहकते हैं और औरतें ऊपरी तड़क-भड़क पर फिसलती हैं।"[४]

१. मार मार कर हकीम : (आंखों में धूल) : पृ० ८३।

२. साहब बहादुर : पृ० ४१।

३. मार मार क. हकीम : पृ० ४५-४६।

४. साहब बहादुर : पृ० ५४।

"चलूं जमीन पर और बात करूं आसमान की, रहें झोंपड़ी में ख्वाब देखें महलों का।"[1]

व्यंग्य के साथ ही हास्योत्पादन के लिए शब्दों के विचित्र उच्चारण भी बहुत काम के होते हैं। जब चिरपरिचित शब्दों को अनोखे ढंग से उपस्थित किया जाता है तो श्रोताओं को स्वाभाविक हँसी आ जाती है। हास्य-रस का संयोजन करने के लिए यह पद्धति उपयुक्त है, विशेषतः शिक्षित, साहित्यिक तथा प्रौढ़ व्यक्तियों के द्वारा ऐसा शब्दोच्चारण अधिक हास्य उद्बोधक होता है। यह आदत और अज्ञान दोनों ही का प्रतीक होता है। इस प्रकार की विकृति को प्रस्तुत कर श्रीवास्तवजी ने सुधार के उद्देश्य से व्यंग्य किया है, और साथ में हास्य की सामग्री भी संजोई है। जैसे—

"हमारी 'नवीन पत्रिका' होगी माशिक। मगर तीन बरश में केवल दो बार होगी प्रकाशित। कहलायेगी सचित्र, मगर चित्र एक भी न होगा। पृष्ठ होंगे उशमें केवल दो। पहिले में हमारे मैनेजर शाहब का रोना होगा। 'हीन हिन्दी', 'हीन हिंदी कहकर उसमें ऐशा विलख विलख कर रोयेंगे कि पत्रिका के गुणों के कारण तो कोई भी नहीं मगर तरश खाकर शभी ग्राहक हो जायेंगे।"[2]

श्रीवास्तवजी ने अपने व्यंग्य एवं हास्य को मूर्त्तरूप देने के लिए न केवल कथा-वस्तु, व्यंग्य-वाक्य, उक्तियां शब्दोच्चारणादि का आश्रय लिया है वरन् पात्रों के नामों से भी पर्याप्त सहायता ली है। 'यथा नाम तथा गुणः' यही उनके पात्रों के नामकरण की मूल भित्ती है। प्रथमतः ही पाठकों या श्रोताओं की बत्तीसी इन विचित्र नामों के प्रभाव से खुल पड़ती हैं। यथा—

बण्टाधार (मूर्ख सम्पादक), पेटूमल (प्रकाशक), पक्षपातीलाल (समालोचक), भिखारीलाल (लायब्रेरियन), सत्यानाशी (लेखिका), मुक्तीचन्द, उधारमल, फोकट-राय (जनता के लोग)।[3]

अन्य नाम—मिस्टर हजामत बेग, फितरत अली, खुराफत हुसैन, मिस्टर टिम्ब-कटू, घरदावसिंह, शक्कीमल, भोंदूराम, लालच बख्श, टर्रे खां, मिर्जा अलल टप्पू, टिकड-मलाल, घन चक्कर, नजीद हुसैन, रोजनामचा अली, बदहवास, झटपट राय इत्यादि।

नारी पात्र—बेजार बीबी, जंजाल, दिल फरेब।

हास्य-संयोजन के इष्ट की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने नाटकों में अनेक ऐसे पात्रों का प्रणयन किया है जो ठेठ ग्रामीण अथवा अपनी देशज भाषा में ही सम्भाषण करते हैं। ऐसे अशिक्षित एवं असंस्कृत पात्र अपनी भाषा में हास्यकारी सूत्र छोड़ देते हैं। ये प्रयोग अटपटे तो लगते हैं, साथ ही इनका चटपटा अर्थ भी कभी-कभी लगा लिया जाता है। इससे हास्य-विनोद हो जाता है। इसी प्रकार से विशुद्ध हिन्दी, संस्कृत के तत्सम अथवा अंग्रेजी के विशिष्ट प्रयोगों से अशिक्षित ग्रामीणों की कुछ की कुछ विचित्र अनुभूति हो

१. साहब बहादुर : पृ० ५४।
२. मरदानी औरत : पृ० ४१।
३. मरदानी औरत।

जाती है और वे चहुक उठते हैं। बस इन दोनों ही परिस्थितियों में हास्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे—

धौलक दास—जदी मेरे को पूछो ओ तो भाई मेरी शमझ में जेई आवे ऐ, कि लला लुगाई शुशरी गेहणोई शे खुश होय हैं। हमन ने अपनी जोरू आ को जाई तेरेशे राजी राखी ऐ। बो रांड तो बौत बके झके ऐ। छे छे फिट की जूती से बात करे ऐ। लला झूठी नांई कहे एं। जे देखो चांद शशुरो गंजो हो गओ। परन्तु जहां पीतल की एक हंशुली ला दीन्ही और कह्यो शोणो ऐ शोणो। तहां शुशरी भइया भइया मोको कहेण लागेऐ। बश बश गेहणों दो लला वाको गेहणो। शम जे"[1]

पात्रों की मूर्खता का चित्रण भी हास्योत्पादन के लिए एक मान्य एवं बहु प्रचलित उपकरण है। अशिक्षित तथा ग्रामीण लोगों की भाषा-शैली तथा उच्चारण से तो हास्य-रस की उद्भावना होती ही है; अज्ञान ही नहीं, मूर्खता-वश भी अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—

'लाल बुझक्कड़'—पिता ने कहा कि बेटा लाल बुझक्कड़, मैंने तुम्हारा ब्याह सेठ गोबरधनदास की सौभाग्यवती पुत्री श्रीमती मालती देवी के साथ ठीक कर दिया।"[2]

"लड़के तो दर्जनों हुए। साल भर में तीन तीन के हिसाब से।"[3]

"और मैं आपका सगा नौकर हूं।"[4]

हास्य की सृष्टि करने के लिए छोटे-छोटे प्रश्नोत्तरों में परिवृत्ति अलंकार के आदर्श पर, मूल गम्भीर और व्यावहारिक कथन का उल्टे कार्य कर तर्कपूर्ण समर्थन भी बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। इससे पाठकों को मनोरंजन के साथ लेखक की शब्द शक्ति का भी ज्ञानार्जन हो जाता है। प्रश्नोत्तर के अन्त में तुकबन्दी भी कहीं-कहीं हुई है। जैसे —

"जंजाल—भला आदमी लुंगाड़ा कहीं का। एक गहना तो रखा नहीं। सब इधर-उधर कर डाले।

टर्रे खां—इसलिये कि तुम हलकी हो जाओ। और चिड़ियों की तरह फुदकती हुई चलो।

जंजाल—एक एक करके सब असबाब बेच डाला।

टर्रे खां—इसी को कहते हैं अपनी जायदाद से गुज़र करना।

जंजाल—बदन पर कपड़ा तक न छोड़ा।

टर्रे खां—जिसमें गर्मी लगने का न हो कुछ बखेड़ा।

जंजाल—अरे निगोड़े एक असबाब तो रखा होता।

१. मार मार कर हकीम : (आंखों में धूल) : पृ० ६३-६४।

२. लाल बुझक्कड़ : पृ० ९।

३. मार मार कर हकीम : पृ० ६३।

४. मार मार कर हकीम : पृ० ६४।

टर्रे खां—काहे को ? क्या चोरों को बुलाता ? जब खाली है घर तो न डाकू का खटका और न लुटेरों का डर।

जंजाल—तेरी किस्मत पर (बच्चे) भूखे रोते हैं ? इनको मैं कैसे चुपाऊं !

टर्रे खां—बस डण्डे खिला डण्डे। इसकी यही दवा है। कितना ही लड़का रोता क्यों न हो, एक हल्का-सा डण्डीदन का जुलाब घुस्सीदन और मुक्कीदन के साथ जहां मिला दिया फिर तो उसकी अम्मा ही मरे जो कभी रोए।"[1]

आधुनिक युवतियों के चोचलों और तुनक मिजाजी को लेकर उनके स्वाभाविक लहजे में ही उनका सम्भाषण प्रस्तुत करके हास्यानुकूल वातावरण भी तैयार करने का प्रयत्न किया है। निस्सन्देह हल्के व्यंग्य और तुकबन्दियां साथ रहती हैं। इस प्रकार एक मधुर एवं आकर्षक वातावरण उपस्थित हो जाने पर सम्भाषण के अन्त में बड़ी प्रभावशील तथा महत्त्वपूर्ण बात कह दी जाती है। जैसे—

चम्पा—हां हां अब जाना। तभी आज सखी अपने सारे नखरों का अभ्यास हम पर कर रही है।

चमेली—बल्कि यों कहो कि अपने धराऊ हथयारों पर सान धर रही हैं।

मालती—उंह ! मुझे क्यों इतना परेशान करती हो ? हाथ जोड़ती हूं सखियो, मुझे यहां से जाने दो। (जाना चाहती है)

केतकी—(मालती का अंचल पकड़कर) अरे ! कहां चली ? जरा बात तो सुनो।

मालती—नहीं, छोड़ो मुझे देर हो रही है।

केतकी—काहे के लिए ?

गुलाब—अकेले में बैठकर उनका ध्यान करने के लिए, और काहे के लिए ?

केतकी—(अंचल छोड़कर) तब तो मैं नहीं रोकती। मगर सखी शादी तो हो जाने दो; उन्हें देख भाल तो लो। वरना अभी से किस तरह उनका ध्यान करोगी ?

गुलाब—जिस तरह बिना देखे लोग ईश्वर का ध्यान करते हैं।"[2]

श्रीवास्तवजी की भाषा-शैली साधारणतः आद्योपान्त हास्य, व्यंग्य और विनोद से भरी है। उसमें हल्कापन, व्यावहारिकता एवं प्रवहमानता है। फिर भी कहीं-कहीं उनके नाटकों तथा प्रहसनों में प्रौढ़, गम्भीर तथा तर्कपूर्ण सम्भाषण की भी सुन्दर उद्भावना हुई है। सम्भाषण का सम्पूर्ण सौंदर्य बीच-बीच में २-३ महत्त्वपूर्ण शब्दों के कुशल प्रयोग पर निर्भर रहता है। इन्हीं शब्दों को पकड़कर विभिन्न तर्क प्रस्तुत किये हैं। हल्का कटाक्ष और विनोद भी उनके इन्हीं चुने शब्दों के माध्यम से पुनः निखर उठता है। अन्योक्ति रूपक और यमक अलंकारों ने भाषा को सौंदर्य और शक्ति प्रदान की है। जैसे—

'केतकी—ताने का मारना और जले पर नमक का छिड़कना क्या तुम दो समझती हो ?

चंचल—नहीं मगर। मलहम लगाने के लिये जख्म का पता लगाना भी तो दरकार है।

१. मारे मार कर हकीम : पृ० ६-७।

२. लाल बुझक्कड़ : पृ० २-३।

केतकी—अरी चंचल, जख्म भी हो कहीं तब तो ?

चंचल—प्यारी केतकी, क्यों आंखों में धूल झोंकती हो ? अगर जख्म नहीं है तो नमक का असर कैसा ?

केतकी—(घबड़ा कर) देखो, यह गुलाब का फूल कैसा खिला है ?

चंचल—बेशक, खुशबू से लोगों को अपने पास बुलाता है। रंगत से उनके दिल को लुभाता है। और खुले हुए मुंह से यही पुकार कर कहता है कि मुझे अपनी छाती से लगाओ। मैं इसकी बातों को जरूर सुनूंगी और इसके यौवन को इसकी टहनी पर मुरझाने न दूंगी।

केतकी—हां, हां, क्या जबरदस्ती ? माली का डर नहीं है ?"[1]

"विदूषक—अच्छा तो इसके लिए कैसे चरित्र चुने हैं ?

सूत्रधार—बिल्कुल फ़र्जी। क्योंकि जो काम शाह भी नहीं करता वह फ़र्जी कर दिखाता है।'[2]

उपर्युक्त बुद्धि पुरस्सर एवं तर्कसम्मत संवादों की उपस्थिति के साथ ही कई स्थानों पर श्रीवास्तवजी का हास्य-विनोद का स्तर बहुत गिर गया है। ऐसे स्थल सुरुचिपूर्ण एवं शिष्ट सामाजिकों के समक्ष प्रस्तुत करने योग्य नहीं हैं। इनकी भाषा-शैली की जो तीखी आलोचनाएं होती हैं, उनका दोष ऐसे और इनसे भी भद्दे शब्दों के प्रयोग को है। यथा—

"टर्रे खां या अल्ला ! बचाइयो चांद गंजी करने वाली जोरुओं की जूतियों से। यारो शादी वही करे जिसकी हो खोपड़ी लोहे की। नहीं तो जहां एक-दो कसके पड़ी, बस पिपिली हो गई सारी खोपड़ी।"[3]

सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर जी० पी० श्रीवास्तव की भाषा-शैली अभिनेत नाट्य-साहित्य के सर्वथा उपयुक्त है। संस्कृत के तत्सम एवं सामासिक शब्दों का पूर्णाभाव है। उर्दू-फारसी के व्यावहारिक सरल शब्दों के व्यापक प्रयोग ने उनकी भाषा को सुबोध, प्रवाहमयी तथा हृदयग्राही बना दिया है। कहीं भी भावों और विचारों की दुरूहता या लुका-छिपी नहीं है। मुहावरों, उक्तियों और शब्दालंकारों की उपस्थिति से भाषा को गति और शक्ति दोनों ही गुणों की उपलब्धि हुई है। फिर भी उनकी भाषा में कुछ स्थानीय तथा अशुद्ध शब्दों का प्रयोग हुआ है जो बहुत खटकता है। जैसे—

स्थानीय प्रयोग—लौटालने चाहिये, दब सट (दबाव), थूड़ी (थोड़ी), दूसते (दोष देते), समें (सब) लफ फाड़िये (लफंगे), टिचित, चुपाने (चुप करने)।

अशुद्ध शब्द—तयार, अपूर्व्व, महावरा, उद्वेगे, धन्दे।

अंग्रेजी के कतिपय शब्दों का भी प्रयोग इनकी भाषा में मिलता है। निस्सन्देह

१. मार मार कर हकीम : (आंखों में धूल) : पृ० ७०-७१।

२. उलटफेर : पृ० ४।

३. मार मार कर हकीम : पृ० ३।

इन विदेशी शब्दों का प्रयोग उन्होंने शब्द-संकोच के कारण न करके, हास्य की उद्-भावना के संयुक्त प्रयोजन से किया है। जैसे—

"आजिज हूं, स्त्री नहीं कम्बख्त किसी पब्लिशिंग आफिस की डिसपैचर है।" (मरदानी औरत : पृष्ठ २२)

"बुरा हो अखबार वालों का, जिन्होंने मेरा दिमाग खाने के लिये मेरी भोली-भाली स्त्री को एकदम पौलीटिशियन बना दिया।" (मरदानी औरत : पृ० २६)

शब्द-चयन और शब्द-योजना की ही भांति श्रीवास्तवजी का वाक्य-विन्यास भी सरल और सीधा है। उनके इतने बड़े साहित्य में, बहुत लम्बे और उलझे हुए वाक्य कहीं नहीं मिलेंगे। जैसे उनके पात्रों के संभाषण बहुत सरल और संतुलित रहते हैं, वैसे ही उनके वाक्य भी छोटे और लाघवतापूर्ण होते हैं। जहां पर उनके पात्रों को धारा-वाही संभाषण करना पड़ा है—ऐसे अवसर बहुत कम आये हैं—वहां भी एक के पश्चात् दूसरा वाक्य शीघ्रता से निकलता गया है। ये छोटे-छोटे वाक्य मिलकर एक शृंखला में आबद्ध हो गये हैं। कहीं-कहीं एक ही भाव या विचार को विभिन्न शब्दों में रखने का आग्रह-निर्वाह करने के लिए अनेक उदाहरणों और उपमाओं का उपयोग किया है। जैसे—

"जिस तरह जलपान में इमरती की जगह सूखी रोटी के टोष्ट ने ली। ठण्डाई की जगह सोडा ने ली। इत्र की जगह लेवेण्डर के पानी ने ली। बेला और चमेली की जगह विलायती फूलों ने ली। मेंहदी की जगह नील कांटे ने ली, उसी तरह आजकल कविता की जगह तुकबन्दी ने ले ली है।"[1]

व्याकरण-सम्मत वाक्य-विन्यास को न रखकर अनेक स्थानों पर विपर्यय उत्पन्न करके प्रभाव की सृष्टि करने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। इसमें बोलचाल की भाषा की स्वाभाविकता रहती है।

"ताकि बच्चे और स्त्रियां दोनों ही ले सकें उसका मजा।"[2]

विराम-चिह्नों के प्रयोग में विशेषतः पूर्ण-विराम की बहुत-सी त्रुटियां उनकी रचनाओं में हुई हैं। बिना एक विचार या भाव पूर्णतः व्यक्त हुए ही उन्होंने पूर्ण-विराम के चिह्न लगा दिये हैं। पूर्व प्रस्तुत उद्धरणों में ऐसी अशुद्धियां स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं।

वाक्य-विन्यास में तुकबन्दी की ओर भी उनकी रुचि बहुधा देखी जाती है। इतना ही नहीं कहीं-कहीं तो यह शब्द-क्रीड़ा वाक्य के अन्तर्गत बहुत से जोड़ी के शब्दों में भी दृष्टिगोचर होती है।

"लाल बुझक्कड़—यह सूरत, यह शक्ल, यह शाना, और उस पर रंग रूप शाहाना क्यों क्या तुम लोगों ने अब भी नहीं पहिचाना ?"[3]

---

१. मरदानी औरत : पृ० ५४।
२. मरदानी औरत : पृ० ३।
३. लाल बुझक्कड़ : पृ० १२।

"अगर आ जाय मेरे अब्बा तो भी न छोड़ूं एक हब्बा।"[1]

पं० बद्रीनाथ भट्ट (१८९१-१९३२ ई०)

भट्टजी अपने समय के अत्यन्त विनोद-प्रिय, प्रसन्न-वदन तथा मधुर स्वभाव के लेखक थे। कष्ट एवं कठिनाइयों से लड़ने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। न उन्हें असफलताएं निराश कर सकती थीं और न बीमारियां। वर्षों लगातार अस्वस्थ रहने पर भी उनके चेहरे पर खिन्नता या निराशा नहीं देखी गई। भावुक प्रकृति विशेष थी, इसने भी उनके स्वभाव को सौम्य और मिलनसार बना दिया था। बड़ी सरलता से वे नये लोगों में भी घुलमिल जाते थे। इतना होते हुए भी यथार्थ में वे एकान्तप्रिय थे और ख्याति से परांगमुख रहते थे। अपनी मित्र-मण्डली में उनका हास्य-विनोद अधिक स्फुटित होता और अट्टहास की सीमा तक पहुंच जाता। यह उनकी व्यवहार-कुशलता का भी प्रतीक है। बिना विशेष घनिष्ठता के उनका हास्य सौम्य ही रह जाता था। सच तो यह है कि वे गोष्ठियों के रत्न थे, विराट् सभा-सोसायटी के नहीं। वे उद्यानों में न खिलकर गमलों में ही अधिक महकते थे। पुष्प की भांति सदा मुस्कराना, हँसना और दूसरों को प्रसन्न करना उनका स्थायी गुण था।

'बाल-सखा' के सम्पादक के रूप में, उनके व्यक्तित्व की बाल-सुलभ प्रकृति और बालकों के प्रति प्रेम का संकेत मिलता है। इस रूप में वे बहुत दीर्घ काल तक बालकों के सखा रहे हैं। उन्होंने बहुत से अन्य स्फुट लेखों के अतिरिक्त कई नाटक, प्रहसन और व्यंग्यात्मक लेख भी लिखे हैं और राजकीय जीवन तथा सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है।

रचनाएं—कुरुवन-दहन '१२, चुंगी की उम्मेदवारी '१४, चन्द्रगुप्त (भूत वर्तमान का मेल) '१५, बेनचरित '२२, तुलसीदास '२२, हिन्दी '२५, लबड़ धौं-धौं '२६, विवाह विज्ञापन '२७, टटोलूराम टलास्त्री '२८, मिस अमेरिकन '२९, दुर्गावती '२६।

भट्टजी की रचनाएं हमें कई शैलियों में उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनकी हास्य-रस प्रधान व्यंग्यात्मक शैली तथा गवेशणात्मक गम्भीर—ये दो शैलियां प्रधान हैं। जैसा कि पूर्व उल्लेख किया गया है कि उनके जीवन का स्थायी रस-हास्य है, उनकी रचनाओं में हास्य, व्यंग्य और विनोद की व्याप्ति ही अधिक है और उनकी प्रसिद्धि का कारण भी यही है। वे आलोच्य-युग में प्रहसन एवं एकांकी साहित्य के प्रमुख स्तम्भ थे।[2]

नाटक विशेषतः प्रहसन लोक-साहित्य होने के कारण भाषा की सरलता तथा व्यावहारिकता की अपेक्षा रखते हैं। इस सत्य को सदा स्मरण रखते हुए भट्टजी ने सरल, सुबोध तथा मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है। व्यंग्य के साथ हास्य-परिहास की मात्रा अधिक रहने के कारण उन्होंने शब्द-रूपों को भी जान-बूझकर बिगाड़ा है (यथा—तो, समै, भैन, कै, देखियै इत्यादि) तथा स्थान-स्थान पर विचित्रता के साथ लम्बे वाक्यों

---

१. मार-मार कर हकीम : पृ० २०।

२. डॉ० रामचरण महेन्द्र : हिन्दी-एकांकी : उद्भव और विकास : पृ० १११।

को गूंथ दिया है। यह शब्दों की भूलभुलैया ही सामाजिकों को मनोरंजन प्रदान करती है। जैसे—

"नारा०—तो बस जैसे आप उस समै बेबकूफी कर गये वैसे ही मैं भी अबके किया चाहता—

सेठ—(बीच ही में) और रिस्तेदारी की बात जे है कै देखियै मेरे भाई के नाना की नानी की लड़की के लड़के के साले की सलैज की मां के भाई के ताऊ के बेटे की बहू की मा की भैन आपके मुनीम की ताई के नाती के मामा की साली के भैनोई ने लड़के की लड़की के भान्जे के दादा के दादा के बाप के बेटे के पड़नाती को ब्याही थी।"[1]

धार्मिक अंध-विश्वास तथा सामाजिक भ्रष्टाचार घूंसखोरी जैसे दोषों पर कठोर प्रहार करने के लिए भट्टजी ने बड़े तीखे व्यंग्य किये हैं, जिनसे देवता भी नहीं बचे हैं। इन व्यंग्यों में उनके शब्द-रूपों ने यहां भी प्रखरता उत्पन्न कर दी है। उनके नाटकों का कथनोपकथन व्यावहारिक भाषा का है, जिसमें नवीनता के साथ व्यंग्यात्मकता है। अतः यह रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त है। जैसे—

"बो बात तौ आपनें उन लोगों से पीछा छुड़ाने को कह दीनी दी, परतिज्ञा कहां थी? और रही ब्रह्मा की, सो ब्रह्मा बिचारा बूढ़ा है, उसमें अब लौटने की सक्ति नहीं रही। मौल्वी साब! आजकल्ल तो देवता भी अपनी परतिज्ञा पूरी करने में आनाकानी करै हैं। सत्तनाराहन की कथा बंचवा के भी जब मैं मुकदमा हार गया तब सैं मुझे जे बात मालुम हो गई है। माफ कीजिएगा भाई साहब,—बाबाजी—बल्कै दादाजी (हाथ जोड़कर) मैं तो आपका बच्चा हूं, मैं तो अभी जबाब लूंगा। और जबाब लिया लिवाया है, बस एक बार अपने म्हौं से 'हां' के दीजियै।"[2]

हास्य-रस-प्रधान प्रहसन होने के कारण भट्टजी ने शाब्दिक चंचलता को विशेष महत्त्व दिया है। एक ही वाक्य में कई एक से उपवाक्यों को लय और तुक के साथ जोड़ दिया है, इससे भी भाषा की नाटकीय शक्ति में वृद्धि हो गई है। भाषा को सरल, सुबोध तथा गतिशील करने के लिए उन्होंने उर्दू-फारसी के शब्दों को पर्याप्त मात्रा में स्थान दिया है। जैसे—

"कन्हैया—बस जहां मैंने रबड़ी खाई और मुझे नींद आई, जहां रायता पेट में समाया और मुझे सुस्ती ने सताया, जहां जरा गरम मसाला खाया कि पसीना आया, जहां पानी पिया कि जुकाम ने ऊधम किया, बस कहां तक कहूं, (एक ओर देखकर) यह देखिये, एक यह आये सेठजी के आवुर्द, शक्ल क्या है कि जैसे सड़े हुए सर्दे! मुझसे इन्होंने जरा भी चीं चपड़ लगाई कि मैंने इनके चपत रसीद फरमाई। (अकड़कर) मैंने भी मिडिल पास किया है और बराबर दो महीने तक शंतरे का शर्बत पिया है और पास होने की परवाह न करके कई साल पटवारियों का इम्तिहान दिया

१. चुंगी की उम्मीदवारी : पृ० २६।
२. चुंगी की उम्मीदवारी : पृ० ३०।

है—बल्कि लिया है।"[1]

विषयानुकूल भाषा का निर्वाह करते हुए भट्टजी ने भाषा को पात्रानुकूल बहु-रूपता-सज्जित रखी है। विशुद्धता का दृढ़ आग्रह लेकर वे कहीं बैठे नहीं रहे, वरन् किसी भी सुपरिचित और व्यवहृत शब्द को निःसंकोच ग्रहण कर लिया है। वास्तव में उनके नाटकों की लोकप्रियता का बहुत कुछ श्रेय उनकी इस भाषा-शैली को है।

जयशंकर प्रसाद (१८८६-१९३७ ई०)

युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार प्रसादजी का जन्म माघ शुक्ल द्वादशी, सं० १९४६ को काशी में सुघनी साहू के यहां सम्पत्ति एवं शालीनता की गोद में हुआ था। जीवन के उषाकाल में ही ऐश्वर्य, समृद्धि और सुख के स्वप्न उन्होंने देखे थे। दैव की विचित्र गति कि लक्ष्मी और सुख का यह लाड़ला सपूत, जीवन के बारह वसन्त भी न देख पाया था कि निर्दयी काल को उसके ऐश्वर्य से ईर्षा हो उठी। क्रमशः बारह और पन्द्रह वर्ष कि अल्पायु में ही पिता और माता को उसने प्रसादजी से सदा-सर्वदा के लिए छीन लिया। माता-पिता की छत्र-छाया उठाकर ही क्रूर-काल नहीं अघाया, वरन् उसने दो वर्ष बाद उनके ज्येष्ठ भ्राता को भी उठा लिया। तारुण्य की ऊष्मा भी दो-दो पत्नियों की स्नेह-धारा-अभिषिक्त होकर शान्त न हो सकी। इन सब महान् दैवी आपदाओं ने मिलकर प्रसादजी को दार्शनिकता का पाठ पढ़ा दिया। यही दार्शनिकता प्रसादजी की चिर-विशेषता रही और उनकी भाषा-शैली में फूट पड़ी है।

उन्हें जीवन के प्रभात से ही लक्ष्मी और सरस्वती का वरदान प्राप्त था। उनके अध्यापन के लिए सुयोग्य शिक्षकों की सेवाएं उपलब्ध की गई थीं, और अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी और संस्कृत के लिए पृथक्-पृथक् अध्यापकों का प्रबन्ध किया गया था। प्रसाद-जी पर बाल्यावस्था में ही संस्कृत का प्रभाव अधिक पड़ा। उनका यह संस्कृत अध्ययन एवं रुचि साहित्यकार के रूप में प्राचीन भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के चित्रण में बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। अनुकूल वातावरण, अध्ययन और अभ्यास के कारण प्रसादजी की जन्माणि प्रतिभा को फलने-फूलने और मुखरित होने का अवसर मिला। उन्होंने केवल संस्कृत भाषा के ज्ञान से सन्तोष न करके ऋग्वेद, उपनिषद्, पुराण, शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत आदि संस्कृत के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य के इस गहन-गम्भीर अध्ययन से उन्हें संस्कृत-शब्दों तथा संस्कृत की कोमल-कान्त पदा-वलियों की आत्मा को परखने और उसे आत्मसात करने में बड़ी सहायता मिली। इसीलिये उनकी भाषा-शैली इतनी प्रांजल, माधुर्यमयी, अलंकृत एवं सरस रही है। प्रसादजी के साहित्य का आद्योपान्त अध्ययन करने पर कहीं भी भाषा और व्याकरण की त्रुटियां उसमें नहीं मिलतीं।

प्रसादजी के पितामह और पिता अत्यन्त सम्पन्न और उदार व्यक्ति थे। उनका लक्ष्मी-विलास और दान-वीरता बड़े-बड़े राजाओं के लिए भी ईर्ष्या का विषय बन

१. चुंगी की उम्मीदवारी : पृ० १३-१४।

सकती थी। घर में साहित्यिक रुचि भी थी। परिणामतः अपने इस भव्य अतीत को पाकर ही प्रसादजी देश के भव्य और गौरवपूर्ण अतीत को आदर और सहानुभूति से देखने में संलग्न हो सके। देश के स्वर्ण-युग की घटनाओं, पात्रों तथा जीवन-वृत्तों से स्वाभाविक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में उनकी सफलता का रहस्य भी यही है। संस्कृत के गहन अध्ययन से विषय और भाषा का मणि-कांचन संयोग सिद्ध हो गया। प्रसादजी का जीवन-दर्शन एवं व्यक्तित्व दोनों ही उन्हीं के इन शब्दों में चित्रित हुए प्रतीत होते हैं। "उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित प्रभा का, पीले पोखराज का सा, एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झांक कर विश्व को देखती है।"[१]

पिता, माता तथा ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के पश्चात् इन पर आर्थिक संकट का पहाड़ टूट पड़ा और ये ऋणग्रस्त हो गये। सौभाग्य से वे शीघ्र ही ऋण-मुक्त ही नहीं हो गये वरन् पुनः वैभवशाली भी हो गये। जीवन में इस प्रकार से एक चढ़ाव-उतार का अनुभव कराके पुनः समृद्धि, वैभव और विलासिता आ डटी। इसके कारण उनके मूल व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सका। उनके जीवन में दुःखवाद पनप न सका, पर साथ ही आनन्द के साथ अट्टहास भी मुखरित न हो सका। अतः, वे प्रकृति से शान्त, सौम्य एवं गम्भीर हुए। इसके परिणामतः उनकी रचना-शैली में हास्य, व्यंग्य, विनोद आदि को अधिक स्फुरित होने का अवसर नहीं मिल सका।

स्वकीयों के चिर वियोग एवं वैभव-विलास के दुःख-सुख रूपी हिंडोले पर चढ़कर प्रसादजी ने केवल १७ वसन्त ही देखे थे, कि सन् १६०६ के लगभग इन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १६१०-११ तक जबकि उनका प्रथम उल्लेखनीय रूपक 'सज्जन' प्रकाशित हुआ, प्रसादजी ने बहुत से कथोपकथन, लेख, कविताएं भी लिखीं। 'अयोध्या का राजा', 'बभ्रूबाहन' इत्यादि संवादात्मक रचनाओं में महान् नाटककार प्रसाद का बाल प्रयास इंगित हुआ। पूर्ववर्तियों के प्रभाव से उनके प्रारम्भिक रूपकों में पद्यात्मक संभाषण होते थे और गद्य को गौण स्थान प्राप्त था। ये रचनाएं वस्तुतः चम्पू हैं। समय की गति से पद्यात्मकता कम होती गई है और गद्य में प्रौढ़ता एवं प्रांजलता आ गई।

प्रसाद का शैशव और यौवन जिस युग की निधि था, उसमें प्राचीन भारत के स्वर्ण-युग, उत्कृष्ट संस्कृति एवं गौरवपूर्ण इतिहास की चर्चा थी। आर्य-समाजी आन्दोलन ने विशेषतः उत्तर भारत को सजग एवं सक्रिय बना दिया था। उसी समय गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलनों और विश्व-शांति तथा मानव-एकता के संदेशों ने प्रसादजी को प्रभावित किया। प्रसादजी ने भारत के अतीत गौरव की स्वर्णिम विभा को महत्त्व दिया। उनके जीवन और व्यक्तित्व के विकास की दूसरी मंजिल, सन् १६२१ तक चलती है। इस कालावधि में 'कल्याणी-परिणय' (एकांकी १६१३), 'छाया' (कहानी १६१३), 'करुणालय' (गीति नाट्य १६१३), 'प्रायश्चित' (एकांकी १६१४),

१. स्कन्दगुप्त : पृ० २४।

'राजश्री' (नाटक १९१५), 'विशाख' (नाटक १९२१) आदि प्रमुख रचनाएं प्रकाशित हुईं। भाषा की दृष्टि से इनमें न्यूनाधिक मात्रा में ब्रज-भाषा का पुट है। कालान्तर में उनके व्यक्तित्व में जो परिष्कृति, परिवर्द्धन या परिवर्तन हुआ उसमें उनकी सर्जनात्मक शक्ति, दार्शनिक दृष्टिकोण और भाषा-शैली में प्रौढ़ता और परिमार्जन हुआ। प्रसादजी के वैयक्तिक जीवन का दुःखवाद एवं करुणा की छाया उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती रहती है, यद्यपि वह कहीं सिर ऊंचा नहीं कर सकी है। उसका भी अन्त इसी मंजिल में हो जाता है, और उनका पूर्ण प्रसन्न व्यक्तित्व-कुसुम खिल उठता है।

प्रसादजी की दूसरी साहित्यिक मंजिल की पहली सीढ़ी 'अजात शत्रु' (नाटक १९२२) है। द्विवेदी-युग का उत्तरार्द्ध—तृतीय दशक में वस्तुतः प्रसादजी ने अपने साहित्यिक चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया; और वे निश्चय ही अजात शत्रु हुए। उनके व्यक्तित्व को अमरत्व प्रदान करने का श्रेय बहुलांश में इसी युग को है, जबकि उनकी सभी प्रौढ़ रचनाएं अपनी अनोखी साज-सज्जा और कलाकारिता के साथ अवतरित हुईं। 'कामना' (नाटक १९२३), 'जनमेजय का नाग यज्ञ' (नाटक १९२५), 'प्रतिध्वनि' (कहानी १९२५), 'स्कन्दगुप्त' (नाटक १९२८), 'एक घूंट' (एकांकी १९२९), 'आकाश दीप' (कहानियां १९२९), 'कंकाल' (उपन्यास १९३०), 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (नाटक रचना १९२९, प्रकाशन १९३१), 'ध्रुव स्वामिनी' (नाटक १९३३), 'तितली' (उपन्यास १९३४), 'इन्द्रजाल' (कहानियां १९३६) इत्यादि उनकी अमूल्य गद्य-कृतियां हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के महाधनी कलाकार प्रसादजी ने कविता, कहानी उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों को अपनी विभा से आलोकित किया है; परन्तु गद्य-क्षेत्र में उनका सर्वाधिक वरदान नाटकों को ही मिला है। उन्होंने भारतेन्दु के नाट्य-कार्य को आगे बढ़ाया और हिन्दी-नाटकों में अभूतपूर्व नाट्य-शैली का सूत्रपात किया। अत्यन्त विशाल एवं व्यापक व्यक्तित्व के कारण प्रसाद के नाटक न तो पूर्व के और न पश्चिम के मानदण्डों में आबद्ध हो सकते हैं।

प्रसादजी के जीवन में स्वानुभूतियों की सचाई और गहराई का इतना अधिक महत्त्व है कि उनकी रचनाओं में वे साकार हो उठी हैं। उनमें अभिव्यंजना के प्रति सच्ची निष्ठा थी। अनुभूतियों एवं चिन्तन की सत्ता में आकण्ठ डूबकर, जब उनकी लेखनी डोल उठती थी, तो सौंदर्य जगत की मानस-उर्मियां साकार हो जाती थीं। जीवन की यथार्थ अनुभूतियां ही उनके शब्दों में सौंदर्य उंडेलने एवं जीवन फूंकने में सफल हो सकीं। उनकी सौंदर्यमती सरस, सप्राण एवं मनोरम भाषा-शैली का यही रहस्य है। स्वानुभूति में ही सजीव भाषा के सृजन की शक्ति होती है।।

प्रसादजी की गद्य-शैली में जो कोमल कान्त पदावलियां, प्रतीकात्मक व्यंजना, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता एवं रूप-माधुर्य के दर्शन होते हैं उसका स्रोत भी उनके व्यक्तित्व में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व एवं पश्चात् बंगला के प्रसिद्ध साहित्यकार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों एवं उनकी

नाट्य-कला का भी अध्ययन किया था। उस समय रायजी के नाटकों के हिन्दी-अनुवादों को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। अतः, प्रसादजी का उनकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। द्विजेन्द्रलाल के नाटकों के अतिरिक्त कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं से भी वे प्रभावित हुए थे, और उनके सभी नाटकों व अन्य रचनाओं को भी पढ़ा था। सन् १९१३ में 'गीतांजलि' ने विश्व की श्रेष्ठतम रचना के रूप में पुरस्कृत होकर प्रसादजी को अधिक गुदगुदाया और बंगला की रसात्मक भावुकता, कमनीयता, एवं रूप-माधुरी उनकी रचनाओं में घनीभूत हो उठी। 'कामना' और 'एक घूंट' में इस शैली का विशेष स्फुरण हुआ है।

प्रसादजी के व्यक्तित्व एवं शैली को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व उनका प्रकृति-प्रेम था। प्रेम और सौंदर्य प्रसादजी के जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वैसे प्राणी मात्र को इनकी त्रसा एवं क्षुधा रहती है, परन्तु प्रसादजी को वह अधिक थी। प्रकृति के प्रति तो इनका विशेष ममत्व था। उन्होंने प्रकृति को निकट से ही नहीं देखा, वरन् उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया। सौंदर्य-स्थली सारनाथ और काशी का बेनिया बाग तो प्रसादजी के चिर संगी थे। वे प्रतिदिन, वर्षों वहां जाते रहे हैं। उन्होंने अपने मकान के सामने ही एक छोटा-सा पुष्प-उद्यान लगाया था। वे नाना विधि स्वयं अपने हाथ से उनकी क्यारियां सजाते, उन्हें सींचते और बहुधा अपने उद्यान के पारिजात वृक्ष की छाया में पड़ी पत्थर की चौकी पर बैठकर अपनी रचनाओं को सुनाते हुए आत्म-विभोर हो उठते थे। निःसन्देह प्रेम और सौंदर्य की घनीभूत भावनाएं ही उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों में साकार हो गई हैं। प्रसादजी अपने पात्रों के हृदय में प्रविष्ट होकर कई जगह अपने हृदय की भावनाएं प्रगट करते हुए-से प्रतीत होते हैं। यथा—"अब मुझे अपने मुख चन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ, भावना की सीमा को लांघ जाऊं और तुम्हारी सुरभि निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।"[१]

प्रसादजी का व्यक्तित्व अत्यधिक व्यापक और विशाल था। फिर भी उनकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति में नेतृत्व का अभाव था। वे स्वाध्यायी, चिन्तक और मस्तजीव थे। उन्हें अपनी कृतियों के प्रचार का भी आग्रह नहीं था। साथ ही उनकी भाषा-शैली का चुनाव भी उन्हें युग-नायक बनाने में बाधक हुआ। "वे मण्डली के आदमी थे। सभा-सोसाइटी के नहीं, इसलिए भारतेन्दु की भांति उनके नाम पर युग न चला।"[२]

"व्यक्ति की दृष्टि से 'प्रसाद' एक उच्चकोटि के पुरुष थे। वह कवि होने के कारण उदार, व्यापारी होने के कारण व्यवहारशील, पुराण, शास्त्र व संस्कृत काव्य आदि के विशेष अध्ययन के कारण प्राचीनता की ओर झुके हुए, भारतीय आचारों एवं भारतीय सभ्यता के प्रति ममता रखने वाले तथा एक सीमा तक पाश्चात्य सभ्यता

१ अजात शत्रु : मैं (उदयन मागन्धी से) : पृ० ५१।
२. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी कलाकार : पृ० ३२४।

के गुणों के प्रशंसक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में जन्म लेने और बीसवीं शताब्दी में विकसित होने के कारण उनके जीवन में उन्नीसवीं और बीसवीं दोनों शताब्दियों के उपकरण दिखायी देते हैं। वह उनके बीच की चीज है। उन्नीसवीं शताब्दी ने उन्हें रोमांस के प्रति झुकाव, मस्ती, विलासितापूर्ण सरसता और झंझटों से यथा-सम्भव अलग रहकर सामान्य सुख के साथ जीवन बिताने के भाव प्रदान किये और बीसवीं शताब्दी ने यौवन का प्रवाह परिवर्त्तनोन्मुखी प्रवृत्ति, भारतीयता की ओर झुकाव, विदग्धता तथा अस्थिर वेदना का दान दिया। वे दो युग के संयुक्त उपकरणों की उपज थे।"[1]

भाषा-शैली की दृष्टि से प्रसादजी के नाटकों की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रथम उल्लेखनीय विशेषता काव्यात्मकता है। प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा, जिन विभिन्न साहित्य-रूप-नलिकाओं से प्रवहमान हुई है, उनसे कविता का क्षेत्र बहुत अधिक धनी हुआ है। भूतपूर्व राष्ट्रपति एवं प्रसादजी के सहयोगी हिंदी-सेवक डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में—"पर्वतों में हिमालय और कवियों में प्रसाद—मनुष्य के मानवात्मा से देवात्मा की ओर विजयपूर्ण आरोहण के पावन प्रतीक हैं।"[2] महाकाव्यकार प्रसादजी का यह कवि रूप उनकी गद्य-रचनाओं को भी अपनी विभा प्रदान करता है। प्रसादजी का कवि इतना बलिष्ठ, सप्राण एवं व्यापक है कि उनकी गद्य-रचनाओं में काव्य की-सी रसात्मकता, भावुकता, आलंकारिकता, कल्पना तथा भावाभिव्यंजना स्फुटित हुई है। वे मूलतः आदर्श एवं स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) परम्परा के कवि हैं। इसके साथ उनके दार्शनिक व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि ने, संस्कृत-प्रधानता, गद्यगीतात्मकता एवं दार्शनिक रहस्यात्मकता का भी समन्वय किया है। फल यह हुआ है कि उनके कथानकों चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, वातावरण और प्रगीत—सब पर कवि की-सी भावुकता की छाप है।"[3] प्रसादजी के साहित्य की काव्यात्मक भाषा-शैली ही उनके गौरव को प्रदान करने वाली है और जन-साधारण के लिए दुरूहता भी इसी से उत्पन्न हुई है। यथा—

"**विरुद्धक**—हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ बन रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बनकर उन्माद की सहकारिणी के कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक में कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कण्ठों की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हालकर उतारने के लिये, नक्षत्र लोक को गई थीं। शिशिर कणों से सिक्त भवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकर मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वत

१. उद्धृत—हिन्दी कहानी और कहानीकार : प्रो० वासुदेव : पृ० ६६।
२. 'त्रिपथगा' पत्रिका नवम्बर १९५६ : 'श्री जयशंकरप्रसाद पुण्य स्मरण'
३. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद के नाटक : पृ० ३५१।

का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत की कुटिल गृहस्थी के आल-बाल में आश्चर्यपूर्ण सौंदर्य रमणी के रूप में तुम्हें सबने देखा। यह कैसा इन्द्र-जाल था। प्रभात का वह मनोरम स्वप्न था।"[1]

कामना—"ऊषा के अपांग में जागरण की लाली है। दक्षिण पवन शुभ्र मेघ-माला का अंचल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा है, क्या ही मधुर है; और सन्तोष मधुर है। विशाल जल राशि के शीतल अंक से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा सन्देश नहीं सुनाता। सन्तोष ! हृदय के समीप होने पर भी दूर है, सुन्दर है, केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है। परन्तु अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी ? नहीं। इस समुद्र में इतना हाहाकार क्यों है ? ऊंह ये कोमल पत्ते तो बहुत शीघ्र तितर-बितर हो जाते हैं। (बिछे हुए पत्तों को बैठकर ठीक करती है) यह लो, इन डालों से छनकर आई हुई किरणें इस समय ठीक मेरी आंखों पर पड़ेंगी। अब दूसरा स्थान ठीक करूं, बिछावन छाया में करूं। (पत्तों को दूसरी ओर बटोरती है) घड़ी भर से बैठने में भी झंझट है।"[2]

प्रसादजी ने अपनी भाषा में विषय-वस्तु एवं भावों के अनुकूल परिवर्तन किया है। उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण, भाषा की व्यंजना-शक्ति का अपूर्व रूप मिलता है। वह सभी परिस्थितियों, सभी विषयों, सभी रसों को सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित करने में समर्थ है। भाषा की ऐसी सामर्थ्य आधुनिक युग में बहुतों को प्राप्त नहीं है। भाषा की यह सुषमा, यह उठान, यह धारा-प्रवाहिता, यह मधुमयता प्रसाद के नाटकों को प्रसादत्व से भूषित करती है।[3] निःसन्देह उनकी भावानु-गामिनी भाषा में भावानुकूल स्वाभाविक और हृदयहारी परिवर्तन हुए हैं। कहीं विचारों की गति में वाक्यों की लड़ी टूटती जाती है और वाक्य छोटे-छोटे एक के पीछे एक गुंथे हुए चले जाते हैं और कहीं किसी भावातिरेक में जहां विशेष झटके या आवेग नहीं हैं वाक्य लम्बे तथा संयुक्त हो जाते हैं।

आवेशपूर्ण शैली

"मैं ब्राह्मण हूं। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द-समुद्र में शान्ति द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे द्वीप थे अनन्त आकाश का वितान था, शस्य-श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शैया थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की, जन्मभूमि को छोड़कर क्या आ गया। सौहार्द्र के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि कांटे, प्रेम के स्थान में भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन में कुमन्त्रणा। पतन और कहां तक हो सकता है। ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक

१. अजात शत्रु : पृ० ५५।
२. कामना : पृ० १-२।
३. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद के नाटक : पृ० ४०३।

कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छाया चित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूं। शान्ति खो गई! स्वरूप विस्मृत हो गया! जान गया मैं कहां और कितने नीचे हूं!"[१]

नाट्य शैली

"भाई! अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया। राज्य किसी का नहीं है। सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त तक इस महान् आर्य साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतन्त्रता के यज्ञ में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा वही वरेण्य है, उसी की पूजा होगी। भाई, तक्षशिला मेरी नहीं तुम्हारी भी नहीं, इसके लिये मर मिटो। फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहां की अप्सराएं विजय माल लेकर खड़ी होंगी। सूर्यमण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायेगा।"[२]

करुणा रस पूर्ण

"दुःख! दुःख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होंगे। देखा है कभी सात सात गोद के लालों को भूख से तड़पकर मरते? अंधकार की घनी चादर में बरसों भू गर्भ की जीवित समाधि में एक दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते देखा है। प्रतिहिंसा की स्मृति को ठोकरें मारकर जगाते जगाते, और प्राण विसर्जित करते, देखा है कभी यह कष्ट? उन सबने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी पत्थर-सा मैं जीवित रहा। उनका आहार खा डाला, उन्हें मरने दिया। जानते हो क्यों? वे सुकुमार थे, वे सुख की गोद में पले थे, वे नहीं सहन कर सकते थे, अतः सब मर जाते। मैं बच रहा प्रतिशोध के लिए। दानवी प्रतिहिंसा के लिये। ओह! उस अत्याचारी नर-राक्षस की अंतड़ियों में से खींचकर एक बार रक्त का फुहारा छोड़ता इस पृथ्वी को उसी से रंगी देखता।"[३]

सामान्यतः प्रसादजी की तत्समबहुला, आलंकारिक, काव्यात्मक सरस भाषा-शैली उनकी सभी प्रौढ़ नाट्य-कृतियों में आद्योपान्त मिलती है। उनकी भाषागत यह विशेषता तात्कालिक किसी भी नाट्यकार की कृति में उपलब्ध नहीं होती। उनके सभी पात्र चाहे वे देशी-विदेशी, शिक्षित-अशिक्षित, संस्कृत-असंस्कृत, स्त्री-पुरुष आदि किसी भी वर्ग के क्यों न हों, विशुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं, और सुसंस्कृत की भांति उनका व्यवहार एवं विन्यास होता है। भले ही नारी पात्रों में अपेक्षतः हृदय की

१. चन्द्रगुप्त : पृ० १८८।
२. चन्द्रगुप्त : पृ० १९५-१९६।
३. चन्द्रगुप्त : पृ० १५९-१६०।

प्रधानता रहती है और पुरुषों में मस्तिष्क की; परन्तु इस साधारण भिन्नता को छोड़कर सभी पात्रों की भाषा-शैली प्रायः एक-सी है। उनकी यह संस्कृत की तत्सम प्रधान काव्यमयी आलंकारिक भाषा अभिनेय नाटकों की भाषा से भिन्न ही नहीं, वरन् अनुपयुक्त और साधारण सामाजिकों को दुरूह है। सच तो यह है कि उन्होंने अपनी नाट्य-भाषा-शैली का स्तर जन-साधारण के लिए गिराना उचित ही नहीं समझा और न वे उनका लक्ष्य थे।

उनकी इस भाषा के सम्बन्ध में बहुधा यही आक्षेप किया जाता है कि सर्व-साधारण की वस्तु न होने के कारण ये नाटक अभिनेय नहीं हैं, और न उसके लिए लिखे गये हैं। ये उपन्यास-कहानियों की भांति पठनीय हैं, वह भी विशेष वर्ग के लिए। सौभाग्य से ये आक्षेप स्वयं प्रसादजी को भी ज्ञात हो गये थे; परन्तु उनकी धारणाएं भी भिन्न थीं, जिनके वशीभूत होकर उन्होंने अपने नाटकों की भाषा को रंगमंच के अनुकूल बनाने का कभी विचार ही नहीं किया। एक शैल-शिखर की भांति एकाकी एवं निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व लेकर वे अपने सिद्धान्तों पर अड़िग रहे। उन्होंने विषय एवं वस्तु औचित्य का ध्यान रखकर भारत के ऐश्वर्य तथा गौरवमय अतीत के चित्रण में ऐश्वर्य-मयी तथा गौरवमयी संस्कृतोन्मुख तत्सम प्रधान आलंकारिक भाषा का दृढ़ता से व्यवहार किया। उन्हें संस्कृत भाषा और संस्कृति पर अगाध श्रद्धा थी। अतः, सरलता के नाम पर उत्कृष्टता, गति के नाम पर पवित्रता एवं स्पष्टता के नाम पर शालीनता की बलि देना, उन्हें अभीष्ट न था।

तात्कालिक परिस्थितियों में राष्ट्रीय रंगमंच का विकास नहीं हो सका था और पारसी थियेटर की निम्नकोटि की मंच-शालाएं थीं। जन-रुचि भी दुर्भाग्य से उन्हीं में रमी हुई थी। उस चमक-दमक में प्रसाद के नाटक, अधिक गम्भीर और दुरूह लगे। स्वसंस्कृति-अभिमानी प्रसादजी अपने नाटकों को उस स्तर पर नहीं गिराना चाहते थे। उन्होंने पारसी रंगमंच के प्रशंसकों तथा अपने नाटकों की भाषा के आलोचकों को, अत्यन्त तर्क-सम्मत एवं आदर्श अभिमत प्रगट किया। "ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं, किन्तु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गाई हुई गज़लों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर भी तीन-तीन बार तालियां पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही में समझ में आते हैं और कथकलिक भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही हैं। अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझने का काम रंगमंच पर अच्छी तरह से करता है। मैं तो कहूंगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भावों में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिये, परन्तु इसके लिये भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी वालों के लिये ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी

चाहिये।"[1] अतएव हिन्दी के रंगमंच के अभाव में, सामान्य अभिनय प्रयोजन से शून्य, विशेषतः पाठकों के लिए प्रसादजी ने नाटकों की रचना की।

विषय, वस्तु, देश और काल के औचित्य का पूर्ण निर्वाह करने पर भी नाटकों में पात्र-औचित्य को प्रसादजी ने अधिक महत्त्व नहीं दिया है, वरन् भिन्न-भिन्न देशों और वर्गों के पात्रों की विभिन्न भाषाओं के प्रयोग का विरोध किया है। पात्रानुकूल भाषाओं के प्रयोग को उन्होंने 'भाषाओं का अजायबघर' और 'अप्राकृतिक' कहा है।[2]

इन कारणों से प्रसादजी ने भाषा की विशुद्धता का दृढ़ आग्रह करके अपना शब्द-चयन हिन्दी के शुद्ध तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों तक सीमित रखा। कदाचित ही कहीं उर्दू-फारसी या अंग्रेजी के शब्द उनके संस्कृत के पवित्र साम्राज्य में प्रविष्ट हो सके हैं। इतना ही नहीं, प्रसादजी ने देशज भाषाओं के शब्दों का भी बहिष्कार किया और मुहावरे तथा लोकोक्तियों को भी अपनी भाषा से दूर रखा है। यह तो उनके संस्कृत के अगाध अध्ययन को श्रेयप्रद है कि बिना-उर्दू-फारसी, देशज शब्दों एवं मुहावरों के प्रयोग के उनकी भाषा में प्रवाह है और प्रभाव भी। उनके संस्कृत के शब्द तथा सामासिक पदावलियां भी विशेष दुरूह तथा दीर्घकाय नहीं हैं। यदि उनकी भाषा में दुर्बोधता और क्लिष्टता आई है तो उसका दोष उनकी कल्पनाओं एवं दार्शनिक विचारों को है, न कि उनके शब्द-चयन अथवा शब्द-विन्यास को।

प्रसादजी का वाक्य-विन्यास सरल, सीधा-सादा और व्याकरण-सम्मत है। उसमें व्यतिरेक उत्पन्न करके प्रभाव अथवा कौतुक नहीं उत्पन्न किया गया है। यद्यपि भावों के प्रवाह में तथा सैद्धान्तिक व्याख्याओं के अवसरों पर उनके वाक्य भी बहुत लम्बे हो गये हैं और छोटे-बड़े वाक्य और वाक्यांश उनमें गुंथते चले गये हैं। इस प्रकार एक ही पात्र व्याख्यानदाता की भांति एक लम्बा-चौड़ा भाषण देने लगता है और दूसरे पात्र उसका मुंह देखते रह जाते हैं। अलंकार-योजना तथा कल्पना की उड़ानें भी वाक्यों को लम्बा बनाने का कारण होती हैं। वस्तुतः ऐसे लम्बे वाक्य और संवाद रंगमंच के लिए उपयुक्त नहीं हैं। जहां छोटे वाक्य और छोटे संवाद रंगमंच पर जीवन और चैतन्य की अवतारणा करते हैं वहां दीर्घ वाक्य दीर्घ-संवाद सामाजिकों को ऊब, उत्काहट और अस्पष्टता पैदा करते हैं।

लम्बे वाक्य—उदाहरण : "**जयमाला**—युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगी-नाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आंखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निस्तर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल, एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारंभ होता है।"[3]

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर : उद्धृत—प्रसाद के नाटक : पृ० ६० ।

२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसार के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २६६ ।

३. स्कन्दगुप्त : पृ० ४६ ।

प्रसादजी के नाटकों में आद्योपान्त प्रायः गम्भीरता व्याप्त रहने के कारण हास्य, परिहास और व्यंग्य को स्फुटित होने के अवसर बहुत कम मिले हैं। फिर भी भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुकरण पर पृथक् से विदूषक पात्रों की अवतारणा की है। जैसे 'अजात शत्रु' में वसन्तक और 'स्कन्दगुप्त' में मुद्गल। इनके द्वारा भी भाषा-शैली की दृष्टि से व्यंग्य और विनोद का परिपाक नहीं हो सका है। उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति चन्द्रगुप्त में तो व्यंग्य-विनोद का अभाव ही है। उनका विनोद शब्द-विशेष पर आधारित रहता है यथा—

"**भटार्क**—नहीं तो क्या रोने से, भीख मांगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि मांगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा?

मुद्गल—(प्रवेश करके) रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूं।"[१]

शैलीगत गुणों की दृष्टि से प्रसादजी की प्रायः सभी रचनाओं में प्रसाद गुण का बाहुल्य है। इसके साथ ही प्रसादजी के "सभी रूपकों में प्रायः प्रधानता वीर रस की है, अतः, दृप्त तेजस्विता से भरे संवादों की अधिकता है और मधुर संवादों की भी कमी नहीं है।[२] इस प्रकार से प्रसाद, ओज एवं माधुर्य—ये तीनों प्रधान गुणों से उनके नाटक ओतप्रोत हैं। सारांश यह है, कि प्रसाद के नाटकों की भाषा प्रसंग और रस के अनुकूल कहीं सरस, कहीं ओज प्रधान, कहीं व्यावहारिक बनती चली है। मुहावरों के अभाव में भी, उसमें शिथिलता कहीं नहीं मिलती। वाक्यों के जिस अंश पर बल पड़ना चाहिये, वह तो है ही, साथ ही शैली के अन्य गुण-धर्म भी यथास्थान नियोजित दिखाई पड़ते हैं।"[३]

प्रसादजी की भाषा इतनी प्रांजल एवं परिष्कृत है कि व्याकरण-च्युत प्रयोग क्वचित मात्रा में ही प्राप्त होते हैं। फिर भी विशेषकर वचन सम्बन्धी भूलें अवश्य मिलती हैं। यथा—

"बादलों के नीचे पक्षियों का झुंड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है।"[४]

नाट्य साहित्य अन्य गद्य-रूपों की अपेक्षा, शैली में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की दृष्टि से सर्वाधिक व्यक्तित्व निर्पेक्ष होता है। उसमें भी प्रसादजी का इतना महाप्राण एवं प्रखर व्यक्तित्व स्थान-स्थान पर अपनी छाप अंकित कर सका, यह बहुत कम नाट्यकारों द्वारा होता है। प्रसाद का साहित्य सौंदर्य और कल्पना-प्रधान होता हुआ

१. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : पृ० १७।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता : पृ० ११२।
३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता : पृ० १३८-३९
४. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : पृ० ९५।

भी उनके काव्य प्रतीक वास्तविक जीवन रस से अभिषिक्त है। जीवन से वैराग्य, तटस्थता और निषेधों का प्राबल्य हम उनमें कहीं नहीं पाते।[1] ठीक इसी व्यक्तित्व के अनुरूप प्रसादजी की भाषा-शैली में शब्द-सौंदर्य, आलंकारिकता, कोमल-कान्त पदावलियां, सरलता और काव्यात्मकता की प्रधानता है और ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुण की प्रचुरता है।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' (१८८९ ई०—वर्तमान)

'भारतीय आत्मा' चतुर्वेदीजी मध्यप्रदेश के वयोवृद्ध एवं बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों में एक हैं, जिन पर हमारे देश को भी गौरव है। उनका जन्म ४ अप्रैल १८८९ को होशंगाबाद जिलान्तर्गत बाबई ग्राम में पं० नंदलाल चतुर्वेदी के यहां हुआ था। पं० नन्दलाल स्थानीय प्राइमरी पाठशाला में अध्यापन कार्य करते थे। घर में शिक्षा का वातावरण था। अतः, इन्होंने घर पर ही हिन्दी तथा संस्कृत का अध्ययन किया और लगभग १६ वर्ष की आयु में ही शिक्षक हो गये। प्रखर प्रतिभा उन्हें जन्म के ही साथ प्राप्त हुई थी। सन् १९०७ में १८ वर्ष की आयु में उन्होंने नार्मल परीक्षा उत्तीर्ण की, तथा हिन्दी व गणित में क्रमशः ९४ प्रतिशत और ९६ प्रतिशत अंक प्राप्त कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया।

इसके ही पश्चात् वे खंडवा चले गये और वहां अध्यापन कार्य करने लगे। यहां १९१० में लोकमान्य तिलक के 'राष्ट्रीय मण्डल' के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये और उनका सक्रिय राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। अध्यापन कार्य छोड़कर सन् १९१३ 'रामनवमी' के शुभ मुहूर्त्त में 'प्रभा' सम्पादन के द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया। इसी के बाद अमर शहीद गणेशशंकरजी विद्यार्थी के सम्पर्क से वे बहुत प्रभावित हुए। उनकी प्रथम उल्लेखनीय एवं लोकप्रिय कृति १९१८ में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (नाटक) प्रकाशित हुई। इसके द्वारा चतुर्वेदीजी की कीर्ति मुखरित हुई और १९१९ में उन्होंने जबलपुर से 'कर्मवीर' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। वे अब स्वयं राष्ट्रीय कर्मवीर हो गये जिससे भयभीत होकर के दो-दो बार अंग्रेजों ने उन्हें काराबद्ध किया।

'भारतीय आत्मा' का सम्पूर्ण जीवन हिन्दी और हिन्दुस्थान की सेवा में ही रत हुआ है और इन दोनों ही क्षेत्रों में उनके व्यक्तित्व की विभा विकीर्ण हुई है। दुर्बल शरीर में प्रबल आत्म-शक्ति ही भारतीय आत्मा का स्वरूप है। भारतवर्ष के कर्मवीर, दुर्बल, क्षीण ग्रामवासियों की प्रबल शक्ति का बिम्ब ही 'कर्मवीर' सम्पादक 'भारतीय आत्मा' का प्रतीक है। उनकी रचनाओं और भाषा-शैली में उनके क्रियावन्त और कला-वन्त जीवन की प्रतिच्छाया अंकित हैं।

चतुर्वेदीजी की साहित्यिक चेतना निःसन्देह बहुत व्यापक और बहुमुखी है। वे एक आदर्श सम्पादक के साथ कवि, नाटककार, कहानीकार और निबन्धकार भी हैं।

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद : पृ० १५५।

द्विवेदी-युग में गद्य-क्षेत्र में हम उनकी प्रतिभा को पत्रकार, नाट्यकार तथा गद्य-काव्यकार के रूप में ही आंक सके हैं। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का स्फुरण यथार्थ में द्विवेदी-युग के अवसान के पश्चात् ही हुआ है। सन् १९४३ में 'हिमकिरीटनी' (काव्य) तथा 'साहित्य देवता' (साहित्यिक निबन्धों का संग्रह), १९४८ में 'हिम तरंगिनी' एवं १९५२ में 'माता' काव्य ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। फिर भी द्विवेदी-युग को उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। लेखक की प्रथम कृति होने पर भी 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का ऐतिहासिक महत्त्व है। वस्तु-तथ्य तो यह है कि उनकी साहित्यिक विभा का मूल द्विवेदी-युग है।

चतुर्वेदीजी की भाषा-शैली में उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिंब स्पष्टतः अंकित हुआ है। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त भावुक, सप्राण एवं कर्मवीर का है। उनके साहित्य में कोरा वाणी-विलास नहीं, वरन् सजग क्रियाशील जीवन की चेतना है, जिसमें अवगाहन करके उनकी शैली में ओज और माधुर्य गुण का सम्मिश्रण हुआ है। प्रखर राष्ट्रीय जीवन, सम्पादक का उत्तरदायित्व एवं साहित्य मनीषि के सौहार्दयपूर्ण सुकुमार व्यक्तित्व ने उनकी भाषा में क्रमशः ओज, प्रसाद एवं माधुर्य के साथ सरलता और सरसता का रंग भरा है। साहित्यिकता एवं राष्ट्रीयता के दुकूलों के मध्य से ही उनकी भाव-गंगा तरंगित हुई है।

'कृष्णार्जुन-युद्ध' की लोकप्रियता एवं यशस्विता का श्रेय कथा-वस्तु को ही नहीं है, चतुर्वेदीजी की शैली को भी है। उनकी भाषा में कहीं औपचारिकता, कृत्रिमता एवं प्रदर्शन को पनपने का अवसर नहीं मिला। जो व्यक्ति घर-बाहर, पुरजन-परिजन, अपने-बिराने आदि सबके समक्ष अपनी सरल स्वाभाविक वेश-भूषा, धोती, टोपी, पूरी बांह की कमीज और मिरजई में उपस्थित होता है, जैसा सोचता है वैसा ही बोलता है और वैसा ही लिखता है, फिर उसकी भाषा-शैली एवं वाणी में आडम्बर कैसे लालित-पालित हो सकता है? चतुर्वेदीजी की भाषा-शैली की महती विशेषता सम्भाषण और साहित्य की भाषा के साम्य में है। भाषा शुद्ध और परिमार्जित है, उसमें नाटकों के अनुकूल गति है और तार्कित बल भी। निःसंदेह उनका कवि इतना सजग एवं चेतन है कि गद्य-गवाक्षों से भी झांकता रहता है। यथा—

"**यमराज**—मैं केवल मुख्य-मुख्य बातें ही यहां पर कह सकता हूं। क्रूरता, अत्याचार, छल, कपट, द्रोह, ईर्षा, चोरी, व्यभिचार, असतयता इत्यादि को तो उसने अपनाया ही है, किन्तु इन दुर्गुणों की सहायता से उसने अनात्मवाद का प्रचार किया है, संसार और जीवन को केवल आनन्दोपभोग की ही सामग्री बनाने में उसने अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी है। ईश्वर को भुला रखा है। कोई-कोई तो ईश्वर को भोले भाले मनुष्यों को डराने का हौआ मानते हैं। ऐश्वर्य की लालसा से एक राष्ट्र ने दूसरे देशों पर अधिकार जमाया है और उसका शासन इस ढंग से करता है जिसमें अपना ही उदर भरे और उस परतंत्र देश का नाश हो। छोटी-छोटी जातियों ने पृथ्वी के आवश्यकता से अधिक हिस्सों पर प्रभुत्व स्थापित किया है। कोई राष्ट्र विजयश्री की महत्त्वाकांक्षा में सब संसार को अपने चरणों में झुकवाना चाहता है। फल यह होता है कि विजेता में गर्व, लोभ, क्रूरता, क्रोध इत्यादि की अधिकता होती जाती है और विजित जातियों में

भीरुता, फूट, चरित्र-भ्रष्टता, अनाचारिता, कंगाली और कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते जाते हैं।"[१]

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (१९०१ ई०–वर्तमान)

द्विवेदी-युग के प्रथम चरण में उत्पन्न, अत्यन्त प्रबल एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व को लेकर उग्रजी ने भाषा-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। वे प्रधानतः कथाकार हैं। भारतवर्ष के असहयोग आन्दोलन की प्रखरता पूर्णतः उनके जीवन में प्रतिबिम्बित हुई है। उन्होंने समाज की सदियों पुरानी जड़वादिता, मिथ्या-डम्बर, अन्धविश्वास तथा जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। युग की भावनाओं से अनुप्राणित और युग की छाया में ही पूर्णतः पालित-पोषित उग्रजी की शैली में देश, काल, परिस्थिति एवं व्यक्तित्व का तादात्म्य विशेषतः स्थापित हुआ है। साहित्य समाज का प्रतिबिंब है और उस बिम्ब को प्रस्तुत करना ही साहित्यकार का प्रमुख कर्त्तव्य है। उग्रजी की रचना तथा शैली इस तुला पर ठीक उतरती है।

रचनाएं—एकांकी—बेचारा सम्पादक १९२२, बेचारा सुधारक '२३, बेचारा अध्यापक '२४, बेचारा प्रचारक '२५, अफजल वध, उजबक, लालक्रान्ति के पंजे, सीता हरण, बलिदान।

नाटक—महात्मा ईसा '२२।

उग्रजी की भाषा-शैली में गति ही नहीं, शक्ति भी है। समाज तथा देश की दशा से उत्तेजित होकर, भावावेश के साथ वे एक ही सांस में सब कुछ कह डालने का उपक्रम-सा रचते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रयत्न में उनके स्वभाव में कवि का फक्कड़पन और क्रान्तिकारी की उग्रता का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। इतना ही नहीं, उनके हास्य पर भी उनके उग्र स्वभाव की छाया पड़ी है, जिससे कठोर व्यंग्य की उद्भावना हुई है। वस्तुतः ओज ही उनकी शैली का मूल एवं चिरन्तन तत्त्व है, जो समयानुकूल न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्तित होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र मुखरित हुआ है। उनके शब्दों से अग्नि की लपटें, भाव और विचारों से गर्म वाष्प तथा वाक्य-विन्यास में हृदय की आकुलता लक्षित होती है। उनकी भाषा में युग का उत्साह और उत्कर्ष है।

इन्होंने प्रायः बोलचाल की व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग किया है। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषा के सरल और सुबोध शब्दों को उनकी भाषा में पर्याप्त स्थान मिला है। भावों की प्रबल आंधी में ये विजातीय शब्द उड़-उड़कर अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आये हैं और वहां शब्द-विन्यास तक उलट गया है। अन्य सामान्य स्थलों पर भाषा ओजमती एवं संस्कृत के तत्सम शब्दोन्मुखी रहती है। उग्रजी ने साम-यिक अंग्रेजी के गद्य का अनुकरण कर उससे शब्द, पदावली तथा वाक्य-विन्यास भी

१. कृष्णार्जुन-युद्ध : द्वितीयांक, दृश्य चौथा : पृ० ३६।

ग्रहण किया। अंग्रेजी शैली के वाक्य उनकी रचनाओं में बहुत मिलते हैं। इनमें वाक्य का प्रारम्भ कर फिर कहनेवाले का उल्लेख कर, अन्त में शेष अंश कहा जाता है। इसके लिए उन्होंने विरामी-चिह्नों की सहायता से वे अपने उल्टे-सीधे वाक्य-विन्यास को अनुशासित रख सके हैं और उनकी भावाभिव्यक्ति स्पष्ट हो सकी है।

उग्रजी की भाषा में शैली का प्रौढ़ रूप मिलता है। उसमें प्रवाह, चुस्ती, गतिशीलता, प्रभावोत्पादकता, सभी कुछ गुण हैं।[1] उनकी शैली में ओज गुण का निर्वाह प्रारम्भ में शब्द विशेष पर बल देकर तथा पुनरुक्तियों के द्वारा हुआ है। सामासिक शब्दों ने भी इस कार्य में हाथ बंटाया है। शनैः-शनैः उनकी शैली से यह सामासिकता क्षीण हो चली है और उसका स्थान तीखे सरल शब्दों ने ले लिया है। शैली में आलंकारिकता का स्थान भी ठेठ अभिव्यक्ति ने ले लिया है। मुहावरे तथा उक्तियां घनीभूत हो गई हैं। यह उनकी द्विवेदी-युग के अवसान की रचनाओं में स्पष्टतः लक्षित होता है। जैसे—

"**विवेकाचार्य**—अच्छी तरह से समझ लो। यही एक मार्ग है जिस पर चलने से तुम अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकोगे। यही एक औषधि है जिसके प्रयोग से तुम अपने देश का रोग दूर कर सकोगे। ईश ! इसके लिये तुम्हें भूधर की तरह अचल होना पड़ेगा। दृढ़ता ही इस मार्ग का संबल है। बस यही मेरा अन्तिम उपदेश है। यह देखो ! दिन भर अविराम परिश्रम करके भगवान भास्कर ने एक भाव से—छोटे-बड़े तथा अच्छे-बुरे का विचार छोड़कर सबकी सेवा की है, अब वह क्षण भर के लिये विश्राम करने जा रहे हैं। उनके स्वागत के लिये मंगल-वस्त्र धारण करके पश्चिमादिग्वधू खड़ी है—चलूं ऐसे महापुरुष के चरणों की मन्दाकिनी के जल से धोकर मैं भी अपना जन्म सफल कर लूं। तुम्हारे दूसरे सहपाठी तुमसे मिलने के लिये आये होंगे उनसे मिलकर तब सन्ध्योपासना करने के लिए गंगातट पर आना—मैं वहीं रहूंगा। प्रस्थान।

ईसा—त्याग और सेवा ! यही हमारा गुरु मंत्र है। यही हमारे आराध्य देवता हैं और यही हमारी उद्देश्य नौका के कर्णधार हैं। यह मार्ग कितना पवित्र, दयामय और अद्वितीय है—आर्य हृदय ! तुम धन्य हो जिसे कि इस मार्ग के उद्गम होने का गर्व है।"[2]

नाट्य-शैली में प्रभावशीलता की अभिवृद्धि के लिए उग्रजी ने तुक-बन्दियां भी कई जगह की हैं। जन-साधारण की रोचकता के लिए उनकी भाषा-शैली की यह विशेषता भी फब गई है। जैसे—

"अनूप—यह कहिये ! तेरा सत्यानाश हो, अभी नहीं ठीक हुआ। अच्छा—जितनी मिठास-मारवाड़ियों को दाद में, दुर्बलों को फरियाद में, आशिकों को माशूक की याद में, लेखकों को पुरस्कार में, भारतवासियों को तिरस्कार में, तेरा सत्यानाश हो, 'माधुरी'

१. जयनाथ नलिन : हिन्दी के नाटककार : पृ० २५३।

२. महात्मा ईसा : पृ० २४-२५।

को निस्सार कलेवर विस्तार में, 'प्रभा' को राष्ट्रीय-भाव-विचार में, सिविलियनों को खद्दर-संहार में, व्यापारियों को दर चढ़ने के तार में प्राप्त होती है उतनी ?"[१]

यद्यपि उग्रजी ने द्विवेदी-युग में ही कलम पकड़ना और उसका संचालन प्रारम्भ कर दिया था; परन्तु उनकी कलात्मकता का विकास उस काल में नहीं हो सका। उनकी शैली की स्थिरता एवं परिपक्वता आलोच्य-युग के अस्त होने पर ही आ सकी। उनकी प्रौढ़ शैली में प्रेमचन्द की-सी सरलता है, पर साधुता नहीं; प्रवाह है, पर पूर्ण निर्वाह नहीं; रसात्मकता है, पर प्रशान्तता नहीं एवं वागविदग्धता है, पर सुकुमारता नहीं। संक्षिप्त में उग्रजी की भाषा-शैली में नवीन युग का उत्कर्ष है, आन्दोलनात्मक उत्साह है, कथन का परिष्कृत सौंदर्य है और भावावेश की उग्रता है। दार्शनिकता और सूक्ष्म गवेषणा का शान्त विवेचन इस प्रकार की भाषा में भले ही न हो सके; परंतु भावों के वेग का स्वाभाविक चित्र इसमें अवश्य उपस्थित किया जा सकता है। शांत और गंभीर विषयों का निदर्शन इसमें सफलतापूर्वक न हो सके, ऐसा स्वाभाविक है: परंतु वाद और विवाद, कथन और प्रतिपादन, आंदोलन और प्रचार के वातावरण के अनुकूल यह अवश्य है।"[२] उनकी यह सशक्त, सप्राण एवं व्यावहारिक भाषा हिन्दी को महत्त्वपूर्ण देन है। उसमें कथन शैली की सरलता है, साथ ही वक्तृत्व शैली की सजीवता, रोचकता और हृदय स्पर्श करने का प्रयत्न भी। "यदि सच पूछा जाय तो उग्रजी की भाषा ही उनके साहित्य को सम्मान दिलाने के लिए पर्याप्त है। वास्तव में काव्य-क्षेत्र में जो स्थान भाषा-परिष्करण के लिये पन्तजी का है वही स्थान गद्य के क्षेत्र में उग्रजी का है। भाषा की रवानगी में वे प्रेमचन्द से कम नहीं।"[३]

वियोगी हरि (१८९८ ई०—वर्तमान)

वियोगीजी मूलतः कवि एवं गद्य-काव्यकार हैं। हिन्दी-गद्य-संसार में वे गद्य-काव्य के लेखक के साथ ही नाटककार के रूप में भी ख्याति प्राप्त हैं। इनके जीवन-दर्शन तथा व्यक्तित्व का विचार हमने गद्य-काव्यकार के रूप में किया है।[४] उनके नाटकों में भी उनका भक्त कवि का व्यक्तित्व सजग तथा क्रियाशील रहा है। साधारण कथनोपकथन के द्वारा चरित्र-चित्रण तथा कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त वियोगीजी का बहुलांश में ध्यान रसात्मक तन्मयता में ही रमा है। यही कारण है कि उन्हें जहां भी अवसर मिला है, अथवा स्वयं अवसर निकालकर नाटकों में भी गद्य-काव्यात्मक शैली में लम्बे-लम्बे सम्भाषण रखे हैं। ऐसे प्रसंगों से शैली का नाटकीय तत्त्व बहुत क्षीण हो गया है। नाट्य-शैली की रोचकता, विदग्धता, बहुरूपता तथा व्यंग्यात्मकता के स्थान में एक रस माधुर्य गुण की रमणीयता ही सर्वत्र ओतप्रोत रहती है।

१. चार बेचारे: (बेचारा सुधारक): पृ० ८९।
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा: हिन्दी की गद्य-शैली का विकास: पृ० २४२।
३. गंगाप्रसाद पाण्डेय: आधुनिक कथा साहित्य: पृ० २४१।
४. प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय-९।

विशुद्ध भक्ति रस के अनुकूल ही इनकी भाषा का झुकाव विशुद्ध संस्कृत के तत्सम और ब्रज के शब्दों की ओर सदैव रहा है। भावानुकूल भाषा का सुन्दर निर्वाह उनकी शैली में दृष्टिगोचर होता है। भावातिरेक-वश एक ही भाव तथा विचार की विभिन्न शब्दों में आवृत्ति भी की है और स्थान-स्थान पर प्रश्न करते गये हैं। इन प्रश्नों से उनकी भावात्मक दृढ़ता का संकेत मिलता है और उनकी शैली में भी कुछ ऊष्मा आ गई है। जैसे—

"मा, आज तक मैंने अपनी समझ में कोई धर्म-विरुद्ध काम नहीं किया। मद्य-मांस सेवी, हिंसा-प्रिय नर-पिशाच भी क्या धर्मात्मा कहे जा सकते हैं? मायावाद द्वारा क्या नारायणीय निश्चला प्रेमपरा, भक्ति प्राप्त हो सकती है? मा! क्या अंत्यज, परम भागवत होते हुए भी, कोरे कर्मठ ब्राह्मणों से नीच और हीनतर हैं? क्या महात्मा निरुप्याण आत्वार के चरण छूकर मैं एकदम पतित हो गया? इसे भी यदि 'पतन' कहते हैं, तो मैं उस शास्त्रोक्त उत्थान को दूर से ही नमस्कार करता हूं। मा, जिन सन्तों का चरण स्पर्श कर तीर्थ भी अपने को कृतार्थ मानते हैं, यदि मैंने उन चरणों पर अपना कामना कलुषित राजमुकुट झुका दिया तो अनर्थ ही क्या कर डाला? क्या नारायण का विशाल अंक केवल ब्राह्मणों ही के लिये सुरक्षित है? मा, वहां ऊंच-नीच का कोई विचार नहीं। जो अपने अहंकार को भगवान के चरणों पर अर्पित कर देता है, उसी की उस दरबार में पूछ है।"[1]

निःसन्देह वियोगीजी की भाषा प्रायः सर्वत्र भावात्मक शैली में ही उपस्थित हुई है। वह गद्य-काव्य के लिए जितनी उपयुक्त है, नाटकों में उतनी नहीं। एक ही ढांचे पर आधारित रखने के कारण नाटकोचित व्यंग्यात्मकता, गतिशीलता तथा बहु-रूपता उसमें नहीं रहती। सच तो यह है कि भक्ति-रस में ही आलिप्त होने के कारण, सामान्य नाटकों की भाषा वियोगीजी के नाटकों में अपेक्षित भी नहीं है।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त (१८९८ ई०-वर्तमान)

कुमायूं की प्रकृति-क्रीड़ा-स्थली के सुरम्य रानीखेत स्थान में उत्पन्न पन्तजी, द्विवेदी-युग के उन नाटककारों में विशेष स्थान रखते हैं, जो बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा उपासना के वशीभूत होकर रंगमंचीय नाट्य-सृजन के मूलोद्देश्य को लेकर ही इस क्षेत्र में आये हैं। निस्सन्देह उन्होंने कहानियां भी लिखी हैं; परन्तु उनकी प्रतिभा का परिपाक नाट्य-कार के रूप में ही हुआ है। बाल्यकाल से ही इनका रुझान रंगमंच की ओर है। उन्होंने 'व्याकुल भारत' नाटक कम्पनी में भी कार्य किया है, तथा इस क्षेत्र से सदा ही सम्बन्धित रहे हैं।

रचनाएं—सन् १९१९ में 'सरस्वती', 'शारदा', 'हंस', 'गल्पमाला' पत्रिका में कहानियों से इन्होंने हिन्दी-सेवा के क्षेत्र में प्रवेश किया। द्विवेदी-युग में उनके दो नाटक —'कंजूस की खोपड़ी' १९२३ तथा 'वरमाला' १९२५ में प्रकाशित हुए। तत्पश्चात्

१. प्रबुद्ध यामुन : पृ० ११२।

'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी', 'अन्तःपुर का छिद्र', 'सिन्धूर बिन्दी' आदि अधिक प्रौढ़ नाट्य रचनाएं प्रकाशित हुईं।

नाट्य रचनाओं में भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति का उन्मुक्त रूप प्रगट होता है, इस कसौटी पर कसने पर पन्तजी की भाषा-शैली खरी उतरती है। उन्होंने पात्र तथा परिस्थिति के अनुकूल भाषा में परिवर्तन किया है। प्रथमतः, 'कंजूस की खोपड़ी' में हास्य-व्यंग्य मिश्रित शैली मिलती है। अभिनय के मूल प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने रोचकता एवं प्रभावोत्पादन के लिए तुकबन्दी तथा लयात्मकता पर भी ध्यान दिया है। विशुद्ध हिन्दी का आग्रह न करके, उन्होंने अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि के शब्दों को विपुल मात्रा में स्थान दिया है। उनके इस शब्द-चयन तथा शब्द-समष्टि ने भाषा में नाटकीय तत्त्व की वृद्धि की है। एक ही बात पर बल देने के लिए, उन्होंने कई वाक्यांशों तथा भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। इससे उनके वाक्य लम्बे भले ही हो गये हैं; परन्तु दुरूह नहीं। जैसे—

"**रामदास**—बाप मक्खीचूस कंजूस और बेटा फैशनेबुल जन्टिलमैन! रोटी गिनती से मिलती है, कपड़ा इन्च से नापकर मिलता है। कैसे बेड़ा पार होगा? हे परमेश्वर किसी दीन दरिद्र के घर जन्म देते, भिखारी का बेटा बनाते, पितृहीन पैदा करते, मगर एक कंजूस बाप के यहां क्यों पैदा किया? हाय! अगर पहले ज़रा भी कहीं से कुछ इशारा मिलता तो इस कंजूस बाप के घर हरगिज जन्म ही न लेता। जालिम बादशाह अच्छा, पापी प्रजा अच्छी, शराबी पति अच्छा, कुटला पत्नी अच्छी, अत्याचारी मालिक अच्छा, नमकहराम नौकर अच्छा, खूंख्वार दुश्मन अच्छा, खुशामदी दोस्त अच्छा, कपूत बेटा भी अच्छा ही है, मगर कंजूस बाप—बुरा, बुरा! दुनियां में इससे बुरी और कोई चीज ही नहीं है।"[1]

"**धनदास**—देखो, प्रचण्ड धूप में किसान हल चला रहा है, किसलिए? रुपये के लिये। राजा प्रजा के ऊपर घोर अत्याचार कर रहा है, किसलिए? रुपये के लिए। भिखारी गौरव की तिलांजलि देकर द्वार-द्वार भीख मांग रहा है, सिर्फ रुपये के लिये। वैश्या रुपये के हाथ अपना रूप बेच रही है, मुन्सिफ अपना न्याय बेच रहा है, डाकू अपना सत्य बेच रहा है, कातिल अपनी दया बेच रहा है। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस, अमेरिका और जापान सब मिलकर कोरस में इसी रुपये की स्तुति कर रहे हैं। तुम इस रुपये को रूप और गुण से छोटा बताते हो? लोग दुनियां की सबसे बड़ी चीज का नाम ईश्वर बताते हैं? मैं कहता हूं रुपया ईश्वर से भी बड़ा है। क्योंकि भगवान इसी रुपये के वश में हैं। रुपये से दान पुण्य किया जाता है और दानी पुण्यात्मा के भगवान गुलाम हैं।"[2]

हास्य के साथ तीखा व्यंग्य करने के लिए, उन्होंने विचित्र परिस्थितियों को चुना है, फिर उनके साथ कार्य-कारण सम्बन्ध को जोड़ने के लिए प्रयत्न किया है।

१. कंजूस की खोपड़ी : पृ० १-२।
२. कंजूस की खोपड़ी : पृ० ७।

इसमें भाषा की शक्ति विचारों से पुष्ट हुई है, विशिष्ट शब्द-चयन से नहीं। दूसरी भाषा के शब्दों के बिना भी उनकी यह शैली सबल तथा सशक्त है। जैसे—

"**धनदास**—चुप रहो, मुझे तुम्हारे जैसे हमदर्द ब्राह्मण की जरूरत नहीं है। सुना, यह शरीर मिट्टी का बना है, इसको भोजन देने से कोई लाभ नहीं, बल्कि बहुत बड़ा नुकसान है। जब आदमी का पेट भरा रहता है तो वह धर्म को भूलकर अधर्म की ओर प्रवृत्त होता है। भोजन आत्मा को देना चाहिये और आत्मा का भोजन है—उस दयामय संसार के नाथ राम के नाम का स्मरण। शरीर की चिन्ता छोड़कर आत्मा की सुधि लो। संसार झूठा है, स्वर्ग सत्य है। जाओ राम का नाम जपो, तुम्हारे सब सन्ताप दूर होंगे। भोजन को भूल जाओ, भजन को याद करो, इसी में कल्याण है।"[1]

पन्तजी की नाट्य-गद्य-शैली की प्रमुख विशेषता भावों तथा विचारों की आवृत्ति है। एक ही तथ्य की पुष्टि के लिए वे अनेकों उदाहरणों की झड़ी-सी लगा देते हैं। इनसे उनकी भाषा को शक्ति तथा गति दोनों ही प्राप्त हुई हैं।

"**घिचपिच**—वह पीला होता है, सफेद भी होता है और अब कलियुग में कागज का भी होता है। वह एक रूप से गरीब श्रमजीवी मजदूरों के पसीनों की बूंदों से टपकता है और एक रूप से फिर पूंजीवाले करोड़पतियों के सागर में छलकता है। वह कंजूस के संदूक में रहता है, अफसर की घूस में रहता है, लोभी के दिल में रहता है, पाखण्डी साधू के पैरों में रहता है, दयालु दाता के हाथ में रहता है और कहां बताऊं? हिन्दुस्थान के बाहर और राजमहलों के भीतर रहता है। उससे क्या किया जाता है सुनिये?"[2]

पन्तजी की भाषा उनकी परवर्ती रचनाओं में निश्चय ही विशेष भाव-व्यंजक एवं प्रौढ़ हो गई है। उर्दू-फारसी आदि भाषाओं के शब्दों की बिना सहायता लिए ही उन्होंने अपनी भाषा को सरल, सुबोध तथा गतिशील बनाया है। उसमें नाटकीय शक्ति तथा ओज है साथ ही दुरूहता का अभाव भी।

"**वैशालिनी**—यह तुम अपने स्वभाव का परिचय दे रहे हो। मनुष्य जिसे प्यार करता है, उस पर दया नहीं करता, जिस पर दया करता है, उसे प्यार नहीं करता। राम ने सीता को प्यार किया, लेकिन उस पर दया नहीं की। जब वह सुकुमार प्राणा गर्भवती थी, उसे भीषण दण्ड दे वनवासिनी बना दिया। दुष्यंत ने शकुन्तला पर दया की, किन्तु उसे प्यार नहीं किया। जब वह दुष्यन्त का आश्रय ग्रहण करने आई तो उसने पत्थर से भी अधिक कठोर होकर उस कोमलांगी का परित्याग किया। किन्तु, नारी—नारी जिसे प्यार करती है, उस पर दया करती है। जिस पर दया करती है, उसे प्यार करती है।"[3]

किसी शब्द-विशेष को लेकर पन्तजी ने बड़े पैने व्यंग्य किये हैं। ये प्रयोग उनके मौलिक हैं और विचित्र भी। पिटी हुई भाषा जहां उपन्यास-कहानियों के उपयुक्त रहती है, वहां भाषा की नवीनता नाटकों की शक्ति होती है। इसका अच्छा उदाहरण

---

१. कंजूस की खोपड़ी : पृ० १३।
२. कंजूस की खोपड़ी : पृ० १८-१९।
३. वरमाला : पृ० ४५।

पन्तजी की भाषा में मिलता है। जैसे—

व्यंग्य परिहास—"तुम बड़े पितृ-भक्त बेटे हो। हमारे कुल की लालटेन हो"[1]

"धनदास—नहीं नहीं, मैं अन्याय नहीं करूंगा। तुम्हें सबसे बड़ी चीज दूंगा। जाओ मैं अपनी शादी की खुशी में स्वतन्त्रता इनाम देता हूं, कल से तुम मेरे गुलाम नहीं रहे।"[2]

१. कंजूस की खोपड़ी : पृ० ८।
२. कंजूस की खोपड़ी : पृ० ४७।

अध्याय : ९

गद्य-काव्य की शैलियां

भारतीय काव्य-शास्त्र की मान्यताओं के अनुसार—'काव्यं गद्यं पद्यंच'[1]—गद्य और पद्य दोनों ही काव्य हैं। वस्तुतः गद्य और पद्य दोनों ही काव्य-शरीर के विभाग हैं[2] और गुण-विशेष के कारण पृथक्-पृथक् माने जाते हैं; परन्तु काव्यत्व की प्रतिष्ठा एवं संज्ञा दोनों ही को प्राप्त है। इसके अतिरिक्त यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि गद्य के विभिन्न रूप निबन्ध, उपन्यास, कहानियां, नाटक, आलोचना आदि सभी गद्य-काव्य हैं। फिर गद्य-काव्य की संज्ञा प्राप्त यह गद्य-विधान क्यों है? क्या अब कहानी, नाटक, उपन्यास, समीक्षा इत्यादि काव्य-पद से च्युत हो गये हैं? ये दो प्रश्न स्वभावतः हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। इस भ्रम का कारण 'काव्य' शब्द है। आजकल 'काव्य' और 'कविता' इन दोनों ही शब्दों को पद्य के अर्थ में साधारणतः समझा जाने लगा है और यह विस्मृत-सा हो चला है कि "गद्य और पद्य दोनों में ही कविता हो सकती है।"[3] अतः, पद्य में ही काव्य को सीमित करने की भ्रांति हो गई है। आधुनिक 'गद्य-काव्य' की विशिष्ट संज्ञा प्रदान करने में गद्य एवं काव्य इन दोनों के गुणों का समन्वय किया गया है। सामान्यतः गद्य में सापेक्ष शुष्कता, कठोरता और व्यावहारिकता की संनिहिति होती है एवं लय, संगीत और माधुर्य की अनुपस्थिति-सी रहती है। काव्य में भावात्मकता, रसात्मकता और काल्पनिक वैभव रहता है। गद्य-काव्य में यद्यपि काव्य की भावापन्नता, रसात्मकता, काल्पनिक वैभव, आलंकारिकता, संगीत और माधुर्य की घनीभूत उपस्थिति रहती है; परन्तु उसका रूप-विन्यास गद्य के वाक्यों और परिच्छेदों के आवरण में रहता है, जो उसे अति तरल, लयात्मक तथा तुकान्त नहीं होने देता। गद्य-रूपों में हम गद्य-काव्य को भावात्मक निबन्धों के समीप ही बैठा पाते हैं। इनमें कलाकार के व्यक्तित्व को, स्वच्छन्द एवं पूर्ण उन्मेष प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

बाबू गुलाबराय ने गद्य-काव्य का स्वरूप इन शब्दों में स्थिर किया है: "उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण वह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृंखला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है; किन्तु गद्य-काव्य एक निश्चित ध्येय

---

१. वामन : काव्यालंकार सूत्र : १।३।२१ : पृ० ५५।

२. दण्डी : काव्यादर्श : १।११।

३. महावीरप्रसाद द्विवेदी : सरस्वती : कवि कर्त्तव्य : फाइल १९०१ : पृ० २३२।

की ओर जाता है, उसमें इधर-उधर विचरण की गुंजाइश नहीं ।

गद्य-काव्य में भाषा गद्य की होती है; किन्तु भाव प्रगीत काव्यों के-से रहते हैं। गद्य के शरीर में पद्य की-सी आत्मा बोलती हुई दिखाई देती है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और संगीतमय होता है। गद्य-काव्य में रूपकों और अन्योक्तियों का प्राधान्य रहता है। इसमें कहानी की भांति एक ही संवेदना रहती है; किन्तु जहां वह प्रलाप शैली का अनुकरण करता है, वहां अन्विति का अभाव भी भावातिरेक का द्योतक हो जाता है।"[१]

गद्य-काव्य में प्रतीक भावना और दार्शनिकता रहने से कविता का आनन्द रहता है। ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द की पूर्ण उपलब्धि का भी साधन वह है। कोरी लयात्मकता, व्यंजक वाक्य-रचना, अलंकार-विधान और काल्पनिकता से गद्य-काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तव में गद्य-काव्य में संगीतात्मक ध्वनि, कोमलकान्त पदावली, प्रगीतात्मकता, दार्शनिक सन्देश, त्रिभंगी व्यंजना, भावात्मक रसात्मकता, छन्दबद्धता से मुक्ति आदि गुणों की प्राण-प्रतिष्ठा होना आवश्यक है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में बाण भट्ट की 'कादम्बरी' तथा 'दस कुमार चरित्र' में काव्य और कला का पूर्ण परिपाक हुआ है। कला के निखार और विकास के साथ ही गद्य में पद्य की गति, संगीत, शक्ति, और माधुर्य भरने का प्रयत्न हुआ है। इसमें वस्तुतः निबन्ध कला और काव्य का सर्वोच्च समन्वित स्वरूप स्फुटित हुआ है। गद्य-शैली की हृदयस्पर्शी पराकाष्ठा भी इसी रूप में प्रकट हुई है। गद्य-काव्य में भावों का वसन्त, कला की शरद राका, कठोर शब्दों का शिशिर, गहन विचारों की घनघोर वर्षा, लय-संगीत का हेमन्त और निदाघ ऊष्ण ऋतु की-सी उठती हुई काल्पनिकता रहती है। इस प्रकार से गद्य-काव्य में अनेक क्षेत्रीय गुणों का सम्पृक्त रूप उपस्थित होता है।

हिन्दी गद्य-काव्य—हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य की अवतारणा बंग-साहित्य के प्रभाव से हुई है। यद्यपि इसका पूर्वाभास हमें 'भारतेन्दु-युग' में भारतेन्दु की 'चन्द्रावली नाटिका', ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न', चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' का 'प्रेमघन-सर्वस्व' आदि कई निबन्धों में मिल जाता है; परन्तु गद्य-काव्य का वह रूप अप्रौढ़ और अशक्त है। उस काल में गद्य-काव्य की वे सभी विशेषताएं स्फुटित न हो सकीं थीं, जो कि द्विवेदी-युग के द्वितीय-दशक के प्रारम्भ में ही स्फुटित हुई हैं। उस समय की भाषा अपरिष्कृत और अविकसित थी। व्याकरण की जगह-जगह हुई भूलें भाषा-शैली के सौन्दर्य में व्याघात उत्पन्न कर देती हैं। यद्यपि उसमें आलंकारिकता तथा भावात्मक रसात्मकता का भाग है, तथापि उसमें हल्की तुकान्तता का भी प्रभुत्व है। जैसे—

"आज मोर यदि तमचोर के कोर से, जो निकट की खोर ही में जोर से शोर किया, नींद न खुल जाती तो न जाने क्या-क्या वस्तु देखने आती। इतने ही में किसी महात्मा ने ऐसी परभाती गाई कि फिर वह आकाश सम्पति हाथ न आई! वाह रे

१. गुलाबराय : काव्य के रूप : पृ० २५६ ।

ईश्वर ! तेरे सरीखा जंजालिया कोई जालिया भी न निकलेगा। तेरे रूप और गुण दोनों वर्णन के बाहर हैं ! आज क्या क्या तमाशे दिखलाए, यह तो व्यर्थ था क्योंकि प्रतिदिन इस संसार में तू तमाशा दिखलाता है ही। कोई निराशा में सिर पीट रहा है, कोई जीवाशा में भूला है, कोई मिथ्याशा ही कर रहा है। कोई नैन के चैन का प्यासा है, और जल विहीन दीन मीन के सदृश तलफ रहा है।"[1]

भारतेन्दु-युगीन गद्य-काव्य के पर्यावलोचन के पश्चात् द्वितीय उत्थान—द्विवेदी-युग—में गद्य-काव्य का विकास द्रष्टव्य है। पहले-पहल इसका अंकुरण और पल्लवन बंगला साहित्य में दिखाई पड़ा।[2] सन् १९१३ में कवींद्र रवींद्र की 'गीतांजलि' ने विश्व मान्य नोबुल-पुरस्कार जीतकर हिन्दी के साहित्यकारों को विशेष आकर्षित किया। फलतः उसकी शैली के अनुकरण पर 'गीतांजलि' के छायानुवाद तथा अन्य बहुत से मौलिक प्रयास किये गए। इस शैली के प्रादुर्भाव से हिन्दी में एक नवीन वातावरण उत्पन्न हो गया। बंग-भाषा की कमनीयता हिन्दी में पर्याप्त रूप से परिलक्षित होने लगी। हिन्दी के गद्य-काव्य की प्राचीन परम्परा को, पार्श्ववर्ती बंग-भाषा में इस प्रभाव ने अधिक प्रौढ़ता प्रदान की।

इस युग में गद्य-काव्य के स्फुरण का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि ज्यों-ज्यों हिन्दी की 'काली कामली' काल-कालिमा में डूबती गई वैसे-वैसे वह भारी होती गई और उसकी उज्ज्वलता निखरती गई। हिन्दी-गद्य प्रौढ़ता प्राप्त करके अनेक विषयों को आत्मभूत करके कविता के क्षेत्र पर भी हाथ आजमाने लगा। उसने अपने में गम्भीर चिन्तना के साथ माधुर्य तथा भावात्मकता को भी घोल लिया। गद्य सरल भाषा और सरल विषय के ऊपर उठकर गम्भीर विषय तथा गम्भीर भाषा को लेकर आगे बढ़ा। तरुणों की अरुणाई तथा तरुणाई की अंगड़ाई लेकर, इस शैली में भावना की रसमती भांग और मिला दी। इस प्रकार उसकी काव्यात्मकता की गहराई बढ़ गई। गद्य ने प्रबल होकर पद्य को आविर्भूत कर लिया।

हिन्दी के युग-नेतृत्व को ग्रहण करने पर द्विवेदीजी का प्रभाव गद्य-काव्य के सृजन में सीधा सहायक हुआ। हिन्दी-साहित्य के उद्यान में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी पहले माली हुए हैं जिन्होंने गद्य और पद्य को समान रूप से कविता का संदर्भ समझने वाला घोषित किया। संस्कृत के प्राचीन आदर्श में खोया हुआ विश्वास जगाया, इस प्रकार उसकी एक विशिष्ट सत्ता बनाते हुए गद्य-काव्य का योग्य प्रवर्तन किया। निबन्ध और आलोचना अनुवाद और सम्पादन जिस प्रकार द्विवेदीजी के आभारी हैं, उसी प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्य भी उनका चिर ऋणी है।[3]

आलोच्य-युग के उत्तरार्द्ध में जयशंकर प्रसाद, वियोगी हरि, राय कृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री प्रभृति महाप्राण एवं महाभावुक गद्य-काव्यकारों में भावात्मक शैली का प्रादुर्भाव हुआ। प्रसादजी और राय कृष्णदासजी पर तो बंग-साहित्य का विशेष

१. ठाकुर जगमोहनसिंह : श्यामा स्वप्न : पृ० ५।
२ डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हीरक जयन्ती ग्रन्थ : (गद्य-काव्य) : पृ० २३३।
३. हरीमोहनलाल वर्मा : 'साहित्य-सन्देश' : द्विवेदी अंक, मार्च, १९३९।

प्रभाव पड़ा। उनकी भावात्मक शैली के माध्यम से परोक्ष सत्ता की भावात्मक अनुभूति अभिव्यंजित हुई। प्रसादजी ने यद्यपि गद्य-काव्य को लेकर पृथक्तः कोई रचनाएं नहीं की हैं, परन्तु उनके नाटकों, कहानियों और उपन्यासों में कहीं-कहीं 'गद्य-काव्य' के सदृश शैली-विधान प्रस्तुत हुआ है। राय कृष्णदासजी की 'साधना', 'छाया पथ' और 'प्रबाल', वियोगी हरि की 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद' और 'भावना', चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' युग की उल्लेखनीय गद्य-काव्य रचनाएँ हैं।

प्रसादजी की भांति पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, राजा राधिकारमणसिंह, मोहनलाल महतो की स्फुट रचनाओं में भी 'गद्य-काव्य' की सृष्टि हुई है। हां, विशुद्ध गद्य-काव्यकार के रूप में इनका विशेष स्थान नहीं है।

युग के प्रमुख गद्य-काव्यकार एवं उनकी शैलियां

राय कृष्णदास (१८९२ ई०-वर्तमान)

युग के श्रेष्ठ तथा मूलतः गद्य-काव्यकार राय कृष्णदास का जन्म काशी के प्रतिष्ठित राय वंश में हुआ था। इनके पिता राय प्रह्लाददास सुसम्पन्न थे और उनकी संस्कृत-साहित्य एवं काव्य के प्रति विशेष रुचि थी। राय कृष्णदासजी का लालन-पालन इस लक्ष्मी और सरस्वती के दुलार-प्यार में व्यवस्थित ढंग से हुआ। अनुकूल वातावरण और सुप्रबन्ध में इनका विद्याध्ययन घर पर ही प्रारम्भ हुआ और आगे की शिक्षा विद्यालयों में हुई।

साहित्यिक वातावरण ने शैशवावस्था में ही राय कृष्णदास की रुचि काव्य की ओर प्रवृत्त कर दी थी। अतः, वे आठ वर्ष की अल्पायु में ही छन्द रचना करने लगे। पिताजी के साहित्य-प्रेमी होने के कारण ही पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू मैथिलीशरण गुप्त के सम्पर्क का लाभ भी उन्हें घर पर ही मिल गया। इन साहित्यिक मनीषियों के प्रोत्साहन पर पद्य के माध्यम से ये 'सरस्वती' और हिन्दी की सेवा में उतरे और शीघ्र ही गद्य-काव्यकार के रूप में ख्याति प्राप्त हुए। भावात्मकता और रसात्मकता की अधिकता के कारण इनको गद्य-काव्यों में विशेष सफलता मिली। महाकवि जयशंकरप्रसाद तथा कवीन्द्र रवीन्द्र के साहित्य के घनिष्ठ सम्पर्क ने इनकी रसानुभूति के रंग को विशेष गहरा किया।

रायजी के व्यक्तित्व की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता, उनकी कला-प्रियता है। वे कला के उच्च पारखी ही नहीं, अच्छे चित्रकार भी हैं। कला की सेवा और साधना में इन्होंने अपना तन, मन और धन सब कुछ अर्पित कर दिया। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का कला-भवन उनकी कला-प्रियता का ज्वलंत प्रमाण है। रायजी के गद्य-काव्य में अनुभूति की तीव्रता, उक्ति का वैशिष्टय और रस की प्रगाढ़ता है। लय तथा नाद पर सतत दृष्टि रहने के कारण इनकी शैली में माधुर्य एवं सौष्ठत्व का परिपाक बहुत सुन्दर हुआ है।

रचनाएं

गद्य-काव्य—(१) साधना १९१९, (२) संलाप २६, (३) प्रवाल १९२९, (४) छाया पथ १९३०।

मौलिक—(१) भावुक (२) ब्रजरज।

गल्प—(१) अनाख्या १९२९ (२) सुधांशु १९२९।

अनुवाद—(कला विषयक)—(१) भारतीय मूर्तिकला, (२) भारतीय चित्र कला पगला।

अप्रकाशित—(१) प्रसाद की याद।(संस्मरण)। (२) भारतीय चित्र-चर्चा (कला)। (३) रामकथा (ऐतिहासिक आख्यान)। (४) महाभारत युग का इतिहास (२ भाग)। (५) महामना अकबर (सांस्कृतिक इतिहास)। (६) भारतीय संगीत (कला)।

राय कृष्णदास हिन्दी के गद्य-क्षेत्र में भाव प्रकाशन की विशिष्ट माधुर्यमयी भावात्मक शैली को अपने साथ लेकर अवतीर्ण हुए हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों ने ही मिलकर उनके व्यक्तित्व को निर्मित किया है। इस कारण उनका व्यक्तित्व अधिक सप्राण होकर उनकी शैली में घनीभूत हो उठा है। मानव-हृदय की गहन अनुभूतियां उनकी भावुकता और सहृदयता को प्राप्त करके उनकी शैली में साकार हुई हैं। उन्होंने व्यावहारिक, सरल और सुबोध भाषा-शैली का प्रयोग किया है। यद्यपि उनका झुकाव संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक है और उन्होंने उर्दू-फारसी के शब्दों में विशेष रुचि नहीं रखी है, फिर भी भाषा में दुरूहता और दुर्बोधता नहीं आई है। शब्दों में रमणीयता लाने के लिए उन्होंने अवश्य ही कुछ देशज, ब्रज या पण्डिताऊ शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे सो, हौं, कांदने, अवसत, ठोकों, इत्यादि

उनकी वर्णनात्मक शैली में भी कलाकार की अन्तःदृष्टि रहती है। वे बाह्य के चितेरे ही नहीं, अन्त के मर्मज्ञ भी हैं। उनकी सहृदयता एवं विराट् पुरुष के दर्शन की भावना में प्रकृति भी मानवी की भांति चुहुल, शोख, मस्त और सहृदया हो गई है। उसमें भी रसात्मक भाव-विभोरता और मनमोहकता स्फुटित हो गई है। इनके इस सजीव वर्णन से एक चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। यह चित्रात्मकता ही उनकी वर्णनात्मक शैली की विशेषता है। यथा—

"सवेरा हुआ। सूर्य लोक की किरण कुमारियां जाग उठीं। वे शोख छोकड़ियां कहीं इसे जगा कहीं उसे, कहीं इस कली का मुंह चूम कहीं उसका हृदय खोल, कहीं इसे गुदगुदा कहीं उसे हंसा, कहीं इस सरोवर में नहा कहीं उस सरोवर को लहरा, कहीं इसे तैर कहीं उस चोटी पर चढ़, कहीं उस विहग मण्डली को गवा कहीं उस भ्रमरावली को गुंजा, कहीं यहां रंग का छिड़काव कर, कहीं वहां रंग घोल—अपने खिलवाड़ से उन्होंने सारे दिगंत में नया जीवन भर दिया।

उनमें से कुछ घने जंगल के वृक्षों के कंधे पर उछलकूद मचाने लगीं। थोड़ी

देर बाद नीचे उतरने की चेष्टा करने लगीं, पर गर्भिन वृक्षों ने सिर हिलाते हुए कहा—कहां जाती है ? धूल में लोटने चली ? ठहरो, यहीं पर हमारे सिर पर ऊधम मचाओ।

वे सिर चढ़ी अनुरागिनी बालिकायें वहीं खेलने लगीं।"[1]

भावातिरेक की स्थिति में प्रलाप-शैली की छटा निखर उठी है। कलात्मकता और रसात्मकता उनके छोटे-छोटे वाक्यों में स्फुटित हुई है। भावना के प्रबल प्रवाह में इन छोटे-छोटे वाक्यों को पूर्ण विरामों से पृथक् नहीं किया गया है। वे शृंखला में गुंथते गये हैं और उनकी लम्बाई बड़ी दिखने लगी है। भावों की अधिकता के कारण एक ही शब्द या पद की अनेकों आवृत्तियां भिन्न-भिन्न विशेषणों के साथ हुई हैं। इन आवृत्तियों से भी वाक्य बहुत लम्बे-से हो गये हैं और उनकी भाषा में प्रवाह तथा शक्ति आ गई है। जैसे—

"हे अमृत बरसाने वाले पूर्णचन्द्र, हे संसार को शीतल करने वाले पूर्णचन्द्र, हे कृष्ण—आकाश को उज्ज्वल करने वाले पूर्णचन्द्र, हे रत्नाकर को आनन्दोन्मत्त करने वाले पूर्णचन्द्र, हे दिन भर के व्यथित कमलों को विश्राम देनेवाले पूर्णचन्द्र, हे धरणी के कुमुद नेत्रों से देखे जानेवाले पूर्णचन्द्र, हे उपल को द्रवित करनेवाले पूर्णचन्द्र, हे मल्लिका को हंसानेवाले पूर्णचन्द्र, हे नलिनी से मकरन्दार्घ्य पानेवाले पूर्णचन्द्र, हे प्राची के शिरोरत्न पूर्णचन्द्र, हे पृथ्वी को अपने करों से लपटानेवाले पूर्णचन्द्र, हे चन्द्रिका का वितानताननेवाले पूर्णचन्द्र, हे शृंगार चुगने पर भी चकोर को जीवित रखनेवाले पूर्णचन्द्र, तुम अमृत-वर्षा से मेरे मानस को भर दो और अपनी छाया द्वारा निरन्तर उसमें खेला करो।

मैं यही चाहता हूं।"[2]

"बेटा, मेरे बुढ़ापे का सहारा, मेरे हृदय के टुकड़े, मेरे जर्जर मन की छड़ी, मेरी सर्वोत्तम रचना मेरे जीवन, मेरे सर्वस्व, मेरे इस संसार में फंसे रहने के एक मात्र कारण, मेरी ममता के एक मात्र स्थल, मुझे संसार भर में सर्वत्र दीखने वाले, यह गृहस्थी बटोरने के मेरे एक मात्र निमित्त, धर्माधर्म करके संसार को ठगकर कोष भरने के मेरे एक मात्र हेतु, मेरे बालगोपाल, मेरे हृदय की शान्ति, मेरे धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्ति, हां मेरी आत्मा—तेरे बिना यह जीवन कैसे रह सकता है।"[3]

वर्णनात्मक शैली में ही नहीं, सम्भाषण शैली में भी राय साहब ने आभ्यान्तरिक अनुभूति की गहनता प्रस्तुत की है। इसमें भी भावातिरेक के कारण शब्दों की आवृत्ति हुई है। जैसे—

"**अर्जुन**—आः सच्चा स्वर्ग वहां है, जहां जीवन अपने पाप से शुद्ध होते हैं। तुम्हारा स्वर्ग ? तुम्हारा स्वर्ग तो झूठा है। इसमें पशुता के भी दोष हैं और मनुष्यता के भी; किन्तु गुण एक का भी नहीं। यहां की रीति ही निराली है। यहां नित्य वसन्त

---

१. छाया पथ : पृ० ५७-५८।

२. साधना : (पूर्णचन्द्र) : पृ० १००।

३. प्रवाल : पृ० १६।

है, सदा रूप है, सर्वदा यौवन है, अनुदित बहार है। यह वस्तुओं की प्राकृतिक स्थिति नहीं। यह एक विकृति मात्र, माया-मात्र, प्रवंचनामात्र है। यहां तुम नित्य तरुणी हो, तुम्हारी वासना नित्य नई है, क्योंकि वह स्वयं अपना उद्देश्य और आप अपनी पूर्ति है। उसका और कोई फल नहीं। तुम्हारी दशा ठीक किसी यन्त्र के उस चक्के जैसी है जो यन्त्र के सब भागों को सम्बद्ध करनेवाले सूत्र से अलग होकर, बिना कोई कार्य साधन किये, निरुद्देश्य चक्कर खाया करता है। तुम लोग ठीक उस बादल की तरह हो, जिसमें पानी की एक बूंद भी नहीं और वह व्यर्थ अपनी तड़क-भड़क दिखलाता हुआ सारे आकाश में इधर से उधर दौड़ा-दौड़ा फिरता है। तुम लोग किसी ग्रह पिण्ड के उस अंश की तरह हो, जो टूटकर निरर्थ एक नूतन परिधि में चक्कर काटा करता है और ग्रहगण में उसका पद व उद्देश्य नहीं रहता। इस विकृति को न मैं समझ सकता हूं, न इससे मेरी सहानुभूति हो सकती है।"[1]

राय साहब की काव्यात्मक भाषा-शैली की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय उनके शब्द-चयन को भी है। नपे-तुले सरल तथा माधुर्यपूर्ण शब्दों को चुन-चुनकर कलात्मक ढंग से संजोया गया है। संस्कृत तथा तत्सम शब्दों की ओर झुकाव होने के कारण भाषा में स्वाभाविक रूप से कोमल-कान्त शब्दों का बाहुल्य है। भावाभिव्यंजन में अलंकृत शैली की अनूठी छटा है, जो मूर्त्त-सौंदर्य का प्रतीक है। उन्होंने फिर भी सामासिक शब्दों तथा दुरूह शब्दों को अपनी भाषा से दूर रखा है। यही कारण है कि उनकी भाषा शान्त, स्निग्ध, प्रवाहमयी प्रसाद गुण सम्पन्न है। उसमें स्वर्गीय माधुर्य की विभूति के दिग्दर्शन कराने की क्षमता है।

चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६० ई०)

सिकन्दराबाद जिला बुलन्दशहर (उ० प्र०) के निवासी आचार्य चतुरसेन शास्त्री के व्यक्तित्व की विभा उपन्यासकार, कहानी-लेखक तथा गद्य-काव्यकार के रूप में प्रकट हुई है। इन्होंने उर्दू-फारसी का भी गहन अध्ययन किया है।

रचनाएं—गद्य-काव्य—'अन्तस्थल' (१९२१)।

वैयक्तिकता की गहरी छाप लेकर तथा हृदय में प्रगाढ़ आत्मीयता को संजोकर चतुरसेनजी की शैली में भाषा का व्यावहारिक रूप उपलब्ध होता है। उसमें सरलता है और आकर्षण भी, आत्मीयता है और माधुर्य भी। उनकी रचनाओं से पाठक कुछ ही समय में लेखक की सहृदयता और अपनत्व का आभास पा लेता है। कृत्रिमता तथा प्रदर्शन की तनिक भी लालसा न होने के कारण उनकी भाषा में सप्रयास कोई बनावट, सजावट अथवा अलंकार-योजना तथा वाक्य-विन्यास परिवर्तन नहीं मिलता। उन्होंने सरलता स्वाभाविकता और माधुर्य के लिए कहीं-कहीं शब्दों के रूपों के बिगड़ने की भी चिन्ता नहीं की है। साथ ही प्रान्तीय शब्दों और प्रयोगों को भी विपुलता से स्थान दिया है। जैसे तिस पर, तिस पीछे, भोरे, लच्छन, भींचे इत्यादि। तथा—

१. संलाप : (उर्वशी और अर्जुन) : पृ० ५३-५४।

"जिन्होंने तुम्हारा यौवन देखा है वे कहते हैं कि जब तुम अगाध समुद्र के फेनों की उज्ज्वल करधनी पहिनकर खड़े होते थे तो संसार की जातियां तुम्हारे बांकपन पर लोट-पोट हो जाती थीं।

यह बात सच मालूम होती है। ग्रीष्म की संध्या को नैनीताल में, शरद की पूर्णिमा को हरिद्वार की गंगा में, बसन्त के प्रभात को कृष्ण की बिहार भूमि मथुरा में, वर्षा की दोपहरी को अजमेर में मैं तुम्हारी छटा को देख चुका हूं। मुग्ध हो चुका हूं, मर मर गया हूं, जी जी गया हूं। वह मनोहरता आंखों में बस रही है, जन्म भर बसी रहेगी।

यह तो तुम्हारे बुढ़ापे की छटा का हाल है, यह तो तुम्हारा लुटा हुआ यौवन है, घुली हुई लुनाई है, बीता हुआ जमाना है। फिर तुम्हारी जवानी के सौंदर्य की जो प्रसंशा की जाय थोड़ी है। ऐ मेरे बूढ़े स्वदेश ! अब भी कोटि कोटि प्रवासी तुम्हारे सौंदर्य के स्मशान की झांकी करने आया करते हैं।"[1]

शास्त्रीजी की भावात्मक शैली में जल की शान्त स्निग्ध धारा की नहीं, निर्झर की गति और शक्ति है। हृदय की एकान्त रसात्मकता नहीं, मस्तिष्क की तर्कना शक्ति का भी योग है। उनका यह मस्तिष्क इतना सजग और सचेष्ट रहता है कि कभी-कभी प्रत्येक भाव के साथ 'पर' 'परन्तु' लगाता जाता है। इस प्रकार से भावात्मक शैली में नाटकीय तत्त्व का भी समावेश आ गया है। इससे शैली की तरलता में भी कहीं-कहीं व्यवधान उत्पन्न हो गया है।

शास्त्रीजी के वाक्य राय कृष्णदासजी के वाक्यों की अपेक्षा बहुत छोटे तथा सरल हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में छोटी-छोटी उक्तियां या अलंकार-योजना बहुत फबती हैं। विराम-चिह्नों का प्रयोग भी उन्होंने अधिकता से किया है, इससे भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता बढ़ गई है। पुनरुक्तियों ने भी इनकी भाषा को गति तथा शक्ति प्रदान की है। जैसे—

"किसी को मुंह नहीं दिखाता हूं, पर लज्जा फिर भी पीछा नहीं छोड़ती। छिपकर रहता हूं पर मन में शान्ति नहीं है। दिन रात भूलने की चेष्टा करने पर भी स्मृति की गम्भीर रेखा मिटती नहीं है। हृत्पटल पर उसका घाव हो गया है। उधर ध्यान पहुंचते ही वह घाव कसक उठता है। मन की ज्वाला सांस के साथ भड़क उठती है। आंसुओं की अविरल धारा सूख गई—पर उसे न बुझा सकी। सांस की धोंकनी से वह भड़कती है। चाह मर गई और आशा की जड़ को कीड़ा खा गया। रक्त ठण्डा पड़ गया, जीवन का पता नहीं—क्या इरादा रखता है। भविष्य की रात घोर अंधेरी है। उसमें एक तारा भी नज़र नहीं आता। वर्तमान अत्यन्त क्षणिक है—पर उसके रोम रोम में विकलता है। मन जैसे सूख गया है और मैं जैसे खो गया हूं।

उस दिन के बाद ही सोचा था—बस अब संभल गया। अब तक ठगा गया हूं, अब न ठगाया जाऊंगा। काम का त्याग कर दूंगा। वासना को धक्का दे डालूंगा—

---

१. अन्तस्तल : (बनाम स्वदेश) : पृ० ६-७।

चाह का गला घोंट दूंगा—हृदय को फांसी लगा लूंगा—और चुपचाप निश्चेष्ट भाव से मृत्यु के दिन की बाट देखूंगा।"[१]

वियोगी हरि (१८९८ ई०-वर्तमान)

अपनी आध्यात्म्य गुरु, महारानी कमलकुमारी, छत्रपुर के स्वर्गवासी होने पर उनके वियोग में हुए 'वियोगी' पं० हरिप्रसाद द्विवेदी का जन्म छतरपुर में, चैत्र शुक्ल रामनवमी को संवत् १९५३ में हुआ था। इनके पिता पं० बलदेवप्रसाद द्विवेदी का देहावसान, इनकी छः माह की अति अल्पायु में ही हो गया था। अतः, इनका लालन-पालन और शिक्षण इनके नाना पं० अच्छेलाल तिवारी ने किया।

हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा का प्रारम्भ उन्होंने घर पर ही किया। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' और श्रीमद्भागवत के प्रति उनकी रुचि बाल्यकाल से ही उत्पन्न हो गई थी। लगभग ७ वर्ष की ही अवस्था में इन्होंने एक कुंडलिया छन्द की रचना कर ली। यह उनकी विलक्षण प्रतिभा और संस्कार का ज्वलंत प्रमाण है। अंग्रेजी के अध्ययन के लिए इन्हें छत्रपुर के हाई स्कूल में प्रविष्ट कराया और १९१५ में वहां से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। एकान्तप्रियता और चिन्तन उनकी छात्रावस्था से ही स्वभाव के अंग बन चुके थे। शाला अध्ययन के पश्चात् दर्शन-शास्त्र की ओर भी रुचि बढ़ी। बाबू गुलाबरायजी का भी इस क्षेत्र में उनका साथ हो गया। अद्वैतवाद की ओर झुकाव हुआ और उन पर छत्रपुर की महारानी कमल कुमारीजी का विशेष प्रभाव पड़ा। उनकी संगति से आप अद्वैतवादी से द्वैतवादी हो गये।"[२]

लगभग १८ वर्ष की उम्र में इन्होंने प्रेम-धर्म पर प्रेम-शतक, प्रेम-पथिक और प्रेमांजलि ये तीन पुस्तकें लिखीं। उन्हीं दिनों में आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा भी की। महारानीजी के साथ उन्होंने सम्पूर्ण भारत के तीर्थों की यात्राएं कीं। प्रयाग में टंडनजी के सम्पर्क में आने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन 'पत्रिका' का तथा संक्षिप्त सूर-सागर का सम्पादन किया। उनका प्रथम गद्य-काव्य 'तरंगिणी' भी सन् १९२० में वहीं से प्रकाशित हुआ महारानी की मृत्यु पर उनकी आज्ञानुसार त्रिवेणी संगम पर ये संन्यासी हरि तीर्थ हो गये; परन्तु मातृवत् महारानी साहिबा के वियोग में वे 'वियोगी' ही बने। महात्मा गांधी के चर्खा और असहयोग से प्रभावित होकर इनमें राष्ट्र-भक्ति और वीर-पूजा की भावना तीव्र हुई। 'हरिजन-सेवक' के सम्पादक भी रहे। वेदान्त, विरह, प्रेम और भक्ति के रस में आकण्ठ डूबकर उन्होंने जो रचनाएं की हैं, उनमें इन तत्त्वों का स्फुरण हुआ है। रचनाओं में व्रज-भाषा के प्रयोग ने विशेष माधुर्य भर दिया है। संस्कृत और बंगला साहित्य का भी उन्हें अच्छा ज्ञान है।

वियोगीजी ने गद्य और पद्य दोनों में ही लगभग पचास रचनाएं की हैं। मूलतः और मुख्यतः वे कवि हैं। यहां उनकी द्विवेदी-युग की प्रमुख गद्य-रचनाओं का

१. अन्तस्तल : (अनुताप) : पृ० २० ।
२. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी के निर्माता (भाग २) : पृ० १०४

ही नामोल्लेख आवश्यक है।

'तरंगिणनी' १९२०, 'अन्तर्नाद' १९२६, 'पगली' १९२८, 'भावना' १९२९, 'प्रार्थना' १९२९।

प्रेम-पथ के अनन्य पथिक एवं ब्रज-भाषा के सिद्ध कवि वियोगीजी की भाषा-शैली में स्वाभाविक काव्य छटा मिलती है। उनकी भाव-भंगी, स्वर-लहरी, शब्द-संगठन आदि सभी में काव्यात्मक घनी अनुभूति रहती है। उनका धर्म भी प्रेम है, कर्म भी प्रेम तथा आराध्य देवता ब्रजनागर भी प्रेममय है। इसलिए उनमें भावात्मक एवं रसात्मक तन्मयता मिलती है और यही उनकी गद्य-काव्यमयी शैली की सफलता का रहस्य है। वे अपनी भाव-सरिता में अवगाहन कर, लेखनी का संचालन करते हैं, इसलिए उनके भाव-द्योतन में कहीं शैथिल्य अथवा कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती। यथा—

"क्या कभी वह मुसकराहट भूलेगी ? ज्योंही वह मुसकराया, समस्त प्रकृति पुलकित हो उठी। निस्तब्ध आकाश उद्वेलित हो गया। धीर समीर में प्रकम्प होने लगा। कुसुम की कोमल कलियों पर रोमांच हो आया। लताएं थिरकने लगीं। पाटल की पखड़ियां पसीज उठीं। कमल-कोश से रस छलकने लगा। भौंरे अस्फुट ध्वनि से गूंजने लगे। पक्षी इधर से उधर उड़-उड़कर चहकने लगे। अधिक क्या, माधुर्य मुकुलित हो उठा, विकास विकसित हो गया और लावण्य बार-बार उस मुसकराहट के कोमल स्पर्श को चूमने लगा।

कितने नेत्रों ने उस सुधा से अपनी प्यास बुझायी ? कितने हृदय पटलों पर वह इन्द्र धनुष की सी सस्मित रेखा खन्चित हो गयी। कितनों के मन-मृग उस स्मित-पाश में उलझ कर फंस गये ! ओह ! क्या से क्या हो गया ! उस मुसकराहट में यदि बांधने की शक्ति थी, तो साथ ही मुक्त करने की भी युक्ति थी। उसकी ओर देख-देखकर विष और अमृत ने कई बार प्रेमालिंगन किया था। वहां मृत्यु और जीवन का भी प्रत्यक्ष समन्वय देखने को मिला था।"[1]

रसात्मकता एवं भावापन्नता के घनीभूत हो जाने पर एकान्त तन्मयता की स्थिति उपस्थित हो जाती है। ऐसे क्षणों में लेखक अपने प्रियतम का आत्म-साक्षात्कार करते हुए उससे वार्तालाप करने लगता है। कभी वह उससे प्रश्न करता है और कभी याचना। कभी उसे सम्बोधित करता है और कभी उपालम्भ देता है। श्रेय और प्रेय के एकाकार हो जाने से, साधारण पाठकों के लिए एकान्त प्रलाप ज्ञात होता है। अतः, उनकी वही भावात्मक शैली प्रलाप शैली हो जाती है। जैसे—

"अब मैं तुझे कहां और कैसे खोजूं ? प्राणेश्वर, तू प्रेम का प्यासा और भाव का भूखा सुना गया है। पर, यहां तो दोनों का ही आत्यन्तिक अभाव है। तेरे रूप में निःसन्देह अनन्त और असीम प्रेम ओतप्रोत है। थोड़ा सा वही प्रेम दे दे, मेरे प्रियतम ! इसी प्रकार तेरे दयार्द्र हृदय से भावना का एक सरस निर्झर झरता है। अन्तर्यामिन् दो-चार सुधा-सीकर उस निर्झर के भी चाहता हूं। इस प्रेम-प्रसाद तथा भाव-भिक्षा

१. अन्तर्नाद : (मुसकराहट) : पृ० २७।

से ही मैं कल्पना और सत्य का चिरन्तर अन्तर अथवा उसका सामंजस्य अनुभव कर सकूंगा। और निश्चय है, कि तभी तू अपने सौन्दर्य का मधु-पान कराने के लिए मुझे एक मुग्ध मधुप के रूप में पायेगा।"[1]

वियोगीजी की भाषा गद्य-काव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। जहां पर राय कृष्णदासजी की भाषा का झुकाव कोमलकान्त पदावलियों की ओर है, वहां इनका रुझान ब्रजभाषा के रसप्लावित शब्दों में है। जैसे लली, बावली, लगन, संशै आदि उनकी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रायः अभाव है। छोटे-छोटे वाक्यों में माधुर्य गुणयुक्त पदावलियों का चयन और उनका स्वाभाविक भाव-प्रवणतापूर्ण विन्यास अत्यधिक हृदयाकर्षक होता है। उनके वाक्यों में लयात्मक तारतम्य मिलता है। उपमा, रूपक तथा अनुप्रास अलंकारों ने उनकी भाषा के सौष्ठव में मणि-कांचन योग प्रदान किया है। यथा—

"अपनी लाड़ली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन मानिक मानसी मंजूषा में बन्द करके रख छोड़ा था। किसे उसका पता था ? पर, तुम्हारी स्मृति ठहरी घट-घट-वासिनी, उसे मेरे छिपाव का पता चल ही गया। बस, फिर उसे चुराते देर न लगी। उस मानिक को मैं तुम्हारी अंगूठी में जड़वाना चाहता था। सो, वह भी साध पूरी न हुई। तुम्हारी प्यारी स्मृति उसे भी ले भागी। पता नहीं, उसने उस मानिक का फिर क्या किया। कहां तक उसके ऊधम चारे की शिकायत करूं ?"[2]

वियोगीजी की भाव-शैली की अन्य उल्लेखनीय विशेषता, उसकी चित्रात्मकता है। लेखक और पाठक दोनों ही भाव-विभोर होकर उनके भाव-चित्रों को देखने परखने में मस्त हो जाते हैं। निःसन्देह ये भाव-चित्र दूसरे शब्द-चित्रों से भिन्न हैं। इनमें ध्वनिगत संकेत भी साथ में रहता है। जैसे—

"खड़े-खड़े आधी रात बीत गई। चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा छा रहा है। ऊपर काली घन-घटा है नीचे कालिन्दी का श्याम प्रवाह ! कहीं कुछ सूझता तक नहीं। तारे भी नहीं झिलमिलाते। बड़ा विकट सन्नाटा है। रात सायं सायं बोल रही है। कैसा भायं भायं लगता है। रह रह कर यमुना की विक्षिप्त लहरें हृदय को और भी हिला देती हैं। बड़ा भयानक दृश्य है।"[3]

भावात्मक एवं काव्यात्मक शैली, वियोगीजी की स्वाभाविक शैली है। गद्य-काव्य में ही नहीं, अन्य निबन्धों में भी इसकी छटा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती है। उन्होंने उसे काव्योचित बनाने के लिए सोद्देश्य चेष्टा नहीं की। उसमें माधुर्य के साथ प्रसाद गुण का साम्राज्य है। प्रसादजी के गद्य-काव्य की-सी आलंकारिकता भी उनकी शैली में नहीं है।

१. भावना : (खोज) : पृ० ३३।
२. भावना : (उपालम्भ) : पृ० २५।
३. अन्तर्नाद : (कालिन्दीकूल) : पृ० ७

अध्याय : १०

पत्र-पत्रिकाओं में गद्य-शैलियां

पत्र-पत्रिका और शैलियां

राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना-संवाहक शिराओं के रूप में, आधुनिक युग में समाचार-पत्र तथा पत्रिकाओं का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका कार्य-क्षेत्र व्यापक एवं उद्देश्य बहुमुखी हैं। जीवन और जगत के सभी विषयों की चर्चा इनमें की जाती है। अंग्रेजी का 'NEWS' शब्द इनके क्षेत्र का सुन्दर व्यंजन है, जिसके चारों अक्षर चारों दिशाओं से प्राप्त सभी बातों को अपने क्षेत्र में समाहित करते हैं। इसी प्रकार से पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक आदि सार्वजनिक समस्याओं, विशिष्ट घटनाओं, गति-विधियों इत्यादि को जन-साधारण को सूचित करना और उन पर जनता की प्रतिक्रियाएं एवं विचारों का ज्ञान प्राप्त करना रहता है। इनके अतिरिक्त मनोरंजन, ज्ञानवर्द्धन, विज्ञापन, सुधार, प्रचार आदि भी पत्र-पत्रिकाओं के उद्देश्य रहते हैं। यथार्थतः यह जनता-जनार्दन का सच्चा साहित्य तथा प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है। वैसे कहानी उपन्यास और नाटक भी जन-साहित्य है; परन्तु अन्य सभी की अपेक्षा समाचार-पत्र विशेषतः और पत्रिकाएं सामान्यतः अधिक जन-साहित्य हैं। अतएव इसी के अनुकूल इनकी भाषा-शैली का व्यवहार अपेक्षित रहता है। सभी पत्र-पत्रिकाएं एक ही उद्देश्य, वर्ग तथा स्तर के लिए नहीं होती हैं, इसलिए इन आधारों पर शैली में परिवर्तन किया जा सकता है। फिर भी मुख्यतः पत्र-पत्रिकाओं की भाषा-शैली सरल, सुबोध, प्रभावशील, मनोरंजक तथा व्यंग्यात्मक रहती है।

प्रकाशन-अवधि के आधार पर पत्र-पत्रिकाओं के दैनिक, अर्द्ध-साप्ताहिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्ध-वार्षिक, वार्षिक आदि भेद किये जा सकते हैं। इसी प्रकार से उद्देश्य के आधार पर भी इनके वर्ग हो सकते हैं। जैसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नारी-सम्बन्धी, बालोपयोगी, व्यावसायिक, व्यापारिक इत्यादि। प्रकाशन-अवधि तथा उद्देश्य की वैसे परस्पर कोई मैत्री नहीं रहती, फिर भी समाचार एवं राजनीतिक पत्र बहुधा दैनिक, साप्ताहिक तथा पाक्षिक होते हैं और साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक इत्यादि मासिक या अन्य सभी प्रकार के होते हैं। पत्रों की भाषा पर इन दोनों ही आधारों का प्रभाव पड़ता है। जैसे दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों की भाषा मासिक, त्रैमासिक आदि पत्रों की अपेक्षा अधिक सरल, सुबोध, चटपटी एवं व्यावहारिक रहती है। इनमें सामान्य जन-समुदाय को लक्ष्य करके, पाठकों की

रुचि और योग्यता का ध्यान रखकर विषय-वैचित्र्य के अतिरिक्त मनोरंजन और नवीनता का समावेश किया जाता है। इसी प्रकार से जहां साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की भाषा-शैली प्रौढ़, परिष्कृत, प्रांजल तथा काव्यात्मक रहती है, वैज्ञानिक, व्यावसायिक आदि विषयों में भाषा ठेठ, मिश्रित, सरल तथा व्यावहारिक रहती है और बाल-पत्रिकाओं की विशेष सरल, सुबोध, चटपटी एवं मनोरंजक रहती है। तात्पर्य यह है कि, सामयिक पत्र लोक-रुचि का अनुसरण भी करते हैं और निर्माण भी। इस महत् उत्तरदायित्व के निर्वाह में पत्र-पत्रिकाओं से, अनेकों शैलियां पुष्ट होती हैं। "किसी भाषा के साहित्य-संसार से पत्र-पत्रिकाओं का वही सम्बन्ध है जो विषय-सूची का किसी पुस्तक से हो सकता है। अर्थात् जैसे किसी पुस्तक की विषय-सूची पढ़ने से उस पुस्तक के विषय का ज्ञान हो सकता है, उसी तरह किसी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं को देखकर उसकी समृद्धि और दरिद्रता का ज्ञान हो सकता है।"[1]

निःसन्देह, साहित्य की गद्य-शैलियों के स्थापन एवं विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बहुत हाथ रहता है। "हिन्दी की गद्य-शैलियों के विकास में तो समाचार-पत्रों और मासिक-पत्रों ने विशेष रूप से सहायता दी है।"[2] इन पत्रों में वैसे तो बहुत-सी शैलियों के उद्भव तथा विकास के अवसर रहते हैं; परन्तु व्यंजक, हृदय-स्पर्शी तथा अनूठी भाषा-शैली इनमें अधिक लोकप्रिय होती है। पत्रकार लेखनी की कमाई खानेवालों में प्रमुख हैं और उसकी सफलता का रहस्य इसी में है कि वह अपने हृदयगत् भावों तथा विचारों को सरलता, पूर्णता तथा तीव्रता के साथ साधारण पाठकों को भी हृदयंगम करा दे। इसके लिए वह अपनी वस्तु को भावपूर्ण, आकर्षक, सूक्ष्म तथा व्यंजक मोटे-बड़े अक्षरों में देकर शीघ्रतम प्रेषण के लिए उत्सुक रहता है। चुभते हुए महत्त्वपूर्ण शब्दों को प्रथम पंक्ति में ऊपर देकर, मूलतत्त्व को चुनकर उसके ही नीचे दे देता है, ताकि उसका प्राथमिक उद्देश्य आकर्षण और अन्तिम उद्देश्य प्रभाव को प्राप्त किया जा सके। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह अपने शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास दोनों में ही विलक्षणता और सावधानी रखता है। वह अपने दायित्व एवं स्थिति को ध्यान में रखकर प्रत्येक शब्द को तौल-तौल कर रखता है और उनके क्रम तथा विन्यास को सजाता है। उसकी एक भी निराधार, अस्फुट, अस्पष्ट, असत्य और गलत बात या शब्द के कारण उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है[3] इससे वह प्रत्येक शब्द पर पूर्ण विचार करता है। पत्रकार अथवा सम्पादक स्वभाव से समाज और सरकार का आलोचक रहता है, इसलिए भी सजगता तथा सतर्कता से शब्द-प्रयोग अपेक्षित है। मुख्यत सम्पादकीय लेखों में पत्र की भाषा-शैली का पूर्णाभास रहता है। उनमें भाषा प्रवाहशील, सुगठित वाक्य विन्यास, ओजपूर्ण शैली तथा तीव्रता से प्रभावित कर सकनेवाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[4]

१. डा० राजेन्द्रसिंह : सभापति द्वितीय प्रान्तीय हि० सा० सम्मे० : ७ अप्रैल, १९१७।
२. डॉ० रामरतन भटनागर : हिन्दी-गद्य : पृ० १५५।
३. पं० कमलापति त्रिपाठी : पत्र और पत्रकार : पृ० ३१३।
४. सीताराम चतुर्वेदी : शैली और कौशल : पृ० ३९८।

उच्च स्तर के पत्र-पत्रिकाओं की भाषा-शैली ही नहीं, एक-एक शब्द की प्रवृत्ति एवं प्रकृति में एक-रूपता रहती है। पत्रों की विशेषता उनकी वैयक्तिकता में है। इसी से पत्रों में व्यक्तित्व तथा शैली का स्फुरण अधिक स्पष्ट होता है। विदेशों में अंग्रेजी आदि समृद्ध भाषाओं के प्रत्येक पत्र के सम्पादकीय विभाग में 'स्टाइल-बुक' रहती है, जिसमें शब्द-प्रयोग, वाक्य-विन्यास आदि के सम्बध में निर्देश रहते हैं। फलतः प्रत्येक पत्र की विशिष्ट शैली रहती है। कोई भी व्यक्ति लिखेगा उसी शैली में लिखेगा। हिन्दी के दैनिक पत्रों में 'आज' (वाराणसी) पत्र ने शब्दों की एकरूपता रखते हुए, उसका पालन किया है। फिर भी हिन्दी के बहुत से पत्रों में इस प्रकार की शैलीगत वैयक्तिकता का आलोच्य-युग में प्रायः अभाव था। अब शनैः-शनैः हिन्दी के पत्रों में वैयक्तिकता का विकास हो रहा है।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में शैली

आधुनिक साहित्य की निबन्ध, उपन्यास आदि गद्य-विधाओं की भांति, पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी हिन्दी पश्चिम की ऋणी है। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं का उद्‌भव बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल आदि भारतीय भाषाओं के पश्चात् हुआ और कलकत्ता से पं० जुगलकिशोर शुक्ल ने सन् १८२६ में हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदंत-मार्त्तण्ड' (साप्ताहिक) प्रकाशित किया। देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों ने पत्र-पत्रिकाओं के विकास में बहुत योग दिया। विभिन्न प्रचार और आन्दोलन वस्तुतः पत्र-पत्रिकाओं के पहियों पर चढ़कर ही जनता के समीप पहुंचे। "प्रारम्भ में अंग्रेजों को अपना काम चलाने के लिये जिस भांति कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमियों की जरूरत हुई थी, ठीक उसी तरह अपनी बातों का प्रचार करने और इस देश के समाचारों को जानने के लिये अखबारों की आवश्यकता हुई।"[१] इस प्रकार से भी समाज के अन्तः एवं बाह्य का चित्रण, प्रचार एवं प्रतिनिधित्व करने का दायित्व पत्रों पर ही था। सशक्त, निरंकुश तथा प्रचण्ड विदेशी शासन के विपरीत प्रेस एक्ट का भय रहते, केवल दो मार्ग पत्रकारों के समक्ष थे—प्रथम सरल मार्ग नत-मस्तक होकर शासन की 'हां' में 'हां' मिलाना था और दूसरा था कठोर आलोचना के साथ व्यंग्य-विनोद, हास्य आदि के द्वारा चटपटी भाषा में विदेशी कार्य और नीति का पर्दाफाश करना। सौभाग्य से तात्कालिक पत्रकारों और सम्पादकों में अधिकांश, बड़ी जीवट के कर्मठ एवं निर्भीक व्यक्तित्व थे। अतएव दूसरे मार्ग का अनुगमन कर उन्होंने प्रचारात्मक और व्यंग्यात्मक साहित्य पर बल दिया। विश्लेषणात्मक तथा विवेचनात्मक शैलियां उस समय जन-स्तर से दूर थीं।[२] इसके विपरीत व्यंग्यात्मक, मनोरंजक, पचमेल भाषा-शैली जन-रुचि के अनुकूल रहती है। जैसे 'भारत-मित्र' ने भारत से विदेश चावल भेजने की सरकारी नीति की टिप्पणी का शीर्षक 'अपने को

१. विष्णुदत्त शुक्ल : पत्रकार-कला : पृ० २० ।
२. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग : पृ० ४१

ठांव नहीं पांच वीर संग चले'। 'मतवाला' के शीर्षक और टिप्पणियां तो और भी विचित्र रहते थे जैसे—अजब ओंधी तुम्हारी खोपड़ी, पतलून ढीली हो गई, होश आयेगा उन्हें मौत की बेहोशी में' इत्यादि। जनता के ये ही आकर्षण थे। 'भारत-मित्र' की पत्र-कारिता की मार्मिकता और शैली की प्रखरता यहां द्रष्टव्य है। यथा—

"अंग्रेजों ने काबुल के ऊंट को बलवान करने के लिए कई बरस से चारा दिया पर जब उस पर बोझ लादने का विचार किया तब वह दुलत्ती छांटने लगा। उस पर अंग्रेजों ने उसकी नकेल पकड़ के अपनी तरफ जब जोर से खींचा तब तो काटने दौड़ा। तिस पर अंग्रेजों ने लाचार होके चाबुक मारने का बन्दोबस्त किया, किसलिए कि ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी। इसलिये अब सीमा पर अंग्रेज सेना बादल के समान चारों ओर से इकट्ठी हो रही है और आफीसर लोग बिजली के समान कड़क रहे हैं।"[1]

नि:सन्देह, इस प्रकार की भाषा-शैली जन-रुचि-रमण में सर्वथा सक्षम है। यही कारण है कि हिन्दी के सहस्रों पाठकों की संख्या वृद्धि, प्रौढ़, व्यंजक तथा सबल भाषा का निर्माण, पत्रों के द्वारा हुआ। उत्तर-भारतेन्दु-युग में लगभग ३५० हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं, जिनमें अधिकांश मासिक और साप्ताहिक थीं। सन् १८ ५ में त्रैमासिक 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (काशी) का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। अन्य उल्लेखनीय पत्रिकाओं में 'ब्राह्मण', 'आनन्द कादम्बिनी', 'देश हितैषी', 'देव नागरी प्रचारक', 'सार-सुधा-निधि', 'भारत-मित्र', 'हिंदी-प्रदीप', 'उचित वक्ता', 'भारत-जीवन', 'पीयूष-प्रवाह' प्रमुख हैं। इन पत्रों के माध्यम से हिन्दी की गद्य-शैलियों का विकास-पथ प्रशस्त हुआ। साथ ही इस युग के पत्र-सम्पादकों के महाप्राण एवं निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व के द्वारा हिन्दी की अन्त:शक्ति में वृद्धि हुई। आज महान् भारत की राष्ट्र-भाषा के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होकर भी उसके पास ऐसी महान् विभू-तियां पत्रकारों में क्विचित ही मिलती हैं, जैसी भारतेन्दु-युग तथा उत्तर-भारतेन्दु-युग में थीं।

सन् १९०० में 'सरस्वती' के प्रकाशन से पत्र-पत्रिकाओं के जगत में एक तेज-पुंज नक्षत्र का उदय हुआ, जिसने अपने परवर्ती युग की पत्रिकाओं को प्रभावित किया और नया मार्ग-दर्शन किया। हिन्दी में आधुनिक पत्रकारिता का प्रार्दुभाव भी इसी ने किया। वस्तुत: द्विवेदी-युग राष्ट्रीय-चेतना और संस्कार का युग था। इस कार्य में पत्र-पत्रिकाओं ने पर्याप्त हाथ बंटाया। द्विवेदीजी ने मुख्यत: 'सरस्वती' के ही माध्यम से युग-नेतृत्व किया। युग के कई प्रमुख लेखक एवं शैलीकार पत्र-सम्पादक थे। प्रेमचन्द, प्रसाद, गणेशशंकर विद्यार्थी, राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय इत्यादि इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य पत्रकारिता के अनुकरण में इन पत्र-सम्पादक मनीषियों ने विविधता एवं बहुज्ञता की ओर प्रचलन किया। इससे विषय-वस्तु-अनुकूल शैलियों का निर्वाह करने में नई शैलियां सामने आईं। इतना ही नहीं, भाषा

१. उद्धृत—डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग : पृ० ३६।

की अव्यवस्था, अस्थिरता एवं अनुशासनहीनता के विरुद्ध कई साहित्यिक संघर्ष इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं के प्रांगण में हुए। हिन्दी के तात्कालिक दिग्गज भटों ने अपने विचारों का जो आदान-प्रदान किया, उससे हिन्दी-भाषी जनता एवं नये लेखकों का ज्ञान-संवर्धन हुआ और कालान्तर में हिन्दी भाषा तथा गद्य-शैलियों का राजमार्ग प्रशस्त हुआ। इसका श्रेय बहुलांश में पत्र-पत्रिकाओं को प्राप्त है; क्योंकि युग की प्रायः सभी रचनाएं प्रथमतः इन्हीं में प्रकाशित हुई हैं।

'सरस्वती' के अतिरिक्त द्वितीय उत्थान में युग की प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं 'उपन्यास', 'समालोचक', 'भारतेन्दु', 'अभ्युदय', 'गृह लक्ष्मी', 'इंदु', 'कर्मयोगी', 'सम्मेलन पत्रिका', 'मनोरंजन', 'प्रताप', 'कर्मवीर', 'स्वराज्य', 'सैनिक', 'कलकत्ता-समाचार' 'मर्यादा', 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुईं।

द्विवेदी-युग के तृतीय दशक के प्रारम्भ में, हिन्दी-पत्रकारिता में, महात्मा गांधी के राजनीति-प्रवेश के पश्चात् एक नई चेतना विकीर्ण हुई और नया मोड़ आया। प्रायः सभी पत्रों का ध्यान राष्ट्रीय भावना प्रज्ज्वलित करने में केन्द्रित हुआ। राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक विषयों पर भी टिप्पणियां करते हुए जनता की राष्ट्रीय-चेतना को उकसाने का प्रयत्न किया जाने लगा। श्रीराम नवमी, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, दीपावली, होली आदि के पर्वों पर 'हिन्दू-पंच', 'मतवाला' आदि की सम्पादकीय टिप्पणियां इनमें विशेष उल्लेखनीय रहती थीं। ओज गुण-सम्पन्न, मार्मिक व्यंग्यात्मक शैली इनमें मुखरित हुई। रामवृक्ष शर्मा बैनीपुरी के 'युवक' मासिक पत्र १९२८ में इस शैली का पूर्ण परिपाक हुआ।

यहां पर यह भी स्मरणीय है कि गांधीजी के नेतृत्व में देश की लोकप्रिय संस्था कांग्रेस के द्वारा हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकृत कर लेने के पश्चात् हिन्दी में अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के विद्वानों का विशेष योग प्राप्त हुआ। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, रूपनारायण पाण्डे, रामरखसिंह सहगल प्रभृति महान् प्रतिभाएं हिन्दी-पत्रकारिता जगत में आविर्भूत हुईं। 'प्रभा', 'आज', 'स्वदेश', 'माधुरी', 'शारदा', 'कर्मवीर', 'मनोरमा', 'चांद', 'समालोचक', 'हिन्दू-पंच', 'सुधा', 'मतवाला', 'विशाल भारत', 'त्याग-भूमि', 'युवक', 'हंस' आदि पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। बाल-साहित्य में 'बाल-सखा' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन पत्र-पत्रिकाओं ने कम समय में बहुत कार्य किया। और बहुत बड़े क्षेत्र को प्रभावित किया। इनके द्वारा गद्य-शैलियां पुष्ट एवं प्रौढ़ भी हुईं, साथ ही नवीन शैलियों की अवतारणा के लिए अनुकूल पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत हुई।

युग की प्रमुख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शैलियां

आज (दैनिक : काशी)—बाबूराव विष्णु पराड़कर

अपनी भाषा-शैली की एक-रूपता का सफल निर्वाह करने में 'आज' हिन्दी का आज भी एक अग्रगण्य पत्र है। इसकी सम्पादकीय टिप्पणियों में सदैव अपने पाठकों के

प्रति आत्मीयता की भावना मिलती है। शैली की सरलता, सजीवता, सुबोधता एवं आकर्षण उसमें रहता है। जैसे कि चिट्ठी-पत्री व्यक्ति को सम्बोधित करके किसी गम्भीर और प्रौढ़ विषय की चर्चा करती हैं, उसी प्रकार 'आज' की सम्पादकीय टिप्पणियों में एक वक्ता की भाषण-कला की सप्राणता रहती है। उसमें सम्बोधन के साथ छोटे सरल वाक्यों में विषय की विवेचना, शिक्षकोचित समझाने का प्रयत्न और चेतावनी भी है। भाषा को शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत रखते हुए व्यावहारिक उर्दू-फारसी के शब्दों की उपेक्षा नहीं की है। दुरूह तथा भ्रामक शब्दों का प्राय: अभाव है। इसके अतिरिक्त भाषा में बल एवं स्पष्टता है। जैसे—

"पाठिकाएं जरा इन पंक्तियों को ध्यान से पढ़ें। जिन अजीब सुन्दर चूड़ियों को पहिनकर आप प्रसन्न होती हैं और अपने को सौभाग्यवती मानती हैं वे जर्मनी में तैयार होती हैं। आप अपने घरों के अन्दर बैठी हुई हैं। आपके शरीर पर बाहरी हवा की गन्ध तक नहीं लगी। पर आपके कान में जो बाली लटकी हुई है और आपके हाथों में जो चूड़ियां पड़ी रहती हैं उसके कारण आपका देश पराधीन है। आपको इसका ख्याल भी नहीं पर जर्मनों के हाथ में आप बिकी हुई हैं। इन चूड़ियों और बालियों से कोई लाभ भी नहीं है। उलटे इनके कारण कितनी अड़चन पड़ती है। ऐसी सुन्दरता मोल लेना जिससे अपने शरीर को कष्ट पहुंचे, उसका कोई उपयोग न हो और उलटे काम-काज करने में अड़चन हो, बुद्धिमत्ता नहीं जान पड़ती। इतना होते हुए भी हम आपके इस प्रिय वस्तु के छुड़ाने का कदापि प्रयत्न न करते पर जब हम यह सोचते हैं कि इस साधारण सी विलासिता की चीज के द्वारा देश का बहुत सा धन विदेश चला जाता है और जब हम यह देखते हैं कि देश के लाखों आदमी भूखों मर रहे हैं और लाखों आधा पेट खाकर रह जाते हैं, लाखों नंगे ही रहते हैं और लाखों को काफी कपड़ा पहिनने को नहीं मिलता तो हम भयंकर चिन्ता में पड़ जाते हैं। याद रखिये, यदि इसी प्रकार हम एक एक वस्तु का व्यापार विदेश चले जाने देंगे और विदेशी वस्तुओं पर मुग्ध रहा करेंगे तो जिन लोगों को आज दो वक्त खाना मिल भी जाता है और जिनके पास पहिनने को आज शरीर पर काफी वस्त्र हैं उनको भी यह सब मिलना कठिन हो जायगा।"[१]

उच्चस्तरीय पत्रों में जिस गम्भीर-सशक्त, प्रांजल एवं परिष्कृत भाषा-शैली की अपेक्षा की जाती है, 'आज' पत्र में वह सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। सम्पादक के परिवर्तन से पत्र की वैयक्तिकता में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। विषयौचित्य के कारण अवश्य ही विवेचनात्मक शैली के वाक्य लम्बे हो गये हैं, और एक शृंखला में विभिन्न समुच्चयबोधकों के द्वारा उन्हें जोड़ दिया गया है। इसमें स्पष्ट ही प्रौढ़ मस्तिष्क का भावावेश है, जिसमें भाषा का संतुलन बना रहा है। यद्यपि विराम-चिह्नों की भी कई स्थानों पर उपेक्षा हो गई है; परन्तु उससे भाषा में दुरूहता नहीं आ सकी है। फिर भी ऐसी भाषा सामान्यत: सुशिक्षित और प्रौढ़ मस्तिष्क के ही उपयुक्त अधिक है, अल्प शिक्षितों को उतनी नहीं। मुहावरे, उक्तियां या व्यंग्य-कटाक्ष का तो प्राय: अभाव

१. आज : सम्पादकीय—चूड़ी और बाली (सं० श्रीप्रकाश) : मिती सौर २० वैशाख सं० १९७९।

ही । जैसे—

"भारतीय व्यवस्थापक सभाओं की रचना ऐसी विचित्र तथा भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों की अवस्था ऐसी दयनीय है कि आजकल व्यवस्थापक सभाओं में सच्चा लोक-मत प्रगट होना असम्भव प्राय हो गया है। इस विचित्रता और दयनीयता का उल्लंघन करके जब कभी विशेष अवसरों पर, कभी सरकारी पक्ष के असावधान रहने और कभी उसके प्राणपन से विरोध करते रहने पर भी, उन सभाओं में लोकमत प्रगट हो ही जाता है तब सारे देश में आनन्द की एक लहर सी उठती है। वस्तुतः ऐसा होना न चाहिये। स्वभावतः वहां लोकमत ही प्रगट होता रहना चाहिये। पर देश की अवस्था ही कृत्रिम है अतएव उन सभाओं में प्रायः कृत्रिमता ही व्यक्त हुआ करती है। वहां पर भाव का इतना प्राबल्य है कि स्वभाव को सर उठाने का अवसर ही कम मिलता है। पर-राज्य में पर-भाव ही और स्वराज्य में ही स्व-भाव व्यक्त हुआ करता है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार इस देश की वर्तमान अप्राकृतिक अवस्था में पर-भाव ही व्यक्त हुआ करता है। यह कारण है कि जब जब व्यवस्थापक सभाएं, नौकरशाही के घोर विरोध करते रहने पर भी, राष्ट्रीय पक्ष का समर्थन करती हैं तब देशभक्तों को विशेष रूप से आनन्द होता है। जिसकी सम्भावना नहीं है ऐसा कोई प्रिय विषय जब सम्भव हो जाता है तब लोगों को जैसा आनन्द हुआ करता है वैसा ही वह भी आनन्द है। स्वतंत्र देशों की अवस्था उल्टी होती है। वहां लोकमत के अनुसार कार्य होने पर कोई विशेष रूप से आनन्द नहीं मनाता।"[1]

मतवाला (साप्ताहिक : कलकत्ता)—महादेवप्रसाद सेठ

स्वनाम-सार्थक 'मतवाला' अपनी अल्हड़ मस्ती, निर्भीकता और निर्द्वन्द्वता के कारण द्विवेदी-युग का सबसे अधिक विलक्षण, लोकप्रिय तथा प्रभावशाली पत्र था। उसकी मस्ती उसके शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, पद-योजना, व्यंग्य और कटाक्षों में ओतप्रोत है। कट्टर राष्ट्रीयता के नशे में अहर्निश चूर रहने के कारण 'मतवाला' का प्रत्येक वाक्य ही नहीं, प्रत्येक शब्द एक विचित्र मादकतापूर्ण रहता है। इस स्थिति में भावावेश-वश शैली में सर्वत्र ओजगुण की सत्ता है। पाठक की प्रकृति भी 'मतवाला' के सामने शान्त नहीं रह पाती, क्योंकि वह अविश्रान्त प्रश्न सुनता तथा व्यंग्य और कटाक्ष सहता है। मन की मौज और मस्ती के वशीभूत होकर न तो सामान्य औपचारिकता और शिष्टता का भाषा में ध्यान रहता है और न शब्द-चयन की शुद्धता का। इतना ही नहीं, भावों-विचारों की आवृत्ति एवं पुनरावृत्ति भी पर्याप्त हुई है। वाक्य लम्बे और शृंखलाबद्ध हो गये हैं तथा उन्हीं के अनुपात में उनके परिच्छेद भी भीमकाय हैं। निःसन्देह विराम-चिह्नों तथा निर्देशक-चिह्नों ने इसकी शैली को दुरूह नहीं होने दिया है। मुहावरे, उक्तियां, अनुप्रासादि शब्दालंकारों ने मिलकर शैली को अधिक सबल, व्यंजक, रोचक एवं लोकप्रिय बना दिया है। जैसे—

१. आज : सम्पादकीय—(सरकार और लोकमत) : मिति सौर १६ फाल्गुन सं० १९८४

"क्या आप सोचते हैं कि मुट्ठी भर जोशीले खद्दरपोश नौजवान स्वराज्य नहीं ले सकते ? अच्छा, सोचते रहिए ऐसा ही, खरीदते जाइए विदेशी कपड़े, लड़ते चलिए हाईकोर्ट तक मुकदमें, रोकते रहिए अछूतों का मन्दिर-प्रवेश, कुछ परवाह नहीं। लेकिन याद रहे, आज से 'सिर्फ एक महीना' समय बाकी है इकतीसवें दिन तो भारत के भाग्य का नक्शा बदलेगा ही, उसे तो आप किसी तरह नहीं टाल सकते। अभी जो आपकी मर्जी है—न छोड़िए विदेशी कपड़े, न छोड़िए मुकदमेबाजी, न छोड़िए दारू ताड़ी, मगर अब शीघ्र ही आ चला है वह समय, जबकि क्रान्ति के जबरदस्त थपेड़े आपकी हठधर्मी के होश ठिकाने कर देंगे। वही आप—हां, वही आप—जो खद्दर को रुखड़ा और मंहगा समझकर नहीं खरीदते, जो आज अछूतों की छाया से भी घिनाते हैं, जो आज अदालतों में न्याय का नाटक देखने के तोड़े का मुंह खोले फिरते हैं, बस आज से एक ही महीने के बाद, खुशी से न सही—झख मारकर ही, खोपड़ी खुजाते-खुजाते भी, खद्दर खरीदेंगे ही—अछूतों को गले से लगायेंगे ही, अदालतों का मायाजाल तोड़ेंगे ही। अगर कहीं ऐसा न करेंगे, तो निश्चय ही समाज में आपको बेहयाई की जिन्दगी बितानी पड़ेगी—आप संगीनों के भरोसे अकड़कर न चल सकेंगे लाल पगड़ियों के बल पर, अभिनव क्रान्ति का तिरस्कार न कर सकेंगे—हथकड़ी लगवा देने की पोच धमकियों से अपनी जिद न निभा सकेंगे। आप चाहे कितने ही प्रभावशाली व्यक्ति क्यों न हों, आप चाहे कट्टर से कट्टर गांधी-विरोधी क्यों न हों, पर उस शुद्ध शान्त क्रान्ति के सामने आपको सिर झुकाना ही पड़ेगा। ध्यान रहे, अगले साल का नया दिन एक समुज्ज्वल सुप्रभात लेकर उदय होनेवाला है, और ठीक उसी दिन, चाहे आप साथ दें या न दें, वही खद्दर-पोश नौजवानों की टोली सिर से कफन बांधकर 'क्विक मार्च' कर ही देगी। किसी प्रकार का प्रलोभन उन्हें लुभा न सकेगा, कोई कठोरतम दमन भी उन्हें डिगा न सकेगा, कोई कड़ी-से-कड़ी आंच भी उन्हें तपा न सकेगी, और बीहड़ से बीहड़ रास्ते भी उन्हें थका न सकेंगे।"[१]

'मतवाला' की शैली में राष्ट्रीयता की मस्ती ही नहीं, प्रचारक का जोश भी है। विज्ञापनबाजी की धुन उसमें रहती है। जैसे कि आधुनिक विज्ञापन-विशारद जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तथा मजमा लगाने के लिए अपने डमरू बजाकर आवाजें कसते हैं या एक वातावरण का निर्माण करने के लिए यहां-वहां की बातें करते हैं, फिर अपने मतलब की बात कहते हैं। मतवाला की शैली बहुत-कुछ वैसी ही है। सामाजिक और धार्मिक त्योहारों तक के अवसरों पर उसकी मतवाली सूझ विचित्र शीर्षकों और हृदय-स्दर्शी भाषा में उपस्थित हुई है। मतवाला के अनोखे शीर्षक—'अंधा बाटे रेवड़ी फिर-फिर आपहि देय, टें बोल गई, पतलून ढीली हो गई, फोटो लेकर चाटो, है अजब औंधी तुम्हारी खोपड़ी, अजहूं न बूझ अबूझ, चुल्लू भर पानी में डूब मरो, होश आयगा उन्हें मौत की बेहोशी में, हक तो यूं है कि हक अदा न हुआ' इत्यादि, पाठकों को वैसे ही आकर्षित करते हैं जैसे मार्ग पर चलनेवालों को मदारी की आवाजें।

१. मतवाला : सम्पादकीय—(आप किस खेत की मूली हैं ?) : दि० ३०-११-१९२९ : पृ० ३

इसी के अनुरूप शब्द-चयन में अंग्रेजी, उर्दू-फारसी के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग है, साथ ही छोटे-छोटे सामासिक शब्दों का सफल निर्वाह भी जैसे—

"सदा 'दिवाली' साथ की, जो घर गेहूं होय।"

"चला गया, बड़ी बेरहमी से चला गया, कई अरब मन चला गया, सात समुद्र पार चला गया, राली ब्रादर के पेट में चला गया, विलायती नानबाइयों के घर चला गया, और कभी न बुझने वाले भयंकर जठरानल में भस्म हो गया, अब कहां है गेहूं ? अब कहां है भारत-सर्वस्व किसानों का रक्त-बिन्दु ? अब कहां है कृषि-सर्वस्व भारत का अन्नकूट ? अब कहां है 'सेंत-मेंत का गेहूं घर-घर पूजा ?' अब तो हम सर्व भक्षी हुतांशन के पाले पड़े हैं, अब तो हमें दाने-दाने के लाले पड़े हैं, अब तो हमारा पेट-पीठ एक हो गया है, अब तो हमारा मुंह चिकना पेट खाली हो गया है, अब तो हमारा दिवाला ही वास्तव में दिवाली हो गया है। क्यों न हो, जैसे दो आंखों के बीच में रहकर 'नाक' स्त्रीलिंग हो गई वैसे ही इकतीस करोड़ जनानों के बीच में रहकर जाने से 'दिवाला' के पुरुषत्व की नाक कट गई—वह दीवाली कहलाने लगा। नहीं तो, अब दीवाली कैसी ? 'जब दिल को हो करार, तब सूझे त्यौहार।' किन्तु याद रहे, 'इस गेहूं के लिये फौलाद का पेट होना चाहिये।' इस गेहूं से जिस दिन यह देश अन्नपूर्णा का मन्दिर बना हुआ था उसी दिन असली दिवाली थी, उसी दिन दिवाली की छटा भी निराली थी, अब इस भीमान्धकार में—अत्याचारी राजा के नरक-पथ पर छाये हुए अन्धकार से भी घने अन्धकार में—विधवा के भाग्य से भी भीषण अन्धकार में--मूर्ख के हृदय से भी काले अन्धकार में—अविद्या के सूशीमेघ अन्धकार में—दीवाली कैसी ?"[१]

"दूर क्यों जाते हो ? तुम्हारे देश में—समाज में—साहित्य में—सर्वत्र होली जल रही है। जरा आंखें गड़ाकर गौर से देखो। देश में भारतीयों का स्वत्व प्रहलाद बना है, नौकरशाही 'होलिका' बनी है। समाज में बाल-विधवाएं अपनी लालसाओं की होली जला रही हैं। साहित्य में सुविचारों की होली जलाई जा रही है। क्या साहित्य में अब ऐसी होली देखने को नहीं मिलेगी।"[२]

'मतवाला' ने व्यंग्य की कड़वी गोलियों को शर्करा-वेष्टित करने का कहीं प्रयत्न नहीं किया गया है। उसका व्यंग्य सीधा और ठेठ है। वह मस्ती में सबको बराबर देखता है, इसी प्रकार समय-कुसमय भी उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता। उसके लिए बारह माह वसन्त है। परिणामतः उसमें निश्चिन्त एवं निष्प्रभ रूप से व्यंग्य-कटाक्षों का अखण्ड साम्राज्य है। जैसे—

"कानपुर के प्रसिद्ध हिन्दी-साप्ताहिक 'प्रताप' के प्रतापी संस्थापक और सम्पादक श्रीयुत गणेशशंकरजी विद्यार्थी तीसरी-बार ससुराल से आए हैं। उनका हार्दिक स्वागत करने से पहले हम यह पूछना चाहते हैं कि श्रीमती चक्की-बीबी से कैसी पटती रही ?

१. मतवाला : सम्पादकीय : १० नवम्बर, १९२३ : पृ० १२६।
२. मतवाला : सम्पादकीय : १५ मार्च, १९२४ : पृ० ५२३।

दहेज की रकम भी तो खासी मिली होगी ?"[1]

'मतवाला' की मस्ती कभी-कभी ओजगुण मिश्रित प्रलाप शैली के समीप तक पहुंच जाती है। उसके इस प्रलाप में भी प्रौढ़ व्यक्ति की विशिष्टता रहती है। इसमें वह आहत हृदय से आत्म-विभोर होकर लगातार कई प्रश्न एकांगी रूप से करता जाता है। ये सब प्रश्न एक ही कोटि के अत्यधिक सबल तथा मार्मिक होते हैं। भावोद्वेग में ओजपूर्ण कठोर शब्दों की झड़ी लग जाती है। प्रज्ञाशक्ति सुप्त प्राय हो जाती है और हृदय-पक्ष चंचल हो उठता है। फलतः एक ही भाव या विचार की आवृत्तियां होती जाती हैं। जैसे—

"यह क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है ? क्यों इस देश में बात बात में गोलियां चल जाती हैं ? क्यों इस देश के मनुष्य निर्दयतापूर्वक, भुट्टे की तरह भून डाले जाते हैं ? जालियांवाला बाग में भूने गये, कलकत्ता में भूने गये, दिल्ली में भूने गये, कुम्बाकोनम में भूने गये, नागपुर में भूने गये और हाल में कानपुर में भूने गये हैं। इस महा अन्धेर का, इस अबाध हत्या काण्ड का, इस राक्षसी ताण्डव-नृत्य का, इस जघन्य बर्बरता का और इस क्रूर कसाईपन का कारण क्या है ? इस घोर घृणित कर्म का, इस महाबदमाशी का जिम्मेदार कौन है, नौकरशाही ? हरगिज नहीं। क्योंकि शैतान के लिये शैतानी स्वाभाविक है। दोषी वे हैं जो शैतानी को चुपचाप सह लेते हैं। इसलिए इस महाअनर्थ के जिम्मेदार तुम हो। क्योंकि तुम मार खाकर केवल रोते हो, उसके प्रतिकार का उपाय नहीं करते। तुम पशु हो, भारत माता के वक्षस्थल के भार हो, कुलांगार हो, कपूत हो। तुम वीरों के वंश में कायर और जांबाजों के वंश में बुज़दिल हो। कुत्ते की मौत मरते हो, तो भी मृत्यु से डरते हो। तुम्हारी जबान गरम है परन्तु कलब ठण्डे पड़ गये हैं। तुम्हारी धमनियों में रक्त की जगह नाबदान का गन्दा पानी बह रहा है। तुम सजीव मनुष्य नहीं, बल्कि मिट्टी के निर्जीव पुतले हो। तुम्हारे जैसे निकृष्ट जीव का इस पृथ्वी से लुप्त हो जाना ही अच्छा है।"[2]

हिन्दू-पंच (साप्ताहिक : कलकत्ता)—कार्त्तिकेय चरण मुखोपाध्याय

युग की मनःस्थिति का यथा-तथ्य चित्रण करने का दृढ़ आग्रह लेकर 'हिन्दू-पंच' की भाषा-शैली अन्य सामान्य पत्रों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली, सशक्त एवं सजीव है। निःसन्देह 'मतवाला' की तुलना में वह सौम्य, शान्त तथा शुद्ध है। 'हिन्दू-पंच' की भाषा-शैली संस्कृत की तत्सम-शब्दावलीपूर्ण सामासिक तथा संयत है। वाक्य छोटे और सरल हैं तथा उनका विन्यास सीधा है। यद्यपि व्यंग्य और कटाक्ष इसमें भी रहता है; परन्तु उसमें 'मतवाला' की-सी विदिग्धता एवं प्रखरता नहीं रहती। सरल आलंकारिक विधान के बीच में उपयुक्त शब्द-चयन के योग से शैली का प्रौढ़ रूप निखर उठा है। यत्र-तत्र संस्कृत के ही उद्धरणों से भाषा को सशक्त बनाया है। फिर भी समग्रतः पत्र की शैली में वर्णनात्मकता अधिक है, विवेचनात्मकता कम। छोटे

१. मतवाला : मतवाले की बहक : २ फरवरी, १९२४ : पृ० ३८७।

२. मतवाला : सम्पादकीय—(महा अन्धेर ! महा अन्धेर !) : १२ अप्रैल, १९२४ : पृ० ५९४।

वाक्यों के अनुरूप प्रघट्टक भी छोटे हैं और एक-एक शब्द-चित्र के संकेतक हैं। जैसे—

"अत्याचार अपना भीषण नंगा नाच नचा रहा था। न्याय का अन्याय से तुमुल युद्ध हो रहा था। धर्म पर अधर्म डंका पीटकर धावा बोल रहा था। नारियाँ-प्रबलाओं के सतीत्व-धर्म की पाशविक राक्षसों के द्वारा लूट हो रही थी। ऋषि-मुनि एवं भक्त-गण अत्याचार से थर-थर कांप रहे थे। पूजा-पाठ या भगवद्‌जन की आहट पाते ही नृशंस दैत्यगण धावा बोल, देव-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट और अपवित्र कर डालते थे। भक्तों के भी प्राण संकट में थे। पाप-भार से माता वसुन्धरा व्याकुल-विकल हो, त्राहि-त्राहि कर उठी थी। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। परिस्थिति बड़ी ही विकट हो रही थी।

ठीक इसी विकट परिस्थिति के अवसर पर, इसी मधुर मधुमास की नवमी के दिन, ऋतुराज वसन्त की निराली शोभा में, नव पल्लवों से सुशोभित वृक्ष-राशि से परिपूर्ण सब सुखों की धामदापुरी में, कलकल, निनादिनी सरयू के तट पर स्थित अयोध्या नगरी में क्षत्रिय-कुल-सूर्य चक्रवर्ती महाराज दशरथ के यहां तुमने 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।' और 'धर्म संस्थापनार्थाय'—अवतार लिया था।"[१]

पत्र की शैली में युग की प्रखर राष्ट्रीयता की ऊष्मा तथा दीप्ति दोनों ही का सामंजस्य है। ओज-ऊष्मा का आभास सीधे प्रश्नों से स्पष्टतः मिलता है। आवेश में पत्रकार प्रश्न भी करता है और शब्द-विशेष पर बल देते हुए, उनकी आवृत्ति भी करता है। यह आवृत्ति शब्दों की ही नहीं, वाक्यांशों तक की हुई है, जिनमें एक ही बात विभिन्न शब्दों में कही गई है। फिर भी शैली में आकर्षण है, जिसे पढ़कर ऊब उत्पन्न नहीं होती। जैसे—

"एक दो नहीं अनेक उदाहरण तुम्हारे सामने ऐसे हैं कि जो तुम्हें अपनी दशा का ज्ञान कराने वाले हैं। क्या अब भी तुम यह कहने का दम भरोगे, कि तुम होली मनाओगे? होली तो सदियों पहिले होली। तुमने अपने पापिष्ट कर्मों से अपने ही पैरों अपने आप कुल्हाड़ी मार अपने को संसार के हँसने का पात्र बना डाला। अपनी एकता, अपना धर्म-कर्म, अपनी सभ्यता, अपने गौरव और यश-मान में हमने आग लगा, उन्हें भस्म कर डाला। हम परतन्त्र हो गये, हमारा धन-जन, मान-गौरव सब कुछ लोप हो गया, हरण हो गया। आज हम दर-दर के भिखारी बने हैं। जहां हम जाते हैं, वहीं हम पर लानत-फटकार पड़ती है। फिर भला किस बल पर हम आज होली खेलेंगे?"[२]

व्यापार (पाक्षिक : कलकत्ता)—पद्मराज जैन

सामान्यतः देखा जाता है कि साहित्येतर विषयों में भाषा की विशुद्धता एवं प्रांजलता का ध्यान नहीं रहता है। उपयोगी तथा शास्त्रीय विषयों में इसीलिए केवल

१. हिन्दू-पंच : (आवाहन) वर्ष २, अंक ३३, २९ मार्च, १९२८ : पृ० ७।
२. हिन्दू-पंच : होलिकांक : अग्रलेख : वर्ष २, अंक ३१, मार्च, १९२८ : पृ० ६।

विचाराभिव्यक्ति का आग्रह रहता है। तात्कालिक पत्रों विशेषतः अहिन्दी क्षेत्रीय से भाषा का प्रौढ़ तथा परिष्कृत स्वरूप अपेक्षित भी नहीं है। अतः, 'व्यापार' में हम शिथिल और असंतुलित भाषा-शैली पाते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों के स्थान पर दीर्घकाय वाक्य इस शिथिलता के लिए उत्तरदायी है। पूर्ण-विराम के अतिरिक्त अन्य सभी विराम-चिह्नों की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। शब्दों के अशुद्ध रूप भी बहुत मिलते हैं, जैसे चलैं, तौ भी, जावो इत्यादि। अतएव भाषा न तो सशक्त ही है और न प्रवाह-युक्त। कठिनाई से विचारों का प्रेषण मात्र ऐसी भाषा में हो पाता है। जैसे—

"जिन देशों का आर्थिक नियन्त्रण प्रजा के हाथ में नहीं है अर्थात् जिन देशों के आय के खर्च का अधिकार प्रजा के हाथ में नहीं है उन देशों में फाटकेबाजी अत्यन्त हानिकार है। यद्यपि किसी देश के व्यापार के लिए उस देश में उपजने वाली चीजों के आमदनी सौदे का होना अत्यन्त आवश्यक है तौ भी पराधीन देशों के लिए कोरी फाटकेबाजी अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुई है। बहुत से विद्वानों ने इस विषय पर कई पुस्तकें और निबन्ध लिखे हैं। आमदनी सौदों की परिधि का अन्त कहां होता है और फाटकेबाजी कहां से शुरू होती है इसका निर्णय करना कोई साधारण बात नहीं है।"[१]

समालोचक (मासिक : जयपुर)—गोपालराम गहमरी

आलोच्य-युग के मासिक पत्रों में गहमरीजी का 'समालोचक' अपनी भाषा के मिश्रित तथा व्यावहारिक स्वरूप के लिए विशेष उल्लेखनीय है। उपन्यासों के उपयुक्त उनकी भाषा-शैली अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू-फारसी आदि के शब्दों के योग से पचमेल हो गई है। उसमें लचरपन है और प्रौढ़ता का अभाव है। ऐसी भाषा दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों में भले ही प्रयुक्त हो सकती है, परन्तु मासिक पत्रों के लिए तो यह बहुत हल्की एवं अनुपयुक्त है। उत्तर-भारतेन्दु-युग की भाषागत अस्थिरता इसमें स्पष्टतः लक्षित होती है। व्याकरण की अशुद्धियां तथा विराम-चिह्नों की उपेक्षा और दुरुपयोग स्थान-स्थान पर हुआ है। वाक्य मध्यम कोटि के हैं और उनके विन्यास में व्यतिरेक उत्पन्न नहीं किया गया है। जहां वाक्य लम्बे हो गये हैं, वहां अवश्य ही विराम-चिह्नों की गड़बड़ी के कारण उनका संतुलन बिगड़ गया है। प्रदर्शन और साज-सज्जा के लिए भी गहमरीजी उत्सुक नहीं रहते। अतएव उनकी भाषा में आलंकारिकता का प्रायः अभाव है। सामान्यतः शैली में प्रसाद गुण की उपस्थिति है और दुरूहता नहीं है। जैसे—

" 'निगमागम चन्द्रिका' के अष्टम भाग के नं० १, २ (चैत्रवैशाख) अब निकले हैं। जब तिहाई दर्जन पत्रों के सम्पादक इसमें ज्वाइन्ट बने हैं तो हम आशा करते हैं कि इसमें शुष्क विवाद और हिसाब की भरती ही न रहा करेगी। पण्डित चक्रवर्ती शायद अंग्रेजी के दार्शनिक और धार्मिक मासिक पुस्तकों से परिचित होंगे, उन्हें उचित है कि उनकी चाल पकड़ें महामण्डल के प्रबन्ध में, पहले और अब, यही अन्तर है कि

२. व्यापार : सम्पादकीय ध्वनि—(फाटकेबाजी) : भाग १, अंक १, १९२९ : अगस्त, १९२५ : पृ० २।

पहले महामण्डल के कर्त्ता स्वतन्त्र थे और सरे बाजार एक ओर स्वतन्त्र बने हुए थे, वर्तमान प्रबन्धक भी एक हैं, किन्तु टट्टी की ओट में लगाम पकड़ना चाहते हैं। स्वामीजी की सम्पत्ति पर जोर क्यों ? वही इने गिने नरपति गण क्यों ? इत्यादि कई प्रश्न प्रत्येक निष्पक्षपाती को सूझते हैं। और वही कई रूपों में पूछे जा रहे हैं। प्रायः आठ पृष्ठ की स्वर्ण जिव्ह वकालात के बाद सम्पादक चक्रवर्ती ने जो सिद्ध किया है और जो महामण्डल की वर्तमान पालिसी दिखाई देती है, वह यह है···"[१]

परोपकारी (मासिक : अजमेर)—सं० पद्मसिंह शर्मा

शर्माजी की जिन्दादिली तथा महाप्राण शक्ति उनकी सभी रचनाओं में न्यूनाधिक मात्रा में स्फुटित हुई है। 'परोपकारी' को दुर्भाग्य से उनके प्रारम्भिक अपरिपक्व व्यक्तित्व का योग ही प्राप्त हो सका था। फलतः उनकी उत्तरकालीन प्रौढ़, सशक्त तथा प्रभावशील भाषा-शैली, उनकी प्रारम्भिक रचनाओं अथवा सम्पादकीय टिप्पणियों में नहीं मिलती। फिर भी उनकी प्राथमिक रचनाओं में उज्ज्वल भविष्य का संकेत निहित है। जीवन-शक्ति तो उनकी भाषा को चिरकाल से प्राप्त थी; इसलिए सैकड़ों मील बैठा हुआ पाठक भी लेखक को अपने सामने बैठा हुआ पाता है। भले ही उसमें एकांगी प्रश्नोत्तर हों, परन्तु उसमें वक्ता की सशक्त शैली अवश्य है। विचारों की रोचकता के साथ, शैली की रोचकता का सुन्दर योग उनकी भाषा में हुआ है। जैसे—

"जो बात एक जगह असम्भव होती है, वही दूसरी जगह सम्भव हो जाती है। भला हमारे देश में एक मील की दूरी से बिना यन्त्र की सहायता से कोई बातचीत कर सकता है ? नहीं कभी नहीं। पर यही बात उत्तरी ध्रुव के निकटस्थ देशों में सम्भव है। उन देशों के निवासी बिना किसी यन्त्र की सहायता के एक मील की दूरी से सहज में परस्पर बातचीत कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि वहां की हवा ठण्डी और घनी होती है। इस प्रकार के वायु में शब्द बहुत दूर तक जाता है, बर्फ की चिकनी सतह भी शब्द वहन करने में बड़ी सहायता देती है।"[२]

नागरी-प्रचारक (मासिक : लखनऊ)

बीसवीं शताब्दी का द्वितीय दशक, हिन्दी-उर्दू संघर्ष के इतिहास में विशेष महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा पद के लिए प्रत्याशी थी। फलतः उसके प्रचार-प्रसार के लिए उसके भक्त और श्रद्धालुगण यथाशक्ति प्रयत्नशील थे। 'नागरी-प्रचारक' का जन्म इसी परिस्थिति में हुआ। हिन्दी ही नहीं, संस्कृत के विद्वानों में भी उन दिनों उर्दू-फारसी के प्रचार की प्रतिक्रिया हुई। प्रस्तुत पत्र में वह प्रतिक्रिया भी दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत के प्रभाव से कहीं-कहीं धर्म्म, कर्म्म, कार्य्य, सक्ते जैसे शब्द मिलते हैं और धर्म, कर्म, कार्य, सकते भी। इस प्रकार भाषा में अस्थिरता भी है और अव्यवस्था भी।

१. समालोचक : (सम्पादकीय टिप्पणियां) : भाग २, संख्या १४, सितम्बर, १९०३ : पृ० ३७-८

१. परोपकारी : विविध (एक मील की दूरी से बात) : वर्ष २, अंक ५, भाद्र १९६५ : पृ० १६० ।

उर्दू-फारसी के शब्दों का तो पूर्ण बहिष्कार ही किया गया है। वाक्य साधारणतः लम्बे, परन्तु सरल हैं। मुहावरे, उक्तियां, अलंकारादि का भी प्रायः अभाव है। संक्षिप्त में सरल, सुबोध, प्रसाद गुण युक्त व्यास-शैली पत्र की मूल शैली है। यथा—

"लोग कहते हैं कि वर्णाश्रमियों के धर्म याजक वा पुरोहितगण अकर्मण्य हैं, इसी कारण से जन साधारण का धर्म-ज्ञान कम होता जाता है। पुरोहितों के पास जो पुरानी पद्धतियां हैं उन्हीं को देखकर वे साधारण धार्मिक क्रिया करा देते हैं पर यदि उनसे किसी कृत्य का तत्त्व पूछा जाता है तो वे कुछ नहीं बता सकते। आधुनिक शिक्षित लोग बिना समझे उनके कृत्यों पर विश्वास नहीं करते, इसी से धर्म-कार्य कम होता जाता है। इस अवस्था में अधिक दोष पुरोहितों का है वा यजमानों का, यह विचारने योग्य है। प्राचीन समय में राजा लोग मुनि ऋषियों का सम्मान करते थे, उनके आश्रमों में भोजन-पदार्थ पहुंचा देते थे, जिससे उनको और उनके शिष्य समूह को अनायास भोजन प्राप्त होता था और वे अपना सम्पूर्ण समय विद्याभ्यास में व्यतीत करते थे। पर वह समय अब नहीं रहा। अब पुरोहितों को यजमानों को सन्तुष्ट रखकर उनसे धन संग्रह करना पड़ता है और उसी प्राप्त धन से जीविका निर्वाह करना पड़ता है। अब यह देखना उचित है कि इस प्रान्त में यजमान लोग श्रद्धापूर्वक पुरोहित को क्या देते हैं?"[1]

"तीव्र भाषा में कटाक्ष करके जो लोग अपने धर्म का प्रचार करना चाहते हैं, उनसे सब लोगों की सहानुभूति नहीं होती। दूसरों के छिद्रों को दिखाना सरल कार्य है, पर अपना दोष दूर करना कठिन कार्य है। समाज का सुधार केवल निन्दा से नहीं हो सकता, सहृदयता और नीति पूर्ण उपदेशों से मनुष्य सुधर सकता है। धार्मिक नेताओं को इस शैली का अवश्य अवलम्बन करना कर्त्तव्य है।"[2]

मनोरंजन (मासिक : आरा)—ईश्वरीप्रसाद शर्मा

भाषा का स्वाभाविक रूप जितना आकर्षक तथा हृदय-स्पर्शी होता है, उतना कृत्रिम रूप नहीं। ढूंढ़-ढूंढ़कर शब्दों की पच्चीकारी करने से भाषा के प्रवाह में अवरोध हो जाता है और मन ऊबने भी लगता है। 'मनोरंजन' में इस प्रकार की कृत्रिम शैली के दर्शन प्रारम्भिक अंकों में विशेषतः होते हैं। भाषा को सशक्त बनाने के लिए शब्द-चयन पर अधिक ध्यान रहा है। एक से शब्द अथवा पदों की आवृत्ति तथा स्वराघात से भी उसमें सहायता ली है। निःसन्देह उर्दू-फारसी के सरल शब्दों के अभाव में विचारों की सबल अभिव्यक्ति हुई है। वाक्य-विन्यास सरल और सीधा है। यद्यपि वाक्य साधारणतः दीर्घकाय हैं; परन्तु विराम-चिह्नों की सहायता से उनका सन्तुलन बिगड़ा नहीं है और दुरूहता भी नहीं आई है। जैसे—

"सूर्यपुरा के वर्त्तमान अधिपति कुमार राधिका रमण प्रसाद सिंह जी हिन्दी के

१. नागरी-प्रचारक : (विविध विषय) : पुरोहित : मार्च, १९१३ : पृ० ९३।
२. नागरी-प्रचारक : (विविध विषय) : धर्म्म स्वीकार की स्वतन्त्रता : मार्च, १९१३ पृ० ९२

एक प्रभावशाली लेखक होने की योग्यता का आभास देने लग गये हैं, स्थानीय नागरी-प्रचारिणी सभा की पत्रिका में आपके जो दो-तीन गल्प छपे हैं वे वास्तव में नये रंग-ढंग के हैं। खुशी की बात है कि श्रीमान् कुंवर साहब हिन्दी में ऐसी स्वतन्त्र (original) आख्यायिकाओं को निकालकर साहित्य के एक अंग की पूर्ति में सहायक हो रहे हैं। ईश्वर की कृपा से कुंवर साहब का यह हिन्दी-प्रेम यदि दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया तो उनके द्वारा हिन्दी का अशेष उपकार साधित होना सम्भव है। आप श्रीमान् हैं, धीमान् हैं, विद्वान् हैं—अतएव हिन्दी संसार को इन नये 'साहित्य सरोज' का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करना चाहिये। 'मनोरंजन' पर आपकी बड़ी कृपा रहती है—उनसे इस छोटे से पत्र को बहुत आशा है।"[1]

प्रभा (मासिक : कानपुर)—गणेशशंकरजी विद्यार्थी

द्विवेदी-युग की अत्यधिक लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाएं 'प्रताप' और 'प्रभा' के यशस्वी सम्पादक गणेशशंकरजी विद्यार्थी का स्थान शैलीकारों में बहुत ऊंचा है। उनके जीवन की सरलता और महानता का भव्य स्मारक उनकी शैली है। हिन्दी के लिए यही उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होंने द्विवेदी-शैली का अनुकरण भी किया है और उसमें अपना योग भी दिया है। 'सरस्वती' के समान 'प्रभा' ने भी हिन्दी के क्षेत्र में कई नवयुवकों को आकर्षित एवं अनुप्राणित किया। इसका बहुत कुछ श्रेय 'प्रभा' की शैली को ही है।

हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही भाषाओं पर समानाधिकार होने के कारण विद्यार्थीजी की शैली में उर्दू-फारसी के सरल तथा व्यावहारिक शब्दों का उपयुक्त स्थानों पर सुन्दर प्रयोग हुआ है। उनकी सरल तथा सुबोध भाषा-शैली का श्रेय बहुलांश में इस उर्दू-फारसी की शब्दावली को है। उनकी भाषा-शैली का लक्ष्य जन-साधारण असंख्य पाठक थे तथा उनके विविध वर्ण्य-विषय थे राष्ट्र जागरण सम्बन्धी। इस स्थिति में उनकी भाषा-शैली उपयुक्त थी। एक आन्दोलन कर्त्ता के लिए अपने विचारों तथा भावों को जनता-जनार्दन को हृदयंगम कराने की आवश्यकता भी रहती है। इसलिए उनकी विवेचनात्मक शैली भी सरल तथा सुबोध है। उसमें विश्लेषण भी है और सहृदयता भी। प्रदर्शन अथवा औपचारिकता को वहां स्थान नहीं है। उनकी सरल, सीधी-सादी भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व की पूर्ण व्यंजक है। उसमें हास्य-विनोद को कम स्थान मिला है। यद्यपि उन्होंने विदेशी शासन या उसकी अत्याचारी प्रवृत्ति के विरुद्ध कहीं-कहीं व्यंग्य किये हैं, परन्तु वे भी सरल और सौम्य हैं। जैसे—

"सम्राट के प्रतिनिधियों के आगमन का राजनैतिक उद्देश्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक ओर तो अधिकारी वर्ग स्वागत का सजावट और धूम का ढोंग रचकर सम्राट एवं बाह्य संसार के सम्मुख यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भारतीय प्रजाजन खूब समृद्ध और संतुष्ट हैं। दूसरी ओर वे उनके राज-भक्ति के भावों से लाभ

१. मनोरंजन : (विविध विषय) : भाग—१, सं० ६, जुलाई, १९१३ : पृ० ४६।

उठाकर प्रजा की प्रकृत मांगों को पूरी किये बिना ही उनके धर्म्म क्रोध के उफान को मीठे शब्दों के ठंडे पानी के छींटे देकर शांत कर देना चाहते हैं। श्रीमान् ड्यूक के स्वागत का बहिष्कार कराकर देश के नेताओं ने नौकरशाही के इन दोनों उद्देशों को क्षति पहुंचाने में खासी सफलता प्राप्त की जिससे देश को स्पष्ट लाभ हुआ। जहां-जहां ड्यूक महोदय पहुंचे वहां-वहां जनता ने हड़ताल द्वारा उन का स्वागत करके वर्तमान शासन से अपना असंतोष प्रकट किया।"[१]

विषयानुकूल भाषा-शैली में कुछ परिवर्तन भी किया गया है। गम्भीर तथा गवेषणात्मक विषयों का विवेचन करते समय उनकी शैली अपेक्षतः अधिक प्रांजल, परिष्कृत एवं गम्भीर हो जाती है। उर्दू-फारसी के हल्के शब्द स्वतः पास नहीं फटकते और संस्कृत-शब्दों की तत्समता बढ़ जाती है। इतना ही नहीं, वाक्य भी प्रायः लम्बे रहते हैं। उनकी शैली सशक्त एवं प्रसाद गुण सम्पन्ना है। पूर्णाभिव्यक्ति के लिए कोष्टक में अंग्रेजी आदि के शब्दों की सहायता भी ली है। निःसन्देह, विद्यार्थीजी ने वाक्य-विन्यास में व्यतिरेक करके अपनी भाषा में शक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया है। उनकी शैली की शक्ति विशिष्ट शब्दों पर बल-प्रदान करने में है। विचारों के स्पष्टीकरण के लिए साधारण उपमा तथा रूपकों का ही कहीं-कहीं आश्रय लिया है। अतः, उनमें शब्द-खिलवाड़ और आलंकारिक साज-सज्जा की प्रवृत्ति भी नहीं मिलती। जैसे—

"युक्तियों और विश्वासों में बहुत अन्तर है परन्तु बहुधा उनका भेद ध्यान में नहीं रक्खा जाता। विश्वास, विश्वास करने वाले के ज्ञान की मात्रा, उसके मस्तिष्क के विकास, उसके अन्तःकरण की प्रेरणा और उसके पूर्व निश्चित विचारों के फल होते हैं, और युक्ति तर्क शास्त्र के निर्भ्रान्ति सिद्धान्तों के अनुसार काम में लाये गये एक वैज्ञानिक ढंग की पुत्री ! विश्वास की आराध्य देवी भक्ति है और उसका क्रीड़ा-क्षेत्र हृदय ! परन्तु युक्ति का इष्ट-देव ज्ञान है और उसका उद्भग स्थान मस्तिष्क ! मस्तिष्क और हृदय एक दूसरे से बिल्कुल पृथक नहीं किये जा सकते इसलिये विश्वासों पर युक्तियों का और युक्तियों पर विश्वासों का प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप विश्वास और युक्तियां एक-दूसरे से संक्षोभ्य और संक्षोभित होते हैं जिससे विश्वास युक्ति-युक्त और युक्तियां विश्वास-जन्य होती हैं। व्यक्ति और समाज अपने विश्वासों के अनुसार कार्य करते हैं यद्यपि अपने जीवन की युक्तिवाद (Rationalism) की अवस्था में पहुंच जाने पर वे अपने विश्वासों को युक्तियों की कसौटी पर कसते हैं और इस प्रकार उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं परन्तु वे युक्तियां भी बहुत कुछ विश्वास-जन्य होती ।"[२]

मर्यादा (मासिक : प्रयाग)—कृष्णकान्त मालवीय

'मर्यादा' तथा 'अभ्युदय' दोनों ही पत्रों को मालवीयजी के व्यक्तित्व का योग

१. प्रभा : सम्पादकीय टिप्पणियां—(स्वागत का बहिष्कार) : १ मार्च, १९२१ : पृ० १९४।
२. प्रभा : सम्पादकीय टिप्पणियां—(युक्तियां और विश्वास) : १ मार्च, १९२१ : पृ० १८७।

प्राप्त हुआ था, इसलिए भाषा : शैली की दृष्टि से दोनों ही समानतः महत्त्व रखते हैं। अंग्रेजी तथा उर्दू के ज्ञाता होने के कारण उनकी भाषा सरल तथा सुबोध है। इस दोनों ही भाषाओं के शब्दों, उद्धरणों और पदों ने उनकी शैली के सौकर्य को स्फुटित किया है। उनके वाक्य लम्बे असंतुलित हैं। विराम-चिह्नों की भी उपेक्षा अधिक हुई है। 'किन्तु', 'परन्तु' और आदि' समुच्चयबोधकों के अतिरिक्त पदों की आवृत्ति के द्वारा भी वाक्यों की शृंखला बड़ी हो गई है। यद्यपि शब्दों की आवृत्ति से भाषा कुछ बलवती हुई है, फिर भी उसमें कहीं-कहीं ऊब उत्पन्न हो जाती है। सामान्यतः भाषा अधिक प्रांजल एवं परिष्कृत नहीं है। उसमें शब्दों के अशुद्ध रूप पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। व्याकरण की इन त्रुटियों के रहते हुए भी ऐसी शैली जन-जीवन के समीप पड़ती है। जैसे—

"स्वयम निर्मित या समय निर्मित

हमारे अतीत काल के नेताओं में हम मानते हैं सच्चे नेता भी हैं, सच्चे स्वार्थ त्यागी भी उनमें पाये जा सकते हैं किन्तु देश के दुर्भाग्य से बिना अपने किसी दोष के भी उनमें से अधिकतर में सत्य की दुर्घट घाटी पर चढ़ने के लिए उस उत्साह, उस दृढ़ संकल्प, उस सूझ और विघ्न बाधाओं, संकटों की तनिक भी परवा न करनेवाली उस प्रेरणा शक्ति की कमी है जो देश के त्राताओं में आवश्यक है। देश के लिए, सत्य के लिए वे प्रत्येक मिनिट मरने को तैयार नहीं। सत्य के वास्ते खड़े होने के लिए, अन्याय का विरोध करने के लिए, मानव तन धर कर मनुष्य सा व्यवहार चाहने के लिए वे उपयुक्त समय ढूंढ़ते हैं और सदा ही।

'उपयुक्त समय नहीं है'

का ढोंग रचते हैं। वे कहते हैं कि इससे क्या होगा यदि हम या एक दो और मनुष्य खड़े भी हो गये, सत्य के लिए जेल भी गये, जबकि हम जानते हैं कि हमारे समस्त देशवासी या उनमें से अधिकतर या एक अंश भी सब कुछ सहन करने को तैयार नहीं। अपनी आत्मा की हीनता का भार वे दूसरों पर रखते हैं, सत्य और न्याय का पक्ष ग्रहण करने के लिए वे साथी ढूंढ़ते हैं। वे सब कुछ जानते हुए भी Selfdeception (स्वयम अपनी आत्मा को बहलाने या धोखा देने का) का खेल खेलते हैं और यह समझने से दूर भागते हैं कि हम स्वयम तैयार नहीं हैं, हमारी आत्मा स्वयम हीन है।"[१]

'मर्यादा' की भाषा-शैली सरल और सीधी रहती है। उसका मुहावरे, उक्तियां, आलंकारिता अथवा काव्यात्मकता की ओर कोई आकर्षण नहीं मिलता। व्यास-शैली में अपने विचारों का प्रेषण मात्र उद्देश्य होने के कारण भाषागत साज-सज्जा को स्थान नहीं दिया है। शैली शान्त रस पूर्ण एवं प्रसाद गुण सम्पन्ना है। जैसे—

"आज तीस वर्षों से कांग्रेस का भी यही रोना रहा है। हम लोग सदा से कहते आये हैं कि हम लोग पक्षपात नहीं चाहते यद्यपि अपने देश में गैरों की अपेक्षा अपने लिए ऐसा चाहना भी अन्याय नहीं। हम लोग इतना ही चाहते हैं कि परीक्षा हो,

१. मर्यादा : सम्पादकीय टिप्पणियां : भाग १४, सं० २, अगस्त, १९१७ : पृ० २२०।

योग्यता की कसौटी पर भारतवासी और अंग्रेज तक समान कसे जांय, जो योग्य साबित हो उसे पद प्राप्त हो। जिस समय इंग्लैंड में परीक्षा होती है उसी समय भारत में भी वही परीक्षा ली जाय, प्रश्न पत्र वे ही हों, हम लोगों का कहना यही था कि अंगरेज अपनी भाषा में परीक्षा पास करेंगे किन्तु हम लोग उनकी भाषा में।"[१]

माधुरी (मासिक : लखनऊ)—दुलारेलाल भार्गव व रूपनारायण पाण्डेय

आलोच्य-युग के उत्तरार्द्ध में 'माधुरी' का स्थान उसकी सामग्री तथा शैली में दोनों ही दृष्टि से बहुत ऊंचा है। इसके दोनों ही सम्पादक सिद्ध कवि भी थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व का कवि-रूप उनके सम्पादकीय विविध विषयों की चर्चा में भी स्फुटित हुआ है। उन्होंने विषयानुकूल भाषा-शैली का सफल निर्वाह किया है। शृंगार रस एवं कमनीय प्रसंगों पर भाषा का स्वाभाविक माधुर्य तथा लालित्य बढ़ जाता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की सामासिकता घनीभूत हो जाती है। काव्यात्मकता में शब्दालंकारों की शाब्दिक छटा मात्र है, अर्थ गाम्भीर्य प्रायः नहीं। हल्का ऊहापोह और वाहवाही प्रश्नों में भी रहती है। निःसन्देह साधारण पाठकों को ही यह शैली फबती है। जैसे—

"पहला चित्र 'शोभा' है। इसके चित्रकार हैं श्रीयुत हीरालाल बब्बन जी। अहा! इस नख-शिख समलंकृता यौवनाढ्या सुंदरी के अंग-प्रत्यंग से कैसी मनोमोहनी छवि-छटा छिटक रही है? इस कुसुम कोमलांगी कृशांगी कामिनी की किशोरावस्था कितनी कमनीय है? ललाम लोचनों में कितना लावण्य है? शृङ्गार-रचना में कितनी रमणीयता है? चित-चोर चारु चितवन में कितनी मादकता है? चित्र-शिल्पी की निपुणता ने महाकवि बिहारी के इस दोहे का भाव अंकित करने में कमाल किया है—

भूषन-भार सभार ही, क्यों यह तनु सुकुमार,
सूधे पाय न परत महि, 'शोभा' ही के भार।"[२]

गम्भीर विषयों की चर्चा करते समय अवश्य ही शैली की काव्यात्मकता एवं सामासिकता कुछ क्षीण हो जाती है, परन्तु फिर भी अनुप्रास का अनुराग यत्र-तत्र अवसर पाकर उभर आया है। व्यावहारिक उक्तियों और मुहावरों को भी स्थान मिला है। शब्द-चयन उदार नहीं कहा जा सकता। उर्दू-फारसी के बहुत कम शब्द हैं। भाषा साफ-सुथरी तथा बलवती है। उसमें दुरूहता तथा भ्रामकता पनप नहीं सकी है। वाक्य साधारण और उनका विन्यास सीधा है। विराम-चिह्नों का प्रयोग उचित ढंग से किया गया है। जैसे—

"शरीर के रंग का प्रश्न आजकल सब ओर रंग पकड़ रहा है। अमेरिका के लोगों को लोग इस जमाने में सबसे अधिक स्वतंत्रता का उपासक समझते थे। परंतु 'प्रभुता पाय काय मद नाहिं' आज अमेरिका सबसे अधिक धनी देश है। कोई ऐसा बड़ा देश नहीं है, जो उसका ऋणि न हो। अमेरिका का व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा है।

१. मर्यादा : सम्पादकीय टिप्पणियां—(न्याय और उचित) : भाग १३, सं० ३, मार्च, १९१७ : पृ० १३९।

२. माधुरी : (चित्र-चर्चा) : वर्ष २, खण्ड २, संख्या ४, मई, १९२४ : पृ० ५७६।

ऐसी स्थिति में दिमाग सही रखना क्या सहज है, खासकर आध्यात्मिकता-शून्य और भौतिकता-भक्त जातियों के लिये ? क्या योरप और अमेरिका, सबका इष्टदेव धन है। इसके लिये कोई ऐसा अन्याय नहीं, जिसे वे न कर सकें। इसके अतिरिक्त हमारी तो धारणा यह है कि अमेरिका और योरप के लोग गोरी जातियों के लिए स्वतंत्रता के पक्ष-पाती भले ही हों, पर एशिया की काली जातियों को तो वे इस योग्य कदापि नहीं समझते।"[1] (अमेरिका में रंग का प्रश्न)

श्री शारदा (मासिक : जबलपुर)—पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र

मध्य प्रदेश से प्रकाशित होनेवाली कतिपय हिन्दी की मासिक पत्र-पत्रिकाओं में 'शारदा' का स्थान बहुत ऊंचा था। अनुकूल वातावरण तथा हिन्दी-क्षेत्र होने के कारण पत्रिका की भाषा शुद्ध, प्रांजल तथा प्रौढ़ है। उर्दू-फारसी आदि भाषाओं के शब्दों की बिना सहायता लिए भाषा को सशक्त एवं व्यंजक रखा है। शब्द-चयन, संस्कृत के तत्सम शब्दोन्मुख है, परन्तु सामासिक शब्द बहुत छोटे और संख्या में कम हैं। एक अध्यापक की विवेचनात्मक सामासिक शैली का सफल निर्वाह उसमें हुआ है। स्पष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए एक दीर्घ पृष्ठ-भूमि या वातावरण का निर्वाह किया है। वाक्य भी साधारणतः लम्बे और प्रत्येक प्रघट्टक असामान्यतः बड़ा है। जैसे—

"यह बात निर्विवाद है कि राष्ट्रीय जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों में साहित्य एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि यह कहा जाय कि साहित्य राष्ट्र के अन्तःस्वरूप का शब्द चित्र है तो कोई अत्युक्ति न होगी। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की मीमांसा की जाय तो उसके हरेक कार्य में विचार, उच्चार और आचार—ये तीन श्रेणियां पाई जाती हैं। कभी-कभी बीच की श्रेणी का लोप भी दिखाई देता है। यही बात राष्ट्रीय जीवन में भी सामान्यतः पायी जाती है। इस दृष्टि से साहित्य पहिली दो श्रेणियों का समष्टि रूप कहा जा सकता है। मनोविनोद साहित्य का गौड़ उद्देश्य है। इससे महत्तर कार्य तो है राष्ट्र के घटक भिन्न-भिन्न समाज और समाज के घटक व्यक्ति के विचारों का संस्करण करना और राष्ट्रीय प्रगति के कार्य में प्रेरणा देना इस दृष्टि से साहित्य निर्माण का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा पवित्र समझा जाता है। अतएव, भारत के पुनर्संगठन के कार्य में साहित्यिक अंग उपेक्षणीय नहीं हो सकता। संसार में अन्यत्र जब सभ्यता का उदय भी न था, तब भारत सभ्यता के उच्च शिखर पर विराजमान था, और उस समय का साहित्य भी विविध और अत्यन्त उच्च कोटि का था, भारत के इस भूत-कालिक गौरव का ही दम भरने से वर्तमान समय में काम न चलेगा। इस समय भिन्न भिन्न भाषा-भाषी समाजों का संगठन होने से राष्ट्रीय पुनर्संगठन का कार्य सम्पादित हो सकता है। भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी समाजों के वैयक्तिक संगठन का भार उन उन समासों के घटकों पर है, परन्तु समष्टि रूप से राष्ट्रीय संगठन के हेतु एक दूसरे से शिक्षा लेना तथा आवश्यकतानुसार एक दूसरे का अनुकरण करना आवश्यक प्रतीत

१. माधरी : (विविध विषय) : वर्ग २, खण्ड २, संख्या ४, मई, १९२४ : पृ० ५६१-५६२।

होता है, और यह कार्य विचार-विनिमय से ही होगा। भारत में भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी समाज मुख्यतः हिन्दी, मराठी, बंगाली, गुजराती, उर्दू इत्यादि भाषा बोलनेवालों के हैं। ये सब इस समय अपनी-अपनी भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि के कार्य में कटिबद्ध होकर कार्य कर रहे हैं। जब से इस कार्य का प्रारम्भ हुआ है तब से आज तक मुख्य-मुख्य देशी भाषाओं के साहित्य-ग्रन्थों का चिट्ठा अलग-अलग बनाया जावे तो अत्यन्त बोधप्रद एवं उत्साहजनक होगा। मराठी भाषा-भाषियों ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष-मण्डल द्वारा 'महाराष्ट्रीय वाङ्मय सूचि' प्रकाशित की गई है, उससे मराठी भाषा में सन् १८१० से १९१७ तक अर्थात १०७ वर्ष में किस-किस विषय के कितने ग्रन्थ छोटे-बड़े सब निर्मित हुए, इसका पता मिलता है।"[1]

चाँद (मासिक : प्रयाग)—रामरखसिंह सहगल

युग के उत्तरार्द्ध में, मासिक पत्रों में 'चाँद' की लोकप्रियता निर्विवाद रूप में रही है। इसका बहुत कुछ श्रेय उसकी सामग्री को ही नहीं, शैली को भी प्राप्त है। रामरखसिंह सहगल का निर्द्वन्द्व, सजग तथा बहुज्ञ व्यक्तित्व 'चाँद' के सम्पादकीय विचारों में ही नहीं, सम्पूर्ण रचनाओं में व्याप्त रहता है। 'चाँद' के प्रत्येक अंक में युग-चेतना का आभास है। उसका दृष्टिकोण सुधारवादी आलोचक का था। इसलिए समाज के गलित कोढ़ को दूर करने के लिए, प्रखर आलोचक की शल्य-क्रिया उसमें की गई। जैसे कि पत्र का कलेवर व्यंग्य-चित्रों और व्यंग्य-रचनाओं से व्याप्त था, वैसे ही पत्र की भाषा-शैली में व्यंग्य तथा ओज का सम्मिश्रण रहता था। निःसन्देह, यह व्यंग्य हल्का और उथला नहीं है। भाषा भी परिष्कृत और प्रौढ़ है। विषयानुकूल भाषा के ओज-गुण ने इस प्रौढ़ भाषा को और अधिक सशक्त कर दिया है। वाक्य लम्बे, परन्तु संयत हैं एवं उनका विन्यास अंग्रेजी ढंग का है। विराम-चिह्नों का समुचित प्रयोग हुआ है। यथा—

"सात सौ वर्षों तक की मुगलों की दुर्धर्ष खूनी तलवार के सम्मुख खड़ा रहने वाला उद्ग्रीव मारवाड़, आज सो रहा है!! हल्दी घाटी में जब सांय-सांय करके हवा चलती है और वे पुराने वृक्ष जब डालियां झुका-झुकाकर उन वीर आत्माओं को, जो सदा के लिए वहां विश्राम कर रही हैं, प्रणाम करते हैं, तब देखनेवाले के मन में एक भय एक वेदना का उदय होता होगा, पर वह तड़प, जो मारवाड़ की बपौती थी, कहीं देखने को भी नहीं मिलती।

वे मृत्यु के व्यवसायी—जीवित नर-सिंह—जिन्होंने जीवन के तत्त्व को समझा था, जो प्रकृत-आत्म तत्त्व के ज्ञाता थे, जो मरने से कभी न मरे, वृद्ध होने पर कभी पुराने न हुए, जो हास्य और क्रोध के अधिष्ठाता थे, दैन्य और रुदन जिनके पास न था—आज मारवाड़ के वे घनी-धौरी कहां हैं?"[2]

---

१. श्री शारदा : विविध (१०८ वर्ष में मराठी-साहित्य) : सं० ३८, ज्येष्ठ १९०० : पृ० २२०-१।
२. चाँद : सम्पादकीय विचार : मारवाड़ी अंक : नवम्बर १९२९ : पृ० १।

पत्र का मूल उद्देश्य पाठकों की रागात्मकता वृत्ति को उत्तेजित कर उसे चैतन्यता प्रदान करना था। इसके लिए ही पत्रकार हमें सतत प्रयत्नशील मिलता है। वह कई बार विशिष्ट शब्दों तथा पदों की आवृत्ति करता है अथवा एक श्रेणी के अनेक वाक्यांशों की माला को गूंथता जाता है। इतना ही नहीं, वह शब्द विशेष पर बलाघात भी करता है। इन्हीं युक्तियों से शैली को शक्ति एवं गति प्राप्त हुई है। बिना उर्दू-फारसी के शब्द-प्रयोग के भाषा प्रवाहमान है। 'चाँद' की शैली की यही विशेषता है। जैसे—

"हिन्दू जाति के संगठन के लिए, हिन्दू आदर्श की स्थापना के लिए, हिन्दू संस्कृति को विकसित करने के लिए और हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के लिए हम ईसाइयों की अवहेलना नहीं कर सकते। ईसाई-धर्म का मूल-तत्त्व चाहे जो कुछ भी हो, ईसाई-धर्म की नैतिक भित्ती चाहे हिन्दू-धर्म के आचार की समता में भले ही दुर्बल हो, परन्तु ईसाई-समाज की उदारता, उसकी सहिष्णुता और उसकी सहनशीलता आज के हिन्दू-समाज से कहीं अधिक है। यहां ईसाई-समाज से हमारा अभिप्राय उन ईसाइयों से है, जो प्रचारक (Missionary) के रूप में अपने सांसारिक ऐशवर्यों की तिलांजलि देकर ईसाई-धर्म के प्रचार में रात-दिन अनवरत परिश्रम करते रहते हैं। जिन अभागे हिन्दुओं को हिन्दू-समाज अछूत और जरायम पेशा कहकर घृणा और अपमान के साथ वहिष्कृत कर देता है, जिन अभागे प्राणियों को हिन्दू-धर्म के ठेकेदार अन्त्यज तथा चाण्डाल कह कर छने में भी अपना अपमान समझते हैं, उन्हें ईसाई मिशनरी बड़े गौरव के साथ प्रेम और सहानुभूति की पराकाष्ठा में अपने में मिलाता है।"[1]

आर्य-जगत् (मासिक : लाहौर)—सं० देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर

गद्य-शैलियों का अध्ययन करते समय, हमारे समक्ष यह तथ्य भी आया है कि कतिपय व्यक्तियों अथवा पत्रों की शैलियां एकरूपता रखते हुए, सदैव वर्ग विशेष की एकाधिकार सम्पत्ति बन जाती हैं। आर्य-समाजी पत्र-पत्रिकाएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अधिकांश आर्य-समाजी साहित्य एक विशेष शैली में उपस्थित मिलता है। विरोधियों से सदैव ही संघर्षरत रहने, उनके विचारों का प्रखर खण्डन तथा अपने सिद्धान्तों का मण्डन करने के लिए, उनका शब्द-चयन अनूठा और भाव-व्यंजक रहता है। इसमें भाषा की शुद्धता के स्थान पर, उसकी मार्मिक शक्ति की अधिक प्रतिष्ठा रहती है। इसलिए इस शैली में उर्दू-फारसी, पंजाबी आदि भाषाओं के शब्दों के ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं रहता। फलतः भाषा की पाचन-शक्ति बढ़ गई है और इन शब्दों ने भी भाषा की व्यंजना-शक्ति में वृद्धि की है। देशज स्वभाव के कारण, भाषा में ऊपरी आलंकारिक साज-सज्जा या आवरण की उपेक्षा करके, ठेठ सीधी शब्दावलियों का अधिक प्रयोग किया गया है। इससे शैली से माधुर्य गुण तिरोहित हो गया है और ओज

१. चाँद : सम्पादकीय विचार—(हिन्दू-संगठन और ईसाई) : वर्ष ५, खंड २, सं० ३, जुलाई १९२७ : पृ० ३१६।

का ही अखंड साम्राज्य रहता है। प्रभावोत्पादन के लिए शेर और मुहावरे भी सहायक हुए हैं। जैसे—

"सरकार की नीति विचित्र प्रतीत होती है पंजाब में तो मुसलमान खुले बन्दों हिन्दुओं को गाली निकालते हैं, कोसते हैं और सरकार को भी खूब सुनाते हैं, परन्तु सरकार न जाने किस कुंभकर्ण की नींद सोई हुई है कि यह कुछ ध्यान नहीं देती। मुसलमानों के समाचार-पत्र वह ऊटपटांग लिखते हैं कि तोबा ही भली। उनके ट्रैक्ट इस प्रकार के भड़कानेवाले होते हैं और गालियों से भरे होते हैं कि पढ़कर हैरान होना पड़ता है। उदाहरण के लिए नीचे का शेर पढ़िये—

मलकाना राजपूत मुसलमान बन गये,
अकल सलीम पाते ही इन्सान बन गये—"[१]

शैली में प्रायः हमेशा एक अनूठा भावोद्वेग रहता है। शैलीकार पाठकों की प्रज्ञाशक्ति को स्पर्श करने की अपेक्षा उसकी रागात्मिका वृत्ति को आन्दोलित करना चाहता है। इसमें प्रचारक की कुशलता और उत्साह का समन्वय है। यही कारण है कि प्रसंगानुकूल विशेषणों को चुनकर रखा गया है। विस्मयादिबोधक तथा अन्य विराम-चिह्नों की भी सहायता ली है। इस प्रकार उपयुक्त वातावरण या शब्द-चित्र की भूमिका में प्रभावपूर्ण ढंग से भावाभिव्यक्ति की है। जैसे—

"शोक ! शोक ! ! महाशोक ! ! ! भारत के रत्न, विधवाओं के सहायक, अनाथों के रक्षक, अपाहिजों के पालक, हिन्दू नवयुवकों के सुधारक और रोगियों के चिकित्सक राय बहादुर सर गंगाराम १० जुलाई को इस नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्ग को पधार गये। आप विलायत में कृषि कमीशन के सदस्य हो कर पधारे थे। वहां अचानक दिल के बन्द होने से हम से पृथक् हो गये।"[२]

बाल-सखा (मासिक : प्रयाग)—सं० श्रीनाथसिंह

हिन्दी में बाल-साहित्य की दशा बहुत क्षीण रही है। आलोच्य-युग में 'बाल-सखा' के अतिरिक्त बालकों की दीर्घकालिक सेवा करने वाला कोई दूसरा पत्र उपलब्ध नहीं होता। सच तो यह है कि तात्कालिक परिस्थितियां इस साहित्य के लिए उर्वरा भी नहीं थीं। बालकों के अत्यन्त कोमल एवं संस्कारशील हृदय को साहित्य की ओर प्रवृत्त करने के लिए सरल सामग्री सुबोध भाषा में प्रस्तुत करना अनिवार्य है। बाल-मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर ही उनके साहित्य का सृजन किया जाना चाहिए। वस्तुतः बाल-साहित्य की रचना प्रौढ़-साहित्य की तुलना में अधिक कठिन तथा कौशलपूर्ण रहती है। यही कारण है कि इसमें बड़े-बड़े कलाकार भी असफल हो जाते हैं। श्रीनाथसिंह और उनका 'बाल-सखा' दोनों ही बाल-मनोवृत्ति से सुपरिचित थे। इससे उनके पत्र की भाषा मनोरंजक, सरल, सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण है। कठोर शब्द, तीखे व्यंग्य, अलंकार

१. आर्य-जगत : सम्पादकीय विचार—(सरकार की नीति) : जुलाई, १९२७ : पृ० ४७।
२. —वही— (सर गंगाराम) —वही—

विधान, मुहावरे, उक्तियां आदि इस शैली में नहीं हैं। इसके विपरीत शैली में शैलीकार की आत्मीयता और सजगता है। बाल-पाठक, अनुभव कर सकता है कि वह अपने समझदार 'सखा' या 'दादा' के पास ही बैठकर उसकी बातें सुन रहा है। उसे भूलें भी बताई जाती हैं, पर झिड़कीदार कठोर शब्दों में नहीं, वरन् उत्साहवर्द्धक मधुर शब्दों में बाल-साहित्य की सफल शैली भी यही है। जैसे—

"खैर ऐसे तो बहुत से हैं जो अपना नाम और पता लिखना भूल जाते हैं। कुछ ऐसे भी अक्ल के पूरे लोग हैं कि चिट्ठी पर पाने वाले का पता नहीं लिखते और उसे डाक बम्बे में डाल आते हैं। अभी उस दिन हमारे पास घूमती घामती एक ऐसी ही चिट्ठी आई। ऊपर पता नहीं था। भीतर केवल एक जगह 'बाल-सखा' लिखा था। उसी के सहारे डाकखानेवालों ने उसे हमारे पास पहुंचा दिया था। लेकिन हमें विश्वास है कि हमारे बाल-सखा के तुम सब पाठक ऐसे नहीं हो। तुममें से बहुतों की चिट्ठियां हमने पढ़ी हैं और हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि हमारे छोटे पाठक अगर जी लगाकर चिट्ठियां लिखें तो सबसे अच्छा लिख सकते हैं मगर······।

मगर हमें यह कहना ही पड़ता है कि तुममें से कुछ ऐसे जरूर हैं जो बड़ी लापरवाही से जल्दी-जल्दी घसीटकर काम खतम कर देते हैं। पर हम भी बड़े चालाक हैं। इस बार जितने लोगों ने घसीटकर चिट्ठियां लिखी थीं उनको पहचान लिया। तुम देखोगे कि इस बार पहेलियों के जवाब देने वालों में बहुत कम बालकों के नाम छपे हैं।"[१]

लक्ष्मी (मासिक : गया)—लाला भगवानदीन

लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध स्वभावगत है और सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है। आलोच्य-युग की 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' के बीच भी '३६' का सम्बन्ध रहता था। लक्ष्मी की चंचलता और चपलता लाला भगवानदीन की 'लक्ष्मी' की शैली में अक्षुण्य है। शब्द-कौशल और शब्द-क्रीड़ा पर ध्यान रहने के कारण गम्भीर विषयों में भी उसकी छाया स्पष्टतः अंकित हुई है। यद्यपि शैली में व्यंग्य और विनोद का मसाला भी रखा गया है, परन्तु वह भी हल्की कोटि का ही है। शब्द-चयन भी उदार नहीं है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के कम शब्दों को स्थान मिल सका है। यद्यपि लालाजी उर्दू-फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् थे, परन्तु उन्होंने अपनी भाषा को इन भाषाओं के शब्दों से यथाशक्ति बचाया है। हां, वे तौ, लौं, ज्यौं, मूड़, घबराकर इत्यादि प्रयोगों से नहीं बच सके हैं। जैसे—

"इंगलैंड में इस समय बेकारी बहुत बढ़ रही है। यह रोग वहां सदैव नहीं रहता। कभी कभी समय समय पर बेकारी के प्रश्न से विलायत वाले पीड़ित होते हैं। बेकारों की संख्या वहां सदैव अधिक नहीं रहती तौ भी विलायत की सरकार की ओर से बेकारों को सहायता देने के लिये बहुत प्रयत्न हो रहे हैं। काम करने योग्य बेकार

१. बाल-सखा : सम्पादक—हमारी डाक : सितम्बर, १९२८ : पृ० ३४१

युवकों को कानून बनाकर किसी तरह उद्योग धंधों में लगाया जा रहा है। बूढ़े और लाचार बेकारों की सहायता का विशेष प्रबन्ध हो रहा है। सरकार का यह उद्योग बड़ा ही सराहनीय है पर भारत की सरकार इस व्याधि को हटाने के लिए क्या करती है। भारत में शताब्दियों से लोग बेकार हो रहे हैं और भूखों मर रहे हैं। वे धीरे धीरे अपनी पतित अवस्था के आदी हो गये हैं। वे ऐसे आलसी हो गये हैं कि अब काम की परवा भी नहीं करते।"[१]

'लक्ष्मी' की भाषा-शैली में अराजकता काल की अपरिपक्वता और लचरपन दोनों ही मिलते हैं। पाठकों की हल्की मनोरंजक रुचि के अनुकूल ही उसकी टिप्पणियां हैं। देशज तथा ग्रामीण शब्दों के योग से, शैली में कुछ आकर्षण अवश्य उत्पन्न हो गया है। जैसे—

"अमेरिका के एक विद्वान ने वैज्ञानिक रीति से हिसाब लगाकर बतलाया है कि हमारी पृथ्वी का वजन १६२,००००००००००००००००००००० मन है। हमारे शेष नाग बाबा अब बूढ़े हो गये हैं। उनके सिर में कंप वायु का प्रकोप हो जाना प्राकृतिक है। अच्छा होता, यदि कोई विज्ञानी महाशय इनको जरा उसासी देते या कोई वैद्यराज जी किसी प्रकार की पौष्टिक दवा खिलाकर उन्हें पुनः जवान कर देते नहीं तो डर है कि कहीं इसके भार से घबराकर बूढ़े शेष जी इसे अपने मूंड़ पर से फेंक न दें।"[२]

गृह-लक्ष्मी (मासिक : प्रयाग)—सुदर्शनाचार्य बी० ए०

'गृह-लक्ष्मी' भाषा-शैली की दृष्टि से, 'लक्ष्मी' से अधिक प्रौढ़ एवं संस्कृत है। उसकी भाषा में शक्ति और गति दोनों ही हैं। सामान्य स्तर के पाठक-पाठिकाओं को, विषय हृदयंगम कराने के लिए व्यास-शैली का आश्रय लिया गया है। द्विवेदीजी की भांति सुदर्शनाचार्यजी ने कहावतों, उक्तियों के द्वारा छोटी-छोटी बातों को भी स्पष्ट किया है। इससे वाक्य छोटे न होकर साधारणतः बड़े हैं और उसी अनुपात में परिच्छेद भी दीर्घकाय हो गए हैं। बहुत-सी सम्पादकीय टिप्पणियां तो एक ही परिच्छेद में पूरी हो गई हैं। विराम-चिह्नों की भी कुछ उपेक्षा हुई है। 'लिए' तथा 'लिये' के प्रयोग में भी बहुधा गड़बड़ी हुई है। जैसे—

"अंग्रेजी में एक कहावत है Habit is a second nature अर्थात अभ्यास एक प्रकार का स्वभाव हो जाता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि किसी काम को बराबर कुछ काल तक करते करते उस काम के करने का स्वभाव सा पड़ जाता है। फिर वह काम चाहे अच्छा हो या बुरा उसके गुण दोषों पर करने वाले का ध्यान बिल्कुल नहीं जाता और उसको वह स्वाभाविक रीति पर करता रहता है। ऊपर कही हुई बात समाज के लिये भी वैसी ही समझनी चाहिये जैसी कि व्यक्ति के लिये। यही कारण है कि जो बुराइयां कुछ काल से समाज में घुस गई हैं उनका एकाएक निवारण करना

१. लक्ष्मी : विविध विषय—(बेकारी का प्रश्न) : अक्तूबर, १९२१, : पृ० ३०१

२. लक्ष्मी : विविध विषय : मार्च, १९२० : पृ० ९६।

कठिन पड़ता है क्योंकि बहुत दिन से उन हानिकारक रीतियों को करते करते अब समाज का उनकी बुराइयों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। इसी प्रकार की अभ्यस्त सामाजिक कुरीतियों में बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह को समझना चाहिये। इन दोनों कुप्रथाओं के बड़े ही विषम परिणाम होते हैं पर हम लोगों की दृष्टि कभी इस ओर नहीं जाती क्योंकि समाज में प्रायः ऐसे विवाह हुआ करते हैं। परन्तु जिन देशों में ऐसी कुप्रथाएं नहीं हैं वहां के रहनेवाले हम लोगों के इन अनमेल विवाहों को देखकर बहुत ही आश्चर्य करते हैं—आश्चर्य ही नहीं बहुत से दयालु सज्जन तो इन कुरीतियों को दूर करने के लिये यथा शक्ति प्रयत्न भी करते हैं। और हम लोगों को समय-समय पर इनकी बुराइयां दिखाते और समझाते हैं।"[1]

आर्य्य-महिला (त्रैमासिक : बनारस)—श्रीमती सुरथकुमारी

हिन्दी की क्रीड़ा-भूमि बनारस से, कट्टर धार्मिक वातावरण में प्रकाशित 'आर्य्य-महिला' की भाषा-शैली में स्थानीय प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। यद्यपि भाषा में संस्कृत के दुरूह एवं दीर्घकाय सामासिक शब्दों का प्रायः अभाव है, फिर भी उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। उर्दू-फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के विजातीय शब्द, विशुद्धता के साम्राज्य में सम्मानित नहीं हो सके हैं। पत्र की शैली प्रमुखतः विवेचनात्मक है, जिसमें किसी विचार विशेष को सरल शब्दों और छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा व्यास-शैली में प्रस्तुत किया गया है। कठिन विषयों को सर्वसाधारण पाठकों को हृदयंगम करा देने में इस प्रकार की भाषा-शैली अत्यधिक उपयुक्त है। संक्षिप्त में 'आर्य्य-महिला' की भाषा-शैली प्रौढ़, प्रांजल एवं परिष्कृत है। संस्कृत का प्रभाव उस पर स्पष्ट है। धर्म्म, कर्म्म, आर्य्य इत्यादि शब्द-रूप इसके संकेतक हैं। पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी भाषा पाठकों-पाठिकाओं की रुचि-परिष्कार एवं सुरुचि निर्माण में सक्षम है। जैसे—

"यह संसार त्रिगुणात्मक है। सृष्टि की जननी प्रकृति त्रिगुणमयी है। इस कारण सब भाव और सब पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं। ज्ञान-प्रकाशक और सुख देने वाले भाव सात्विक भाव कहाते हैं, प्रवृत्ति देने वाले और इच्छा बढ़ानेवाले भाव राजसिक कहाते हैं, प्रमाद तथा आलस्य और मोह बढ़ाने वाले भाव तामसिक कहाते हैं, सब पदार्थ और भाव त्रिगुण के अनुसार पृथक् पृथक् विचारने योग्य हैं। तामसिक भाव बढ़ाने वाले शारीरिक और मानसिक कर्म्म एक बार ही त्याग देने योग्य हैं। परन्तु सत्वगुण बढ़ानेवाले सब शारीरिक और मानसिक कर्म्मों से धर्म्म होता है और ऐसे शारीरिक तथा मानसिक राजसिक कर्म्मों से भी धर्म्म होता है कि जो सत्वगुण की ओर ले जाने-वाले हों। इस कारण हमें हर समय ऐसा ध्यान रखना चाहिये कि हम सात्विक और सत्वगुणोन्मुख राजसिक विचार से मन को पवित्र रक्खें और वैसे कर्म्मों का आचरण करके इस लोक और परलोक में कल्याण प्राप्त करें। हमारी परिषद् और हमारी मुख

---

१. गृह-लक्ष्मी : सम्पादकीय : ३ वर्ष, ११ दर्शन, माघ, सं० १९६९ : पृ० ६२८।

पत्रिका, दोनों का ही लक्ष्य सदा इस प्रकार के समाज के उन्नतिकारी, जाति के अभ्युदयकारी और आर्य नर-नारियों के धर्म्म एवं यश प्रदानकारी कार्य्यों की ओर रहेगा।"[1]

"आजकल भारतवर्ष में भी स्त्री-स्वाधीनता का वेग मोटर के समान आगे बढ़ रहा है और यह दिन प्रतिदिन जोर ही पकड़ता जाता है। 'स्वाधीनता' इस शब्द में दो शब्द है। एक 'स्व' और दूसरा 'आधीनता'। 'स्व' का अर्थ है 'अपने आधीन रहना है'। यह स्वाधीनता दो प्रकार की होती है,—पहला—तात्विक, दूसरा—सांसारिक।"[2]

युग-परिस्थिति में तात्कालिक पत्र-पत्रिकाएं केवल समाचार-वाहक या मनोरंजक नहीं थीं। उनका उद्देश्य किसी विचारधारा विशेष का प्रतिपादन, प्रचार या सुधार रहता था। इस कार्य में भाषा सशक्त एवं हृदय-स्पर्शी अपेक्षित रहती है। 'आर्य्य-महिला' का लक्ष्य भी समाज की उन्नति तथा अभ्युदय था। इसके लिए उसकी शैली को बलवती एवं ओजगुण सम्पन्न रखा है। प्रभावोत्पादन के लिए वाक्यों के अन्त में बल प्रदान किया है, साथ ही प्रज्ञा-शक्ति को स्पर्श करने के लिए तर्क-प्रमाण का योग भी है। यथा—

"समय परिवर्तनशील है। इसको कोई एक समान रख ही नहीं सकता। इस कारण इस बदलते हुए समय में आर्य जाति को भी अपनी समाज नीति और शिक्षा आदि में परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है। काल-धर्म के अनुसार ऐसा नहीं किया जायगा, तो हिन्दू जाति बहुत ही पिछड़ जायगी। यदि मानव-समाज को, एक शरीर मान लिया जावे तो महिला-समाज उसका आधा अंग होगा। जब पुरुष-समाज की शिक्षा प्रणाली आदि समय की गति के अनुसार बदलती जा रही है, तो स्त्रियों के लिये भी ऐसा करना जरूरी है। देखा जाता है कि इस समय अपना समाज बड़ा ही उच्छृङ्खल होता जा रहा है। इसके ठीक करने का भार आर्य्य महिलाओं पर विशेष है। क्योंकि आजकल पुरुष समाज राजनैतिक प्रपंचों में पड़ा हुआ है।"[3]

१. आर्य्य-महिला : (सम्पादकीय टिप्पणियां) : भाग १, सं० २, सं० १९७५ : पृ० १९१।
२. आर्य्य-महिला : (सम्पादकीय टिप्पणियां) : कार्तिक-पौष सं० १९७९ वि० : पृ० २८६।
३. आर्य्य-महिला : (सम्पादकीय टिप्पणियां) : वैशाख-आषाढ़ सं० १९८० : पृ० ९२।

अध्याय : ११

उपयोगी गद्य-साहित्य की शैलियां

शास्त्रीय विषय तथा शैलियां

मानवीय आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की धाराएं मूलतः दो खण्डों में विभाजित होकर प्रवहमान हुई हैं। ये हैं काव्य-धारा और शास्त्रीय धारा। वस्तुतः ये दोनों मानव के दो विभिन्न प्रकोष्ठों से उद्भूत होती हैं; परन्तु सूक्ष्म विश्लेषण करने में ये दोनों एकांगी नहीं रह सकतीं। काव्य-धारा का मूल सम्बन्ध हृदयानुभूति से है तथा शास्त्रीय धारा अथवा वैज्ञानिक विषयों का मस्तिष्क से। फिर भी कुछ दूरी तक ये एक दूसरी को स्पर्श और प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार से श्रेय-प्रेय की दृष्टि से भी वांगमय को दो भागों में बांटा गया है। विज्ञान श्रेय के मार्ग से सत्य का साक्षात्कार करने को लालायित रहता है और बुद्धि के द्वीप को लेकर अपनी यात्रा करता है। काव्य प्रेय के पथ पर चलकर हृदय-तन्त्रियों को झंकृत करने का व्रती रहता है, तथा सहृदयता का संबल साथ में रखता है। इस प्रकार काव्य तथा विज्ञान या शास्त्रों के विषय तथा साधन भिन्न होते हुए भी दोनों की यात्रा भाषा की भूमि पर ही होती है। अतः, भाषा का सामान्य आधार ग्रहण कर ही अपने उद्देश्यों की ओर बढ़ा जाता है। रुचि तथा प्रवृत्ति अनुसार काव्य का रंगीला-रसीला मन शस्य श्यामला हरित उद्यानों एवं सौंदर्य स्थलियों में रमता-बसता दीर्घकालिक हृदय-मोहक मार्ग का अवलम्बन करता है। इसके विपरीत शास्त्र अथवा विज्ञान ठेठ सीधी तथा शीघ्रगामी यात्रा वांगमय की मरुभूमियों में से होकर तय करता है। उसमें रसात्मकता एवं भाव-प्रवणता का प्रायः अभाव ही रहता है। फिर भी कलाकार की कलम के स्पर्श से ये नीरस क्षेत्र हरितोद्यान से कहीं-कहीं रमणीय हो गये हैं। इससे गद्य-शैलियों के अध्ययन के समय शास्त्रीय विषयों पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल देना चाहिए। फिर भी शास्त्रीय विषय की दुरूहता तथा स्वाभाविक रुक्षता विविध शैलियों के विकास के लिए उर्वर नहीं है।

हिन्दी में शास्त्रीय विषय तथा शैलियां

द्विवेदी-युग में उपयोगी साहित्य से हिन्दी के कोष को भरने में पर्याप्त प्रगति हुई है। इस क्षेत्र में बहुत-सी कठिनाइयां थीं, वैज्ञानिक, परिष्कृत, पारिभाषिक शब्दों का अभाव था, जिसे कि कुछ अंशों में काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के १० वर्ष के कठोर श्रम के पश्चात् १९०८ में एक वैज्ञानिक शब्द-कोश से पूरा किया गया। इसमें

ज्योतिष, भौतिक, रसायन इत्यादि प्रमुख विषयों के उपयोगी शब्दों का संग्रह था और उनके हिन्दी पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत किये गए।

इसी प्रकाशन के पश्चात् विभिन्न शास्त्रीय विषयों पर साधारण बहुत-सी पुस्तकें लिखी गईं। पं० शालिग्राम भार्गव, रामदास गौड़, महेन्दुलाल गर्ग, त्रिलोकीनाथ, प्राणनाथ विद्यालंकार मिश्रबन्धु इत्यादि ने विज्ञान के विविध विषयों पर रचनाएं कीं।

भूगोल की पुस्तकों की रचनाएं भी द्विवेदी-युग के प्रथम चरण में ही प्रारम्भ हुईं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' काशी के ६वें भाग में सन् १६०२ में नारायणप्रसाद पाण्डे का नैपाल पर एक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक लेख निकला। तत्पश्चात् लखनऊ और गोरखपुर जिले के भू-वर्णन प्रकाशित हुए। इतिहास पर भी ध्यान दिया गया। हिन्दी में इसके पूर्व विशुद्ध इतिहास की कोई परम्परा नहीं थी। ऐतिहासिक पात्रों के वीर चरित्र जन-श्रुति के आधार पर उपलब्ध थे। कर्नल टाड के राजस्थान का इतिहास का हिन्दी अनुवाद, मिश्रबन्धुओं का 'भारतवर्ष का इतिहास' (दो भाग), मन्नन द्विवेदी कृत 'मुसलमानी राज का इतिहास' (दो भाग), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'सोलंकियों का इतिहास' तथा 'उदयपुर का इतिहास' (तीन भाग), 'अशोक की धर्म लिपियां', 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति', विश्वेश्वरनाथ रेऊ कृत 'भारत के प्राचीन राजवंश', हरिमंगल मिश्र कृत 'प्राचीन भारत', शेषमणि त्रिपाठी कृत 'अकबर की राज्य व्यवस्था', 'सम्पूर्णानन्द कृत 'चीन की राजक्रान्ति', 'मिस्र की स्वाधीनता का इतिहास', कमलापति त्रिपाठी कृत—'मौर्यकालीन भारत का इतिहास' इत्यादि प्रकाशित हुए।

यात्राओं के वर्णन में गदाधरसिंह का 'चीन में तेरह मास', शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रदीक्षणा', उल्लेखनीय हैं। इसके पूर्व हिन्दी में कवियों तथा महात्माओं की जीवनी लिखने की परम्परा अवश्य थी, परन्तु उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य विचारधारा के परिणामस्वरूप लेखकों तथा अन्य रचेयताओं के जीवन को भी महत्त्व दिया गया। सन् १८८२ के पश्चात् विक्रम, कालिदास, जयदेव, राजाराम शास्त्री, लार्ड म्यो इत्यादि की जीवनियां लिखी गईं। इसके पश्चात् बाबू कार्त्तिक-प्रसाद खत्री, राधाकृष्ण दास, पं० अम्बिकादत्त व्यास ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। द्विवेदी-युग में तो इसे बहुत स्वस्थ वातावरण प्राप्त हुआ। विशुद्ध वैज्ञानिक जीवनियों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र का 'महादेव गोविन्द रानाडे', पं० माधवप्रसाद मिश्र की 'विशुद्धानन्द चरितावली', शिवनन्दनसहाय का 'बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र', रामचन्द्र वर्मा कृत 'महात्मा गांधी', सम्पूर्णानन्द कृत 'सम्राट् हर्षवर्द्धन', महादाजी सिन्धिया कृत 'सम्राट् अशोक', शिवकुमार शास्त्रीकृत 'नेलसन' इत्यादि ग्रन्थ निकले।

उपयोगी साहित्य की प्रतिनिधि गद्य-शैलियां

प्रो० रामदास गौड़ एम० ए० (१८८१-१६३७ ई०)

विज्ञान

बहु भाषाविज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, इतिहासज्ञ, दार्शनिक, निर्भीक देश प्रेमी, तथा युग के प्रसिद्ध गद्य-लेखक गौड़जी का जन्म जौनपुर में, मार्ग शीर्ष अमावस्या

१९३८ वि० को गौड़ कायस्थ मुंशी ललिताप्रसाद के यहां हुआ था। अध्यापक पिताजी ने घर पर ही ७ वर्ष की उम्र में फारसी, अंग्रेजी व गणित की शिक्षा दी। इनका प्रमुख कार्य-क्षेत्र रसायन-शास्त्र का अध्यापन रहा है। सार्वजनिक जीवन भी इनका बहुत विस्तृत रहा है।

गौड़जी ने अनेक वैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। उनकी शैली बहुत प्रभावी है। विशुद्ध वैज्ञानिक विषयों की शुष्कता उनकी शैली में नहीं रहती। यद्यपि उनकी भाषा शुद्ध और परिष्कृत है; परन्तु लहजे में आकर उर्दू-फारसी के शब्द और मुहावरों का भी प्रयोग बड़े धड़ाके से किया है। उनके ये उर्दू-फारसी शब्द सरल तथा व्यावहारिक होते हैं। इन विजातीय शब्दों में से बहुतों का उन्होंने राष्ट्रीयकरण कर लिया है, फिर भी जिन शब्दों ने इसे नापसन्द किया है, उनसे जबर्दस्ती नहीं की गई है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते समय भी उन्होंने भाषा की सरलता और बोधगम्यता का ध्यान रखा है। उनका वाक्य-विन्यास दीर्घ-सूत्री है। विराम-चिह्नों के समुचित प्रयोग के साथ उन्होंने वाक्यों को आरोह तथा अवरोह के द्वारा गति प्रदान की है। उनकी भाषा में गद्यात्मक लय भी है और शक्ति भी। जैसे—

"जिन हथियारों और औजारों के सहारे हम भूलोक का राज कर रहे हैं, जो हमारी सभ्यता के रक्षक हैं और ज्ञान की मूर्ति के निर्माता हैं, उन्हें ही दार्शनिक करण व इन्द्रियां कहते हैं। नाड़ियों के केन्द्र रूपी सिंहासन पर बैठा शरीर का राजा समस्त मानव ब्रह्माण्ड का शासन इन्हीं के बल पर करता है। कुछ इन्द्रियां समाचार पहुंचाती हैं, कुछ उसके हुक्म बजा लाती हैं। पहली ज्ञानेन्द्रियां और दूसरी कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। हमारे देश के भारी भारी विद्वान, ऋषि-मुनि, योगेश्वर, दार्शनिक, शरीर और जीवात्मा के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुशीलन अनादि काल से करते आये हैं और इन्हीं ने इस सम्बन्ध में बड़े महत्त्व के निष्कर्ष निकाले हैं, जिनसे अब तक दार्शनिक संसार चकित है। योग सिद्धों नें इन्द्रियों का विकास करते करते चक्रों का वेध करके अपने को शक्ति के बहुत ऊंचे दरजे पर पहुंचाया और अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों को अपने वशीभूत बनाया। इतने पर भी अन्ततः इस निष्कर्ष से पीछा न छूटा कि इन्द्रियां परिच्छिन्न हैं, हमारी शक्तियां परिमित हैं, हमारे औजार सभी कामों के लिए मौजूं नहीं हैं, हमारी ताकत महदूद है। हम मन, बुद्धि, चित्त को कितना ही मांजे, इन औजारों पर कितना ही सैकल करें, मक्खी कितनी ही बढ़े भैंसा नहीं हो सकती, लंगड़ी बुद्धि अन्धे मन के कन्धे पर सवार हो जिन हथियारों के सहारे काम कर रही है, वे खुद छोटे हैं उनकी पहुंच दूर तक नहीं है।"[१]

अपनी फक्कड़ प्रकृति के कारण उनकी भाषा-शैली में 'बिरादरी' 'मेम्बर' जैसे शब्दों में हल्का-सा व्यंग्य भी है। निःसन्देह विज्ञान के खगोल-शास्त्र जैसे विषय को इतना आकर्षक बना देना गौड़जी की शैली की सफलता का द्योतक है। यथा—

१. गद्य-प्रभा (विज्ञान) : सं० रामप्रसाद बी० ए० : पृ० १५९-३०।

"सूर्य भी हमसे कितना ही बड़ा हो पर ब्रह्माण्डों की बिरादरी में वह एक छोटा सा मेम्बर है और स्वयं हमें साथ लिए किसी बड़े मेम्बर की परिक्रमा कर रहा है।"[१]

वैज्ञानिक

श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी

लाहौर के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी राय नवीनचन्द्र की सुपुत्री एवं 'सुगृहिणी' की योग्य सम्पादिका हेमन्तकुमारीजी ने वैज्ञानिक विषयों पर कई लेख लिखे हैं। उनकी भाषा में तात्कालिक वैज्ञानिक शब्दावली का दुर्भिक्ष स्पष्टतः लक्षित होता है। भाषा की दुर्बलता विचारों को अशक्त करती है। परिणामतः मिश्रित भाषा-शैली में यत्र-तत्र शब्दों को रखकर अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया है। इससे न तो भाषा में गति है और न प्रभाव ही। पर्यायवाची शब्दों के अभाव में कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के मूल शब्दों को वैसे ही कोष्टक में रख दिया है और कहीं स्वछन्द रूप में प्रयोग किया है। वस्तुतः यह शैली परिचयात्मक ही है, जिसमें वर्णन अथवा विवेचन की अपेक्षा सामान्य परिचय संकेत के रूप में दे दिया है। जैसे—

वैज्ञानिक खेती

"(क) पौधे इन इन चीज़ों को वायुमण्डल से लेते हैं—

कारबोनिक एसिड गैस—इसके गुण पहले लिखे जा चुके हैं। इसमें एक यह भी गुण है कि पानी के साथ मिलकर खनिज धातुओं को गला देता है। वृक्षों की जड़ से भी यह भाप निकलती है। वृक्ष में इस भाप को निकालने की ताकत रहने से वह मिट्टी से भार भाग को गलाकर अपनी खुराक खींच सकता है। यह काम वृक्ष की भीतरी ताकत असमोसिस से होता है। कारबोनिक एसिड गैस से वृक्ष की अंगारक-शक्ति पुष्ट होती है।

अम्लजन और उद्‌जन—पौधे, जल और वायु से ये दोनों चीजें अपनी जरूरत के मुताबिक लेते हैं। ये चीजें पौधों के लिये निहायत जरूरी हैं।

शोरा जन—यह पौधों की एक खास खुराक है। जमीन की हवा में यह खूब रहता है। पौधे इसे तीन रीतियों से लेते हैं (१) वायुमण्डल से शोराजन के रूप में। (२) एमोनिया के रूप में। (३) और मिट्टी से नाइट्रिक एसिड की सूरत में।

वायुमण्डल में यद्यपि नाइट्रोजन बहुत रहता है पर उसे पौधे आसानी से नहीं ले सकते। अब यह बात निकाली गई कि मटर की जाति के कुछ (papillonaceal) पौधों की जड़ में शोराजन इकट्ठा करने की ताकत है।"[२]

वैज्ञानिक विषयों में एक तो वैसे ही स्वाभाविक शुष्कता रहती है तथा उसमें

१. गद्य-प्रभा (विज्ञान) : सं० रामप्रसाद बी० ए० : पृ० १६३।

२. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका : जून, १९१३ : पृ० ३४१।

ठेठ भाषा का आग्रह रहता है, फिर भी उनकी भाषा को विचारात्मक प्रौढ़ता प्रदान करके सशक्त बनाया जा सकता है। द्विवेदी-युग में इन विषयों में भाषा की शक्ति का वैभव बहुत कम लक्षित होता है, और श्रीमती हेमन्तकुमारी की भाषा में तो बहुत कम।

भूगोल

पं० सूर्यप्रसाद त्रिपाठी

भूगोल जैसे विषय में भी काव्यात्मक सौंदर्य, विशुद्ध भाषा के आग्रह के साथ सफलतापूर्वक निबाहा जा सकता है। यह यहां द्रष्टव्य है। देश की स्वाभाविक रचना तथा मानव-जीवन को सजीवता तथा प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णनात्मक शैली में रखा है। विशेषता यह है कि वर्णन यांत्रिक न होकर सहृदयता का है। शब्दों के द्वारा पाठक के सामने एक चित्र उपस्थित हो जाता है। सम्बोधन के द्वारा लेखक-पाठक के मध्य आत्मीयता का आभास मिलता है। शब्द-चयन भी संस्कृत के तत्सम शब्द-समूह से किया गया है। बिना उर्दू-फारसी के शब्दों की सहायता के भाषा में गति तथा शक्ति है। उपयोगी विषयों में इस प्रकार की भाषा-शैली का प्रयोग पाठकों तथा लेखकों की काव्योन्मुखी रुचि का द्योतक भी है।

"स्वीट्जरलैण्ड अपने पर्वतों और झीलों के ही कारण यूरोप भर में प्रसिद्ध है। ये आलप्स की पर्वत मालाएं ही हैं जो लोगों पर जादू का सा असर डालती हैं। उसके बहुत से सैल शिखर अविच्छिन्न हिम को छेदकर अपना मस्तक उन्नत किये रहते हैं। अधित्यकाओं पर शरद ऋतु और उपत्यकाओं में ग्रीष्म ऋतु का राज्य रहता है इन पर्वतों का दृश्य संसार में अनुपम समझा जाता है। इनके विशाल शृंगों के मध्य में बड़ी-बड़ी कन्दराएं हैं जिनमें आकाश सदृश्य निर्मल नील जल भरा रहता है, पर्वत-पार्श्व के हजारों सोते बह बह कर इनमें विहार किया करते हैं। हिमाच्छन्न पर्वत शिखर अपनी ही कान्ति में निमग्न रहते हैं; तिस पर सूर्यास्त की लालिमा उन्हें चमकीले चटकीले गुलाबी मुकुट पहिनाकर उनकी शोभा और भी बढ़ा देती है और सबको मुग्ध ही कर लेती है।

स्विस लोगों के देश का यह अद्भुत सौंदर्य ही उनका ऐश्वर्य है। यहां के शिल्पकार बड़े कुशल और कर्मशील होते हैं और कृषकों का तो पूछना ही क्या। वे बोने लायक एक अंगुल भूमि पा जाने पर खाली नहीं छोड़ते। + + +

पाठक गण! जो जेनेवा-वाच आप लोग व्यवहार करते हैं वह सब यहीं की बनी होती है।"[1]

इतिहास

वस्तुत: इतिहास का विषय इतिवृत्तात्मक है, इसमें वर्णनात्मक शैली का ही प्राधान्य अपेक्षित है। जीवन-चरित्र, उपन्यास प्रभृति विषयों की भांति एक ओर

१. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका: मई-जून, १९१५।

इतिहास में वर्णनात्मकता रहती है, तो दूसरी ओर कल्पना का अभाव तथा यथातथ्य वस्तु की पुष्टि होती है। उसमें काव्यात्मक तत्त्वों के समावेश के लिए पर्याप्त क्षेत्र नहीं रहता। फिर भी द्विवेदी-युग में इतिहास की वस्तु को यत्र-तत्र साहित्य के विविध उपकरणों से सज्जित किया गया है। परिणामतः ऐसे शुष्क विषयों में भी रोचकता आ गई है। निःसन्देह ऐसे स्थलों पर विषय-वस्तु की अपेक्षा लेखक के व्यक्तित्व की अधिक प्रबल अभिव्यक्ति हुई है।

नन्दकुमारदेव शर्मा

निबन्धों की भांति 'सिक्खों का संक्षिप्त इतिहास' में अथ से इति तक—प्रस्तावना से लेकर प्रत्येक खण्ड और प्रत्येक अध्याय के शीर्षक के साथ, हिन्दी संस्कृत तथा अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकारों के सुभाषितों अथवा तत्त्वपूर्ण शब्दों को उद्धृत किया है। वर्णनात्मक शैली के साथ विश्लेषणात्मक और भावात्मक शैलियों का उपयोग हुआ है। भाषा सरल और सुबोध है। वाक्य भी सुकर एवं स्पष्ट हैं। कभी भी वाक्य-विन्यास में व्यतिरेक उत्पन्न नहीं हुआ है। शब्द-चयन करते समय भाषा को शुद्ध बनाये रखने का यथासाध्य प्रयत्न हुआ है। परिणामतः अन्य भाषाओं के शब्दों का अभाव है। व्यंजना में उतार-चढ़ाव तथा गति है। ऐतिहासिक कथा-वस्तु भावुकता तथा उत्तेजना को भी जन्म देती है, जिससे हठात् प्रश्न होने लगते हैं। यथा—

"तत्त्व सिंजन मृतेन तोयद् ! कुतोऽष्या विष्कृतोवेध सा"

"राष्ट्रों और देशों के उत्थान और पतन की कोई सीधी रेखा नहीं है। उन्नति की दौड़-धूप में न मालूम किस समय कौन-सी जाति और देश का सौभाग्य सितारा चमक उठे और कौन-सी जातियां और देश अवनति के अंधकूप में गिर जाएं। इतिहास इसकी साक्षी है कि संसार में कितने ही देश उठे और गिर गए, कितनी ही जातियां बनीं और बिगड़ गईं, कितने ही राज्य जमे और उखड़ गए, आज उनका नाम निशान तक भी नहीं है। पत्थरों के खंभों, मीनारों और दीवालों के अतिरिक्त उनके कोई चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते हैं। चीन की बड़ी दीवाल, बड़े बड़े बहादुर बादशाहों की कब्रों पर चौकीदारी का काम कर रही है। मिस्र की प्राचीन सभ्यता कहां है ? मीनार मिस्र (मिस्र लाट) प्राचीन सभ्यता का पता देती हुई, अब तक मिस्र के राजा महाराजाओं के मसाले भरे मृतक शरीर को दबाए हुए खड़ी है। रोम और यूनान की प्राचीन सभ्यता काल के गाल में विलीन हो गई हैं। पर पांच हजार वर्ष के बूढ़े भारत पर अनेक विपत्तियां आईं उसने बड़े बड़े चढ़ाव उतार देखे। उसे पांच हजार वर्ष से बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। परन्तु अभी तक प्रबल आंधी के झकोरे खाने पर भी बूढ़ा भारत क्यों जीवित है ? यह एक प्रश्न है, जो प्रत्येक विचार-शील व्यक्ति के मस्तिष्क में यूरोपियन महाभारत का संग्राम मचाता है।"[1]

१. सिक्खों का संक्षिप्त इतिहास : पृ० ५-६।

इतिहास

रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक सफल इतिहास लेखकों में ओझाजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने इतिहास पर कई अच्छी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। 'सोलंकियों का इतिहास', 'उदयपुर का इतिहास' (तीन भाग), 'अशोक की धर्म लिपियां' तथा 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'।

ओझाजी की भाषा-शैली सरल तथा सुबोध है। विवरणात्मक शैली के साथ बीच-बीच में विवेचनात्मक शैली का पुट है, जिसने विषय को बोधगम्य बनाने में अधिक सहायता की है। शब्दों का चयन करते समय उन्होंने पूर्वाग्रह से काम नहीं लिया है। फिर भी उनकी भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों को अधिक स्थान नहीं मिला है। भाषा प्रायः शुद्ध और ठेठ है, जिसमें किसी प्रकार की सजावट-दिखावट को स्थान नहीं है। जैसे—

"प्राचीन सिक्के, मुद्रा और शिल्प

प्राचीन सिक्के

एशिया और यूरोप के प्राचीन सिक्कों के देखने से पाया जाता है कि सोने के सिक्के चांदी के सिक्कों से पीछे बनने लगे थे। ई० स० से पूर्व की पांचवी और चौथी शताब्दी में ईरान के चांदी के सिक्के गोली की आकृति के होते थे; जिन पर ठप्पा लगाने से वे कुछ चपटे पड़ जाते थे, परन्तु बहुत मोटे और भद्दी शक्लों के ठप्पे लगते थे। ईरान के ही नहीं किन्तु लीडिया, ग्रीस आदि के सिक्के भी ईरानियों के सिक्कों की नाईं गोले, भद्दे, गोली की शकल के चांदी के टुकड़े ही होते थे। केवल हिन्दुस्थान में ही प्राचीनकाल में चौकोर या गोले चिपटे चांदी के सुन्दर सिक्के बनते थे, जिनको 'कार्षापण' कहते थे। उन पर भी लेख नहीं होते थे केवल सूर्य, मनुष्य, वृक्ष आदि के ही ठप्पे लगते थे। ई० स० पूर्व की पांचवी शताब्दी के आसपास से लेख वाले सिक्के मिलते हैं।"[१]

नागरिक शास्त्र

इतिहास की भांति 'नागरिक शास्त्र' में इतिवृत्तात्मकता अथवा वर्णनात्मक शैली की प्रधानता नहीं होती। यह वस्तुतः नागरिकों के साथ राज्य के अन्तर्गत शक्तियों के परस्पर कर्त्तव्य और अधिकारों से सम्बन्धित होता है। अतः इसमें विवेचनात्मक शैली की प्रमुखता रहती है और वर्णनात्मक शैली की गौणता।

प० जनार्दन भट्ट

विषय की शास्त्रीय प्रकृति, भाषा में व्याकरणगत शुद्धता एवं एकरूपता का

---

१. (भारतीय इतिहास सम्बन्धी खोज और उसका फल) : नागरी-प्रचारिणी पत्रिका : अषाढ़-श्रावण १९७३ : पृ० १२-१३।

दृढ़ आग्रह नहीं करती, फिर भी यथासम्भव उपयोगी विषयों में भी विशुद्ध, व्याकरण-सम्मत भाषा का प्रयोग अपेक्षित रहता है। भट्टजी की भाषा में इसकी पूर्ण उपेक्षा की गई है। निःसन्देह विषय के अनुकूल भाषा-शैली विवेचनात्मक है; परन्तु भाषा अपरिष्कृत तथा त्रुटिपूर्ण है। कहीं-कहीं लम्बे वाक्यों में विन्यासगत व्यतिरेक भी उत्पन्न हो गया है। यथा—

"राष्ट्र वास्तव में व्यक्ति से एक स्वतन्त्र वस्तु है"

"वे लोग बड़ी भारी गलती करते हैं जो इस बात का आग्रह करते हैं कि राष्ट्र केवल व्यक्तियों के लिये है और शासन का उद्देश्य केवल व्यक्तियों के हित और सुख की रक्षा करने के सिवाय कुछ नहीं है। इस बात पर आग्रह करने का फल यह होगा कि राष्ट्र का असली तत्त्व नाश हो जायगा और जाति के नियम और व्यवस्था व्यक्तियों के नियम हो जायंगे। हरेक वीर और आत्माभिमानी जातियों में हजारों ऐसे मनुष्य निकलेंगे जो राष्ट्र के ऊपर विपत्ति पड़ने पर या ऐसी आवश्यकता पड़ने पर बड़े बड़े दुःख और क्लेश सहने को तैयार रहते हैं तथा अपने जीवन को भी अपने देश के लिये बलिदान करने को तैयार रहते हैं। इस बड़े स्वार्थत्याग का कारण यही है कि वे राष्ट्र को एक ऐसी आवश्यक वस्तु समझते हैं जिसकी रक्षा और भलाई करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। यदि राष्ट्र का उद्देश्य सिर्फ व्यक्तियों के स्वार्थ को पूरा करना ही समझा जाय और यदि राष्ट्र और कुछ नहीं सिर्फ व्यक्तियों का एक समूह समझ लिया जाय तो संसार के बड़े बड़े वीरों का इतिहास जिन्होंने स्वराष्ट्र और स्वजाति के लिये तरह तरह के क्लेश सहे और अपने जान तक को न्योछावर कर दिया सिर्फ मूर्ख और पागल मनुष्यों की कहानी समझी जायगी।"[1]

जीवन-चरित्र

जीवन-चरित्र साधारणतः व्यक्तिगत इतिहास है, जिसमें कि नायक के सम्बन्ध में उपलब्ध सूत्रों को क्रमबद्ध सुन्दर ढंग से संजोया और सजाया जाता है। जीवनी की महत्ता का श्रेय यथार्थ में नायक की श्रेष्ठता को उतना नहीं है, जितना कि चरित्र-लेखक को है। चरित्र-लेखक अपनी कला के स्पर्शमात्र से साधारण से साधारण चरित्र को उत्कृष्ट बना देता है। अतः, जीवन-चरित्रों में शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ० दशरथ ओझा के मत से तो शैली का महत्त्व सबसे अधिक जीवनियों में स्पष्ट होकर निखरता है।[2]

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए द्विवेदी-युग में जिस भावात्मक शैली का प्रयोग किया जाता था, उसका ही एक अच्छा उदाहरण यहां प्रस्तुत है। इसमें भाव-विभोरता के साथ अनेकों विचार तरंग और कल्पनाओं को स्फुटित होने का

१. मर्यादा : भाग २।३ : पृ० ११७-११८।
२. समीक्षा-शास्त्र : पृ० २००।

अवसर मिल गया है। भाषा में अलंकारों का भी बाहुल्य है। अनुप्रास ही नहीं, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग गई है और गद्य-काव्य की-सी भाषा-शैली का समा बंध गया है। जैसे—

साहित्याचार्य प० अम्बिकादत्त व्यास

"काशी में उदासी छाई हुई है ! बिहार शौक से विह्वल है। भारतवर्ष की शिक्षित मण्डली के मुखों की कान्ति मलिन हो रही है। आरा, छपरा और बांकीपुर की विद्वज्जन-मण्डली की आंखें डबडबाई हुई हैं। हिन्दी-साहित्य की फूली-फुलवारी पर पाला पड़ गया। भाषा-कविता की खिली वाटिका में ओले गिर गये। जिनकी यह दिव्य मूर्ति देखते थे, आज वह भारत-रत्न साहित्याचार्य पण्डितवर अम्बिका दत्त व्यास इस संसार में नहीं हैं। बिकलते हुए बालक पुत्र, कन्या को छोड़कर, रोती हुई पत्नी और कुटुम्बियों को छोड़कर, शोकग्रस्त मित्र-मण्डली को छोड़कर गत मार्गशीर्ष बदी १३ सोमवार को रात के तीन बजे उन्होंने काशीपुरी में प्राण त्याग किया। भगवान् विश्वनाथ की पुरी में उनकी राख की ढ़ेरी हो गई !

भाषा का वह अद्वितीय सुवक्ता अब नहीं है। वह वक्तृता के मिष-मोहिनी-मन्त्र फूँकनेवाला अब नहीं है। जो दस साल की उमर से साहित्य-संसार में उदित होकर, अपनी अपार ज्योति फैला रहा था, वह प्रतिभाशाली साहित्याचार्य अब इस संसार में नहीं है। आज भारत, रत्न-विहीन है, साहित्य आचार्य-विहीन है, शास्त्र, व्यास-विहीन है, सनातन हिन्दू-धर्म, अम्बिका दत्त-विहीन है। आज भारत की वह चीज लुट गई है, जिसका फिर प्राप्त होना कठिन है। चारों ओर से लम्बी सांस के साथ यही सुनाई देता कि हा ! व्यास जी !"[१]

आत्म-कथा

यशोदानंदन अखौरी

प्रौढ़ विवरणात्मक शैली का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अखौरीजी ने व्याकरण जैसे अत्यधिक शुष्क विषय में भी रोचकता उत्पन्न कर दी है। आत्म-कथा एवं जीवनियां मूलतः व्यक्ति-प्रधान होती हैं। उनमें अपने व्यक्तित्व का रंग भरने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। अखौरीजी स्वयं एक सफल कथाकार थे, अतः, उन्होंने सरल, सुबोध एवं विनोदात्मक शैली का सुन्दर निर्वाह किया है। उनकी भाषा प्रायः शुद्ध है जिसमें उर्दू-फारसी के शब्दों को कम स्थान मिला है। उनके विनोद के साथ में व्यंग्य भी है। विशेषता यही है कि वह निम्न या सामान्य कोटि का न होकर उच्चकोटि का है। उसमें हृदय के साथ मस्तिष्क का अधिक योग है। यही कारण है कि उनकी विवरणात्मक शैली में विवेचनात्मक शैली का मिश्रण हो गया है। जैसे—

"+ + + अपने जन्म का सन्-संवत-मिति-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं है,

१. गुप्त-निबन्धावली : चरित-चर्चा पृ० १९।

याद है केवल इतना ही कि जिस समय 'शब्द का महा अकाल' पड़ा था, उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता का नाम 'इति' और पिता का 'आदि' है। मेरी माता अविकृत 'अव्यय' घराने की है। मेरे लिये यह थोड़े गौरव की बात नहीं है, क्योंकि भगवान फणीन्द्र की कृपा से 'अव्यय' वंशवाले, प्रतापी महाराज 'प्रत्यय' के कभी आधीन नहीं हुए। सदा स्वाधीनता से विचरते आये हैं।

मैं जब लड़का था, तब मेरे मां-बाप ने एक ज्योतिषी से मेरे अदृष्ट का फल पूछा था। उन्होंने कहा था कि यह लड़का विख्यात और परोपकारी होगा; अपने समाज में यह सबका प्यारा बनेगा; पर दोष है तो इतना ही कि यह कुंवारा ही रहेगा। विवाह न होने से इसके बाल-बच्चे न होंगे। मां-बाप के मन में यह सुनकर पहले तो थोड़ा दुःख हुआ, पर क्या किया जाय? होनहार ही यह था। इसलिए सोच छोड़कर उन्हें सन्तोष करना पड़ा। उन दोनों ने, अपना नाम चिर-स्मरणीय करने के लिए (मुझसे ही उनके वंश की इतिश्री थी) मेरा नाम कुछ और नहीं रक्खा। अपने ही नामों को मिलाकर वे मुझे पुकारने लगे। इससे मैं इत्यादि कहलाया।

पुराने जमाने में मेरा इतना नाम नहीं था। कारण यह, कि एक तो लड़कपन में थोड़े लोगों से मेरी जान-पहिचान थी; दूसरे उस समय बुद्धिमानों के बुद्धि भाण्डार में शब्द की दरिद्रता भी न थी। पर जैसे जैसे शब्द दारिद्रय बढ़ता गया, वैसे-वैसे मेरा सम्मान भी बढ़ता गया। आजकल की बात मत पूछिये। आजकल मैं मैं ही हूं।"[1]

(ख) पत्र-साहित्य

पत्र तथा शैलियां

शैलियों की दृष्टि से पत्र-साहित्य का भी विशेष महत्त्व है। समाचार-पत्रों का जो स्थान समाज में है, प्रायः वैसा ही स्थान पत्रों का वैयक्तिक जीवन में है। समाचार पत्रों से स्थानीय, देशी-विदेशी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है, तथा पत्र अथवा चिट्ठियों से पारिवारिक जन, मित्र, सम्बन्धी, व्यापार, काम-काज, नौकरी-चाकरी आदि व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित विचारों-भावों का आदान-प्रदान होता है। इनमें भी आत्मीयों से किये गए पत्र-व्यवहार में ही लेखक का हृदय खुलकर वास्तविक रूप में प्रगट होता है, इसके विपरीत व्यापार, काम-काज, नौकरी आदि के पत्रों में बाह्य औपचारिकता की ही मूलतः निहिति रहती है। इसी घरेलूपन से भरी छोटी-छोटी बातों में ही पत्र लेखन-कला की सफलता का रहस्य छुपा है।[2] अतः, शैलियों की दृष्टि से केवल व्यक्तिगत और आत्मीय पत्रों का ही अध्ययन उचित है। शैली की दृष्टि से प्रेमी के पत्रों में जो आत्म-तन्मयता एवं हृदय का एकीकरण रहता है, वह जितना सजीव, सुन्दर तथा सप्राण होता है कि उसकी तुलना में प्रखर मेधा और अनुभवी लेखनी भी ठिठक जाती है। ऐसे पत्र मिश्री से मधुर तथा मदिरा से अधिक मादक होते हैं। पत्र

१. इत्यादि की आत्म-कहानी : सरस्वती, जून, १९०४ : पृ० १९२-३।
२. पद्मसिंह शर्मा के पत्र : सं० बनारसीदास चतुर्वेदी : भूमिका : पृ० १८।

की प्राप्ति प्रिय की प्राप्ति का आनन्द देने की क्षमता रखती है। वह हृदय की वस्तु तथा साहित्य का भूषण होता है।

पत्र-लेखन वास्तव में एक कला है। पत्रों में व्यक्तित्व के स्फुरण के लिए जितना स्पष्टतः अवसर प्राप्त होता है, वह अन्य किसी साहित्यिक विधा में नहीं मिलता।[1] अथवा कम मिलता है। व्यक्तित्व की अपनी वैयक्तिक सत्ता होती है और निजीपन होता है, जो कि व्यक्तिगत जीवन में अधिक स्पष्टता से स्फुटित होता है। कवि या साहित्यकार जिन भावनाओं अथवा विचारों को अपनी अन्य रचनाओं में व्यक्त नहीं कर सकता, उन्हें भी वह अपने व्यक्तिगत पत्रों में निःसंकोच भाव से प्रगट कर देता है। उसके जीवन या प्रवृत्ति का परिवर्तन कब और कैसे हुआ, यह पत्रों में ही जाना जा सकता है। निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि रचनाओं में उसे उनकी सार्वजनिक सत्ता का पूर्वाभास रहता है, अतएव उसे अपने भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति नाप-तौल और सोच-समझकर करनी पड़ती है। उनमें औपचारिकता, नाटकीय रंगमंच की साज-सज्जा और कृत्रिमता रहती है। इससे उसे साहित्य का रूप-विधान, विषय-वस्तु, पाठकों की योग्यता आदि का ध्यान रखकर, संतुलित शब्द-चयन, पद-विन्यास तथा वाक्य-रचना करने को सजग रहना पड़ता है। उसकी इस सजगता एवं कृत्रिमता का अवगुंठन हटाकर, उसे उसके व्यक्तिगत जीवन में अवलोकन करने या अभिनेता को प्रेक्षागृह में जाकर देखने पर, स्वाभाविक रूप, रंग, मस्ती, आह्लाद आदि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पत्र-साहित्य का अध्ययन शैलीकार के व्यक्तित्व के इस मूल रूप के दर्शन करने का अवसर देता है, वैसे निबन्धों में भी शैलीकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवसर रहता है; परन्तु रंगमंच के अभिनेता की भांति कृत्रिमता और प्रदर्शन की वृत्ति उसमें सजग रहती है। अतएव व्यावहारिक बन्धनों से उन्मुक्त, प्रदर्शन की भावना से ऊपर उठकर आत्मीय जन के समक्ष शैलीकार के व्यक्तित्व का जो प्रगटीकरण होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। निःसन्देह पत्रों में दुराव-छिपाव बनावट-सजावट को स्थान नहीं रहता, फिर भी उनका क्षेत्र सीमित और संकुचित होता है। यद्यपि वैयक्तिक पत्र भी कई उद्देश्यों से लिखे जाते हैं, पर उनका विषय-विस्तार निबन्धों की तुलना में बहुत सीमित होता है।

हिन्दी में पत्र-साहित्य

पश्चिमी-साहित्य में प्राचीनकाल से पत्रों के स्वरूप-विधान पर भी विचार किया गया है। वहां फेनी ब्राउन, बर्नार्ड शॉ, रोमां रोला, कीट्स आदि के पत्रों का साहित्यिक महत्त्व है। इस प्रकार का पत्रों के सम्बन्ध में शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक विचार भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने नहीं किया है। अर्टमेन, जिसने की अरस्तु के पत्रों का सम्पादन किया है, के मतानुसार पत्रों को भी उसी ढंग से लिखा जाना चाहिये जैसे कि संवाद।

---

१. Indeed all literary composition enables the reader to see the character of the writer, but none does this so clearly as the letter."

—*Dematrius : On Style* : p. 251.

उसके मत से पत्र, संवादों का विपरीत पहलू है।[१] पत्र निःसन्देह संवादों से बड़े होते हैं। पत्रों में स्वाभाविकता और यथातथ्यता दोनों रहते हैं। उनमें औपचारिकता का समावेश न होकर आत्मीयता या मैत्रीभाव के कारण श्री, श्रीमान्, लाल, प्रसाद, उपाधि आदि का प्रयोग नहीं रहता, साथ ही किसी वकील के लेखन की भांति प्रत्येक तथ्य को पृथक्-पृथक् खण्डों में प्रस्तुत नहीं किया जाता है। अतः, पत्र प्रायः बिना प्रघट्टक विभाजन के एक साथ ही लिखे जाते हैं।

पत्रों में बहुधा स्थूल भावों की ही अधिकता रहती है। सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट भावों तथा विचारों को विशेष स्थान नहीं रहता। इसलिए भावानुकूल भाषा-शैली सीधी, सरल तथा स्वाभाविक रहती है। सजावट तथा अलंकार-विधान प्रायः नहीं रहता। हां, आकर्षण अवश्य रहता है, जिससे सैकड़ों मील दूर बैठे हुए दो हृदय पास आ जाते हैं।

पत्र-कला की विशेषता से आकर्षित होकर, पश्चिमी उपन्यास-कहानियों के अनुकरण पर द्विवेदी-युग में ही उपन्यासों में पत्र-लेखन-शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

हिन्दी में पत्र-साहित्य की स्थिति अभी तक बहुत क्षीण-हीन है। इस ओर हमारे यहां विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। परिणामतः हिन्दी के बड़े-बड़े साहित्यकारों के पत्र काल-कवलित हो गये। यूरोपीय देशों में विशिष्ट व्यक्तियों के पत्रों के संग्रह सुदीर्घ काल से प्रकाशित किये जाते रहे हैं और उनका व्यक्तित्व एवं शैली के अध्ययन में शीर्ष स्थान रहा है। द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में ही प्रथमतः स्वामी श्रद्धानन्द ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के पत्रों का संग्रह प्रकाशित किया। इसके पश्चात् 'द्विवेदी-पत्रावली' के रूप में द्विवेदीजी के पत्रों का पुस्तकाकार बृहत् संग्रह बैजनाथसिंह विनोद ने भारतीय ज्ञान पीठ काशी से सन् १९५४ में प्रकाशित किया। युग-पुरुष द्विवेदीजी के पत्र गद्य-शैलियों के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व भी रखते हैं। उनके व्यक्तित्व तथा जीवन का सर्वाधिक प्रामाणिक आधार भी ये हैं।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का संग्रह 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से १९५६ में प्रकाशित किये हैं। इसके पश्चात् 'बापू के पत्र' बजाज परिवार के नाम, काका कालेलकर ने अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, काशी से १९५७ में प्रकाशित किये। महात्मा गांधी के ये पत्र हिन्दी-पत्र-साहित्य में अपना स्थान रखते हैं। और इन्हें 'सन्त-संवाद' की संज्ञा प्रदान की गई है।[२] पं० माखनलालजी चतुर्वेदी ने अपने पत्रों का भी एक अच्छा संग्रह किया है, जो अप्रकाशित है।

सौभाग्य से उपर्युक्त संग्रहों के पत्र द्विवेदी-युग की निधि हैं। 'संस्मरण स्वरूप पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अमर शहीद एवं युग के श्रेष्ठ पत्रकार गणेशशंकरजी

---

१. Arteman, who edited Aristotle's letters says that dialogue and letters should be written in the same manner. A letter, he says, is as it were the reverse side of a dialogue. —*Dematrius : On Style :* p. 250.

२. बापू के पत्र : सं० काका कालेलकर : भूमिका : पृ० ८।

विद्यार्थी के पत्रों को भी संग्रहित किया है। अतः, कई दृष्टियों से ये पत्र भी महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख साहित्यकारों की पत्र-शैलियां

प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्र

द्विवेदीजी की भाषा-शैली में अनूठी सादगी और सरलता रहती है। यद्यपि उनके ये पत्र-व्यक्तिगत हैं, परन्तु उनमें भी उनकी समष्टिगत शैली का रूप मिलता है। छोटे-छोटे वाक्य गति के साथ आते हैं और पाठक के सामने एक शब्द-चित्र उपस्थित हो जाता है। बाह्य आडम्बर, औपचारिकता अथवा साज-सज्जा से स्वयं परे रहने के कारण उनकी शैली भी इनसे दूर है। उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी इन पत्रों से हो जाती है। लेखों की भांति उनके पत्रों में भी कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक, उर्दू-फारसी के शेर तथा उक्तियां रहती हैं।

पं० कामताप्रसाद गुरु को

(क) "+ + + शुक्लजी की उम्र कोई ३० वर्ष की है। सेण्ट्रल हिन्दू कालेज बनारस में ए० फ० (एम० ए०) तक पढ़ा है। पर फेल हैं। बाहरी पुस्तकें पढ़ने में मस्त रहने के कारण पास नहीं हुए। संस्कृत भी साधारण जानते हैं। कुछ उर्दू का भी ज्ञान रखते हैं। हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-लेखकों से खूब परिचय रखते हैं। बड़े विद्या-व्यसनी हैं। प्रतिष्ठित खानदान के हैं। स्वभाव और वेश-भूषा में सादगी का औतार हैं। इनके कई लेख 'सरस्वती' में निकल चुके हैं। दो एक का हवाला भी लीजिए—
+ + + +"[1]

म० प्र० द्विवेदी
३१-७-१९१९
दौलतपुर, रायबरेली
३०-१-१५

(ख) "+ + + अगले साल मुझे अपनी·············भानजी की शादी करना है। इस कारण मैं चाहता हूं कि यदि बैंक का देना चुकता कर दिया जाय तो उस काम की फिक्र में लगूं। मैं रिश्वत देना नहीं चाहता। बीस पच्चीस रुपये मैं आपको खुशी से भेज दूंगा। मैं इसी को पुण्य खाते देना समझूंगा। इतने से यदि काम न चल सकेगा तो दस-पांच और दे दूंगा। इस रुपये को आप चाहे जिसे दें और जिस तरह खर्च करें। आप अपने मित्रों से मिलकर मुझे लिखिए कि यह हो सकेगा या नहीं। यदि हां, तो क्या कार्रवाही करनी पड़ेगी। ड्राफ्ट जैसा वे बतावें लिख भेजिए, या जो वजूहात लिखने की राय दें वही बता दीजिए। बड़ी कृपा होगी। मैं झूठ बोलने से डरता हूं। यह मुझे न करना पड़े, तो बहुत अच्छा हो। मैं लाहौर चला आता। मगर मेरी

१. द्विवेदी-पत्रावली : सं० बैजनाथसिंह विनोद : पृ० २२२-२२३

तन्दुरुस्ती इतनी दूर सफर करने योग्य नहीं। अतएव इस उपकार का भार आप ही पर छोड़ता हूं।

सिपुर्दम बतो मायये खेशरा
तुदानी हिसाबे कमो बेशरा।[1]

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

गणेशशंकर विद्यार्थीजी के पत्र

आत्मोत्सर्ग के मूर्तिमन्त प्रतीक विद्यार्थीजी युग के एक श्रेष्ठ पत्र-सम्पादक ही नहीं, महा-मानव भी थे। उनकी भाषा-शैली सरल, साधु एवं आत्म-व्यंजक है। दुराव-छिपाव तथा प्रदर्शन की वृत्ति उसमें कहीं लक्षित नहीं होती। उन्होंने बोलचाल की व्यावहारिक भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। आत्मीय समीपता पत्र-शैली की विशेषता रहती है। अच्छे पत्रों में पत्र-प्रेषक और पत्र-प्राप्तकर्त्ता की सैकड़ों कोस की दूरी दूर हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि पत्र के रूप में प्रेषक स्वयं उपस्थित होकर भावाभिव्यक्ति कर रहा है। विद्यार्थीजी के पत्रों की शैली का यही मुख्य गुण है। परस्पर बातचीत के छोटे-छोटे वाक्य हैं, जिनमें उर्दू-फारसी, देशज, अंग्रेजी आदि के शब्द बेरोकटोक आ गये है। जैसे—

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वन्दे।

आपका कृपा पत्र मिला। मैं गत सप्ताह से छुट्टी पर हूं, इसलिए आपके पत्र का उत्तर न दे सका। आपने जो शंका प्रकट की है वह ठीक है। मैं कौंसिल में जाना लाभदायक नहीं समझता। वहां का वायुमण्डल बहुत विषैला है और कौन्सिल से देश या साधारण आदमियों को कोई लाभ नहीं पहुंच सकता। इसके अतिरिक्त मैं यह भी देख रहा हूं कि हममें से जो लोग कौंसिल में आयेंगे, उनकी और अधिक ख्वारी होगी, और वे और भी नीचे आयेंगे। कानपुर कांग्रेस ने अपने ऊपर इलेक्शन का काम लेकर देश को बहुत हानि पहुंचाई। मैं कौन्सिल में कतई नहीं जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूंगा, यदि इसकी छूत से बचा रहूं। यहां का हाल यह है कि कानपुर में जान तो है और लोग साहस जोश के भी हैं, किन्तु उनके पास कौन्सिल युद्ध के लिये उपयुक्त बलिदान नहीं है। डॉ० मुरारीलाल और डॉ० जवाहरलाल डेढ़-डेढ़ वर्ष के लिए सजायाब होने के कारण खड़े नहीं हो सकते। अब उनके लिए मैं ही एक आदमी ऐसा दिखाई देता हूं, जिसे लेकर वे कानपुर के एक ऐसे आदमी के मुकाबिले में सफलता की आशा करते हैं जो लाट साहब से हाथ मिलाने की ख्वाहिश पूरी करने के लिए ५०,००० रुपया खर्च करने के लिए तैयार है और जो रुपये के बल पर कानपुर के वोटों को अपने हाथों में करने का दम भरता है। कांग्रेस कमेटी

१. द्विवेदी-पत्रावली : सं० बैजनाथसिंह विनोद : पृ० २२२-२२३

ने एक मत से मेरा नाम रखा। मैंने इसका विरोध किया। हम दो विरोधी थे, मैं और बालकृष्ण। उसके बाद यह बात प्रान्तिक कमेटी की कौन्सिल के सामने गई। मैंने वहां स्पष्ट रूप से लिखकर भेजा कि मुझे माफ कीजिए, किन्तु इस विनय पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया और वहां भी मेरा नाम रख दिया गया। उसी को आपने पत्रों में देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मैं प्राण बचाता हूं किन्तु देवी का उपासना करने वाले बलिदान के लिये मुझे पकड़ते फिर रहे हैं। मैंने अन्तिम निर्णय के लिये दस दिन की मोहलत मांग ली है, जो दस जून को समाप्त होगी। मेरे सामने विचारने की यह बात है कि यदि मैं बलिदान होने के लिये राजी नहीं होता, तो यहां के पुराने कार्यकर्त्ता कांग्रेस से स्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे कांग्रेस में रहते हुए कांग्रेस की प्रतिष्ठा जाते हुए नहीं देखना चाहते। बार-बार कांग्रेस की प्रतिष्ठा की दुहाई दी जा रही है। मैं यह बात पेश कर रहा हूं कि मैं अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी, कौन्सिल की उपयोगिता पर विश्वास नहीं करता और यह समझता हूं कि जो बहुत साधारण-सा अन्तर इस समय स्वराजियों, प्रति सहयोगियों और नेशनल पार्टी में दिखाई दे रहा है, वह इलेक्शन के बाद न रह जायगा। मैं यह भी कहता हूं कि मैं हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े का मूल कारण इलेक्शन आदि को समझता हूं। और कौन्सिल में जाने के बाद आदमी देश और जनता के काम का नहीं रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रों से राय मांगी है। आप भी अपनी राय देने की कृपा करें।

१० जून तक कुछ निर्णय कर सकूंगा। चतुर्वेदीजी इस संकट में मैं आप ऐसे मित्रों की समवेदना का अधिकारी हूं। मैं अपने सहयोगियों से शुष्क व्यवहार इसलिये भी नहीं कर सकता कि हमारे आपस के सम्बन्ध सदा बहुत कोमल रहे हैं। आशा है, आप सानन्द होंगे।[1]

आपका
ग० शं० विद्यार्थी

पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र

शैली की श्रेष्टता एवं विशिष्टता की सबसे बड़ी निर्देशक उसकी वैयक्तिकता है। जिस शैली में वैयक्तिक विलक्षणता जितनी अधिक मात्रा में रहती है, वह कलाकार उतना ही महान् होता है। शर्माजी की भाषा-शैली इस दृष्टि से अत्यधिक वैयक्तिक है। निबन्ध, समीक्षा, सम्पादकीय टिप्पणियों, पत्रों आदि सब स्थलों पर उनकी शैली में एक रस-साम्य है। विषय-वस्तु तथा गद्य-रूप उनकी सामान्यत: व्यवहृत शैली में परिवर्तन करने में असफल रहते हैं। उनकी शैली में उनके स्वच्छन्द, सप्राण, चमत्कार-प्रेमी, बहुभाषा-विज्ञ तथा व्यंग्यात्मक व्यक्तित्व की पूरी छाप है। अगाध पांडित्य एवं गहन अध्ययन के फल-स्वरूप उनके पत्रों में भी उद्धरण, उदाहरण, उर्दू-फारसी के शेर तथा संस्कृत के श्लोक आदि उपलब्ध होते हैं। जैसे—

१. संस्मरण : पं० बनारसीदास चतुर्वेदी : पृ० ८९-९० ।

(बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गये पत्र)

प्रिय चतुर्वेदीजी,

नमस्कार

आपके दोनों कृपा-पत्र यथा समय पहुंचे। उत्तर में कुछ विलम्ब हुआ। मैं आपकी कठिनाइयों को जानता हूं और आपकी हिम्मत की तारीफ करता हूं। यह आप ही का हौसला है जो इन दिक्कतों में इतना काम कर लेते हैं। लीडर तो आप हैं पर फण्ड की कमी है। लीडर के लिए तीन चीजें जरूरी हैं, फण्ड, अखबार और प्लेट-फार्म। इन चीजों की बदौलत लीडर टोटे में नहीं रहते। व्यापारियों से कहीं अच्छे पड़ रहते हैं। लीडरी बड़े नफे का सौदा है। बे-पूंजी की तिजारत है, पर जरा ढंग आना चाहिए। आपको वह ढंग नहीं आता, आयगा भी नहीं। आपके हिस्से में तो नुकसानात सहना ही है, खैर, कोई लीडर ऐसा भी चाहिए।

पसन्द आने की बात है, आपको अकबर के संस्मरण न जाने क्यों इतने पसन्द हैं, उनमें कोई ऐसी खास बात तो नहीं है। आपका मुद्दत से तगाजा था उससे छुटकारा पाने के लिए कुछ फुटकर बातें जल्दी में लिख दी थीं। अपनी पसन्द की चीज़ पसन्द आती ही है। 'वसन्तिहिं प्रेमिण गुणन वस्तुति' अस्तु।

फुरसत हो तो खासा पोथा—संस्मरण—पुराण बन सकता है। पर काम बड़ा मुश्किल है। सबके रोने को किसका जिगर लाऊं।

"कहां से लाऊंगा खूने जिगर इनके खिलाने को
हज़ारों तरह के गम दिल के महमां होते जाते हैं।"

सूखे हुए जख़्म हरे होते हैं। पुरानी चोटें ताजा होकर दुखती हैं। कभी-कभी सोये संस्कार जाग पड़ते हैं और दिल को बेचैन कर देते हैं। पं० भीमसेनजी के दुःखप्रद संस्मरणों ने हिम्मत की कमर तोड़ दी। इस कूचे में धंसते जी डरता है। ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है कि मनुष्य का स्वभाव विस्मरणीय बनाया है पूर्व-जन्मों के सम्बन्ध याद नहीं रहते, वर्ना आदमी एक दिन भी जिन्दा न रह सकता। पागल हो जाया करता या मर जाया करता। एक ही जन्म के सम्बन्धों की धुंधली याद बावला बना देती है। सहृदय की तो मौत है, परम ज्ञानी या हृदयहीन की बात दूसरी है। कम-से-कम मैं तो अपने हृदय की निर्बलता से बहुत तंग हूं। कभी-कभी तो ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि इस आफत से बचा—

"इलाही! है सकत ने मुल्ब दल के तुझको देने की,
मुझे इसके एवज़ तू कुछ न दे, पर फेर ले दिल को।"[1]

\+ \+ \+ \+

भवदीय
पद्मसिंह शर्मा

१. पद्मसिंह शर्मा के पत्र : सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी : पृ० ७२-७३।

महात्मा गांधी के पत्र (१८६९-१९४८ ई०)

महात्मा गांधी के पत्र व्यक्तिगत होते हुए भी अपनी विशिष्ट शैली तथा उपादेयता के कारण समष्टिगत हैं। इन पत्रों में उनकी सहृदयता एवं आत्मीयता दोनों ही हैं। गांधीजी का यथार्थ जीवन तथा व्यक्तित्व, व्यक्ति-विशेष तक सीमित न था, वे तो समाज की वस्तु थे। इस कारण से उनके इन व्यक्तिगत पत्रों की सार्वजनिक उपादेयता है। भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए उन्होंने सरल तथा व्यावहारिक शब्दों का ही उपयोग किया है। अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार विराम-चिह्नों का भी प्रयोग किया है।

गांधीजी की भाषा-शैली में विवेचना को भी पर्याप्त स्थान मिला है। यदि कहीं-कहीं औपचारिक सम्बोधन या अन्त में शुभेच्छुक आशीर्वाद आदि पत्र के संकेतिक चिह्नों का प्रयोग न किया जाय तो हमें न्यूनाधिक रूप में वे लेख-से प्रतीत होते हैं। उनके पत्र की भाषा भी परिष्कृत, परिमार्जित तथा साहित्यिक है। उच्च-स्तरीय बोल-चाल की भाषा का सुन्दर उदाहरण उनके पत्रों में उपलब्ध होता है। जैसे—

साबरमती जैल
१६-३-२२

चि० जमनालाल,

जैसे-जैसे मैं सत्य की शोध करता जाता हूं, मुझे प्रतीत होता है कि उसमें सब कुछ आ जाता है। प्रायः यह प्रतीत होता रहता है कि अहिंसा में वह नहीं है, परन्तु उसमें अहिंसा है। निर्मल अन्तःकरण को जिस समय जो प्रतीत हो वह सत्य है। उस पर दृढ़ रहने से शुद्ध सत्य की प्राप्ति हो जाती है। उसमें मुझे कहीं धर्म संकट भी मालूम नहीं होता। लेकिन अहिंसा किसे कहें इसका निर्णय करने में प्रायः कठिनाई का अनुभव होता है। जन्तु नाशक पानी का उपयोग भी हिंसा है। हिंसामय जगत में अहिंसामय बनकर रहना है। वह तो सत्य पर दृढ़ रहने से ही हो सकता है। इसलिए मैं तो सत्य में से अहिंसा को फलित कर सकता हूं। सत्य में से प्रेम की प्राप्ति होती है। सत्य में से मृदुता मिलती है। सत्यवादी सत्याग्रही को एकदम नम्र होना चाहिए। जैसे-जैसे उसका सत्य बढ़ता है वैसे ही वह नम्र बन जायगा। प्रति क्षण मैं इसका अनुभव कर रहा हूं। इस समय सत्य का मुझे जितना ख्याल है, उतना एक वर्ष पहले न था और इस समय मैं अपनी अल्पता को जितना अनुभव कर रहा हूं, उतना एक साल पहले नहीं कर पाता था।

मेरी दृष्टि में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस कथन का चमत्कार दिनोंदिन बढ़ता जाता है इसलिए हमें हमेशा धीरज रखनी चाहिए। धैर्य पालन से हमारे अन्दर की कठोरता चली जायगी। कठोरता के न रहने पर हममें सहिष्णुता बढ़ेगी। अपने दोष हमें पहाड़ जितने बड़े प्रतीत होंगे और संसार के राई से। शरीर की स्थिति अहंकार को लेकर है। शरीर का आत्यंतिक नाश मोक्ष है। जिसके अहंकार का सर्वथा नाश हुआ है, वह मूर्तिमन्त सत्य बन जाता है। उसे ब्रह्म कहने में भी कोई बाधा नहीं हो सकती। इसीलिए परमेश्वर का प्यारा नाम तो दासानुदास है।

स्त्री, पुत्र, मित्र परिग्रह सब कुछ सत्य के अधीन रहना चाहिए। सत्य की शोध करते हुए इन सबका त्याग करने को तत्पर रहें तो भी सत्याग्रही हुआ जा सकता है।

इस धर्म का पालन अपेक्षाकृत सहज हो जाय इस हेतु से मैं इस प्रवृत्ति में पड़ा हूं और तुम्हारे समान लोगों को होमने में भी नहीं हिचकता। इसका बाह्य स्वरूप हिन्द-स्वराज्य है। उसका सच्चा स्वरूप तो उस व्यक्ति का स्वराज्य है। अभी एक भी ऐसा शुद्ध सत्याग्रही उत्पन्न नहीं हुआ है। इसी कारण यह देर हो रही। किन्तु इसमें घबराने की तो कोई बात ही नहीं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि हमें और भी अधिक प्रयत्न करना चाहिए।

तुम पांचवें पुत्र तो बने ही हो। किन्तु मैं योग्य पिता बनने का प्रयत्न कर रहा हूं। दत्तक लेने वाले का दायित्व कोई साधारण नहीं है। ईश्वर मेरी सहायता करे और मैं इसी जन्म में उसके योग्य बनूं।

शुभेच्छुक बापू के
आशीर्वाद

गांधीजी के विनोदी व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके पत्रों में हुई है। मीठी चुटकियां, परिहास के साथ मुहावरों के सुन्दर प्रयोग ने उनकी भाषा को बहुत हृदयग्राही बना दिया है। विशेष भावाभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी तथा देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनमें अपनी कहने के साथ दूसरे की सुनने की भी लालसा रहती है। वाक्य छोटे तथा उनका विन्यास सरल है। जैसे—

२१-९-३०

चि० जानकी बहिन,

तुम बहुत चंट मालूम होती हो। ज्यों-ज्यों करके पत्र लिखने से बच निकलना चाहती हो। और यदि भाषण करते-करते हाकिम-डिक्टेटर बन जाओगी तो फिर मुझ जैसे के तो बारह ही बज जायंगे? मालूम होता है जमनालाल ने नासिक में अपना धंधा ठीक जमा लिया है। यह तो मैं जानता ही था। उनके पंजे से कोई छूट ही नहीं सकता। मदू पहले तो पत्र लिखती थी, अब तुम्हारी तरह ही आलसी हो गई है। ऐसी ही आलसी बनी रही तो तुम्हारे पास से उसे हटा लेने का हुक्म जारी करना पड़ेगा। अब शरीर कैसा है? ओम उपद्रव करती है या नहीं?

बापू के आशीर्वाद

दुबेजी की चिट्ठी

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९१-१९४६ ई०)

वैयक्तिक पत्रों की शैली में लिखे गए पत्रों में, पाठक तथा सम्पादक के पत्र भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। शैली में ये भले ही व्यक्तिगत हैं; परन्तु उनका उद्देश्य समष्टिगत होता है। बृहत् समाज से सम्बन्धित विषय की ही इन पत्रों में चर्चा की जाती है। ऐसी स्थिति में इन पत्रों की भाषा-शैली बहुधा चटपटी, व्यंग्यात्मक, सरल

एवं व्यावहारिक रहती है। बृहत् समाज का हृदय आन्दोलित करने के लिए मर्मस्पर्शी शब्दों, पदों तथा मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। भाषा को विशुद्ध रखने का आग्रह भी इनमें नहीं निभ सकता। विजयानन्द दुबे की चिट्ठी सामाजिक पाखण्ड पर प्रचण्ड चोट करने में बहुत प्रसिद्ध हुई। इसकी शैली के अनुकरण पर बहुत-सी चिट्ठियां लिखी गईं, जिनमें अन्योक्ति, उत्प्रेक्षा, उपमाएं, व्यंग्य, मुहावरों आदि का विपुल मात्रा में प्रयोग किया गया है। वाक्य-विन्यास में भी परिवर्तन कर शैली में वैचित्र्य उत्पन्न कर उसकी अभिव्यंजना शक्ति में अभिवृद्धि की है। जैसे—

अजी सम्पादक जी महाराज,

जय राम जी की।

—क्या कहूं भाई, हिन्दुओं का पाखण्ड देखकर चित्त को बड़ा क्लेश होता है। हिन्दुओं ने धर्म तथा आस्तिकता को अपने मनोरंजन का साधन बना रक्खा है। उनकी समझ में ईश्वर को मानने तथा उसकी उपासना करने में दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपड़ी पर एहसान का गट्ठर लादना और दूसरे अपना मनोरंजन करना। आम के आम गुठलियों के दाम! धर्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है! देवताओं की अधिकता कुछ हिन्दुओं के लिये उतनी ही मनोरंजक है, जितनी किसी बालक के लिए खिलौनों की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर में अनेक तथा नये नये खिलौनों से खेलना पसन्द करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भर में अनेक देवताओं की आकांक्षा रखते हैं। सवेरे मुक्टेश्वर के मन्दिर में विराजमान हैं तो शाम को महेश्वरी देवी के मन्दिर में डटे हैं। दो घण्टे पश्चात् देखिये तो अन्य किसी ईश्वरी अथवा देवता के दरबार में उपस्थित हैं।

क्या ऐसा भक्ति वश करते हैं? अजी नारायण का नाम लीजिये भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता हमको नहीं है। करते हैं केवल 'मजे' के लिए। मजा ढूंढ़ते फिरते हैं—मजे के दीवाने हैं। मैंने अनेक भक्तों को यह कहते सुना 'आज अमुकीश्वरी के दरबार में गये थे, कुछ मजा नहीं आया। आज अमुकीश्वर के दरबार में कुछ आनन्द नहीं आया।' इन कमबखतों को कोई पूछे मजा नहीं आया तो इसके लिए ईश्वर तथा ईश्वरी क्या करें! उन्होंने आपको मजा पहुंचाने का ठेका ले रक्खा है क्या? और आप उनकी सेवा करने और दर्शन करने जाते हैं या मजे लूटने? जैसे लोग कबूतरबाजी, पतंगबाजी तथा अनेक प्रकार की अन्य बाजियों में मजा ढूंढ़ा करते हैं ऐसे ही कुछ भक्त लोग 'देवता बाजी' करते हैं और उसमें ढूंढ़ते रहते हैं। जिस देवता में उन्हें कुछ मजा अथवा आनन्द मिलता है, वह देवता सिद्ध देवता समझा जाता है जिसमें आनन्द नहीं आता, वह देवता नापास और देवताओं की बिरादरी में से खारिज! ऐसे देवता के मन्दिर में शाम को कोई चिराग भी नहीं जलाता। जो देवता 'मजा' देता रहता है, उसकी शान देखिये—क्या ठाट रहते हैं।

+ + +

भवदीय

विजयानन्द दुबे

(ग) अनूदित गद्य-साहित्य

अनुवाद तथा शैलियां

भाषा एवं साहित्य दोनों ही दृष्टियों से अनुवादों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब दो भिन्न साहित्य एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं तो वे परस्पर अपना प्रभाव डालते हैं। विशेषत: समृद्ध साहित्य का प्रभाव असमृद्ध एवं अविकसित साहित्य पर अधिक पड़ता है। प्रमुखत: यह प्रभाव अनुवादों के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। वैसे तो संस्कृति और साहित्य स्वभावत: गतिशील तथा ग्रहणशील होते हैं; परन्तु जब अविकसित साहित्य अपनी हीनावस्था से उद्वेलित होकर उन्नत साहित्य से आवश्यक तत्त्व-चयन का कार्य करता है, तब वह प्रभाव घनीभूत हो जाता है।

प्राय: देखा जाता है कि सभी साहित्यों ने अपनी शैशवावस्था में समृद्ध साहित्यों के सम्पर्क का पूरा लाभ उठाया है और प्रथमत: अपने कोष को अनुवादों के द्वारा भरना आरम्भ किया है। इस ग्रहण में न लज्जा की बात है और न संकोच की भावना ही। जिस भाषा या साहित्य ने मिथ्याभिमानवश, अथवा कठोर सिद्धान्तों के परिपालन के पागलपन में अन्य साहित्यों से ग्रहण करने के अपने द्वार बन्द कर दिये हैं, उन्होंने स्वयं अपना दम घोंट लिया है, फिर भले ही वह साहित्य कितना ही समृद्ध एवं समर्थ क्यों न हो। संस्कृत-साहित्य इसका उदाहरण है। इसके विपरीत जिस साहित्य ने अपने द्वार प्रभाव-ग्रहण के लिए निरभिमान रूप से सबके लिए खोल दिये हैं, उसने बहुत ही उन्नति की है। अंग्रेजी की ग्रहण-शीलता इसमें द्रष्टव्य है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का संवर्धन ही नहीं, श्रीगणेश ही अनूदित रचनाओं से हुआ है। लल्लूलाल का 'प्रेम सागर' संस्कृत की श्रीमद्भागवत का छायानुवाद है। भारतेन्दु-युग में हिन्दी की श्रीवृद्धि का श्रेय बहुलांश में अनुवादों को ही प्राप्य है। उस काल के अधिकांश भाषाविदों ने मां भारती के भाण्डार को भरने में अनुवादों की ही भेंट चढ़ाई है। हिन्दी में मुख्यत: संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के ग्रन्थों से अनुवाद किये गए हैं। उनके अतिरिक्त मराठी, गुजराती और उर्दू-फारसी की भी सहायता ग्रहण की गई है। यही कारण है कि इतनी अल्पावधि में ही खड़ी बोली हिन्दी का साहित्य इतनी अधिक उन्नति कर सका। इसी प्रकार से हिन्दी ने बहुत से शब्द और भाषा-शैली दूसरी भाषाओं से ग्रहण की हैं।

अनुवाद-कर्त्ता अपनी रुचि तथा सहृदयता के कारण मूल लेखक के ग्रन्थ विशेष की ओर आकर्षित होता है, फिर उसका अध्ययन और अनुवाद करता है। वह मूल ग्रन्थकार की शैली का भी बहुधा अनुकरण करने का यत्न करता है, जिसे वह अभ्यास से अपनी बना लेना चाहता है। इस प्रकार से अनुवादों के माध्यम से शैलियों का भी प्रादुर्भाव दूसरे साहित्य में हो जाता है। भले ही इस कार्य में संक्रामकता उत्पन्न हो जाती है और पूर्णत: मूल शैली का अनुकरण नहीं हो पाता है, फिर भी शैलियों के विकास में अनुवादों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। अनुवादों के द्वारा भाषा की अभि-व्यंजना शक्ति का भी स्फुरण होता है। नये भावों और नये विचारों के लिए, शब्दों के

अभाव में, नवीन शब्द गढ़े जाते हैं या यहां-वहां से ग्रहण किये जाते हैं। इससे शब्द-भाण्डार समृद्ध होता है और नव-साहित्य-निर्माण और अनुकरण की प्रेरणा प्राप्त होती है। अतएव, अनुवादों के द्वारा अन्य भाषा-भाषियों को जहां विभिन्न समृद्धशाली भाषाओं के ग्रन्थ-रत्नों के रसास्वादन का अवसर प्राप्त होता है और उनकी रुचि परिष्कृत होती है, वहां नये विचार, नये भाव, नई कल्पनाएं और नई भाषा-शैली भी प्राप्त होती है।

अनुवाद कार्य

भारतेन्दु-युग में हिन्दी के अभावों की पूर्ति के लिए जो भगीरथ प्रयत्न हुए, उनमें रचनात्मक तथा प्रचारात्मक दोनों ही मोर्चों पर कार्य किये गए। हिन्दी को अन्य प्रांतीय भाषाओं की उन्नति एवं समृद्धि ने विशेष प्रोत्साहित किया। बंगला भाषा उस समय सर्वाधिक समुन्नत थी। बंगला के उन्नत साहित्य ने पश्चिमी-साहित्य की प्रवृत्तियों को सजग और सहज भाव से प्रथमतः ग्रहण किया। कारण स्पष्ट है कि अंग्रेजों की कोठियां और साम्राज्य विस्तार का कार्य बंगाल से ही हुआ। शासन की दृष्टि से भी बंगाल को अंग्रेज और अंग्रेजी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। बंगला अपनी मूल भावुक वृत्ति के कारण प्रथम दृष्टि में ही अंग्रेजी साहित्य पर मुग्ध हो गई। इस संयोग के फलस्वरूप बंगला के समृद्ध साहित्य की अभिवृद्धि भी अल्पकाल में अधिक हो सकी। सौभाग्य से हिन्दी का सबसे बड़ा अहिन्दी भाषी प्रचार-प्रसार का केन्द्र प्रारम्भ से भी बंगाल रहा है। इससे हिन्दी की उन्नति में सदैव निरत रहने वाले हिन्दी-उपासकों का झुकाव बंगला-भाषा की ओर हुआ। आधुनिक हिन्दी के प्रथम युग-नायक भारतेन्दु ने प्रथमतः 'विद्या सुन्दर' नामक बंगला ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया। 'भारतेन्दु-मण्डल' और उसके बाहर भी बंगला-साहित्य की पूंजी का निरीक्षण-परीक्षण कर भावानुवाद या अनुकरण पर हिन्दी रचनाएं हुईं। बंगला के अनेक ख्याति प्राप्त साहित्यकारों—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चण्डी-चरण सेन, शरतचन्द्र, चारुचन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि की रचनाएं आगे जाकर हिन्दी में अनूदित हुईं।

अंग्रेजी भाषा से भी सीधे हिन्दी में बहुत अनुवाद हुए। प्रथमतः अंग्रेजी से हिन्दी में 'इंजील' का अनुवाद किया गया। इसके पश्चात् धर्म-प्रचारार्थ और भी बहुत से अनुवाद किये गए। महत्त्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थों के अनुवाद-कार्य का सूत्रपात भी भारतेन्दु-युग में हुआ। स्वयं भारतेन्दु ने, अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटक शेक्सपियर कृत 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का 'दुर्लभ-बन्धु' नाम से एक अत्यन्त सुन्दर और आदर्श अनुवाद प्रस्तुत किया। उन्होंने शब्दानुवाद न कर भावानुवाद किया और अपनी विलक्षण प्रतिभा से अंग्रेजी की गन्ध भी न रहने दी। Portia, Nerrisa, Shylock, Jessiea क्रमशः पोरश्री, नरश्री, शैलाक्ष, जशोदा—पात्र हुए, ईसाई और जियू क्रमशः आर्य और जैन, तथा Naples, Arragon, Frankfort, Genoa—नेपाल, आर्यगांव, फरीदकोट और जयपुर—ऐसे स्थानों के नामों ने भारतीय वातावरण उपस्थित कर दिया।

अंग्रेजी के पदों और मुहावरों का भी भारतीयकरण किया। इसका प्रभाव दूसरों पर भी पड़ा। श्रीधर पाठक ने ओलीवर गोल्ड स्मिथ के तीन ग्रन्थों के अनुवाद 'ऊजड़ ग्राम', 'एकान्तवासी योगी' तथा 'श्रान्त पथिक' किये। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से सुन्दर अनुवाद किये गए।

संस्कृत से अनुवाद करके, ग्रहण करने की परम्परा तो पुरानी है। हिन्दी का संस्कृत पर तो जन्म-सिद्ध अधिकार है ही। राजा लक्ष्मणसिंह ने प्रथमतः खड़ी बोली में कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद किया, इसके पश्चात् क्रमशः 'रघुवंश', 'मेघदूत' भी अनूदित हुए। श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न आदि ने भी संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद 'उत्तर रामचरित' तथा 'मालती-माधव' किये।

सौभाग्य से युग-नायक द्विवेदीजी ने भी अनुवाद कार्य को आगे बढ़ाया और अपने साहित्यिक कार्य का खाता अनुवादों से ही खोला। उन्होंने सन् १९०१ में लार्ड फ्रेंसिस बेकिन के ५८ निबन्धों में से ३६ का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के नाम से प्रकाशित किया। पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी के प्रसिद्ध विद्वान् पं० विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूनकर की निबन्ध-माला के निबन्धों का अनुवाद 'निबन्ध मालादर्श' में किया। इन निबन्धों के माध्यम से हिन्दी में विचारात्मक निबन्धों की विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक उच्चकोटि की भाषा-शैली की अवतारणा को पृष्ठभूमि प्राप्त हुई।

द्विवेदीजी के प्रोत्साहन पर बाबू रामचन्द्र वर्मा और पं० रूपनारायण पाण्डे, ये दो विशेष उल्लेखनीय और श्रेष्ठ अनुवादक उत्पन्न हुए। वर्माजी अंग्रेजी, मराठी, बंगला, गुजराती एवं उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे। अतः, उन्होंने विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों के अनुवाद किए। मराठी से 'दासबोध', 'छत्रसाल', 'गीता रहस्य' इत्यादि अच्छे अनुवाद प्रकाशित किये गये।

इन अनुवादकों ने मूल के भावों को बड़ी प्रामाणिकता और स्वाभाविकता से प्रस्तुत किया। वे स्वयं हिन्दी के बृहत् शब्द-कोश के धनी थे, अतः बिना मूल भाषा से शब्दों को उधार लिए या उनका भाव विपर्यय किए, वे प्रभावी एवं गतिशील भाषा में अनुवाद कर सके। पं० रूपनारायण पाण्डे ने मुख्यतः बंगला से ही अनुवाद किये। इन्होंने भी मूल ग्रन्थ के भावों की रक्षा करते हुए अपनी भाषा की स्वाभाविकता तथा कसावट को स्थिर रखा। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मूल ग्रन्थ से भी सुन्दर अनूदित ग्रन्थ उपस्थित किया। उन्होंने बंगला के उपन्यासकार रखालदास बंद्योपाध्याय की रचना 'शशांका' में अपनी विलक्षण प्रतिभा से नवीनता ला दी। प्रेमचन्दजी ने गाल्सवर्दी के ३ नाटकों के अनुवाद किये। 'हड़ताल', 'न्याय' और 'चांदी की डिबिया'। पं० माधव राव सप्रे ने मराठी से 'हिन्दी-दासबोध' और 'गीता रहस्य' के सुन्दर अनुवाद किये।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'माइकल मधुसूदन दत्त' के ग्रन्थों से 'विरहणी ब्रजांगन' तथा 'मेघनाथ वध' लिखे।

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी ने अंग्रेजी के रेनाल्ड, विक्टर ह्यूगो, कॉलिंस, गोल्ड स्मिथ, आर्थर कानन डायल, मेरी कुरेली, ड्यूमा, जार्ज इलियट, एच० जी० वेल्स

इत्यादि लेखकों के बहुत से ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत किये। जी० पी० श्रीवास्तव ने मौलियर के हास्य प्रधान उपन्यास तथा नाटकों के अनुवाद किये।

विभिन्न भाषाओं के फुटकर लेखों के तो सहस्रों अनुवाद आलोच्य-युग की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इन अनुवादकों में लक्ष्मीधर वाजपेयी, हरिभाऊ उपाध्याय, काशीनाथ त्रिवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, नाथूराम प्रेमी, बनारसीदास चौबे इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

युग के प्रमुख अनुवाद-कर्त्ता एवं उनकी शैलियां

पं० माधवराव सप्रे

सप्रेजी ने एक अहिन्दी भाषी होकर भी प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा का आद्योपान्त निर्वाह किया है। उन्होंने कठिन अध्यवसाय और लगनशीलता के साथ हिन्दी व्याकरण के मर्म को हृदयंगम कर लिया था। वे अंग्रेजी के भी अच्छे विद्वान् थे, अतएव उनकी रचनाओं में अंग्रेजी ढंग का वाक्य-विन्यास तथा पद-योजना मिलती है। विराम-चिह्नों के समुचित प्रयोग के द्वारा उनके मिश्रित तथा संयुक्त दीर्घ-काय वाक्यों में भी दुरूहता एवं अस्पष्टता नहीं आ सकी है। उनके ये बड़े वाक्य भी संतुलित और सुगठित हैं। संस्कृत के ज्ञाता एवं मराठी-भाषी होने के कारण उनकी भाषा में हिन्दी के ठेठ तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, साथ ही उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रायः अभाव है। मुहावरों और उक्तियों को भी उनकी भाषा में स्थान नहीं मिला है। ये ही सप्रेजी की भाषा की सामान्य विशेषताएं हैं।

अनुवाद करते समय उनकी सामान्य शैली पर मूल रचना की भाषा का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। हां न्यून मात्रा में ही वह प्रभाव लक्षित होता है। जैसे अंग्रेजी से अनुवाद करते समय अंग्रेजी के वाक्य-विन्यास का रंग-ढंग अधिक गहरा है। यथा—

"मनोविज्ञान बहुत पुराना शास्त्र है—इतना पुराना है जितना कि विचारशील मनुष्य का मन है। नेत्र ज्यों ही बाह्य सृष्टि का निरीक्षण करके भौतिक-शास्त्र के कुछ रहस्यों का दर्शन करने लगते हैं, त्यों ही मनोविज्ञान और तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। मन की यह प्रवृत्ति यहीं नहीं रुक जाती। कुछ समय के बाद भौतिक-शास्त्रों के रहस्य जानने की उत्कण्ठा शिथिल हो जाती है और मानवी मन के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति अधिक बलवान हो जाती है। जहां-जहां ज्ञान की वृद्धि हुई है, वहां-वहां यही बात, थोड़ी बहुत पाई जाती है। ग्रीस देश में पहले-पहल भौतिक-शास्त्र में कुछ आविष्कार हुए, ज्यों ही उस शास्त्र में कुछ उन्नति होने लगी त्यों ही ज्ञानी लोगों में इस विषय की चर्चा छिड़ गई कि मनुष्य क्या है! उसके मन का यथार्थ रूप क्या है?" साक्रेटीस का यह वाक्य "Know thyself" तुम अपने को पहचानो—सब लोगों को विदित है। बेकन ने लिखा है कि "तत्त्व-ज्ञान को साक्रेटीस स्वर्ग से भू लोक में लाया।" प्राचीन भारत में भी ऐसा ही हुआ था। भौतिक-शास्त्र की थोड़ी सी उन्नति होते ही प्राचीन आर्यों का ध्यान 'मनुष्य और मानवी मन' की ओर आकर्षित हुआ था।

मनोविज्ञान और तत्त्वज्ञान हमारे पूर्वज आर्यों के प्रधान विषय थे।[1]

पं० रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१ ई०)

शुक्लजी ने अनुवाद-कार्य यद्यपि बहुत अधिक नहीं किया; परन्तु जो भी उन्होंने अल्प कार्य इस क्षेत्र में किया है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने शब्दानुवाद के चक्कर में न पढ़कर भावों पर ध्यान दिया है। यही कारण है कि शुक्लजी की भाषा की अपनी विशेषता है। मूल के भावों की रक्षा करते हुए उन्होंने बड़ी सरलता एवं स्वभाविकता से प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति की है। स्पष्टीकरण के लिए कोष्टिक चिह्नों का प्रयोग भी किया है साथ ही यथा-स्थान पद-टिप्पणियों की भी व्यवस्था की है। इस प्रकार पाठकों के प्रति अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वाह किया है। इसके साथ ही विषय के प्रति न्याय करने तथा वातावरण निर्माण करने के लिए सामयिकता या ऐतिहासिकता का ध्यान रखकर उसी काल विशेष के शब्दों का सुन्दर चयन किया है। जैसे—महा-बलाध्यक्ष, महादण्डनायक, प्रतीहार इत्यादि। उन्होंने अनुवाद करते समय इसका भी ध्यान रखा है कि वाक्य-विन्यास, मुहावरे तथा पद सब हिन्दी के अनुकूल हैं। सरसता एवं उपयोगिता वृद्धि के लिए बीच-बीच में संस्कृत एवं हिन्दी की कविताओं के उद्धरण भी दिये हैं।

उनके अनुवादों में 'शशांक', राखालदास वंद्योपाध्याय के बंगला उपन्यास का अनुवाद, एडीसन कृत 'एशेज आन इमेजिनेशन' से 'कल्पना का आनन्द', सर टी०माधव-राय कृत 'माइनर हिंट्स' से 'राजप्रबन्ध शिक्षा', हीगल कृत 'रिडिल आफ दी यूनिवर्स' से 'विश्व प्रपंच', तथा स्माइल कृत 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' से 'आदर्श-जीवन', एडविन आर्नल्ड कृत 'लाईट आफ एशिया' से 'बुध चरित' तथा डा० श्वानाक कृत 'मैग-स्थनीज़ इण्डिया' से 'मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण' प्रमुख ग्रंथ प्रस्तुत किये।

युग की गवेषणात्मक शैली के सर्वाधिक प्रौढ़ एवं प्रतिनिधि शैलीकार शुक्लजी की भाषा-शैली का भव्य प्रासाद, उनके अनुवादों की नींव पर स्थित है। उन्होंने अनु-वादों में अपने हाथ मांजकर फिर मौलिक रचनाओं के क्षेत्र में प्रवेश किया है। अतएव उनके अनुवादों में भाषा का प्रारम्भिक, अपरिष्कृत तथा कहीं-कहीं उखड़ा हुआ रूप मिलता है। यद्यपि परवर्ती काल की विशुद्ध, संस्कृत तत्सम-शब्द प्रधान भाषा की ओर रुचि उनकी इन अनुवादों से भी ज्ञात होती है, तथापि उसमें यह परिष्कार, गति और शक्ति नहीं है। मूल बंगला का प्रभाव तथा विशुद्धता के आग्रह के कारण इनकी भाषा में कोमलकान्त पदावलियां हैं। साथ ही शुक्लजी की भाषा का प्राथमिक रूप भी। कहीं-कहीं कोष्टक-चिह्नों की सहायता से दुरूह शब्द को सरल करने का प्रयत्न भी किया है। उनकी भाषा सरल, सुबोध तथा प्रसाद गुण सम्पन्न है। जैसे—

(१) "प्राचीन रोहिताश्वगढ़ पर्वत की चोटी पर था। गढ़ भीतरी और बाहरी

१. (पूना फर्ग्यूसन कालेज के प्रो० भाटे का व्याख्यान के अनुवाद) : सरस्वती : भाग-८, खंड-११ : पृ० ४४७-४४८।

दो भागों में बंटा था। बाहरी या नीचे का भाग उस लंबे चौड़े टीले को पत्थर की चौड़ी दीवार से घेर कर बनाया गया था। दूसरे कोट के भीतर का भाग अपरिमित धन लगाकर ऊंची नीची चौरस करके बना था। इसकी लम्बाई चौड़ाई यद्यपि सौ हाथ से अधिक न होगी पर यह अत्यन्त दुर्गम और दुर्जेय रहा है। रोहिताश्व के इतिहास में यह अंतर्भाग दो बार से अधिक शत्रुओं के हाथ में नहीं पड़ा। इसी रोहिताश्व के उत्तरी तोरण (फाटक) के नीचे एक मोटा ताजा बुड्ढा बैठा दातुन कर रहा था।"

(२) "**शशांक**—दूत! मालवराज बावले तो नहीं हुए हैं? वे क्या नहीं जानते कि स्वर्गीय प्रभाकरवर्द्धन सम्राट दामोदर गुप्त के दोहित थे। उनसे कहना कि साम्राज्य के साथ स्थाणवीश्वर राज्य का कोई विवाद नहीं है। दूसरी बात यह कि विपत्ति में पड़े हुए पुरु ने बैरी पर भी आक्रमण करना क्षात्र धर्म के विरुद्ध है। हर्ष मेरे फुफेरे भाई हैं। तुम चटपट लौटो और मालवराज से मेरा नाम लेकर कहो कि वे मालवा लौट जायं। अन्याय से समुद्र गुप्त के विनष्ट साम्राज्य का उद्धार नहीं हो सकता।"

रामचन्द्र वर्मा

आलोच्य-युग में वर्माजी हिन्दी के सफल अनुवादकर्त्ता हैं। विभिन्न भाषाओं के गम्भीर अध्ययन के कारण वर्माजी ने मूल लेखकों के भावों को हृदयंगम करके जो भावानुवाद प्रस्तुत किये हैं उनमें मौलिक रचना का-सा आनन्द रहता है। उनकी भाषा शुद्ध, व्याकरण-सम्मत एवं प्रौढ़ है। उर्दू-फारसी, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं के शब्दों को उन्होंने यथासाध्य अपनी रचनाओं में नहीं आने दिया है। साधारणतया उनके अनुवादों को आद्योपान्त पढ़ डालने पर भी मूल भाषा का प्रभाव बहुत कम दृष्टि-गोचर होता है। उनकी भाषा संस्कृतोन्मुखी होते हुए भी क्लिष्ट नहीं है। सामासिक शब्दों की उपस्थिति से भाषा में गाढ़ बन्धत्व आ गया है। वाक्य लम्बे हैं; परन्तु उनका विन्यास सीधा और सरल है। विराम-चिह्नों के समुचित प्रयोग के कारण उनके दीर्घ-काय वाक्य भी सुबोध और सरल हो गये हैं। 'हिन्दी प्रयोग' तथा 'अच्छी हिन्दी' ग्रन्थों के प्रणयनकर्त्ता होने से उन्होंने अपनी भाषा पर सतत ध्यान रखा है। परिणामत: उन्होंने अनुस्वार तथा पंचमवर्णों का भेद ठीक से उपस्थित किया है। विभक्तियां वे सटाकर लगाते हैं। विशुद्धता तथा भारतीयता के प्रति दृढ़ आग्रह के कारण उन्होंने विदेशी शब्दों का परिष्कार ही किया है, फिर भी जो विजातीय शब्द भावों के प्रवाह में आ गये हैं उनका उन्होंने हिन्दीकरण कर दिया है। अतः, उर्दू-फारसी के शब्दों के नीचे 'नुक्ते' नहीं लगाये हैं। जैसे—

"दिल्ली! ऐश्वर्य-मदसे अन्धी दिल्ली! अनाचार, व्यसन, और आलस्यमें डूबी हुई दिल्ली! तेरे सरीखी विषय-लम्पट, तेरे सरीखी कुलटा और दुराचारिणी स्त्रीके हाथ में भारतवर्ष सरीखे पवित्र देशके अधिकार-सूत्र हों, तेरे समान दुराचारिणी-की आज्ञा बुन्देलखण्डके क्षात्र-तेजको शिरोधार्य करना पड़े, यह भारतवर्षका दुर्भाग्य ही है। राजतृष्णाकी स्वार्थपूर्ण आकांक्षाओंके कारण तूने आजतक कितने अनाचार किये, दुर्योधनकी मति भ्रष्टकरके थोड़ीसी भूमिपर सन्तुष्ट रहनेवाले

पाण्डवोंको उससे तूने ही यह उत्तर दिलवाया था कि तुम लोगोंको सुईकी नोकके बराबर भी जमीन न मिलेगी। महाभारतके युद्धका भयंकर रक्तपात तूने ही कराया था। कन्नौजके जयचन्द्र राठौरकी सहायता लेकर शहाबुद्दीन गौरीसे तूने ही अपने वीरशाली पति पृथ्वीराज चौहानका खून कराया था। अपने मस्तकको सुशोभित करनेवाले स्वतंत्रताके सुन्दर कुंकम-तिलकको अपने हाथसे पोंछकर तू ही यवनी बनी थी। यवनी बननेके उपरान्त, यवनोंके रनवासमें जानेके उपरान्त भी तेरा व्यवहार दिनपर दिन हीन और पातकी ही होता गया। मनुष्य वध, रक्तपात, और लूट-पाट आदि बातें मानो तेरे मनोरंजनकी सामग्री हो गईं। तूने लोगोंपर ऐसा जादू डाला कि स्वामीने सेवक भावकी, बन्धुने बन्धु प्रेमकी, पिताने पुत्र वत्सलताकी और पुत्रने पितृ धर्मकी हत्या करके तुझे अपनाना चाहा। तूने सेवकोंके मनके विश्वासका नाश करके उनसे अपने स्वामीपर शस्त्र चलवाये। भाई-भाईके प्रेमका नाश करके तूने एकसे दूसरेकी हत्या कराई। तूने सबको ऐसा बहकाया कि चचेरेने ममेरे और फुफेरे सम्बन्धी एक दूसरेके कट्टर शत्रु बन गये। इतना ही नहीं, तुझ पर अपना अवर्णनीय प्रेम दिखलानेके लिए तुझे भली भांति अलंकृत करनेवाला शाहजहां जब बुड्ढा हुआ, तब तेरा प्रेम उसपर से जाता रहा और तू उसके तरुण पुत्रके ध्यानमें रहने लगी। तेरी प्रवृत्ति सदा अधर्मकी ओर थी, इसीलिए तू कपटी, ढोंगी, स्वार्थी और दगाबाज औरंगजेब पर मरने लगी। तूने अपने वृद्ध पति शाहजहां को कैद कराया, और अपने सब देवरोंका खून कराया और कंचुली छोड़कर फिर ज्योंकी त्यों हो जानेवाली नागिनकी तरह सब पर फुफकार छोड़ती हुई फिर वैभवका आनन्द लेने लगी। वाह री तेरी चंचलता! वाह री तेरी अधिकार लालसा! वाहरी तेरी विषय-पिपासा।[1]

१. छत्रसाल (मराठी) (बालचन्द नानचन्द वकील) : अनुवादक—रामचन्द्र वर्मा : पृ० ६२-६३

अध्याय : १२

उपसंहार

हिन्दी की दशा एवं उत्तरदायित्व

शैली का अनादि सम्बन्ध भाषा के बाह्यांग एवं अन्तरंग से है। शैली के उत्कर्ष और उत्तमता के लिए इन युगल अंगों का परिपुष्ट होना अनिवार्य है। द्विवेदी-भास्कर के उदित होने के पूर्व एवं भारतेन्दु के अस्त के पश्चात् १५-१६ वर्ष का समय हिन्दी-भाषा का अराजकता काल था। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलनों एवं परिस्थितियों से देश में जो जन-चेतना उद्भूत हुई थी, उसकी प्रक्रिया-स्वरूप हिन्दी-साहित्य में द्रुतगति से सृजन-कार्य प्रारम्भ हुआ था। उस समय 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' वाली कहावत भाषा के क्षेत्र में पूर्णतः चरितार्थ हो रही थी। शासक-विहीन राज्य की उच्छृंखलता, स्वेच्छाचारिता, अव्यवस्था तथा अस्थिरता का बोलबाला था। शब्दों का अकाल, व्याकरण के नियमों की शिथिलता, नेतृत्वहीनता जन्य सन्निपाती बकवास एवं हिन्दी-उर्दू संघर्ष—ये चार बड़ी समस्याएं थीं। इनमें से प्रथम दो का सम्बन्ध भाषा के अंतरंग पक्ष से है तथा अन्तिम दो का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से।

इस समय तक पश्चिमी शिक्षा तथा सभ्यता के प्रचार-प्रसार के साथ ही हिन्दी के दायित्व में वृद्धि हुई और नये-नये विषयों के अध्ययन-अध्यापन के लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। इसके लिए असंख्य शब्दों और व्याकरण-सम्मत, प्रौढ़, परिष्कृत भाषा की आवश्यकता थी। भारतेन्दु और उनके साथियों ने मिलकर यथाशक्ति इस कार्य में योग-दान दिया। भारतेन्दु को अल्प जीवन, युग की परिस्थिति तथा उनकी स्वयं की स्थिति के कारण, भाषा की एकरूपता और प्रौढ़ता उत्पन्न करने में विशेष सफलता नहीं मिल सकी। वे गोष्ठी-साहित्य में एक 'मण्डल' के सुमेर भर रहे। परिणामतः भाषा की नींव सुदृढ़ नहीं हो सकी। यद्यपि उसमें वैयक्तिक रूप से भाषा-शैलियां प्रस्तुत हुईं; परन्तु उनमें स्थायित्व एवं प्रौढ़ता नहीं आ सकी। अतः, हिन्दी की अपनी जातीय शैली का विकास उस समय नहीं हो पाया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अवसान के पूर्व ही पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा का प्रभाव भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्टतः लक्षित होने लगा था। देश प्राचीन और नवीन के संघर्ष में रत था। नई सभ्यता नई संस्कृति और नये साहित्य की चकाचौंध में देश दिशा भूल हो रहा था। उसकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ की-सी स्थिति हो गई थी। दीर्घकालीन पराजयों और पराधीनता से उसका आत्म-विश्वास विनष्ट प्रायः हो चुका

था। पुराने निराश रोगी की भांति भारत शीघ्र स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करने के लिए आकुल-व्याकुल हो उठा था। अंग्रेजी सभ्यता और साहित्य एवं ज्ञान और विज्ञान ने भारत को आकर्षित किया और उसे अपनाने के लिए भी प्रेरित किया। आशा का नवद्वार खुला। नवयुग का नव प्रभात, अभिनव जीवन का सन्देश लेकर निराश भारत के पास आ पहुंचा। आंग्लों एवं भारतीयों का यह घनिष्ठ सम्पर्क, औद्योगिक सभ्यता और भौतिक संस्कृति के साथ कृषक-सभ्यता और आध्यात्मवादी संस्कृति का मिलन था। तात्कालिक भारत अपनी भौतिक उन्नति के प्रति प्रारम्भ से उदासीन तथा विश्व-गुरुत्व के पद से पतित होकर, अपने आध्यात्मिक क्षेत्र में भी निराश था। इसके ठीक विपरीत अंग्रेज यांत्रिक कान्ति के अग्रदूत तथा भौतिक समृद्धि के स्वामी थे। विज्ञान, व्यापार और विद्या के क्षेत्र में विश्व में उनका कोई समकक्ष न था। ऐसी इठलाती-बलवती पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के सामीप्य ने भारत की शुष्क एवं सुस्त नाड़ियों में विद्युत-शक्ति प्रवाहित कर दी। यह कितने आश्चर्यपूर्ण संयोग की बात है कि एक ओर आध्यात्मिक जगत-गुरु वयोवृद्ध भारत था, तो दूसरी ओर था भौतिक उन्नति का सिरमौर नवोढ़ ब्रिटेन। पहिला अस्ताचलगामी भुवन भास्कर की भांति शिथिलांग एवं पद-च्युत होकर नैराश्यमय जीवन व्यतीत कर रहा था और दूसरा प्रखर मार्तण्ड के सदृश्य अपने उत्कर्ष से उत्साहित होकर विश्व गगन-मण्डल में छा चुका था। अंग्रेजों की दर्पोक्ति थी कि 'अंग्रेजी राज्य में सूर्यास्त भी नहीं होता।' भिन्न संस्कृतियों के इन दोनों ध्रुवों के इस विचित्र मिलन से प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक गौरव जगा और भौतिक उत्कर्ष की लालसा ने भी नयनोन्मीलन किया। अनिंद्य सुन्दरी मैनका ने वृद्ध तपस्वी विश्वामित्र की दीर्घ समाधि भंग कर दी। मन में विलास तथा भौतिकता ने अंगड़ाई ली। इससे भारत महान् की जननी स्वातन्त्र्य शाकुन्तल्य भावना का जन्म हुआ।

तत्पश्चात् भारत में शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। देश में कई विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १९१६ के पूर्व देश में केवल पांच विश्वविद्यालय—बंबई, कलकत्ता, मद्रास, पंजाब तथा प्रयाग में थे। शिक्षा के द्रुतगति से प्रसार के कारण जन-जागृति के साथ १९१६-२२ के बीच में पूरे भारत में सात नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जिनमें पांच काशी विश्वविद्यालय १९१७, पटना १७, अलीगढ़ २०, लखनऊ २०, दिल्ली २२, केवल हिन्दी-प्रदेश में ही प्रारम्भ हुए। इन विश्वविद्यालयों में से कुछ में हिन्दी को बी० ए० तक स्थान मिल गया। इससे हिन्दी के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था हुई एवं हिन्दी को समृद्धिशाली बनाने का दायित्व भी बढ़ गया। शब्द-भाण्डार को भरने तथा भाषा को व्याकरण-सम्मत करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा।

नवीन शैलियों की उद्घाटक परिस्थितियां

कलम की कला शैली, वस्तुतः भावों और विचारों की प्रभावी अभिव्यक्ति है। इससे शैली का सम्बन्ध मस्तिष्क तथा हृदय दोनों ही से है। जिस शैली में मस्तिष्क और हृदय का समुचित योगदान रहता है वह निश्चित ही अपने गन्तव्य में सफल रहती

है। जहां भाषा-शैली शैलीकार के विचारों तथा भावों को साकार बना सकी कि उसका कार्य सम्पन्न हो गया। अतः, बुद्धि और भावना का संतुलित एवं समन्वित स्वरूप ही शैली के लिए उत्तम रहता है। इस सत्य का साक्षात्कार करके ही आलोच्य-युग में विचारों तथा भावों को सामान्यतः संतुलित करके हिन्दी-गद्य ने अपनी उन्नति की है। द्विवेदी-पूर्व लेखक का प्रधान लक्ष्य पाठकों की रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित कर, उनके हृदय को स्पर्श करना मात्र रहता था। देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुकूल अब उस उद्देश्य में परिवर्तन लाना ही आवश्यक हो गया। विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि आन्दोलनों ने भारतवासियों के मस्तिष्क को बौद्धिक दृष्टि से भी संपुष्ट कर दिया था। अतः, द्विवेदी-युग में आकर लेखकों का ध्यान पाठकों की बौद्धिक क्षुधा-तृप्ति के लिए भी होना आवश्यक था। पहिले जो लोग हिन्दी में मातृभाषा-भक्ति-वश कुछ भी भावावेश में लिखते थे, और पाठक देश-भक्ति और मातृभाषा-प्रेम-वश जो कुछ सामने आता था पढ़ते थे। अब भाषाओं में प्रतिद्वंद्विता अधिक कठिन हो गई थी और परिष्कृत जन-रुचि की मस्तिष्क-तुष्टि के लिए प्रभावी एवं कलात्मक ढंग से सामग्री प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। गद्य-शैलियों के विकास में द्विवेदी-युग की इस परिवर्तित परिस्थिति ने विशेष योग दिया। इस युग में विशेषतः बहुत से सुन्दर विचारात्मक निबन्ध लिखे गये, जिनमें विभिन्न शैलियां प्रस्तुत हुईं।

द्विवेदीजी पूर्व हिन्दी-गद्य के शैशव-काल में, बाल-सुलभ चुहुल, चुटकुले, व्यंग्य और चमत्कार की ही प्रधानता थी। गम्भीरता की अपेक्षा मनोरंजन की अधिकता थी। नव जागरण की चहल-पहल, उल्लास और उमंग थी। वाणी-विलास, कटु उक्तियां, व्यंग्य-विनोद परिस्थिति अनुसार सफल हुए थे। वस्तुतः वह लालन-पालन की अवस्था थी, ताड़ना और बौद्धिक ज्ञान अर्जन की नहीं। द्विवेदीजी ने शिक्षा का कार्य, आलोचना का परुष दंड हाथ में लेकर प्रारम्भ किया। उनके अनुशासन से हिन्दी की पृष्ठभूमि दृढ़ हुई। उनके प्रयास से हिन्दी-गद्य-साहित्य की धारा न केवल आगे ही बढ़ी, वरन् उसमें विस्तार भी हुआ। भगवती भागीरथी की धारा के समान जो हिन्दी हिमाचल की विविध घनीभूत चट्टानों से संघर्ष करती हुई, जन-जीवनोपयोगी न हो सकी थी, वही अब लोकोपकारी हो गई। वह जन-जन की भावना तथा युग-युग की चेतना को आत्मसात करने योग्य हुई। उसने शक्ति के साथ शालीनता, प्रवाह के साथ प्रखरता और विशदता के साथ विविधता की ओर प्रस्थान किया। इससे विभिन्न विषयों के साथ विभिन्न शैलियों के स्वरूप सामने आये।

द्विवेदीजी ने हिन्दी के अच्छे लेखकों के अभाव की पूर्ति के लिए अन्य भाषा-भाषी विद्वानों को हिन्दी में लिखने का आह्वान किया। बहुत से हिन्दी क्षेत्रीय व्यक्ति अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं में रचनाएं करते थे और हिन्दी की अन्तःदशा से क्षुब्ध एवं निराश थे। द्विवेदीजी ने चुन-चुनकर देश-विदेश के बहुत से अन्य भाषी लेखकों को प्रेरित किया। साथ ही रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, कामताप्रसाद गुरु, विश्वम्भरनाथ शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, देवीदत्त शुक्ल, गंगानाथ झा, लक्ष्मीधर वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीराम शर्मा इत्यादि को देश में तथा स्वामी सत्यदेव

परिव्राजक, भोलानाथ पांडे, राजकुमार खेमका, सन्त निहालसिंह, पं० सुन्दरलाल, कृष्णकुमार माथुर, काशीप्रसाद जायसवाल तथा बैरिस्टर प्यारेलाल, बैनीप्रसाद शुक्ल इत्यादि को विदेशों में हिन्दी की सेवाओं में प्रवृत्त किया। वस्तुत: द्विवेदीजी हिन्दी के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे जिन्होंने हिन्दी में बहुत से रमेशचन्द्र दत्त उत्पन्न किये। यद्यपि इन नये हिन्दी-प्रेमियों के कारण हिन्दी में भाषागत विभिन्न क्षेत्रीय प्रभाव आ गये और शब्दों के रूप में अस्थिरता आ गई, जो कि स्वयं द्विवेदीजी के लिए सिरदर्द का कारण बनी, तथापि इससे हिन्दी में नये विचार और नई भाषा-शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ।

हिन्दी में उपर्युक्त प्रौढ़-परिष्कृत रुचियों और नवीनों को अवतरित कर उनकी प्रतिभाओं का समुचित उपयोग करने के लिए सर्वप्रथम द्विवेदीजी का ध्यान हिन्दी भाषा की अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था तथा अस्थिरता रूपी कटीली एवं विषाक्त झाड़ियों के उन्मूलन की ओर गया। इनके रहते हिन्दी का राजपथ तैयार होना सम्भव न था। भाषा के परिपुष्ट होने के पूर्व शैलियों का विकास सम्भव भी नहीं था। अतः, सरस्वती के अनन्य उपासक इस महावीर ने अपनी सतत साधना के द्वारा कुछ ही वर्षों में वह कार्य कर दिखाया, जो किसी भी अन्य भाषा के इतिहास में बेमिसाल और बेजोड़ है। उन्होंने उस समय पुकारी जाने वाली 'स्टुपिड हिन्दी' को संस्कृत एवं परिष्कृत करने का बीड़ा उठाया और महात्मा तुलसीदास की सार्वभौम चुनौती 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम' को स्वीकार कर, अपने उद्देश्य में सफल हुए। मूर्ख हृदय को संस्कृत करने में जहां सरस्वती के स्वामी ब्रह्माजी असफल होते हैं, वहां 'सरस्वती' के सेवक ने अपनी एकनिष्ठ सतत सेवा से सफलता प्राप्त कर ली। वे नि:सन्देह हिन्दी के प्रथम आचार्य हुए, जिन्होंने भाषा को अनुशासित एवं व्यवस्थित करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उन्होंने न केवल साहित्य का निर्माण किया, वरन साहित्यकारों का भी सृजन किया। वे भाषा के ही नियामक नहीं थे, शैलीकारों के अनुशासक भी थे। साहित्य और साहित्यकारों के शासन के द्वारा उन्होंने युग की मानसिक एवं बौद्धिक चेतनाओं का नियंत्रण किया। इन चेतनाओं की अभिव्यक्ति बहुलांश में गद्य के माध्यम से हुई है। अतः, द्विवेदीजी के युगानुशासन तथा नियंत्रण का मुख्यत: प्रभाव भी गद्य की भाषा और शैलियों पर स्वभावतः पड़ा।

द्विवेदीजी की शैली का स्थान

द्विवेदीजी की महत्ता एवं विशेषता की निहिति उनके कर्मठ जीवन तथा सतत अध्यवसाय के साथ युग के अनुशासन की पटुता में है। भाषा-शैली की दृष्टि से उनका भले ही शीर्ष स्थान नहीं है। आलोच्य-युग के सम्पूर्ण साहित्य एवं साहित्यिकों का सम्यक् दृष्टि से अनुशीलन करने के पश्चात् इस दीर्घकाल में हमें अनेकों ऐसे प्रतिभा-पुंज मनीषियों के दर्शन होते हैं, जिन्होंने जीवन की कठोर साधनाओं के बल पर आचार्य द्विवेदीजी से कहीं अधिक अक्षुण्य कीर्ति तथा लोकप्रियता प्राप्त की है। जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि महान् साहित्यकारों ने जीवनोदधि में बैठकर अनेकों बहुमूल्य मौलिक एवं श्री-सम्पन्न ग्रन्थरत्नों का प्रणयन किया है, जिन्हें

पाकर कोई सुसमृद्ध साहित्य भी धन्य हो सकता है। विश्व के कई उत्कर्ष-प्राप्त साहित्यों ने भी उनकी रचनाओं के अनुवादों के द्वारा अपने साहित्य को श्री प्रदान की है। इन ग्रन्थ-रत्नों की तुलना में विषय-वस्तु तथा भाषा-शैली दोनों ही दृष्टियों से—यदि हम द्विवेदीजी के उन असंख्य लेखों, टिप्पणियों, निबन्धों आदि को प्रस्तुत करें तो वे निष्प्रभ हो जाते हैं। विशुद्ध साहित्य के रूप में द्विवेदीजी की रचनाओं में वह महिमा दृष्टिगोचर नहीं होती जो कि एक युग-पुरुष की वरद लेखनी के उपयुक्त हो। फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता। युग-नेतृत्व उन्हीं का था। अन्यान्य भाषाओं के साहित्य-ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं से देश-विदेश की नई-पुरानी सामग्री को उन्होंने हिंदी भाषा-भाषियों के उपयुक्त करके सरल, सुबोध, व्यावहारिक और व्याकरण-सम्मत भाषा में प्रस्तुत किया। भले ही उनका यह काम 'संकलित' और 'सेकेण्ड हैंड' हो और उसका उपयोग 'मोटी बुद्धि' के लिए हो; परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने भाषा-शैली का सुन्दर रूप-प्रवर्त्तन किया। युग पर उनकी ही सार्वभौम सत्ता थी, तथा साहित्य की अनेक विधाओं पर उनका अधिकार था। उन्हें अपना समय मुख्यतः भाषा के संस्कार तथा उसकी एकरूपता के लिए व्यय करना पड़ा था, इससे उन्हें शैलियों के परिष्कार में ही अधिक योग देने का अवसर मिला, शैली-निर्माण का नहीं। द्विवेदी-युग वस्तुत: बहुलांश में भाषा-परिष्कार का ही युग था। उन्होंने उन्नीसवीं शती एवं अपने युग के प्रथम चरण में, अंग्रेजी के श्रेष्ठ निबन्धकार फ्रेंसिस बेकन के निबन्धों का हिन्दी अनुवाद १९०१ में प्रस्तुत कर हिन्दी में आधुनिक निबन्ध तथा शैली का आदर्श उपस्थित किया। इनके अतिरिक्त मिल, स्पेंसर आदि विद्वानों के ग्रन्थों के आधार पर 'स्वाधीनता', 'शिक्षा', 'सम्पत्ति-शास्त्र' भी अनूदित किये। इन निबन्धों से प्रभावित होकर सन् १९१२-१८ में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धों का प्रणयन किया जिनमें प्रौढ़, परिष्कृत एवं विशुद्ध सामासिक भाषा-शैली का स्वरूप सामने आया।

अनुवादों का शैली पर प्रभाव

आचार्य द्विवेदीजी ने तो विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद का महत्त्वपूर्ण कार्य किया ही, उनके अतिरिक्त बाबू गोपालराम गहमरी, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं० रामचन्द्र शुक्ल, रामचन्द्र वर्म्मा, रूपनारायण पाण्डेय, गंगाप्रसाद गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रयत्न किये। अनुवादों की इस बाढ़ में मौलिक रचनाओं की कृषि की पर्याप्त हानि हुई। सस्ती सेवा और अधिक ख्याति के लोभ ने ही पूर्व द्विवेदी-युग के मौलिक साहित्य-रचना-कार्य को विक्षिप्त कर दिया था। फिर भी इन अनुवादों के माध्यम से लार्ड फ्रेंसिस बेकन, विलियम शेक्सपियर, ओलीवर गोल्डस्मिथ, गाल्सवार्दी, विक्टर ह्यूगो, ड्यूमा, आर्थर कानन डायल, जार्ज इलियट, मोलियर, एच० जी० वेल्स इत्यादि पश्चिमी लेखक; बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रमेश्चन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीशचन्द्र घोष, चण्डीशरण सेन, राखालदास बंद्योपाध्याय, माइकल मधुसूदन दत्त, चारुचन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि प्रसिद्ध बंग-साहित्यिक

कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, अश्वघोष, हर्ष, राजशेखर, शूद्रक, विशाख दत्त इत्यादि संस्कृत की प्रतिभाएं; सन्त ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास, तुकाराम, बाल-गंगाधर तिलक प्रभृति ख्याति प्राप्त मराठी साहित्यकार अपने परिपक्व विचार तथा गहन अनुभूतियों के सहित हिन्दी में अवतीर्ण हुए। इनके साथ उनकी विभिन्न शैलियां, असंख्य शब्द, मुहावरे, उक्तियां, पद-विन्यास, वाक्य-योजना आदि भी मूलरूप में अथवा परिवर्तित होकर हिन्दी में आ गये। यद्यपि इन सबसे हिन्दी की शक्ति और सामर्थ की निश्चित ही अभिवृद्धि हुई, तथापि इसके चक्कर में अनेकों हिन्दी साहित्य-कारों की मौलिक प्रतिभा सामयिक दृष्टि से कुंठित भी हो गई। यह द्विवेदीजी के प्रारम्भिक युग की सबसे बड़ी क्षति है। यदि द्विवेदीजी जैसी अत्यन्त प्रखर प्रतिभा को सुष्ठ एवं पुष्ट परिस्थितियां उपलब्ध हुई होतीं, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने हिन्दी की भाषा-शैली के विकास में और भी मूल्यवान योग दिया होता।

द्विवेदी-युग की जो मौलिक प्रभा अनुवादों की भूल-भुलैयों में फंस कर प्रारम्भ में हतश्री हो चुकी थी, उसकी आश्चर्यजनक दीप्ति उत्तर द्विवेदी-युग में स्पष्टतः दृष्टि-गोचर हुई। विशेषतः गद्य के क्षेत्र में ऐसी महाविभूतियों की प्रतिभाएं विकीर्ण हुईं कि जिन्होंने हिन्दी के स्थायी कोष को अनेकों अमूल्य और अमर ग्रन्थ-रत्नों से परिपूरित किया। युगारम्भ में द्विवेदीजी ने हिन्दी के जिन होनहार सपूतों का पालन-पोषण किया था अथवा अपने तेज से प्रभावित किया था, वे ही नव-मुकुल उनके उत्तरकाल में पूर्णतः विकसित सुमन होकर विश्व-विमोहनकारी सिद्ध हुए। यहां स्मरणीय यह है कि सर्वश्री पं० रामचन्द्र शुक्ल (ग्यारह वर्ष का समय १९०३), वृन्दावनलाल वर्मा (राखीबन्द भाई '०९) जयशंकर प्रसाद (ग्राम '११), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (सुखमय जीवन '११), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (रक्षा बन्धन '१३) राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह (कानों का कंगना '१३), चतुरसेन शास्त्री (गृह लक्ष्मी '१४), प्रेमचन्द (पंच परमेश्वर '१६) राय कृष्णदास ('१७), प्रभृति युग के इन श्रेष्ठ साहित्यकारों ने द्विवेदी-युग के प्रारम्भ और मध्य में अपनी प्रथम रचनाएं प्रस्तुत की थीं। वे ही आगामी १५-१६ वर्षों में हिन्दी में चोटी के लेखक हो गये। कुछ तो क्षेत्रीय 'सम्राट्' तक बन बैठे, और उनकी सानी के शैलीकार आज तक दृष्टिगोचर नहीं होते।

यथार्थ में द्विवेदी-युग का उत्तरार्द्ध ही विशुद्ध साहित्यिक महत्त्व का है। उसी समय हिन्दी की जातीय शैलियों का प्रांजल एवं परिपुष्ट स्वरूप विकसित हुआ। युगा-रम्भ की हिन्दी की अनेक त्रुटियों तथा अभावों का अन्त हुआ और हिन्दी ने द्रुतगति से देश की अन्य सभी गौरवशाली भाषाओं में विशिष्ट स्थान अर्जित किया। राष्ट्र-भाषा के सर्वोच्चपद पर प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा करना भी उसे अब शोभनीय हुआ।

हिन्दी का क्षेत्र-विस्तार

द्विवेदी-युग भारतीय इतिहास का वह द्वार है, जिस स्थल से भारत ने अपना निरीक्षण-परीक्षण किया, तथा पश्चिम के साहित्य-सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान को देखा

और परखा है। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के मन्दिर की देहली पर बैठकर सरल भाषा-शैली में युगोचित उच्छ्वास अत्यन्त प्रामाणिकता एवं स्पष्टता से प्रगट किया है। उन्होंने भारत की बृहत् जनता को देशी और विदेशी साहित्य तथा संस्कृति से परिचित कराने का कार्य अपने हाथ में लिया था। उनका वह कार्य परिचयात्मक था। एक आदर्श शिक्षक की भांति वे भारतीयों को विभिन्न विषयों से परिचित कराकर उनकी जिज्ञासा तथा ज्ञान-तृषा को तीव्र करना चाहते थे। सब कुछ स्वयं ही देना न तो उनके वश की बात थी और न उन्हें वह अभीष्ट ही था। पूर्व-युग की परिस्थितियां बदल चुकी थीं। भारतेन्दु-युग में जो कार्य एक 'मण्डल' के द्वारा संचालित हो सकता था, वह अब सम्भव न था। भारतेन्दु 'मण्डल' के केन्द्र-बिन्दु होकर युग-नेतृत्व कर सके। गोष्ठी-साहित्य के रूप में वे हिन्दी के कार्य को अपने अखबार में भरने में सफल भी हो सके; परन्तु अब हिन्दी की सेवाओं का क्षेत्र वैसा सीमित नहीं रहा था। इससे द्विवेदीजी ने कोई 'मण्डल' स्थापित नहीं किया। साहित्य स्वयं भी गोष्ठियों के संकुचित दायरों को छोड़कर जन-जीवन में प्रविष्ट होने के लिए आकुल-व्याकुल हो उठा था। मुद्रण-कला तथा यातायात के साधनों के विकास के कारण वह पत्र-पत्रिकाओं के द्रुतगामी पहियों के सहारे जन समूह के समीप पहुंचने लगा था। विशाल भारत के कोने-कोने से, हिन्दी की रचनाएं अपनी-अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं को संजोकर, उपस्थित हुईं। उन सबको भी नियंत्रित एवं अनुशासित करने की आवश्यकता थी। इसके लिए कोई 'मण्डल' पर्याप्त न था।

द्विवेदीजी के कठोर शासन की प्रतिक्रिया

द्विवेदीजी के सामने इससे मुख्यत: भाषा के क्षेत्र में दो कार्य उपस्थित हुए। वे थे युग-अनुशासन तथा मार्ग-दर्शन। द्विवेदीजी का परुष, आत्म-विश्वासपूर्ण एवं महाप्राण व्यक्तित्व युगानुशासन के सर्वथा उपयुक्त था। इस कार्य के लिए कठोरता और दृढ़ता आवश्यक थी। इस उद्देश्य से उन्होंने अपनी स्वाभाविक मृदुलता को दबाकर परुषता से भाषा के क्षेत्र में गड़बड़ी करनेवालों की खबर भी ली और भाषा की घिसाई-सफाई के लिए भी प्रयत्न किया। उन्हें वर्षों तक भाषा की अनुशासनहीनता एवं स्वेच्छा-चारिता के उन्मूलन करने और युग-प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने में व्यस्त रहना पड़ा। उन्होंने संघर्ष भी किए और विरोधियों को अत्यन्त विद्वतापूर्वक निष्प्रभ भी किया। इसके द्वारा भाषा में स्वस्थ व्यंग्य-विनोदपूर्ण आलोचनात्मक शैली का विकास हुआ। साथ ही शब्दों के रूप, अर्थ, तथा विन्यास आदि को लेकर जो विवाद हुए, उनके फल-स्वरूप हिन्दी की अन्त.शक्ति एवं एकरूपता में वृद्धि हुई। भाषा-शैलियों के विकास के लिए यह स्थिति बहुत आवश्यक थी।

द्विवेदीजी के नियंत्रण-सूत्र को संभालने और भाषा को अनुशासित करने की एक और भी उल्लेखनीय प्रक्रिया हुई। सजग एवं सतर्क विचार-मंथन से हिन्दी को यद्यपि अनेक श्रेष्ठ रत्नों की प्राप्ति हुई, तथापि विष-वारुणी जैसे दूषण भी साथ लग गये। हिन्दी विद्वेषिनी शक्तियों को इस अन्तःसंघर्ष से बल प्राप्त हुआ। बहुत-से नये

लोग जो हिन्दी में लिखने की ओर आकर्षित हो रहे थे, वे पीछे हट गये और अन्य क्षेत्रों में चले गये। इन भाषा-विदों की चोंच-भिड़न्त ने हिन्दी के प्रांगण से प्रचलन करना सीखनेवाले शिशुओं को बिचका दिया। इससे कुछ भय-वश फिर हिन्दी में न आये। इनके अतिरिक्त एक दूसरा वह समूह था, जो अन्य समृद्ध साहित्यिक क्षेत्रों में तो पर्याप्त आगे बढ़ चुका था, परन्तु राष्ट्रीय तथा सामाजिक आन्दोलनों से प्रभावित होकर अपनी भाषा के क्षेत्र में आना चाहता था। हिन्दी की इस दुरवस्था एवं अन्तः-संघर्ष ने इस वर्ग के लोगों को हतोत्साहित कर दिया और उनके हृदय में हिन्दी का आकर्षण कम हो गया। बाबू प्रेमचन्द, सुदर्शन, पद्मसिंह शर्मा, स्वामी सत्यदेव परि-व्राजक इत्यादि दृढ़ निश्चयी राष्ट्र-प्रेमी विभूतियां, जो कि हिन्दी के भाण्डार को प्रारम्भ से ही अपनी गहन अनुभूतियों एवं सहज अभिव्यक्ति से धनी बनातीं, बहुत समय तक अन्य साहित्यों को समृद्ध करने में व्यस्त रहीं। इसके पश्चात् जब द्विवेदीजी के सतत प्रयत्नों से हिन्दी भाषा का स्वरूप परिपुष्ट हुआ, उसमें एकरूपता, प्रांजलता एवं प्रौढ़ता का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस वर्ष के बहुत से साहित्यकार अन्यान्य भाषाओं के संस्कारों को लेकर हिन्दी में अवतरित हुए। परिणामतः हिन्दी की गद्य-शैलियों के क्षेत्र में नवीन शैलियां स्फुटित हुई।

द्विवेदीजी का द्वितीय कार्य युग के साहित्यकारों का मार्ग-दर्शन करना था। वे हिन्दी के प्रथम आचार्य थे और उनका कार्य बहुत कठिन था। यद्यपि उनके पूर्व भारतेन्दुजी ने युग का नेतृत्व किया था; परन्तु उनका सम्बन्ध अपने समकालीनों के प्रति मित्रवत् था। आचार्य अथवा गुरु सदृश्य नहीं। इसके अतिरिक्त हिन्दी का कार्य-क्षेत्र पहिले की अपेक्षा बहुत विस्तृत एवं गहन हो गया था, तदनुसार उनका दायित्व भी विशेष जटिल एवं विषम था। इस उत्तरदायित्व के निर्वाह में उन्हें अपना बहुत अधिक समय तथा शक्ति का व्यय करना पड़ा। परिणामतः वे शुद्ध साहित्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके। द्विवेदीजी ने अपने साहित्य-निर्माण में इसीलिए मार्मिक अनुभूतियों, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा कमनीय कलाकृतियों को स्वयं ही स्थान नहीं दिया। वे तो हिन्दी-भवन की नींव को सुदृढ़ करने वाले थे। पच्चीकारी तथा कलाकारी करने के लिए उन्होंने परिस्थिति और वातावरण का ही निर्माण किया। हिन्दी भाषा को घिस-मांज कर उसे परिष्कृत किया। ताकि उसमें महान् देश के महान् साहित्य को अंकित कर सकने की क्षमता आ जावे। इसी से उनकी महत्ता का मूल्यांकन साहित्यिक वस्तु के आधार पर करना उचित नहीं होगा। हमें स्मरण रखना चाहिए कि नींव के पत्थरों को गढ़ा नहीं जाता। द्विवेदीजी ने प्राचीन-नवीन, ज्ञान-विज्ञान, प्राच्य-पाश्चात्य इत्यादि सभी क्षेत्रों की सामग्री को सरल, व्यावहारिक एवं सुबोध भाषा-शैली में, जन-साधारण के समक्ष रखा और उनके आदर्श पर अन्य रचनाएं करने का एक उदाहरण उपस्थित किया।

'सरस्वती' तथा अन्य पत्रिकाओं के नये स्तम्भों में शैलियों का प्रणयन

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' ने हिन्दी के पत्रकारिता जगत

में एक नये परिच्छेद का उद्‌घाटन किया। उन्होंने 'सरस्वती' में बहुत से नये स्तम्भ प्रारम्भ किये। भूगोल, राजनीति, नागरिक-ज्ञान, नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, शिक्षा, धर्म, विज्ञान, जीवन-वृत्त, पुरातत्व, यात्रा सम्बन्धी, नारी-लोक आदि विशिष्ट स्तम्भों में देश-विदेश की सामग्री संग्रहित की। विषय-वस्तु के क्षेत्र को व्यापक करने के साथ ही साथ, लेखकों का ध्यान भी प्रस्तुत वस्तु को रुचिकर, प्रभावपूर्ण तथा आकर्षक बनाने को आकर्षित किया। 'सरस्वती' यथार्थ में विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका थी। उसमें भाव तथा विचारों के प्रतिपादन में भाषा शैली को विशेष महत्त्व दिया गया। आगे भाषा और भाव के तादात्म्य सम्बन्ध पर भी बल दिया जाने लगा। हिन्दी-गद्य में अनेकों शैलियां प्रचलित हुईं। नव युग में नवीन विषयों के साथ नई शैलियां सामने आईं। जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित विषयों पर देश-विदेश के विशेषज्ञ-विद्वानों के मौलिक तथा अनूदित विचार हिन्दी में आये।

युग की पत्र-पत्रिकाओं ने विभिन्न शैलियों के प्रणयन में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। भाषागत संघर्ष, जिसके कि द्वारा खड़ी बोली हिन्दी में एकरूपता, व्यवस्था एवं व्याकरण-सम्मतता आई, इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं के प्रांगण में हुआ था। एक ओर तो इन पत्र-पत्रिकाओं ने ही हिन्दी-साहित्य के तात्कालिक दिग्गज भटों के मध्य संघर्ष तथा विचारों के आदान-प्रदान का कार्य किया और दूसरी ओर जनता-जनार्दन के न्यायालय में अपने तर्कों और विचारों को उपस्थित करनेवाले प्रवक्ता का कर्त्तव्य निभाया। परिणामतः साहित्य के विकट संघर्षों से जन-जागरण हुआ तथा जन-स्तर ऊंचा उठा। अनेकों शब्द, मुहावरे, व्यंग्योक्तियां, पद-विन्यास जो कि सर्वसाधारण को दुरूह एवं दुर्बोध थे, वे क्रमशः सरल और सुबोध हो गये। इसके कारण भाषा का स्तर ऊंचा उठा तथा उसमें शैलियों के विकास का पथ प्रशस्त हुआ।

इसके अतिरिक्त जिन असंख्य नवीन विषयों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उनका प्राथमिक स्वरूप, जनता के समक्ष इन पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही प्रस्तुत हुआ। इन विषयों को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन तो वस्तुतः बाद में ही हुआ है, अतएव पत्र-पत्रिकाओं ने ही नये विषयों के साथ नई शैलियों का हिन्दी में सूत्र-पात किया। पहिले जो पाठक 'तोता मैना', 'सिंहासन बत्तीसी', 'किस्सा साढ़े सात यार', 'छबीली भटयारिन' जैसे हल्के मनोरंजक साहित्य में अपने को डुबोकर साहित्यिकता की दाद देते थे अब उनकी रुचि में परिष्कार होकर प्रौढ़ता और गम्भीरता आ गई। पाठकों और लेखकों के बीच का जो अन्तर था वह भी क्रमशः कम हो गया। लेखकों का उत्तरदायित्व बढ़ जाने से रुचि-परिष्कार का भी कार्य उन्हें करना पड़ा। इससे पत्र-पत्रिकाओं की रोचक और हल्की-फुल्की रचनाओं की संख्या क्रमशः कम हो चली और उनके स्थान पर गम्भीर विचारात्मक, लोकोपयोगी, विविध विषयों की सामग्री की मात्रा बढ़ी। इसका प्रभाव अन्ततोगत्वा भाषा-शैली पर पड़ा। पहिले पत्र-पत्रिकाओं के गद्य में धार्मिक, सामाजिक आख्यान, कथाएं, कहानियां तथा विशिष्ट व्यक्तियों की जीवनियां रहती थीं। उनमें प्रधानतः वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक शैलियां ही रहती थीं। अब विषयों की विविधता के साथ शैलियों की विविधता दृष्टि-

गोचर हुई। यह शैलियों की विविधता प्रमुखतः 'सरस्वती', 'इन्दु', 'कवि व चित्रकार', 'प्रभा', 'प्रताप', 'चांद', 'छत्तीसगढ़-मित्र', 'त्याग-भूमि', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'भारत-मित्र', 'मतवाला', 'मर्यादा', 'विद्या-विनोद', 'समालोचक', 'साहित्य-पत्रिका' (आरा), 'सुधा', 'लक्ष्मी', 'साहित्य आलोचक', 'हिन्दी प्रदीप', 'हंस', 'विश्वमित्र', 'स्वदेश', 'कर्मवीर' इत्यादि पत्रों में प्रगट हुई।

आलोच्य-युग में आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा अनुकरण पर हिन्दी-साहित्य, विशेषतः हिन्दी-गद्य बौद्धिक एवं रागात्मक शक्तियों से सज्जित होकर चिन्तन और अनुभूति की महाविस्तृत और प्रशान्त उच्च सम-भूमि पर अवस्थित हुआ। वहां से वह संसार के अन्य साहित्यों का सभी दिशाओं से अवलोकन-आलोड़न करके उनसे प्रतिद्वंद्वता के लिए परिकर-बद्ध हो सका। शनैः-शनैः हिन्दी के मानसिक एवं बौद्धिक दोनों ही पक्ष पुष्ट हो चले, और उनमें किसी भी उत्तरदायित्व के वहन करने की क्षमता आने लगी। असंख्य अनुभूतियों और विचारों को प्रामाणिकता के साथ सरलता से प्रगट करने का उसने भी निश्चय किया। अन्यान्य लेखकों की भांति हिन्दी-गद्यकार भी एक-एक वाक्य ही नहीं एक-एक शब्द और विराम-चिह्न के प्रति सजग हो उठे। शब्द-कोश की वृद्धि तथा चिन्तन की गहराई ने वैज्ञानिक सूक्ष्म तथा यथातथ्य प्रस्तुति का अवसर प्रदान किया। फलतः द्विवेदी-युग की परिसमाप्ति के लगभग हिन्दी-गद्य के विभिन्न रूपों को विशिष्ट शैलियों में प्रस्तुत करनेवाले शैलीकारों की अवतारणा हुई। जिस सप्राणता एवं सम्यक् दृष्टि को लेकर इन्होंने साहित्य की सेवा की उसी के फलस्वरूप इतनी अल्पावधि में ही हिन्दी भारतीय साहित्य में अपना ध्रुव-पद प्राप्त कर सकी, तथा भारतीय भाषाओं में सम्मानित हुई।

निबन्ध-साहित्य की गद्य-शैलियां

विश्व के सभी विषयों तथा साहित्य की सभी शैलियों के लिए जितना प्रशान्त क्षेत्र निबन्धों तथा लेखों का है उतना अन्य नहीं। 'व्यक्तित्व ही शैली है' इस कथन की सर्वाधिक अभिव्यक्ति निबन्धों में होती है। जहां नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में लेखक को किसी पात्र अथवा चरित्र के अवगुंठन से अपने व्यक्तित्व को प्रगट करना पड़ता है, वहां निबन्धों में वह स्वतन्त्र रूप से पाठकों के समक्ष आने का अवसर पाता है। द्विवेदी-युग में जिन असंख्य विषयों पर गद्य में विचार किया गया है, उनका बहुलांश इन्हीं निबन्धों तथा लेखों के माध्यम से हुआ है। यह एक महान् सत्य है कि युग की भाषा और शैली दोनों ही का निखार और विकास इन निबन्धों के द्वारा हुआ। निःसन्देह नवीन तथा प्रौढ़ गद्य-शैलियों के प्रवर्त्तन का श्रेय भी निबन्धों को प्राप्त है। इसमें अत्युक्ति न होगी, यदि यह कहा जावे कि हिन्दी की गद्य-शैलियों का विकास वस्तुतः निबन्धों का प्रसाद है। अथवा हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का इतिहास, यथार्थ में हिन्दी-गद्य-शैलियों के विकास का इतिहास है। हिन्दी निबन्धों ने भाषा के रूप को स्थिर, परिष्कृत तथा प्रौढ़ बनाने में भी बहुत बड़ा योग दिया है।

समीक्षा की गद्य-शैलियां

शैली की दृष्टि से निबन्धों के सबसे समीप की गद्य-विधा समीक्षा में प्रौढ़, गम्भीर तथा बौद्धिक विश्लेषणयुक्त शैली रहती है। हिन्दी में प्रौढ़ प्रांजल सुष्ठ शास्त्रीय यथातथ्य वैज्ञानिक विवेचना की शैली की प्रतिष्ठा आलोचनाओं के माध्यम से हुई। युग-पुरुष आचार्य द्विवेदी का मूल रूप आलोचक का ही था। उन्होंने अपनी प्रखर, प्रवाहमयी, व्यंग्यपूर्ण और चुटीली भाषा के द्वारा ही युग-नेतृत्व किया तथा दीर्घकालीन फैली हुई अराजकता, अव्यवस्था एवं अनुशासनहीनता का अन्त किया। उनकी भाषा में व्यंग्य, कटाक्ष और परिहास भी उनकी प्रकृति के समान सरल, स्पष्ट तथा व्यावहारिक होते थे। ओज, गाम्भीर्य तथा संयमित भाषा की कठोर चट्टानों के बीच उनके व्यंग्य परिहास प्रखर, शीतल और हृदयस्पर्शी होते थे। इन वाक्य निर्झरों में कहीं भी गतिहीनता, लचरपन अथवा शक्तिहीनता नहीं है। उनकी यह समीक्षा की भाषा-शैली का प्रभाव निश्चित ही उनके समवर्ती एवं परवर्ती समीक्षकों पर अवश्य पड़ा है। आचार्य द्वय श्यामसुन्दर दास तथा रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में गवेषणात्मक शैली का स्वरूप निखरा है।

समीक्षा-साहित्य में आचार्य पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समीक्षा की उर्दू-फारसी के शब्दों और पदों से मिश्रित विभिन्न उद्धरणों, उक्तियों, मुहावरों तथा उदाहरणों से परिपुष्ट व्यावहारिक भाषा-शैली भी आलोच्य-युग में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि उनकी इस भाषा-शैली का पूर्णतः अनुकरण उनके समकालिकों अथवा परवर्तियों के द्वारा नहीं हो सका।

युग के प्रमुख निबन्धकार, समीक्षक एवं शैलीकार महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामावतार शर्मा, पूर्णसिंह, मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त काशीप्रसाद जायसवाल, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, माधवराव सप्रे, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला सीताराम, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, मन्नन द्विवेदी, सन्तराम, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, जनार्दन भट्ट, वैंकटेशनारायण तिवारी, ब्रजरत्न दास, लक्ष्मीधर वाजपेयी, बद्रीनाथ भट्ट, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इत्यादि ने भी बहुत से निबन्ध तथा समीक्षात्मक लेख लिखे हैं।

वैसे तो आलोच्य-युग में उपर्युक्त बहुत से निबन्धकार एवं समीक्षक हुए हैं, परन्तु उनमें से आचार्य-त्रय आचार्य महावीर द्विवेदी, आचार्य श्यामसुन्दर दास एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी के विकास के साथ हिन्दी की जो नवीन शैलियों का प्रवर्त्तन हुआ था, उसमें नाम गिनाने को शैलीकारों की कमी नहीं थी, परन्तु शैली का यथार्थ रहस्य हृदयंगम करने वालों में शीर्ष स्थान आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को ही प्राप्त हुआ। शैली की दृष्टि से युग की पूर्ण प्रतिष्ठा, परिष्कार एवं प्रौढ़त्व को लेकर उनकी रचनाएं प्रस्तुत हुईं। युग-पुरुष द्विवेदीजी की गम्भीर आलोचनात्मक निबन्धों की शैली के सफल उन्नायक के रूप में भी शुक्लजी सर्वाधिक सफल रहे। यह सत्य है कि उनका साहित्य न तो जन-साधारण की वाणी-विलास का

ही विषय है और न उनकी शैली जन-व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। सूत्र, संकेत, तथा समास-प्रधान शैली साधारण मस्तिष्क की वस्तु हो भी कैसे सकती है ? प्रौढ़ मनोवैज्ञानिक निबन्ध एवं शास्त्रीय आलोचनाओं के अनुरूप उनकी भाषा-शैली भी उच्चस्तर की प्रौढ़, प्रांजल एवं गम्भीर थी और वह सुशिक्षित पाठकों तथा उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए थी, सामान्य पाठकों के लिए नहीं। उच्च कक्षाओं में उनकी रचनाओं का विशेष अध्ययन करने के कारण आधुनिक हिन्दी के अनेक विद्वानों को उनकी शैली ने अनुप्राणित किया है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दर दास की शैली का सुन्दर अनुकरण तथा प्रभाव आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी, डॉ० पीताम्बरदास बड़्थवाल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि निबन्धकारों एवं समीक्षकों की शैली में सुरक्षित है। इतना ही नहीं, इन परवर्ती साहित्यकारों की गद्य-शैलियों में समुचित मात्रा में विषय-वस्तु के अनुरूप अपने व्यक्तित्व की विशेषताएं भी लक्षित होती हैं।

एक अन्य दृष्टि से भी आचार्य शुक्लजी की भाषा-शैली महत्त्वपूर्ण है। अपनी प्रगति-पथ की यात्रा में हिन्दी-गद्य को शुक्लजी की प्रतिभा, परिष्कृत साहित्यिक रुचि, गम्भीर अध्ययन तथा तात्कालिक परिस्थितियों ने विशेष योग प्रदान किया था। इनमें तात्कालिक परिस्थितियां जिनसे हमारा तात्पर्य तात्कालिक सर्वत्र फैले हुए बुद्धिवाद से है अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जिस बुद्धिवाद का जन्म यूरोप के औद्योगिक विकास के साथ हुआ था, वह यूरोपवासी अधिपतियों तथा साम्राज्यवादी-शक्तियों के साथ भारत में भी आ गया था। डारविन के विकासवादी सिद्धान्त ने तथा पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति ने मानव की प्राचीन मान्यताओं को, विशेषत: भारत में धराशायी प्राय कर दिया और उसे नये सिरे से विचार करने के लिए उत्साहित किया। इस प्रकार से औद्योगिक एवं वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा भौतिकवाद ने काव्य और कला के क्षेत्र को भी प्रभावित किया। आचार्य शुक्ल भी इस बुद्धिवाद से प्रभावित हुए। यद्यपि उन्होंने हृदय-पक्ष या भाव-पक्ष का बहिष्कार नहीं किया, तथापि उनका बुद्धि-पक्ष अपेक्षाकृत अधिक सजग एवं प्रभावपूर्ण रहा। वस्तुतः उनकी बुद्धि ही अन्त:यात्रा को निकली और हृदय उसके साथ हो गया। अत:, उनकी गद्य-शैली में स्पष्टत: बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता है। भाषा में मुहावरे, उक्तियां, भाव-विभाव, विकलांग वाक्य-विन्यास, तथा भावात्मक स्थल, कोमलकान्त पदावलियां, शृंगारिक या आलंकारिक वर्णनों का प्राय: अभाव है। भाषा-शैली के इस विकास-क्रम में निबन्धों के क्षेत्र में प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट की वह जिन्दादिल और सहृदय भाषा तिरोहित हो गई। निबन्ध अपने में गद्य की बौद्धिक शुष्कता, सरलता तथा स्पष्टता को अपना गन्तव्य बनाकर विविध शैलियों को प्रौढ़ता प्रदान करने में सफल हुआ।

आलोच्य-युग में शुक्लजी विवेचनात्मक एवं व्याख्यात्मक शैली के प्रतिनिधि एवं शीर्ष शैलीकार हुए, तथा निबन्ध और आलोचनाएं उनका कार्यक्षेत्र हुआ। संक्षिप्त में, गवेषणात्मक शैली का तत्सम प्रधान सशक्त, प्रांजल, व्याकरण-सम्मत, मुहावरा-विहीन, गम्भीर एवं प्रौढ़ स्वरूप आचार्य शुक्ल की शैली में स्फुटित हुआ।

कथा-साहित्य तथा नाटकों की शैलियां

काल और परिस्थितियों के प्रभाव-वश निबन्ध-साहित्य की शैलियों में ही बौद्धिक तत्त्व की वृद्धि होकर, गम्भीरता और प्रौढ़ता नहीं आई, वरन् कहानी उपन्यास और नाटकों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। हिन्दी-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि आलोच्य-युग के पूर्व भारतेन्दु-युग में ही, नाटकों में पद्यांश, छन्द रचना, अन्त्यानुप्रास, आलंकारिकता आदि काव्य-तत्त्वों की विपुलता रहती थी। इस रसात्मकता, रमणीयता तथा भावात्मकता के स्थान पर द्विवेदी-युग में स्वाभाविकता और गम्भीरता को महत्त्व दिया गया। विशेषत: अंग्रेजी के प्रभाव के कारण नाटकों में लम्बे-लम्बे वाक्य, स्वकथन की एकांगी शैली, काव्यात्मक आलंकारिक वर्णन, भाव व्यंजना, व्याख्यानात्मक तथा विवेचनात्मक ढंग के दीर्घकाय संवाद, आद्योपान्त ठेठ विशुद्ध भाषा का निर्वाह आदि शैलीगत तत्त्वों का ह्रास हो गया और उनके स्थान पर व्यावहारिक बातचीत के साधारण वाक्य, गम्भीर तर्कपूर्ण कथनोपकथन, पात्रानुकूल भाषा, जिनमें बोलचाल की भाषा के सरल शब्दों को स्थान मिला।

प्रसादजी ने विशेषत: भाषा-शैली की ही दृष्टि से नाटकों को अपनी महान् भेंट प्रदान की है। उन्होंने प्रौढ़, प्रांजल, संस्कृत-निष्ठ, काव्यात्मक एवं आलंकारिक भाषा-शैली का उत्कृष्ट स्वरूप सामने रखा। प्रसादजी की शैली में प्रतीकात्मक व्यंजना, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, काव्यात्मकता, कोमलकान्त-पदावलियोंवाली कलात्मक परिष्कृत शैली का सुष्ठ एवं पुष्ट स्वरूप निखर आया। वस्तुत: वे ही इस शैली के प्रतिनिधि कलाकार हैं।

द्विवेदी-युग में कहानियों तथा उपन्यासों में भी शैलीगत परिवर्तन हुए हैं। कथा-साहित्य वास्तव में जनता का साहित्य है और उसका प्रधान उद्देश्य भी जन-रंजन ही रहा है। यद्यपि कथा-कहानियों और आख्यायिकाओं के द्वारा गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण भी प्राचीन काल में किया जाता था, परन्तु आधुनिक कथा-साहित्य पूर्ववर्ती-युग में मनोरंजन तक सीमित हो गया था। द्विवेदी-युग में कथा-साहित्य से भी गम्भीर उत्तरदायित्व के निर्वाह की अपेक्षा की गई। बृहत् समाज की असंख्य सामाजिक समस्याओं—अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा, जाति-प्रथा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अंध-विश्वास इत्यादि तथा कई राजनीतिक समस्याओं को लेकर कहानियों और उपन्यासों की रचनाएं हुईं। परिणामत: कथा-साहित्य की भाषा-शैली में भी भाव-विचारानुकूल परिवर्तन हुआ। कथा-कहानियों की परम्परागत वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक शैलियों के साथ ही साथ अब विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियों का प्रचलन हो गया। विशेषत: पश्चिमी साहित्य के अनुकरण पर कथा-कहानियों में मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर ध्यान गया। अतएव, शैली का झुकाव और भी अधिक विवेचन तथा विश्लेषण की ओर हुआ। युग के विषम, विविध तथा संश्लिष्ट विचारों के प्रकाशन का कार्य कथा-कहानियों ने प्रारम्भ किया।

हिन्दी साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियों के पदार्पण करने पर जड़ और चेतन तत्त्वों की दूरी भी समाप्त हो चली। जड़ प्रकृति और पशु-पक्षी सभी मानव के प्रति

संवेदनशील एवं सहृदय हो गये। कथा-साहित्यकारों ने उन्हें मानव-प्रकृति के चित्रण में स्थान-स्थान पर उपमान तथा प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया।

कथा-कहानियों में सजीवता एवं सप्राणता की प्रतिष्ठा करने के लिए नाटकीय शैली के अनुकरण पर कथनोपकथन अथवा सम्भाषण प्रधान भाषा-शैली का भी प्रादुर्भाव इस युग में हुआ। पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि ने इस शैली का सुन्दर प्रवर्त्तन किया।

कथा-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द युग के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रतिनिधि शैलीकार तथा कथाकार हुए। उनकी भाषा-शैली में कथा-साहित्य की वर्णनात्मक, विवरणात्मक तथा विवेचनात्मक शैलियों की समन्वित विशेषताओं का स्फुरण हुआ। यही कारण है कि उनके समवर्तियों एवं परवर्तियों ने उनकी शैली का अनुकरण किया। प्रेमचन्दजी की शैली सरल, सुबोध, मुहावरे-कहावत युक्त, प्रवहमान, मिश्रित एवं व्यावहारिक है।

गद्य-काव्य की शैलियां

द्विवेदी-युग में बंगसपूत कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' ने, १६१३ में विश्व-विजय करने के पश्चात् हिन्दी के साहित्यकारों को विशेषतः अपनी ओर आकर्षित किया। उसकी शैली के अनुकरण पर हिन्दी में बहुत-सी रचनाएं पद्य और गद्य दोनों ही क्षेत्र में हुईं। अतः, बंग-भाषा की कोमलकान्त पदावलियां, रसात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं काव्यात्मकता घनीभूत होकर यत्र-तत्र हिन्दी गद्य-लेखों में परिलक्षित हुई। द्विवेदीजी की गद्य-पद्य की भाषा के भेद को मिटाने की नीति ने भी गद्य-काव्य को परोक्षरूप में प्रोत्साहित किया। यद्यपि गद्य-काव्य की भाषा-शैली का प्रारम्भिक एवं अपरिपक्व स्वरूप पूर्ववर्ती युग में भारतेन्दु, ठाकुर जगमोहनसिंह और चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' की रचनाओं में उपलब्ध होता है; परन्तु प्रौढ़ तथा परिपक्व गद्य-काव्य की संगीतात्मक ध्वनि, कोमलकान्त पदावलियां, रसात्मकता, त्रिभंगी व्यंजना तथा काव्यात्मकता-व्यंजक वाक्य-रचना को संजोकर रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री जैसे श्रेष्ठ गद्य-काव्यकार उपस्थित हुए। जयशंकरप्रसाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय, राजा राधिकारमणप्रसादसिंह इत्यादि की स्फुट रचनाओं में भी यत्र-तत्र अति भावात्मक शैली उपलब्ध हुई है। निबन्ध ही नहीं, नाटकों, उपन्यासों और कहानियों में इस शैली का सफल प्रवर्त्तन हुआ है। गद्य-काव्यों में यद्यपि मानस के विवेचन और विश्लेषण के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है; परन्तु स्थान-संकोच एवं भाव-विभोरता के कारण बौद्धिक व्याख्या, विश्लेषण तथा विचार-शृंखला को सुष्ठ-पुष्ट वाक्य-विन्यास तथा प्रघट्टकों में संजोने का अवसर नहीं रहता। अतः, भावात्मक शैली का प्रौढ़ रूप गद्य-काव्यों में निखर उठा।

राष्ट्र-भाषा की ओर प्रगति

द्विवेदी-युग की लगभग प्रथम चतुर्थांश शताब्दी में, हिन्दी भाषा एवं साहित्य

की जो प्रगति तथा श्रीवृद्धि हुई वह हिन्दी भाषा तथा साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इतनी अल्पावधि में, तात्कालिक भारत की उपेक्षित, तिरस्कृत एवं भू-लुंठिता कृशकाय हिन्दी समृद्ध होकर देश की प्रमुख भाषाओं में सम्मानित होने लगी। जो हिन्दी गंवारी भाषा समझी जाती थी और जिसे 'रेखता' कहकर पुकारा जाता था, वही अब सभ्य-समाज पर शासन करने लगी। सर्व-साधारण जनता से लेकर चोटी के विभिन्न भाषाओं के विद्वान् भी हिन्दी की ओर झुके। राष्ट्र-भाषा के सर्वोच्च पद की अधिकारिणी भी इसे समझा जाने लगा। देश के हिन्दी भाषा भाषी व्यक्ति ही नहीं, अन्य भाषा-भाषी विद्वान् भी राष्ट्र-भाषा पद के लिए इसका समर्थन करने लगे। सभी क्षेत्रों में युग-पुरुष द्विवेदीजी के महाप्राण व्यक्तित्व की विभा की महत्ता स्वीकार करके, हिन्दी की हीनता सम्बन्धी धारणाएं परिवर्तित हुई। वैसे तो प्रतिभा और परिस्थितियों के समक्ष बड़े-बड़े दिग्गज भी नत-मस्तक होते हैं। द्वितीया के उदित मयंक के दर्शन कर उसकी पूजा-अर्चना करते किसने नहीं देखा? हां, निश्चय ही ऐसे बहुत कम भाग्य के धनी हैं, जिनके चरणों में विभिन्न और विरोधी क्षेत्रों के अनेक विद्वान् अपने-अपने सम्मानित स्थानों से लौटकर, शिशु भाव से आत्म-समर्पण कर दें। द्विवेदी इस दृष्टि से बहुत भाग्यशाली थे। उनके सामने उर्दू-फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत के जन-सम्मानित लेखक नत-मस्तक ही नहीं हुए, वरन् श्रद्धापूर्वक 'महावीर' के प्रसाद को पाकर सम्राट् भी बन गये। संस्कृत के विद्वान् हिन्दी का कोई प्रबल हितैषी न पाकर उसे संस्कृत की दुहिता मानने में संकोच करते थे। वे ही उसे संस्कृत की योग्य उत्तराधिकारिणी स्वीकार करने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी के साहित्य का सच्चा निर्माणकारी युग और उसकी जातीय शैली का विकास-युग यही है।

हिन्दी को इस गौरवशाली पद पर आरूढ़ कराने में आचार्य द्विवेदीजी को अहर्निश कठोर तपस्या और साधना करना पड़ी। आज भी भाषा का जो परिष्कृत एवं प्रांजल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसका बहुलांश में श्रेय द्विवेदीजी को है। शैलियों के विकास के लिए भाषा की स्थिरता एवं प्रांजलता अनिवार्य है। ये दोनों कार्य द्विवेदीजी के द्वारा हुए। भाषा को व्यापक बनाने के लिए उन्होंने प्रसाद गुण की सत्ता को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की।

कांग्रेस तथा हिन्दुस्थानी

द्विवेदी-युगीन भाषा तथा शैली पर तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियों का जो सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है वह राष्ट्र-भाषा के स्वरूप को निश्चित करने के प्रश्न को लेकर हुए प्रयत्नों का फल है। भारतेन्दु-युग में सबसे प्रबल और प्रभावी शक्तियां सामाजिक आन्दोलन थीं। इस युग में राजनीतिक आन्दोलन ने बल पकड़ा और उसमें भी राष्ट्रीय महासभा 'कांग्रेस' की स्थिति सबसे महत्त्वपूर्ण थी। राजनीतिक उद्देश्य से हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न की, भाषा में भी प्रक्रिया हुई। हिन्दी-उर्दू का संघर्ष वर्षों से चल रहा था। इस प्रश्न को हल कर, हिन्दू और मुसलमानों को देश के स्वातन्त्र्य के लिए, संगठित करने का प्रयत्न किया गया। अतः, उर्दू-फारसी की कड़वी गोलियों

को नागरी लिपि की शक्कर में रखकर, 'हिन्दुस्थानी' के नाम से, राष्ट्र-भाषा पद के लिए प्रस्तावित किया गया। इसमें विदेशी सरकार तथा देश की लोकप्रिय संस्था कांग्रेस का पूर्ण समर्थन था।

इन दो प्रबल विरोधों के बीच हिन्दी-भाषा को अपना मार्ग प्रशस्त करना था। देश के बड़े-बड़े चोटी के नेताओं को हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द आंख की किरकिरी की भांति गड़ते थे। इस महान् राष्ट्रीय समस्या के झंझावात में संस्कृत-तत्सम-शब्द-बहुला विशुद्ध हिन्दी का कार्य बहुत कठिन हो गया। 'हिन्दुस्थानी' की कथित राष्ट्रीयता के फेर में पड़कर, कई तत्सम हिन्दी के लेखक भी उसी ओर बह गये। हिन्दुस्थानी हिन्दी की उर्दू-शब्द प्रधान शैली माने जाने लगी और राष्ट्र-भाषा के नाम से उसे बहु प्रचारित किया गया। इस प्रकार से हिन्दुस्थानी भाषा का नाम रखकर हिन्दी की यह शैली जन-जीवन तथा साहित्य में बहुत प्रचलित की गई। इस भाषा का स्वरूप उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द, पद्मसिंह, सुदर्शन आदि की भाषा के समान, सरल उर्दू-फारसी मिश्रित सुबोध तथा व्यावहारिक था। वस्तुतः हिन्दी की यह भी एक शैली ही थी।

द्विवेदीजी के कठोर भाषानुशासन ने इस राष्ट्रीय संकट को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। उन्होंने एक ओर उर्दू-फारसी के सरल, सुबोध तथा व्यावहारिक शब्दों का समादर किया और दूसरी ओर संस्कृत के दुरूह, क्लिष्ट तथा अप्रचलित शब्दों की उपेक्षा भी की। उनकी भाषा का लक्ष्य था, ऐसी भाषा जिसे कि साधारण से साधारण बुद्धिवाला पाठक या श्रोता भी सरलता से हृदयंगम कर सके। द्विवेदीजी के भाषा सम्बन्धी इस आदर्श के कारण हिन्दी विरोधिनी शक्तियों की ऊष्मा का बहुत अंशों में शमन हुआ और भाषा को जन-जीवन के समीप लाने का सफल प्रयत्न भी किया।

द्विवेदीजी ने विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अंगीकृत करने के साथ ही, हिन्दी को अपने वृद्धिगत उत्तरदायित्व के संवाहनार्थ नवीन शब्द-निर्माण के लिए संस्कृत के अक्षय कोष का आश्रय लेना उचित समझा। इसका कारण संस्कृत का राष्ट्र-व्यापी सम्मान, समृद्धि और अन्य भारतीय भाषाओं से उसका रक्त सम्बन्ध था। यद्यपि हिन्दी के ऐसे पोषकों तथा समर्थकों की कमी नहीं थी, जो हिन्दी को पूर्णरूपेण संस्कृत के शब्दों, पदों तथा विन्यास से सुसज्जित करना चाहते थे। पं० गोविंद-नारायण मिश्र, पं० रामावतार शर्मा, चण्डीप्रसाद हृदयेश, पं० सुधाकर द्विवेदी प्रभृति संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत के प्रति अति झुकाव व्यक्त किया। विशुद्धता के आग्रह के कारण विदेशी शब्द-अतिथियों को भी अनादर कर, पाणिनी की टकसाल के ढले हुए शब्दों का अभिनन्दन किया। संस्कृत की ओर झुकाव की इस अति के कारण हिन्दी के हित को ही ठेस पहुंची। हिन्दी में बहुत से 'साहित्य के सपूत'[1] अथवा 'साहित्यानन्द'[2]

१. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : मरदानी औरत

२. —वही— —वही—

हो चले जो विशुद्धता के फेर में पड़कर भावों का सपिण्ड श्राद्ध करने लगे। हिन्दी को जन-भाषा के स्थान पर कोष-भाषा बनाने का प्रयत्न वे कर रहे थे। इतना ही नहीं, विदेशी मुहावरे, जो विदेशी संस्कृति की विदेशी भूमि तथा विदेशी जलवायु में फल-फूल सकते हैं, उन्हें वहां से वैसे ही उठाकर शुद्ध शब्दानुवाद के द्वारा हिन्दी में लाया गया; जैसे—(१) मैं आगमन करता हूं। (२) वह दृष्टिगोचर होते ही पलायन कर गये। (३) अंजुल भर जल में तू निमग्न हो जा। (४) खंड-खंड करके स्मित हो। (५) सुअर का शिशु मुण्ड पर आरूढ़ हो गया।

जी० पी० श्रीवास्तव के इन वाक्यों में भले ही अतिशयोक्ति है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी के कुछ 'सपूत' उसे इसी सांचे में ढालने का प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। यह स्थिति भी हिन्दी के स्वस्थ विकास के लिए उपयुक्त न थी। इसके लिए समन्वय एवं सहिष्णुता अपेक्षित थी। द्विवेदीजी में ये दोनों गुण थे। वे संस्कृत के विद्वान् तथा प्रेमी थे, फिर भी उन्होंने अपनी शैली में संस्कृत के शब्दों को नहीं अपनाया। गद्य के क्षेत्र में विश्व की सर्वाधिक समृद्धिशाली भाषा अंग्रेजी को उन्होंने अपनी भाषा-शैली का आदर्श बनाया। इसके लिए उन्होंने अंग्रेजी भाषा की सरलता और स्पष्टता ग्रहण की, साथ ही अंग्रेजी के विराम-चिह्नों, प्रघट्टक-योजना तथा वाक्य-विन्यास को भी अपनी भाषा में स्थान दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने बंगला, मराठी, उर्दू आदि भाषाओं के हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल तत्त्वों का भी समादर किया।

समन्वय भारत, भारतीय संस्कृति एवं भारती की मूलभूत विशेषता है। हिन्दी की परम्परा तथा गौरव के अनुकूल भाषा-शैलियों के समुचित विकास के लिए, भाषा के विश्वकर्मा युग-पुरुष आचार्य द्विवेदी सदैव प्रयत्नशील रहे। उन्होंने शब्द-चयन, पद-योजना, वाक्य-विन्यास आदि सभी शैलीगत तत्त्वों को उदारतापूर्वक स्वकीया तथा परकीया भाषाओं से ग्रहण किये। संस्कृत भाषा की अलंकार-योजना और वर्णन-कुशलता; अंग्रेजी की सरलता और स्पष्टता; मराठी की गम्भीरता और रूक्षता; बंगला की कमनीयता और सरसता; उर्दू-फारसी की चुहुलबाजी और गतिशीलता को सावधानी से हिन्दी ने ग्रहण किया। इस प्रकार से सम्पर्क प्राप्त सभी भाषाओं के अनुकूल तत्त्वों को अपने में आत्मसात करके हिन्दी-भाषा की शक्ति बहुत बढ़ गई। निःसन्देह हिन्दी ने इन भाषाओं के अतिपूर्ण तत्त्वों को अस्वीकृत कर दिया। एक सजीव एवं महाप्राण भाषा के उपयुक्त, तात्कालिक भाषा ने परिस्थिति के अनुसार अपने वातावरण से पौष्टिक तत्त्वों को ग्रहण कर अपने में आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार हिन्दी भाषा की शैली-उपार्जन शक्ति बढ़ गई। द्विवेदीजी के शासनकाल में, द्विवेदी-टकसाल में ढलकर 'सरस्वती' की छाप अंकित होकर बहुत-सी भाषा-शैलियां दृष्टिगोचर हुईं। द्विवेदीजी की 'सरस्वती' के अनुकरण, प्रेरणा तथा प्रभाव से देश में जो असंख्य पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उनमें हिन्दी-गद्य-शैलियों के विविध स्वरूप सामने आये। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में ही नहीं, अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी का प्रचार-प्रसार अधिक हो गया। इस प्रकार से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनने के स्वस्थ चिह्न दिखने लगे।

छायावादी शैली

द्विवेदीजी के कठोर अनुशासन तथा इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया भी हुई। यद्यपि यह प्रतिक्रिया उनके शासन-काल में ही प्रारम्भ हो गई थी; परन्तु द्विवेदीजी के सशक्त एवं सप्राण व्यक्तित्व के समक्ष वह युग पर अपना विशेष प्रभाव प्रगट नहीं कर सकी थी। द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में ये छायावादी प्रवृत्तियां हिन्दी के साहित्याकाश में स्पष्टतः दृष्टिगोचर हुईं। यह द्विवेदीजी की 'क्लासिकल' शैली के विपरीत रोमांटिक छायावादी शैली स्फुटित हुई। इसमें उत्तेजना, आवेश, कल्पना, कमनीयता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, वक्रता आदि की साज-सज्जा की जाने लगी। सूक्ष्म तत्त्वों ने स्थूल तत्त्वों के प्रति विद्रोह का झंडा लहरा दिया। वस्तुतः छायावाद का श्रीगणेश काव्य में ही हुआ था, तत्पश्चात् गद्य के क्षेत्र में भी उसका प्रभाव क्रमशः आ गया। प्रसाद, पन्त और निराला इस क्षेत्र में अग्रगण्य रहे। द्विवेदीजी ने यद्यपि इस छायावादी शैली की 'असाधु', 'अस्पष्ट' आदि शब्दों से कटु आलोचना की; परन्तु नये युग के प्रवाह को वे नहीं रोक सके और उन्हीं के सामने १९३० तक ये प्रवृत्तियां गद्य के क्षेत्र में भी परिपुष्ट हो गईं। अतः, उनके युग का अवसान भी यहीं हो जाता है।

द्विवेदीजी के आदर्श के प्रतिकूल भले ही छायावादी धारा ने सिर उठाया और वह अन्ततोगत्वा सफल भी हुई; परन्तु उसने भी हिन्दी-भाषा को, समृद्धि की उस उच्चसमभूमि पर अवस्थित किया, जहां से वह अपनी शैलियों को लेकर अनेक दिशाओं में प्रवाहित हो सकी। उन्होंने हिन्दी को व्याकरण-सम्मत करके उसके स्वरूप को परिष्कृत एवं परिमार्जित किया। उनके प्रोत्साहन और प्रयत्नों से एक विशाल शब्द-भाण्डार, युग-निधि के रूप में तैयार हो गया। इस प्रकार प्रौढ़ता-प्राप्त हिन्दी में विभिन्न भावों और विचारों की सफल अभिव्यक्ति की क्षमता आ गई तथा उसमें अनेक शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। इस पृष्ठभूमि के लाभ को उठाकर ही द्विवेदी-युग के अवसान पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी की स्वर्णिम उषा का उदय हुआ। विशेषतः हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में अनेक सर्वतोन्मुखी प्रतिभाओं और शैलीकारों का प्रादुर्भाव हुआ। गद्य-लेखक कवि—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा; समीक्षक तथा निबन्धकार—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा; नाटककार—पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, पं० गोविंदबल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, डॉ० रामकुमार वर्मा (एकांकीकार); कथाकार—जैनेन्द्रकुमार, हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्सायन, 'अज्ञेय', 'उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इत्यादि महाप्राण विभूतियां इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विभाओं के उदित होते ही भारत के भव्य भाल की बिन्दी हिन्दी का भाल जगमगा उठा।

उपस्कारक ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका

हिन्दी के ग्रन्थ

ग्रन्थकार	ग्रन्थ तथा प्रकाशक का नाम
अरस्तू	—अरस्तू दा काव्यशास्त्र : अनु० डॉ० नगेन्द्र। इलाहाबाद, भारती भंडार।
अयोध्याप्रसाद खत्री	—खड़ी बोली आन्दोलन : सं० भुवनेश्वर मित्र।
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	—अधखिला फूल। पटना, खंगविलास प्रेस।
	—उद्बोधन। पटना।
	—प्रिय प्रवास। बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर।
	—विभूतिमती ब्रजभाषा। वृन्दावन, अग्रवाल प्रेस।
	—संदर्भ सर्वस्व। पटना, ग्रन्थमाला कार्यालय।
	—हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का विकास। भागलपुर, मानिकलाल।
ओंकार शरद	—राधिकारमण सिंह : व्यक्तित्व और कला। इलाहाबाद, लहर प्रकाशन।
इन्द्रनाथ मदान	—हिन्दी-कलाकार। जालन्धर, हिन्दी-भवन।
इंशाअल्लाह खाँ	—रानी केतकी की कहानी। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
उदयनारायण तिवारी, डॉ०	—हिन्दी-भाषा तथा साहित्य। दिल्ली, राज-कमल प्रकाशन।
उदयभानु सिंह, डॉ०	—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग। लखनऊ, विश्वविद्यालय प्रकाशन।
कन्हैयालाल पोद्दार	—संस्कृत-साहित्य का इतिहास। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
कन्हैयालाल सरल	—समीक्षांजलि (भाग १) आगरा, साहित्य-रत्न-भंडार।
कपिलदेव द्विवेदी, डॉ०	—अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन। इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

कमलापति त्रिपाठी	—पत्र और पत्रकार। बनारस, ज्ञानमंडल।
	—शैली। बनारस, साहित्य ग्रन्थ कार्यालय।
कालीदास कपूर तथा प्रेमनारायण टण्डन	—हिन्दी-सेवी-संसार। लखनऊ, विद्यामन्दिर, चौक।
किशोरीलाल गोस्वामी	—चपला (भाग १-४)। वृन्दावन, सुदर्शन प्रेस।
	—तारा (भाग १-३)। बनारस, हितचिन्तक प्रेस।
	—त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी। प्रभाकरी।
किशोरीदास वाजपेयी	—कला। इलाहाबाद, रामनारायणलाल।
कृपाराम शर्मा	—ईश्वर-विचार। मुरादाबाद, आर्य भास्कर प्रेस।
कृष्णानन्द पन्त तथा राजकिशोर कंकड़	—हिन्दी-साहित्य का विकास। मेरठ, ब्रह्मानंद ब्रदर्स।
कृष्णशंकर शुक्ल	—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास। बनारस, हिन्दी-साहित्य कुटीर।
केसरीनारायण शुक्ल, डॉ०	—आधुनिक काव्यधारा। बनारस, सरस्वती मन्दिर।
	—भारतेन्दु के निबन्ध। बनारस, सरस्वती मन्दिर।
क्षमचन्द्र 'सुमन'	—जीवन-स्मृतियां। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।
क्षेमचन्द्र 'सुमन' तथा योगेन्द्र कुमार मल्लिक	—साहित्य-विवेचन। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।
गंगाप्रसाद अग्निहोत्री	—राष्ट्रभाषा। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
गंगाप्रसाद पाण्डेय	—आधुनिक कथा-साहित्य। इलाहाबाद, प्रमोद पुस्तकालय।
गंगाप्रसाद श्रीवास्तव (जी० पी० श्रीवास्तव)	—उलट-फेर। कलकत्ता, हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी।
	—नोंक-झोंक। आगरा, सरस्वती प्रेस।
	—भूल-चूक। कलकत्ता, बालकृष्ण प्रेस।
	—मरदानी औरत। काशी, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी।
	—मारमार कर हकीम, आंखों में धूल और हवाई डाक्टर। कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी।
	—लाल बुझक्कड़। इलाहाबाद, चांद कार्यालय।

—साहब बहादुर उर्फ चड्डा गुल खैरू।
—साहित्य का सपूत। इलाहाबाद, चांद प्रेस।

गंगाबक्श सिंह —द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य। लखनऊ, विश्वविद्यालय।

गुर्ती सुब्रह्मण्य —हिन्दी-साहित्य-समीक्षा। प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक —आलोचक रामचन्द्र शुक्ल। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

गुलाबराय, डॉ० —काव्य के रूप। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।
—मेरे निबन्ध : जीवन और जगत। आगरा, गयाप्रसाद एंड संस।
—सिद्धान्त और अध्ययन। दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स।

गोकुलप्रसाद शर्मा —निबन्धादर्श। इलाहाबाद, साहित्य-भवन।

गोपालराम गहमरी —दादा और मैं। बम्बई, एस० पी०।
—बनवीर नाटक। काशी, चन्द्रप्रभा प्रेस।
—मुहम्मद सरवर की जासूसी। बनारस, जासूसी आफिस।
—योग महिमा। बनारस, जासूसी आफिस।
—रहस्यविप्लव। बनारस, जासूसी आफिस।
—कंजूस की खोपड़ी। काशी।

गोविन्दबल्लभ पन्त —वरमाला। लखनऊ, गंगा-ग्रन्थागार।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' —नन्दन निकुंज। लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला।
—मनोरमा। इलाहाबाद, चांद कार्यालय।
—मंगल प्रभात। चांद कार्यालय।

चन्द्रकान्त बाली शास्त्री —हिन्दी-गद्य : विकास और विमर्श। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी —गुलेरी-ग्रन्थ। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

चन्द्रवली पाण्डेय —कचहरी की भाषा और लिपि। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
—नागरी का अभिशाप। मुरार, विद्यामंदिर।
—भाषा का प्रश्न। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
—शासन में नागरी। प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

—हिन्दी की हिमाकत क्यों ? काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

चतुरसेन शास्त्री —अन्तस्तल। बंबई, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर।

—बनाम स्वदेश। बुलन्दशहर, हिन्दी साहित्य ग्रन्थमाला।

—हिन्दी-भाषा और साहित्य का इतिहास। दिल्ली, गौतम बुक डिपो।

छविनाथ त्रिपाठी —कहानी-कला और उसका विकास। देहरादून, साहित्य सदन।

छुट्टनलाल स्वामी —श्रीमद्भागवत-समीक्षा। मेरठ, स्वामी मेशीन यन्त्रालय।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी —निबन्ध निचय। लखनऊ, गंगा पुस्तक माला।

—मधुर मिलन। कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक भवन।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डॉ० —आदर्श निबन्ध। बनारस, नंदकिशोर।

—कहानी का रचना-विधान। बनारस, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय।

—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन। बनारस, सरस्वती मन्दिर।

—हिन्दी की गद्य-शैली का विकास। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

—हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता। काशी, सरस्वती मन्दिर।

जगदीश पाण्डेय —शील-निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग। पटना, अखिल भारतीय हिन्दी परिषद्।

जगदीशप्रसाद व्यास —भारत में अंग्रेजी-शिक्षा। जबलपुर, ज्ञान मन्दिर।

जगमोहनसिंह, ठाकुर —श्यामा-स्वप्न। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

जयकिशन प्रसाद —हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियां। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

जयनाथ 'नलिन' —हिन्दी-नाटककार। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

—हिन्दी-निबन्धकार। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

जयशंकरप्रसाद —अजातशत्रु। प्रयाग, भारती भण्डार।
—कंकाल। प्रयाग, भारती भण्डार।
—कामना। प्रयाग, भारती भण्डार।
—काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध। प्रयाग, भारती भण्डार।
—चन्द्रगुप्त। प्रयाग, भारती भण्डार।
—छाया। प्रयाग, भारती भण्डार।
—स्कन्दगुप्त। प्रयाग, भारती भण्डार।

त्रिभुवनसिंह —हिन्दी-उपन्यास और यथार्थवाद। बनारस, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय।

दयानन्द सरस्वती —भ्रमोच्छेदन। काशी, वैदिक यंत्रालय।
—व्याख्यान इतिहास विषयक। अजमेर, वैदिक यन्त्रालय।
—सत्यार्थप्रकाश। बनारस, वैदिक पुस्तकालय।

दशरथ ओझा, डॉ० —समीक्षा-शास्त्र : (भारतीय और पाश्चात्य)। दिल्ली, राजपाल एंड संस।

देवराज उपाध्याय —आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान। इलाहाबाद, साहित्य भवन।

देवीदत्त शुक्ल —बाल द्विवेदी। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

देवीशरन रस्तोगी — हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास। दिल्ली, राजपाल एंड संस।

धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० —हिन्दी-भाषा का इतिहास। प्रयाग, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

नंददुलारे वाजपेयी —आधुनिक साहित्य। इलाहाबाद, भारती भण्डार।
—जयशंकर प्रसाद। प्रयाग, भारती भण्डार।
—नया साहित्य : नये प्रश्न। बनारस, विद्यामन्दिर।
—हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी। लखनऊ, इंडियन प्रेस।

नंददुलारे वाजपेयी तथा रामलाल सिंह —आधुनिक निबन्ध। सागर, स्टूडेण्टस स्टोर।
—निबन्ध-निचय। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

नगेन्द्र, डॉ० —आधुनिक हिन्दी-नाटक। आगरा, साहित्य-रत्न-भण्डार।
—भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा। दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस।

—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका । दिल्ली, ओरिएण्टल बुक डिपो ।
—रीतिकाव्य की भूमिका । दिल्ली, इंडियन पब्लिशिंग हाऊस ।

नलिनविलोचन शर्मा तथा अन्य, सं० —हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियां । दिल्ली, राजकमल प्रकाशन ।

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी —कुछ । प्रयाग, इंडियन प्रेस ।
—विश्व-साहित्य । लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला ।
—हिन्दी-कथा-साहित्य । बम्बई, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर ।
—हिन्दी-साहित्य-विमर्श । कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ।

पद्मसिंह शर्मा —गद्य-गौरव । साहित्य पब्लि० ।
—पद्मपराग । पटना, भारती पब्लि० ।
—पद्मसिंह शर्मा के पत्र । दिल्ली, आत्माराम एंड संस ।

प्रेमचन्द —कायाकल्प । इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी पब्लिशर्स ।
—कुछ विचार । बनारस, सरस्वती मन्दिर ।
—प्रेम द्वादशी । बनारस, सरस्वती प्रेस ।
—मंगल-सूत्र । बनारस, हि० पब्लि० ।
—मानसरोवर (भाग १-८) । बनारस, सरस्वती प्रेस ।
—साहित्य का उद्देश्य । इलाहाबाद, भार्गव प्रेस ।
—सेवा-सदन । इलाहाबाद, सरस्वती प्रेस बुक डिपो ।

प्रेमनारायण टण्डन —द्विवेदी-मीमांसा । इलाहाबाद, इंडियन प्रेस ।

प्रेमनारायण शुक्ल —हिन्दी-साहित्य में विविध वाद । कानपुर, पद्मजा प्रकाशन ।

प्रेमलता अग्रवाल 'सरस्वती' —हिन्दी-साहित्य और उसका विकास । गया, अग्रवाल ब्रदर्स ।

फूलचन्द जैन 'सारंग' —शैलियाँ । आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर ।
—हिन्दी और उसके कलाकार । आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर ।

बदरीनाथ भट्ट —चुंगी की उम्मेदवारी। आगरा, रामभूषण प्रेस।

बदरीनारायण उपाध्याय —प्रेमघन सर्वस्व (भाग १-२)। प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

बनारसीदास चतुर्वेदी —संस्मरण। काशी, भारतीय ज्ञानपीठ।

बल्देव उपाध्याय —भारतीय साहित्य-शास्त्र। काशी, प्रसाद परिषद्।
—संस्कृत-साहित्य का इतिहास। काशी, शारदा मंदिर।

कालेलकर, काका —बापू के पत्र। काशी, अखिल भारतीय सर्व-सेवा संघ।

बालकृष्ण भट्ट —दमयंती स्वयंवर। प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।
—नूतन ब्रह्मचारी। प्रयाग, अभ्युदय प्रेस।
—भट्ट निबन्धावली : सं० देवीदत्त शुक्ल तथा धनंजय भट्ट 'सरल'। प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

बालमुकुन्द गुप्त —गुप्त-निबन्धावली (भाग-१)। कलकत्ता, गुप्त स्मारक ग्रन्थ समिति।
—चिट्ठे और खत। कलकत्ता, यशोदानंद।
—बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ : सं० झाबरमल्ल तथा बनारसीदास चतुर्वेदी। कलकत्ता, गुप्त स्मारक ग्रन्थ समिति।
—रत्नावली। कलकत्ता, भारत मित्र प्रेस।
—शिव शंभु के चिट्ठे। कलकत्ता, विशाल भारत।
—हिन्दी-भाषा। कलकत्ता, भारती मात्र प्रेस।

बी० एस० ठाकुर तथा सुशीलकुमार पाण्डेय —हिन्दी-पत्रों के संपादक। लखनऊ, स्वतन्त्र प्रकाशन।

बेचन शर्मा 'उग्र' —खुदाराम और चन्द हसीनों के खतूत। दिल्ली, उग्र-प्रकाशन।
—चार बेचारे। मिर्जापुर, बीसवीं शताब्दी।
—महात्मा ईसा। प्रयाग, भारती भण्डार।

बैजनाथसिंह विनोद —द्विवेदी-पत्रावली। काशी, भारतीय ज्ञानपीठ।

ब्रजरत्नदास —हिन्दी-नाट्य-साहित्य। बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर।

ब्रह्मदत्त शर्मा —हिन्दी-साहित्य में निबन्ध। आगरा, गयाप्रसाद एंड संस।

भगवतस्वरूप मिश्र, डॉ० —हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास। देहरादून, साहित्य-सदन।

भगवानदीन, टीकाकार —केशव-कौमुदी (भाग-१)। इलाहाबाद, रामनारायण लाल।

भगीरथ मिश्र, डॉ० —हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास। लखनऊ, विश्वविद्यालय प्रकाशन।
—हिन्दी-रीति-साहित्य। दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।

भवानीशंकर त्रिवेदी —हमारा हिन्दी-साहित्य और भाषा-परिवार। दिल्ली, मेहरचन्द लक्ष्मणदास।

भोलानाथ, डॉ० —हिन्दी-साहित्य। प्रयाग, विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्।

महावीरप्रसाद द्विवेदी —अद्भुत आलाप। लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला।
—कोविद-कीर्तन। प्रयाग, इण्डियन प्रेस।
—नाट्य-शास्त्र। प्रयाग, इण्डियन प्रेस।
—नैषद-चरित्र-चर्चा। लखनऊ, गंगा ग्रन्थागार।
—बेकन-विचार-रत्नावली : अनु० द्विवेदीजी। बम्बई, खेमराज।
—रसज्ञ-रंजन। आगरा, साहित्य-रत्न-भण्डार।
—लेखांजलि। कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी।
—सभा और सरस्वती। सहारनपुर, हिमालय एजेन्सी।
—समालोचना-समुच्चय। इलाहाबाद, रामनारायण लाल।
—हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति। प्रयाग, इण्डियन प्रेस।

माखनलाल चतुर्वेदी —कृष्णार्जुन-युद्ध। कानपुर, प्रकाश पुस्तकालय।

माताप्रसाद गुप्त, डॉ० —हिन्दी-पुस्तक साहित्य १८६७—१९४२। इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

माधवप्रसाद मिश्र —माधव मिश्र-निबन्ध-माला (भाग-१)। प्रयाग, इण्डियन प्रेस।

मिश्रबन्धु
—आत्मशिक्षण। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
—मिश्रबन्धु - विनोद। लखनऊ, गंगा ग्रन्थागार।
—संक्षिप्त हिन्दी-नव रत्न। लखनऊ, गंगा ग्रन्थागार।

मुरलीधर श्रीवास्तव
—बिहार के आधुनिक गद्य-निर्माता। पटना, अशोक प्रेस।

मोहनलाल महतो वियोगी
—धुंधले चित्र। इलाहाबाद, ओझा बन्धु आश्रम।

मोहनलाल तथा सुरेशचन्द्र गुप्त
—प्रतिनिधि आलोचक। दिल्ली, भारती साहित्य मन्दिर।

योगेन्द्रकुमार मल्लिक
—हिन्दी-गद्य-विकास और इतिहास। दिल्ली, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास।

वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ०
—कला और संस्कृति। इलाहाबाद, साहित्य भवन।
—हिन्दी-कहानी और कहानीकार। बनारस, वाणी विहार।

विजयेन्द्र स्नातक तथा क्षेमचन्द्र 'सुमन'
—हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रगति। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

विनोदशंकर व्यास
—उपन्यास-कला। काशी, हिन्दी साहित्य कुटीर।
—योरोपीय उपन्यास-साहित्य। काशी, साहित्य सेवक कार्यालय।

विमलकुमार जैन
—हिन्दी के अर्वाचीन रत्न। दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस।

वियोगी हरि
—अन्तर्नाद। इलाहाबाद, साहित्य भवन।
—छद्मयोगिनी। प्रयाग, साहित्य भवन।
—प्रबुद्ध यामुन। लखनऊ, गंगा पुस्तकालय।
—भावना। काशी, साहित्य-सेवा-सदन।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
—गद्य-प्रकाशिका। काशी, विद्याभास्कर बुक डिपो।
—हिन्दी का सामयिक साहित्य। काशी, सरस्वती मंदिर।
—हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास। बनारस, साहित्य-सेवक कार्यालय।

—वाङ्मय-विमर्श। बनारस, हिन्दी साहित्य कुटीर।

विश्वनाथ उपाध्याय —हिन्दी-साहित्य के प्रमुख वाद और उनके प्रवर्त्तक। आगरा, सरस्वती प्रेस।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' —चित्रशाला (भाग–२)। लखनऊ, गंगा पुस्तकालय।

—भीष्म। कानपुर, प्रताप कार्यालय।

विष्णुदत्त शुक्ल —पत्रकार-कला। उन्नाव, शुक्ल सदन।

विष्णुप्रभाकर तथा अन्य, सं० —हिन्दी साहित्य की नवीन धारायें। दिल्ली, पब्लिकेशन डिवीजन।

वेदव्रत शास्त्री —काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का अर्द्ध शताब्दी इतिहास। काशी, नागरी-प्रचारिणी सभा।

रघुनन्दन शर्मा —वैदिक सम्पत्ति। बम्बई, सेठ शूरजी बल्लभ-दास।

रमाकान्त त्रिपाठी —हिन्दी-गद्य-मीमांसा। कानपुर, हिन्दी साहित्य माला।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर —साहित्य : अनु० वंशीधर विद्यालंकार। बम्बई, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर।

रवीन्द्रसहाय वर्मा, डॉ० —हिन्दी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव। कानपुर, पद्मजा प्रकाशन।

राजनाथ शर्मा —साहित्यिक निबन्ध। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

राजबली पाण्डेय —हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-१)। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

राजेन्द्रसिंह गौड़ —हमारे लेखक। इलाहाबाद, साहित्य भवन।

—हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास। प्रयाग, साहित्य भवन।

राधिकारमणप्रसाद सिंह —नवजीवन वा प्रेमलहरी। बांकीपुर, ग्रन्थ माला।

—सावनी समा। शाहाबाद, राज राजेश्वरी साहित्य मंदिर।

रामकुमार वर्मा, डॉ० —साहित्यशास्त्र। इलाहाबाद, राजकिशोर प्रकाशन।

रामकृष्ण रघुनाथ खांडिलकर —आधुनिक पत्रकार-कला। बनारस, ज्ञानमण्डल।

रामगोपाल चौहान —हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियां। आगरा, साहित्य-रत्न-भण्डार।

रामचन्द्र वर्म्मा —अच्छी हिन्दी। बनारस, साहित्य रत्नमाला।

—हिन्दी-प्रयोग। बनारस, साहित्य रत्नमाला।

—छत्रपाल, अनुवादक। बम्बई, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर।

रामचन्द्र शुक्ल —चिन्तामणि (भाग-१)। प्रयाग, इण्डियन प्रेस।

—चिन्तामणि (भाग-२)। काशी, सरस्वती मन्दिर।

—काव्य में रहस्यवाद। बनारस, साहित्य भूषण कार्यालय।

—गोस्वामी तुलसीदास। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

—भाषण : चौबीसवां हिन्दी-साहित्य सम्मेलन। इन्दौर।

—विश्व-प्रपंच। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

—शशांक : अनुवादक राखालदास।

—सूरदास। बनारस, सरस्वती मंदिर।

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा। संशोधित एवं प्रवर्धित।

—हिन्दुस्थानी का उद्गम। काशी, नागरी प्रचारिणी-सभा।

रामधारी प्रसाद —हिन्दी और उर्दू। पटना, सर्चलाइट,।

रामनारायण मिश्र —हमारे प्रमुख साहित्यकार। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

रामप्रसाद —गद्य-प्रभा। आगरा, साहित्य सदन।

रामबिहारीलाल शास्त्री —संस्कृत-साहित्य का सुबोध इतिहास। कानपुर, साहित्य निकेतन।

रामविलास शर्मा, डॉ० —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

—प्रेमचन्द। बनारस, सरस्वती मन्दिर।

रामविलास शर्मा, डॉ० —भारतेन्दु-युग। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

—लोक-जीवन और साहित्य। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

रामरतन भटनागर, डॉ० —प्रसाद के नाटक। प्रयाग, यूनीवर्सल प्रेस।

—प्रेमचन्द। इलाहाबाद, किताब महल।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : एक अध्ययन। किताब महल। प्रथम संस्करण।

—साहित्य समीक्षा। इलाहाबाद, किताब महल।

—हिन्दी-गद्य। इलाहाबाद, किताब महल।

—हिन्दी-साहित्य : एक अध्ययन। इलाहाबाद, किताब महल।

—हिन्दी-साहित्य की कहानी। दिल्ली, राजपाल एंड संस।

रामलाल सिंह, डॉ० —समीक्षा-दर्शन, (भाग-१)। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

—समीक्षा-दर्शन (भाग-२)। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल', डॉ० —नाट्य-निर्णय। प्रयाग, अग्रवाल प्रेस।

—साहित्य-प्रकाश। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास। इलाहाबाद, रायसाहब रामदयाल।

रामाधार शर्मा —माखनलाल चतुर्वेदी : एक अध्ययन। बनारस, सरस्वती मन्दिर।

रामावतार शर्मा —यूरोपीय दर्शन। बनारस, काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

—रामावतार-निबन्धावली। पटना, बिहार-राष्ट्रभाषा।

राय कृष्णदास —अनाख्या। काशी, भारती-भण्डार।

—छायापथ। काशी, भारती-भण्डार।

—प्रवाल। काशी, भारती-भण्डार।

—संलाप। चिरगांव, साहित्य-सदन।

—साधना। काशी, भारती-भण्डार।

—सुधांशु। काशी, भारती-भण्डार।

रूपनारायण शर्मा —कृष्णलीला नाटक। लखनऊ, ओरिएण्टल प्रेस।

रूपनारायण पाण्डेय, अनु० —पृथ्वीराज। प्रयाग, गांधी हिन्दी पुस्तक।

लक्ष्मीधर वाजपेयी, सं० —हिन्दी-गद्य-निर्माण। प्रयाग, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन।

लक्ष्मीनारायण लाल —हिन्दी-कहानियों की शिल्प-विधि का विकास। इलाहाबाद, साहित्य भवन।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु —काव्य में अभिव्यंजनावाद। भागलपुर, युगान्तर साहित्य।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० —आधुनिक हिन्दी-साहित्य। प्रयाग, विश्व-विद्यालय हिन्दी परिषद्।
—आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका। इलाहाबाद, विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्।
—फोर्ट विलियम कालेज : १८००–१८५४ इलाहाबाद, विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्।

शचीरानी गुर्टू —साहित्यकी। दिल्ली, शिक्षा-मंदिर।
—हिन्दी के आलोचक। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

शम्भुनाथ पाण्डेय —गद्यकार प्रसाद। आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।

शारदाप्रसाद वर्मा —गद्य-पुष्प-माला। अलीगढ़, द्वादश श्रेणी प्रका०।

शितकण्ठ मिश्र, डॉ० —खड़ी बोली का आन्दोलन। नागरी-प्रचारणी-सभा।

शिवदानसिंह चौहान —साहित्य की परख। इलाहाबाद, इंडिया पब्लि०।
—हिन्दी-गद्य-साहित्य। दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
—हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष। दिल्ली राजकमल प्रकाशन।

शिवनाथ —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। बनारस, सरस्वती मंदिर।
—आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका। काशी, विद्यापीठ।
—भारतेन्दु-युगीन निबन्ध। बनारस, सरस्वती मंदिर।

शिवनारायण श्रीवास्तव —हिन्दी-उपन्यास। बनारस, सरस्वती मंदिर।

श्यामबिहारी विरागी तथा अविनाश चन्द्र —हिन्दी : मूल और शाखा। प्रयाग, भारती भण्डार।

श्यामसुन्दर दास, डॉ० —हिन्दी-कोविद-रत्नमाला (भाग-१)। बनारस, इंडियन प्रेस।

—हिन्दी-निबन्ध-माला (भाग १-२) काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

—हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

—हिन्दी के निर्माता (भाग १-२) बनारस, इंडियन प्रेस।

—हिन्दी-साहित्य। प्रयाग, इण्डियन प्रेस।

श्यामसुन्दरदास तथा नंददुलारे वाजपेयी —हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

श्यामसुन्दरदास तथा राय कृष्णदास —द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

श्रीकृष्णलाल, डॉ० —आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास। प्रयाग, विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्।

श्रीकृष्णलाल तथा करुणापति त्रिपाठी —हीरक जयन्ती-ग्रन्थ। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

श्रीराम शर्मा —दक्खिनी का पद्य और गद्य। हैदराबाद, हिन्दी-प्रचार-सभा।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' —त्रिशंकु, : संघर्ष-युग में साहित्य। बनारस, सरस्वती मंदिर।

सदल मिश्र —नासिकेतोपाख्यान। काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा।

सद्‌गुरुशरण अवस्थी —हिन्दी-गद्य-गाथा। इलाहाबाद, सरस्वती मंदिर।

सत्येन्द्र, डॉ० —समीक्षा के सिद्धान्त। दिल्ली, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास।

सरनामसिंह, डॉ० —हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव। इलाहाबाद, अरुण।

सीताराम चतुर्वेदी —शैली और कौशल। बनारस, हिन्दी-साहित्य कुटीर।

—समीक्षा-शास्त्र। काशी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्।

—हिन्दी-साहित्य सर्वस्व। बनारस हिन्दी-साहित्य कुटीर।

सुदर्शन —गल्प-मंजरी। लाहौर, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय।

—परिवर्तन। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

—तीर्थयात्रा। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

—सुदर्शन-सुधा। प्रयाग, इंडियन प्रेस।

—सुदर्शन-सुमन। दिल्ली, राजपाल एंड संस।

सुधाकर पाण्डेय —हिन्दी-साहित्य और साहित्यकार। बनारस, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय।

सूर्यकान्त शास्त्री, डॉ० —साहित्य-मीमांसा। जालन्धर, हिन्दी भवन।

—हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास। दिल्ली, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास।

एस० पी० खत्री, डॉ० —आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त। दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।

हंसराज अग्रवाल —संस्कृत-साहित्य का इतिहास। दिल्ली, राजहंस प्रकाशन।

—हिन्दी-साहित्य की परंपरा। लश्कर, साहित्य प्रकाशन।

हंसराज 'रहबर' —प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

हजारी प्रसादद्विवेदी तथा श्रीकृष्णलाल —निबन्ध संग्रह। इलाहाबाद, साहित्य भवन।

हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० —विचार और वितर्क। इलाहाबाद, साहित्य भवन।

—हिन्दी-साहित्य। दिल्ली, अत्तरचन्द कपूर एंड संस।

संस्कृत-समीक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थ

आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक। काशी, ज्ञानमण्डल।

कुन्तक —हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित : सं० नगेन्द्र। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

जगन्नाथ —रस-गंगाधर। बम्बई, सत्यभामा।

दण्डी —काव्यादर्श : टीकाकार वाचस्पति मिश्र। कलकत्ता।

धनंजय तथा धनिक —हिन्दी-दशरूपक : गोविन्द त्रिगुणायत। कानपुर, साहित्य-निकेतन।

भरत —नाट्यशास्त्र। बनारस, चौखम्भा।

भामह —काव्यालंकार। बनारस, हरीदास।

भोज —सरस्वती कण्ठाभरण। बम्बई, निर्णय सागर।

मम्मट —काव्य-प्रकाश : अनु० हरिमंगल मिश्र। प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।

वामन —हिन्दी काव्यालंकारसूत्र : सं० नगेन्द्र। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

विश्वनाथ —साहित्य-दर्पण : व्याख्याकार शालिग्राम शास्त्री। लखनऊ, श्रीकान्त शास्त्री।

कोष

अमरसिंह —अमरकोश। रामकृष्ण तथा वामनाचार्य की टीका। बम्बई, गवर्नमेंट सैण्ट्रल बुक०।

तारानाथ —शब्दस्तोत्रमहानिधि : कलकत्ता, न्यू संस्कृत प्रेस।

भोलानाथ तिवारी, सं० —हिन्दी-मुहावरा-कोष। इलाहाबाद, किताब महल।

माधव चन्द्रोवा —शब्द-रत्नाकर : मराठी : प्राकृत व संस्कृत शब्दकोष। बम्बई, ओरिएण्टल छापा०।

राजेन्द्र द्विवेदी —साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोष। दिल्ली, आत्माराम एंड संस।

Charles Annandale —The New Popular Encyclopedia : The Graham Publishing Co., London.

—Encyclopaedia Britannica 1768—Vol. 18 and 21. University of Chicago.

Geddie, William G. —Chamber's Dictionary (Twentieth Century). Chamber's Ltd., 6 Dean Street, London.

Shipley J. T. —Dictionary of World Literature : Kegan Paul. Trench Truhner & Co. Ltd, London.

पत्र-पत्रिकाएं

अभ्युदय	मासिक	प्रयाग, अभ्युदय प्रेस।
आज	दैनिक	काशी।
आर्य-जगत्	मासिक	लाहौर, आर्य समाज मंदिर।
आर्य-महिला	त्रैमासिक	बनारस, भारतवर्ष महामण्डल।
आनन्द कादम्बनी	मासिक	मिर्जापुर, कादम्बनी यंत्रालय।
आलोचना	त्रैमासिक	दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
इंदु	मासिक	काशी।
कवि व चित्रकार	त्रैमासिक	फतहगढ़, जगत प्रकाश प्रेस।
कल्पना	मासिक	हैदराबाद दक्षिण।
गृह-लक्ष्मी	मासिक	प्रयाग, सुदर्शन प्रेस।
चांद	मासिक	प्रयाग, चांद कार्यालय।
छत्तीसगढ़-मित्र	मासिक	बिलासपुर, १९०२ ई०। बलीराम लाखे मुद्रक।
त्यागभूमि	मासिक	अजमेर, सस्ता साहित्य मंडल, १९८४ वि०।
त्रिपथगा	मासिक	लखनऊ, सूचना विभाग।
देवनागर	मासिक	कलकत्ता, बी० एल० प्रेस।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका	मासिक त्रैमासिक	'भारत प्रेस तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा मुद्राणालय, काशी।
प्रभा	मासिक	कानपुर, प्रभा कार्यालय।
बाल-सखा	मासिक	प्रयाग, इंडियन प्रेस।
बुद्धि-प्रकाश	साप्ताहिक	आगरा, १८५३ ई०।
भारत-मित्र	मासिक	कलकत्ता, भारतमित्र प्रेस।
मतवाला	साप्ताहिक	कलकत्ता, मतवाला कार्यालय।
मर्यादा	मासिक	प्रयाग। अभ्युदय प्रेस।
माधुरी	मासिक	लखनऊ, नवल किशोर।
विद्या-विनोद	मासिक	पटना, खंगविलास प्रेस। १८८४-५ ई०।
लक्ष्मी	मासिक	गया।
श्री शारदा	मासिक	जबलपुर, राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर। १९२०-२४ ई०।
समालोचक	मासिक	जयपुर। १९०२-४ ई०। जौहरी बाजार, जैन वैद्य।
सरस्वती	मासिक	प्रयाग, इंडियन प्रेस। १९००-३० ई० तक।

सरस्वती-संवाद	मासिक	आगरा। १६५८ ई०। प्रसाद अंक।
साहित्य-पत्रिका	मासिक	आरा, नागरी-प्रचारिणी-सभा।
साहित्य-संदेश	मासिक	आगरा, साहित्य-रत्न-भण्डार।
साहित्य-समालोचक	त्रैमासिक	लखनऊ। १६५५ ई०।
सुधा	मासिक	लखनऊ।
हंस	मासिक	बनारस, हंस लि०।
हरिश्चन्द्र	मासिक	बनारस। १८७३ ई०।
हिन्दी-प्रदीप	मासिक	प्रयाग, यूनियन प्रेस।
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन	वार्षिक	प्रयाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन।
हिन्दू-पंच	साप्ताहिक	कलकत्ता।

ENGLISH PERIODICAL

Philological Quarterly Vol. XXV—Jan. 1946. : University of Iowa.

ENGLISH BOOKS

Aristotle —Poetics and Rhetorics. J. M. Dent & Sons Ltd, London. Edition 1949.

Chadwick, H. Munro and Chadwick, N. Kershaw —The Growth of Literature (Vol. I & II) Cambridge at the Uuiversity Press, 1932-3.

Demetrius —On Style. J. M. Dent & Sons Ltd, London. Edition 1949.

Dobree, Bonamy —Modern Prose Style. Oxford at the Clarendon Press. 1939.

Drinkwater, Johan Ed. —The Out Line of Literature. Newness (No date).

Empson, William —Seven Types of Ambiguity. Chatto and Windus, London. Ed. 1947.

Fox, Rulph —The Novel and the People. Foreign Language Publishing House, Moscow. 1956.

Hugh Walker —The English Essays And Essayiests. J. M. Dent & Sons Ltd., Aldine House Belford St. London, 1934.

Joseph, Tiffin Sul —Archives of Speech. Vol. I. (1934-6).

Jusserand, J. J. —A Literary History of The English People. London T. Fisher Unwin. No date.

Kellogg, S. H. Rev. —A Grammer of the Hindi Language. Routledge & Kegan Paul Ltd., London E.C. 4.

Lucas, F. L. —Literature and Psychology. Cassell & Co., London. Ed. 1951.

—Style : Cassell & Co., Ltd. 3rd. Ed. 1956.

Minto, William —A Manual of English Prose Literature. William Blackwood & Sons, Edinburgh and London. 3rd. Ed. 1886.

Montaigne —Essays : Vol. I and II. J. M. Dent & Sons Ltd., London. Edition, 1942 and 1938.

Murry, J. Middleton —The Problem of Style. Humphery Milford, Oxford University Press, London. 1922.

Nurullah, Syed —A Students History of Education in India. MacMillan & Co. 1955.

Patterson, W. M. —The Rhythm of Prose. Columbia University Press, New York. 1917.

Proctor, Sigmund K. —Thomas De-Quiency's Theory of Literature. Ann Arbar The University of Michigan Press, London. 1943.

De-Quiency Thomas —Style and Rhetoric. James Hogg & Sons, London. Sterotype Edition.

Quiller-Couch (Sir) Arthur On The Art of Writing. Cambridge at the University Press. Ed. 1923.

Raleigh, Walter —Style. London, Edward Arnold, 41 & 43 Maddox Street, Bond St. W. 1918, 13th Impression.

Read, Herbert —English Prose Style. London, G. Bell & Sons, Ltd. 1952.

Richards, I. A. —Principles of Literary Criticism. London, Routledge & Kegan Paul Ltd. 20th Ed. 1950.

Robertson, J. G. —Essays and Addresses on Literature. London, Broadway House, 68-74 Car Lane, E.C. 1935.

Saintsbury, G. A. —History of English Prose Rhythm. London. 1912.

—A Short History of French Literature. Oxford Clarendon Press, London. Seventh Edition.

—Specimens of English Prose Style. London, Kegan Paul Trench & Co, M. D. C. C. C. Lxxxx.

Scott-James, R. A. —The Making of Literature. London, Secker & Warburg. Edition 1956.

Shukla, L. R. —Elements of Educational Psychology. Nand Kishore & Bros., Banaras. 1942.

Taine, H. A. —History of English Literature. Edinburgh, Edmonston & Douglas. 1873.

Tempest, R. Norton —The Rhythm of English Prose. University Press, Cambridge. 1930.

Vajpai Ambika Prasad —Persian Influence on Hindi. University of Calcutta. 1935.

Wordsworth, William —Selections from Wordsworth. Edited by N. S. Takakhav. Karnatak Publishing House, Bombay. 2nd Edition.

Worsford, W. Basil —Judgment in Literature. 10-13 Belford Street, London. 1932.